श्री सिद्धहेमचन्द्र व्याकरणम्

(सार्धद्वयाश्रयात्मकम्)

गुरुयत्नाद्वृतिकम्

परमपूज्य मुनिराज श्री कमलरत्न विजयजी महाराज के शिष्यरत्न

मुनि श्री दर्शनरत्न विजयजी म.
मुनि श्री विमलरत्न विजयजी म.

प्रकाशक
श्री जैन श्राविका संघ
मु. पिण्डवाडा (राजस्थान) पिन ३०७०२२

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितम्

श्रीसिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्

(स्वोपज्ञलघुवृत्ति-गुणरत्नावृत्ति-संवलितम्)

(सार्धद्वयाध्यायात्मकम्)

-गुणरत्नावृत्तिकार-

परमपूज्य मुनिराज श्रीकमलरत्न विजयजी महाराजा साहेब के शिष्यरत्न

मुनिश्री दर्शनरत्नविजयजी म.

मुनिश्री विमलरत्नविजयजी म.

—प्रकाशक—

श्री जैन श्राविका संघ

पो. पिण्डवाडा [राजस्थान]

स्टे. सिरोही रोड (वे. रेल्वे) पिन-३०७०२२

अस्य ग्रन्थस्य पुनर्मुद्रणाधिकारः प्रकाशकेन स्वायत्तीकृतः ।

प्रकाशन तिथि–

वि. सं. पोष सुद १३ को परमपूज्य कलिकालकल्पतरु अनेकान्ताभास-मिनिरतरणि, सुविशालगच्छाधिपति **आचार्यदेव श्रीविजय रामचन्द्र-सूरीश्वरजी महाराजा के** सुदीर्घ दीक्षा तिथि की उजवणी **के** दिन ।

मूल्य ४५)   प्रथमावृत्ति—१११९

प्राप्ति स्थान—

सेठ कल्याणजी सोभागचन्दजी जैन पेढ़ी

पो. पिण्डवाडा (राज.) पिन–३०७०२२

इस ग्रन्थ के आधार-भूत ग्रन्थ–

१. श्री सिद्धहेमलघुवृत्त्याः अवचुरिः २॥ अध्याय
२. श्री सिद्धहेमशब्दानुशासनबृहद्वृत्तिः
३. श्री सिद्धहेमशब्दानुशासनबृहन्न्यासः
४. श्री सिद्धहेमशब्दानुशासनलघुन्यासः
५. अभिधान चिन्तामणिस्वोपज्ञः
६. श्री सिद्धहेमशब्दानुशासन मध्यमवृत्तिः मध्यमवृत्त्याः अवचूरिश्च
७. श्री हेमप्रकाशः
८. न्यायसंग्रह इत्यादि

अनुक्रमणिका–

प्रथम भाग में—१ से १० पाद
द्वितीय भाग में—११ से २० पाद
तृतीय भाग में—छठा व सातवां अध्याय
चतुर्थ भाग में—सूत्रानुक्रम, शुद्धिपत्रक, न्याय, धातुपाठ आदि

परमपूज्य मुनिराज श्री कमलरत्नविजयजी म. सा. के वि. सं. २०४३ के भव्य चातुर्मास में जो श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासन (लघुवृत्ति एवं अभिनव गुणरत्नावृत्ति के साथ) जो प्रकाशित हुई उसमें श्रीदान म रामचन्द्रसूरिजी आराधना भवन ट्रस्ट, पोरवाड वास, रतलाम (म. प्र.) ने ज्ञान खाते की आय में से ११५१ रुपये का लाभ लिया है। उसकी हम अनुमोदना करते हैं।

लि. प्रकाशक

मुद्रण कार्य–हँसमुखलाल जैन

लक्ष्मी प्रेस, १४ नागरिक विश्राम गृह, कॉलेज रोड, रतलाम

पिण्डवाडा के श्री प्रेमसूरिजी

परमपूज्य सिद्धान्तमहोदधि आचार्यदेव श्रीविजय मसूरीश्वरजी महाराज के गुणों की हमें आवश्यकता है। मानो गुण न पा सके तो भी उन गुणों को पाने की इच्छा है।

आपके पिता का नाम भगवानजी, माता का नाम श्रीमती कंकुबाई आपश्री का नाम प्रेमचन्दजी। राजस्थान में पिण्डवाडा के हमारे गाँव के वतनी। बचपन में ही वैराग्य उत्पन्न हुआ और चारित्र लेने की भावना हुई। कुटुम्बिजन सीधी रीति से दीक्षा देवे वैसे अनुकूल नहीं थे, फिर भी दो बार तो घर से भागकर गये, परन्तु मोहाधीन कुटुम्बी आपको वापिस ले आये। तीसरी बार रात को घर से निकले, एक रात्रि में ५७ किलोमीटर चलकर स्टेशन गये। गाड़ी में बैठकर पालिताना गये। संयम लेने का कितना दृढ़ निश्चय एवं उसके लिये चाहे जितना कष्ट सहन करना ऐसे दृढ़ निर्धार के बिना यह नहीं बन सकता। दीक्षा लेने के बाद मुनिश्री प्रेमविजयजी बने। स्वाध्याय तो अजब-गजब था कि जिसके परिणाम स्वरूप कर्म के गहन विषय में पारंगत बने। गुरु श्री सकलाग मरहस्वदी, परम पूज्य आचार्यदेव श्री विजय दानसूरीश्वरजी महाराज ने तृतीय पद पर प्रतिष्ठित किया तब प० पू० आ० श्रीविजय प्रेमसूरिजी बने। आचार्य पद लेने की इच्छा नहीं थी परन्तु लेनी पड़ी थी। तिथि का सत्य निर्णण लाने के लिये आपने आपही के पट्टधर व्याख्यान—वाचस्पति आचार्यदेव श्रीविजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म० एवं आगमप्रज्ञ आचार्यदेव श्रीविजय जम्बुसूरिजी महाराज को आगे किये एवं उसका निर्णय भी लाया। इतना ही नहीं आराधक जीवों का अनेक प्रयत्नों से उद्धार किया। आपको एक सुश्रावक ने प्रश्न पूछाये उसका कितना स्पष्ट जवाब दिया कि—

"(१) ग्रहण के समय...... दर्शन पूजन का तथा उपदेश आदि का भी निषेध तो हमने कहीं जाना नहीं है एवं आचरा भी नहीं है।

(२) तिथिचर्चा का निर्णय...... प्रोफेसर वैद्य जैसे मध्यस्थ को लाकर श्रीजैनशासन के आज्ञा मुजब का निर्णय करा देने में सुश्रावक कस्तुरभाई ने श्रीजैन शासन की अनुपम सेवा की है।...... इस निर्णण

मुताबिक चलने से हरेक तिथि की आराधना आज्ञा मुजब होती है और महत्त्व के पर्व की विराधना से भी अच्छी तरह बच सकती है।"

आप महापुरुष मरुधर देश में जहाँ घास भी दुर्लभ हो वहाँ केशर की उत्पत्ति की तरह जन्मे।

आप ही के पट्टधर परम पूज्य कलिकाल-कल्पतरु, अनेकान्ता-भासतिमिर-तरणि, व्याख्यान-वाचस्पति आचार्यदेव श्रीविजय रामचन्द्र-सूरीश्वरजी महाराजा के करकमलों में यह ग्रन्थ समर्पण करके हम कृतार्थ बन रहे है।

इस गुणरत्ना वृत्ति के मार्गदर्शक परमपूज्य वर्धमान-तपोनिधि आचार्यदेव श्रीविजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज के विद्वान शिष्यरत्न परमपूज्य पन्यासप्रवर श्रीजितेन्द्रविजयजी गणिवर्य के शिष्य रत्न व्याकरण-विशारद परमपूज्य गणिवर्य श्री गुणरत्नविजयजी गणिवर्य हैं।

इस गुणरत्ना वृत्ति के जन्मदाता परम पूज्य महातपस्वी मुनिराज श्री कमलरत्नविजयजी महाराज के शिष्य रत्न परमपूज्य मुनिराज श्री दर्शनरत्नविजयजी म० एवं परम पूज्य मुनिराज श्रीविमल रत्न विजयजी महाराज हैं।

(१) इस पुस्तक के दो भागो का प्रकाशन श्री पिन्डवाडा संघ ने ज्ञान खाते से लाभ लिया है। अतः साधु-साध्वी एवं ज्ञानभण्डारों को भेंट दी जायगी। दूसरे कीमत से खरीद कर पढ़ेंगे तो ही ज्ञान खाने के भक्षण के दोष से बच सकेंगे।

(२) इस पुस्तक के एक भाग का प्रकाशन का लाभ पिन्डवाडा जैन संघ की बहिनों ने ज्ञान खाते की आय में से लिया है।

(३) इस पुस्तक का एक भाग का शा पुखराजजी, अशोक, तरुण, भरत, पारस किस्तुरचंदजी हंसाजी पिन्डवाडा वालों ने लाभ लिया है। जो परमपूज्य मुनिराज श्री कमलरत्नविजयजी महाराज के सांसारिक भाई हैं।

अतः शा पुखराजजी किस्तुरचन्दजी हंसाजी परिवार, का एवं जैन श्राविका संघ का भी हम का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में माणकलालजी कटारिया रतलाम वालों ने हरेक भाग की सो-सो पुस्तकों का कागज व बाईडिंग का लाभ लिया

है। बैद लालचन्दजी महात्मा राजाजी के करेडा वालों में पाँच सौ रुपये की उदार भेंट की है एवं साध्वीजी किरण प्रभा श्रीजी के सदुपदेश से नीलकमल एपार्टमेण्ट साबरमती की आराधक बहिनों ने ज्ञान खाते की आय से २२०० रुपये की उदार भेंट की है इन सबका भी हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

सुश्रावक जेठालाल भारमल शा तथा सुश्रावक माणेकलाल भाई पण्डितों ने इसका साङ्गोपाङ्ग अवलोकन किया एवं पण्डित तृप्ति नारायण झा ने इसका सम्पूर्ण निरीक्षण करके इसका स्वागत किया है।

सुश्रावक लालचन्दजी छगनलालजी पिन्डवाडा वालों को हम नहीं भूल सकते जिन्होंने बार-बार इसके शीघ्र प्रकाशन के लिये प्रयत्न किया। श्री हँसमुखलालजी जैन (लक्ष्मी प्रेस) रतलाम वालों ने इसे दो महीने में प्रकाशित करके दिया अतः वे भी इस प्रसंग पर भूले नहीं जा सकते।

इस प्रकाशन में कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्यदेव श्रीविजय हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराजा के आशय-विरुद्ध कुछ भी प्रकाशन हो गया हो तो उसका मिच्छामि-दुक्कडं देने के साथ प्रुफ संशोधन की त्रुटि, स दोष या अन्य कारण से जो त्रुटि रह गई हो उसकी क्षमा याचना पूर्वक सुज्ञ वाचकों को सुधारकर पढ़ने की विनती है।

विनीत---

श्री जैन संघ पिण्डवाडा के वती
सेठ—कल्याणजी सोभागचन्दजी जैन
पेढी ट्रस्ट पिण्डवाडा

गुणरत्नावृत्ति का पण्डितवर्यों ने स्वागत किया

वृत्ति बहुत ही सुन्दर हुई है बन सके तो जल्दी से छपाने की कृपा करना जी। ऐसे महान् ग्रन्थ के पीछे मेहनत खूब ही चाहिये और तैयार हुए ऐसे महान् ग्रन्थ जल्दी से छप जाय यह बहुत ही इच्छनीय है। भविष्य में सिद्ध-हेम-व्याकरण पढ़ने वालों के लिये यह वृत्ति बहुत ही उपयोगी होगी।

जेठालाल भाई भारमल शा
बी—वेलाणी एस्टेट दुकान नं० ७
मलाड पूर्व बम्बई—७

आपश्री ने बहुत परिश्रम करके लघुवृत्ति व्याकरण के ऊपर बहुत अच्छा व्याकरण किया है। यह आनन्द का विषय है, लघुवृत्ति के अभ्यासकों को लघुवृत्ति के अभ्यास में रुचि उत्पन्न करने के साथ लघुवृत्ति करने के लिये इससे प्रेरणा, एवं प्रोत्साहन मिलेगा।

पण्डित श्री माणेकलालजी

देसाई वास राधनपुर,

(गुजरात)

प्रिय वाचक वर्ग !

व्याख्यान वाचस्पति पूज्यपाद श्री के भवनिर्वेदोत्पादकमोक्षाभिलाष-जनक प्रवचनों को हिन्दी भाषा में प्रकाशित करने वाला

जैन प्रवचन [हिन्दी मासिक]

के आज ही सदस्य बनें

वार्षिक चन्दा २५ रु०
परदेश ५५ रु०

आजीवन चन्दा २५१ रु०
लिखो या मिलो

आजीवन सदस्य बनने वालों को २५ रुपये की सम्यग्दर्शन पुस्तक भेंट दी जाती है।

श्री जैन प्रवचन प्रकाशन संस्थान
फोन नं० ३२०१२०
६६ धनजी स्ट्रीट, ३ रा माला,
बम्बई–४००००३

व्याख्यान वाचस्पति पूज्यपाद श्री के भवनिर्वेदोत्पादक मोक्षाभिलाष-जनक-प्रवचनों को गुजराती भाषा में प्रकाशित करने वाले

जिनवाणी (पाक्षिक)

के आज ही सदस्य बनें

वार्षिक चन्दा २१ रु०
आजीवन चन्दा २०१ रु०

—लिखो या मिलो—

श्री जिनवाणी प्रचारक ट्रस्ट
५८ बैंक ऑफ इण्डिया बिल्डिंग
१८५ शेखमेमण स्ट्रीट
बम्बई–२

श्री जिनवाणी प्रकाशन कार्यालय
वढवान शहर (गुजरात)
पिन–३६३०३०

॥ श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनलघुवृत्तिः

श्रीरामचन्द्रसूरीश्वरगुरुप्रसादप्रकाशित-गुणरत्नावृत्ति-समेता

प्रणम्य परमात्मानं, श्रेयः शब्दानुशासनम् ।
आचार्यहेमचन्द्रेण स्मृत्वा किञ्चित्प्रकाश्यते ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रसूरीश्वरगुरुप्रसादप्रकाशिता गुणरत्नावृत्तिः

नो वह्निर्नो नगेन्द्राः, न च विषमविषं शाकिनी नातिचण्डा ।
नो मन्त्रा नैव तन्त्रा न च सकलरिपुर्विग्रहो नो पिशाचाः ।
नो व्याघ्रो, नैव सिंहः, प्रभवति पुरुषं व्याधि-रेकोपि नो तम् ।
श्रीमच्छङ्खेश्वरस्थं भुवनपतिनतं यः स्मरेत्पार्श्वनाथम् ॥ १ ॥

मिथ्यात्वक्षणदागभस्ति-सदृशो, भव्यालिपद्मायितः ।
दृप्यद्दम्भिकुवादि-वादि-धुक् मिहिरा, सार्वार्थसन्दर्शकः ॥
पट्टीपावनशेमुषीसुविभवाद्, दीव्यन् सदा गीपतिम् ।
निर्ग्रन्थेश्वररामचन्द्रविजयो जीयात्तु सूरीश्वरः ॥ २ ॥

इति मङ्गलं कृत्वा श्रीरामचन्द्रसूरीश्वरगुरुप्रसादात् गुणरत्नावृत्तिः प्रकाश्यते ।

परमात्मानं श्रीअर्हन्तं प्रणम्य श्रेयः प्रशस्यं प्रधानं शब्दानुशासनं व्याकरणम् आचार्य-हेमचन्द्रेण किञ्चिद् पाणिन्यादिकमुपयुज्य अथवा किञ्चिद् गुर्वाम्नायतत्त्वं ध्यात्वा किञ्चिद् अल्पं वा प्रकाश्यते शिष्याणां प्रदर्श्यते इति भावः । 'णमं प्रह्वत्वे' 'पाठे धात्वादेर्णो नः' ।२।३।९७। इत्यनेन नम् । प्रः पूर्वम् । प्रणमनं पूर्वं प्रणम्य प्राक्काले ।५।४।४७। इत्यनेन क्त्वा, 'अनञः क्त्वो यप्' ।३।२।१५४। इत्यनेन क्त्वास्थाने यप् । 'अदुरुप-सर्गान्तरो०' ।२।३।७७। इति नस्य णः, ततः प्रथमासिः अव्ययस्य' ।३।२।७। इति सेर्लोपः प्रणम्य । पॄ श पालनपूरणयोः पॄश् पृणोति पूरयति तान् २ भावान् इति परमः 'नामिनो गुणो०' ।४।३।१। इति गुणः । 'अत सातत्य-गमने' अतति सातत्येन गच्छति तान् तान् पर्यायानिति आत्मा । परम-श्चासावात्मा च परमात्मा, तम । द्वितीयाऽम्, नि दीर्घः' ।१।४।८५। सौ

मुमो व्यन्जने स्वौ ।१।३।१४। इति म् इत्यस्यानुस्वार: **परमात्मानम्** । अतिशयेन प्रशस्यं श्रेय: अन्यव्याकरणेभ्य: प्रधानत्वात् 'गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू ।७।३।९। इतीयस् 'प्रशस्यस्य श्र:' ।७।४।३४। इत्यनेन श्र आदेश: । 'अव-र्णस्येवर्णादिनै०' ।१।२।६। इत्यनेन ईता सह एकार: । 'अनतो लुप्' ।१।४।५९। इति सेर्लुप् 'सो रु:' ।२।१।७२। इति सस्य र:, 'र: पदान्ते०' ।१।३।५३। इति रस्य विसर्ग:, श्रेय:, अनुशिष्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेने-त्यनुशासनं 'करणाधारे' ।५।३।१२९। इत्यनट् । शब्दानामनुशासनं **शब्दा-नुशासनं**, प्रथमासि: । 'अत: स्यमोऽम्' ।१।४।५७। इति सेरम् । 'समानाद-मोऽत:' ।१।४।४६। इत्यमोऽस्य लोप: । चर् आचर्यते सेव्यते विनयार्थं विद्याग्रहणार्थं वा शिष्यैरित्याचार्य: । 'ऋवर्णव्यञ्जनाद् घ्यण्' ।५।१।१७। आचार्यश्चासौ हेमचन्द्रश्च आचार्य-हेमचन्द्र: । तेन टा । 'टाङ्सोरिनस्यौ' ।१।४।५। इति टास्थाने इन, 'रषृवर्णा०' ।२।३।६३। इति नस्य ण: **आचार्य-हेमचन्द्रेण** । स्मरण पूर्वं स्मृत्वा किमल्पमपि चिनोति क्विप् 'ह्रस्वस्य त: पित्कृति' ।४।४।११३। इति तोन्त: 'अप्रयोगीत्' ।१।१।३७। इति क्विप्लोप: 'तौमुमौ' ।१।३।१४। इति **किञ्चित्** । किञ्चि इति क्रियाविशेषणमतो द्वितीयाऽम्, 'अनतो लुप्' ।१।४।५९। इति अम् लोप: । किञ्चिदित्यखण्ड-मव्ययं वा प्रथमासि: 'अव्ययस्य' ।३।२।७। इति लोप: । काशृङ् दीप्तौ प्रकाश्यते शब्दानुशासनं कर्तृ, तत्प्रकाश्यमानं शब्दानुशासनमाचार्यहेम-चन्द्रेण प्रयुज्यते 'प्रयोक्तृव्यापारे णिग्' ।३।४।२०। इति णिग्, वर्तमानाते 'क्य: शिति' ।३।४।७०। इति क्य: 'णेरनिटि' ।४।३।८३। इति णिगो लोपे प्रकाश्यते ।

अर्हं ।१।१।१।

अर्हमित्येतदक्षरं परमेश्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकम्,

मङ्गलार्थं शास्त्रस्याऽऽदौ प्रणिदध्महे ॥ १ ॥

रा० गु० अर्हं – मह पूजायाम् अर्हति अष्टप्रातिहार्यपूजामित्यर्हं अर्हमिति सानुनासिको अथवा मान्तोऽप्यस्ति अव्ययम् । अर्हं इति अक्षरं अर्थात् अव्ययं परमेश्वरस्य अर्हद्–भगवत एव परमेष्ठिनो वाचकम् मङ्गलार्थं शास्त्रस्यादौ प्रणिदध्महे ध्यायाम: इति भाव: ।

सिद्धिः स्याद्वादात् ।१।१।२।

स्याद्वादात् अनेकान्तवादात् प्रकृतानां शब्दानां सिद्धि-निष्पत्तिः ज्ञप्तिश्च वेदितव्या ।

रा० गु० सिद्धिः-- षिधू गत्यां 'षः सोऽष्ट्यैष्ठि० ।२।३।९८। सेधनं सिद्धिः 'स्त्रियां क्तिः' ।५।३।९१। 'अप्रयोगीत्' ।१।१।३७। तिः, 'अधश्चतुर्थात्तथोर्धः' ।२।१।७९। इति तकारस्य धः 'तृतीयस्तृतीय० ।१।३।४९। इति धस्य दः। शब्दार्थसम्बन्धसिद्धिश्च स्याद्वादाधीना इत्यतः उक्तं स्याद्वादात् स्यात् इति विभक्त्यन्त--प्रतिरूपकमव्ययम् अनेकान्तद्योतकम् यस्यैव वर्णस्य ह्रस्वत्वं विधीयते तस्यैव दीर्घत्वादि. तस्य च सर्वात्मना नित्यत्वे पूर्वधर्म-निवृत्तिपूर्वकस्य ह्रस्वादिविधेरसंभवः एवमनित्यत्वेऽपि जन्मानन्तरमेव विनाशात् कस्य ह्रस्वादिविधिरिति वर्णरूप--सामान्याऽऽत्मना नित्यो ह्रस्वादिधर्मात्मना त्वनित्य इति स्याद्वादः यथा आत्मा आत्मस्वरूपेण नित्यः मनुष्यादि-पर्यायरूपेण त्वनित्यः । अमति गच्छति धर्मिणमिति दम्यमि० । उणा २००] इति तेऽन्तो धर्मः, न एकोऽनेकः अनेकोऽन्तो यस्यासावनेकान्तः । प्रकृतानामर्थात् प्रस्तुतानाम् ।

दशधा सूत्राणि संज्ञा- परिभाषा-अधिकार--विधि-प्रतिषेध-नियम-विकल्प-समुच्चयाऽ-तिदेशाऽ-नुवादरूपाणि तत्र "औदन्ताः स्वराः ।१।१।४।, प्रत्ययः प्रकृत्यादेः ।७।४।११५। घुटि" ।१।४।६८। नाम्यन्तस्थाकवर्गात्० ।२।३।१५। नस्तं मत्वर्थे' ।१।१।२३। नाम सिदय्व्यञ्जने० ।१।१।२१। इति सौ नवेतो ।१।२।३८।, शसाऽता०" ।१।४।४९। इदितो वा ।८।७।१। तयोः समूहवच्च बहुषु ।७।३।३। इत्यादीनि प्रत्यकोदाहरणानि, एतेषां मध्ये अधिकारसूत्रमिदमा शास्त्रपरिसमाप्तेः ।

लोकात् ।१।१।३।

अनुक्तानां संज्ञानां न्यायानां च लोकाद् वैयाकरणादेः सिद्धिः ज्ञप्तिश्च वेदितव्या, वर्णसमाम्नायस्य च ।

रा० गु० लोक्यते अवलोक्यते निर्णयार्थमिति घञि, लोकते पश्यति सम्यक् पदार्थान् इति अचि वा लोकः । **अनुक्तानामिति** उक्ताभ्यः स्वरादिसंज्ञाभ्योऽतिरिक्तानां क्रियागुणद्रव्यजातिकाललिङ्गस्वाङ्ग-सङ्ख्या-परिमाणापत्यवीप्सालुग-वर्णादीनां संज्ञानाम् । साध्यरूपा पूर्वापरीभूताऽवयवा किया विशेषणं गुणः, 'सत्त्वे निविशतेऽपैति' इत्यादिलक्षणो वा, विशेष्यं द्रव्यम् ।

'आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या, गोत्रं च चरणैः सह ।।
इत्यादि लक्षणलक्षिता जातिः, त्रुट्यादिः कालः–
स्वस्थे नरे समासीने स्पन्दते वामलोचनम् ।
तस्य त्रिंशत्तमो भागस्त्रुटिरित्यभिधीयते ।।
लिङ्गं पुंस्त्रीनपुंसकरूपम्,
अविकारोऽद्रवं मूर्तं प्राणिस्थं स्वाङ्गमुच्यते ।
च्युतं च प्राणिनस्तत् तन्निभं च प्रतिमादिषु ।।
इत्यादिलक्षणं स्वाङ्गम्, एकाद्यभिधानप्रत्ययहेतुः सङ्ख्या
ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं, परिमाणं तु सर्वतः,
आयामस्तु प्रमाणं स्यात्, सङ्ख्या बाह्या तु सर्वतः ।।

इति लक्षणेन सर्वतो मानं परिमाणं, क्रियागुणद्रव्यादिभिः प्रयोक्तुर्युगपत् व्याप्तुमिच्छा वीप्सा

परः ।७।४।११८। इति न्यायः तस्मात् वनानीत्यत्र शसोऽता० ।१।४।४९। इति बाधित्वा परत्वात् 'नपुंसकस्य शिः ।१।४।५५। इत्येव भवति । परान्नित्यमिति परत्वादपि नित्यं बलवत् यथा स्यान इत्यत्र परमपि गुणं बाधित्वा नित्यत्वादूट् । 'अनुनासिके च च्छ्वः शूट ।४।१।१०८। स्या-धा० ।उणा० २५८। इति ने गुणात्पूर्वं नित्यत्वादूटि कृते पश्चात् गुणं प्राप्ते परादन्तरङ्गमिति न्यायात् अन्तरङ्गत्वात् ते बाधित्वा यत्वे स्यान इति ।

वर्णसमाम्नायस्य मातृकापाठस्य लोकात् अर्थात्
मातृकापाठो लोकरूढो ज्ञेयः ।

तत्र

औदन्ताः स्वराः ।१।१।४।

औकारावसाना वर्णाः स्वरसंज्ञाः स्युः । अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ ।

रा०गु० औत् अन्तेऽन्तो वा येषां ते । अत्रान्तशब्दोऽवयववाची अवयवस्य चावश्यं समुदायरूपेऽन्तपदार्थेऽन्तर्भावः अत एवात्र तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिः यथा लम्बभुजः न त्वतद्गुणसंविज्ञान--बहुव्रीहिः यथा दृष्टसागर इति ज्ञापकं चात्र-अष्ट औ जस्शसोः ।१।४।५३। आतो णव: औ' ।४।२।१२०। उत औविति व्यञ्जनेऽद्वेः ।४।३।५९। इत्यादि औकारस्य हि स्वरत्वाभावे 'अष्ट औ० ।१।४।५३। इत्यादिसूत्रेषु 'स्वरे वा ।१।३।२४। इत्यनेन यलोपो न स्यात् । तकारः उच्चारणार्थं स्वरूपपरिग्रहार्थं इत्यर्थः तपरत्वान्निर्देशस्य 'औत्' इत्युक्ते औकारस्वरूपं प्रतीयते, तकाराभावे तु आवन्ता इति कृते कष्टा प्रतीतिः भवेदिति भावः । स्वयं राजन्ते शोभन्ते इति स्वराः 'क्वचित् ।५।१।१७१। इति डः, 'डित्यन्त्यस्वरादेः ।२।१।११४। पृषोदरादयः ।३।२।१५५। इति स्वयशब्दस्य स्वभावः ।

एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः । १ । १ । ५ ।

मात्रा कालविशेषः । एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता वर्णा यथासङ्ख्यं ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-संज्ञाः स्युः ।

रा० गु० एका च द्वे च तिस्रश्च एकद्वितिस्रः । एकद्वितिस्रः मात्रा येषां ते एकद्वित्रिमात्राः 'सर्वादयोऽस्यादौ ।३।२।६१। इत्यनेन एकेत्यत्र पुंवद्भावः । मात्रेत्यत्र 'गोश्चान्ते ह्रस्वो० ।२।४।९६। इति ह्रस्वः ।

एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो, द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
प्लुतः स्वरस्त्रिमात्रः स्याद्व्यञ्जनं चार्धमात्रकम् ॥

स्वरस्यात्यन्तापकृष्टो निमेषोन्मेषक्रियापरिच्छिन्नः उच्चारणकालो मात्रा ।

अनवर्णा नामी । १ । १ । ६ ।

अवर्णवर्जा औदन्ता वर्णा नामिसंज्ञाः स्युः । इ ई उ ऊ ऋ ॠ

ॡ ऌ ए ऐ ओ औ

रा० गु० अविद्यमानोऽवर्णो येषु तेऽनवर्णाः 'अन् स्वरे ।३।२।१२९। नस्य अन् । नमनं नामः, नामोऽस्यास्तीति नामी 'अतोऽनेकस्वरात् ।७।२।६। इति इन्, 'अवर्णेवर्णस्य' ।७।४।६८। इत्यकारलोपः, इन्हन्पूषा० ।१।४।८७। इति दीर्घः, दीर्घङ्याब्०।१।४।४५। इति सिलोपः, नाम्नो नोऽह्नः ।२।१।९१। इति नलोपः । अनवर्णा नामीत्यत्र वचनभेदेऽपि वेदाः प्रमाणमितिवत् विशेषणविशेष्य-भावस्तु घटते परन्तु संज्ञिसामानाधिकरण्येन संज्ञानिर्देशे सति औदन्ता स्वराः ।१।१।४। इतिवन्नामिन इति बहुवचनेन निर्देशो युक्तः तत्कथं नामीत्येकवचननिर्देशः ? सत्यम्-वचनभेदेन संज्ञां कुर्वन्नेव ज्ञापयति यत्र नामिनः कार्यं क्रियते तत्र कार्याद् यदि कार्यी स्वरो न्यूनो भवति तत्रैव नामिसंज्ञाप्रवृत्तिर्नान्यथा तेन ग्लायति, म्लायतीत्यादौ न गुणः । अत्रोत्तरत्र च बहुवचनं प्लुतसंग्रहार्थम् ।

ऌदन्ताः समानाः ।१।१।७।

ऌकारावसाना वर्णा समाना स्युः अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ

रा० गु० ऌकार अवसानं येषां ते ऌकारावसाना । समानं मानं येषां ते समानाः 'समानस्य धर्मादिषु ।३।२।१४६।' इति समानस्य सः ।

ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम् ।१।१।८।

ए ऐ ओ औ इत्येते सन्ध्यक्षराणि स्युः ।

रा० गु० एश्च ऐश्च ओश्च औश्च जस् सूत्रत्वाल्लोपः । डुधांग्क् धारणे सन्धानं सन्धिः, उपसर्गाद्दः किः ।५।३।८७। इडेत्पुसि चातो लुक् ।४।३।९४। अर्थमश्नुते व्याप्नोतीति 'मी-ज्यजि-मा-मद्यशौ [उणा० ४३९] इति सरे अक्षरम् पदं वाक्यं वर्णं च अत्र तु वर्णार्थ एव । सन्धौ सत्यक्षरं सन्ध्यक्षरम् अवर्णस्येवर्णेन सह सन्धावेकारः,अवर्णस्यैकारैकाराभ्यामैकारः,

अवर्णस्यौवर्णेनौकारः, अवर्णस्य ओकारौकाराभ्यामौकारः ।

अं अः अनुस्वार–विसर्गौ ।१।१।९।

अकारौ उच्चारणार्थौ 'अं' इति नासिक्यो वर्णः । अः इति च कण्ठ्य एतौ यथासङ्ख्यम् अनुस्वार-विसर्गौ स्याताम् ।

रा० गु० अनुस्वर्यते संलीनमुच्चार्यते इत्यनुस्वारः । नामिनोऽकलिहलेः ।४।३।५१। इति वृद्धिः । विसर्ज्यते विरम्यते विरतिभूतोऽर्थः प्रतीयते, घञ्, क्तेऽनिटश्चजोः कगौ घिति ।४।१।१११। इति जस्य गः, लघोरुपान्त्यस्य ।४।३।४। गुणः । येन विना यदुच्चारयितुं न शक्यते तत् तस्योच्चारणम्, न शक्येते च बिन्दु-बिन्दुद्वयरूपौ वर्णविकारमन्तरेणोच्चारयितुमित्यकारावुच्चारणार्थौ गृहीतौ ।

कादिर्व्यञ्जनम् ।१।१।१०।

कादिर्वर्णो हपर्यन्तो व्यञ्जनं स्यात् । क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व, श ष स ह ।

रा० गु० व्यज्यते प्रकटीक्रियतेऽर्थोऽनेन 'करणाधारे ।५।३।१२९। इत्यनटि व्यञ्जनम्, स्वराणामर्थप्रकाशने उपकारकम्, यथा सूपादीन्योदनस्य। डुदांग्क् दाने आङ्पूर्वम्, आदीयते गृह्यतेऽर्थोऽस्मादिति उपसर्गाद्दः किः ।५।३।८७। इति किप्रत्यये आदिः 'इडेत्पुसि चातो लुक्' ।४।३।९४। इत्याकारलोपः । आदिशब्दः सामीप्य–व्यवस्था–प्रकाराऽ–वयववाची, सामीप्यवाची यथा ग्रामादौ घोषः, ग्राम समीपे घोषः । ब्राह्मणादयो वर्णा इत्यत्र व्यवस्थावाची तेनात्रादिशब्देन वैश्यक्षत्रियशूद्रा एव गृह्यन्ते । आढ्या यज्ञदत्तादय इति प्रकारे यज्ञदत्तसदृशा इत्यर्थः, स्तम्भादयो गृहा इत्यवयवे स्तम्भावयवा इत्यर्थः । सामीप्यार्थवृत्त्यादिशब्दग्रहणे ककारस्य व्यञ्जनसञ्ज्ञा न स्यात्, उपलक्षणस्य कार्येऽनुपयोगात् यथा चित्रगुरा

नीयतामित्युक्ते चित्रगवोपलक्षितः पुमानेवाऽऽनीयते न तु चित्रा गौरिति। व्यवस्थार्थोऽपि न घटते वर्णसमाम्नायस्य व्यवस्थितत्वेनाव्यभिचारात् 'सम्भवे व्यभिचारे च स्याद् विशेषणमर्थवद्' इति न्यायः। कादीनां परस्परमत्यन्तवैसदृश्यात् प्रकारार्थोऽपि न युक्तिसंगतः। अवयवार्थवृत्तिस्तु युक्तिसंगतः, ककार आदिरवयवो यस्य वर्णसमुदायस्य स कादिः अत एवेह तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिः समुदायस्यावयवेषु समवेतत्वात् न्यग्भूतावयवत्वेन समुदायस्य प्राधान्यादेकवचनम्। कस्यादिः कादिरिति व्याख्याने व्यवस्थावाच्यप्यादिशब्दः, तेन स्वराणां न व्यञ्जनसञ्ज्ञा, अनुस्वारविसर्गयोस्तु भवति ततोऽनुस्वारस्य व्यञ्जनसंज्ञायां संस्कर्तेत्यत्रानुस्वाररूपव्यञ्जनात् परस्यसस्य 'धुटो धुटि स्वे वा।१।३।४८।इत्यनेन लुक् सिद्धः। विसर्गस्य तु व्यञ्जनत्वे सुपूर्वस्य दुःखयतेः क्विपि, णिलुकि, संश्च लुकि 'पदस्य।२।१।८९। इति विसर्गरूपसंयोगान्तस्थस्य खस्य लुक् सिद्धः,'विसर्गस्य च कस्या दिरिति व्युत्पत्त्या 'अपञ्चमान्तस्थो०।१।१।११। इति धुट्त्वे च धुटस्तृतीयः।२।१।७६। इति स्थान्यासन्ने गत्वे सति सुदुगिति सिद्धम्।

अपञ्चमान्तस्थो धुट् ।१।१।११।

वर्गपञ्चमान्तस्थावर्जः कादिर्वर्णो धुट् स्यात्। क ख ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ, त थ द ध, प फ ब भ, श ष स ह।

रा० गु० पञ्चमाश्चान्तस्थाश्च पञ्चमान्तस्थ न विद्यते पञ्चमान्तस्थं यस्य वर्णसमुदायस्य सोऽपञ्चमान्तस्थः 'नञत्।३।१।५१। इति अः पञ्चानां पूरणाः नो मट्।७।१।१५९। इति मटि पञ्चमाः।

पञ्चको वर्गः ।१।१।१२।

कादिषु वर्णेषु यो यः पञ्चसङ्ख्यापरिमाणो वर्णः स स वर्गः स्यात् क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म।

रा० गु० पञ्च सङ्ख्या मानमस्य सङ्ख्याडतेश्चाशत्तिष्टेः कः

।६।४।१३०।-इति कः, नाम्नो नोऽनह्नः ।२।१।९१। वृजींक् वर्जने वृज्यते पृथक्रियते विजातीयेभ्य इति वर्गः, घञ्, 'क्तेऽनिटश्चजोः कगौ घिति ।४।१।१११। इति गः ॥ १२ ॥

आद्य-द्वितीय-शषसा अघोषाः । १ । १ । १३ ।

वर्गाणाम् आद्यद्वितीया वर्णाः शषसाश्च अघोषाः स्युः । क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ, श ष स ॥ १३ ॥

आदौ भवः आद्यः 'दिगादिदेहांशाद्यः ।६।३।१२४। इति यः, 'अवर्णेवर्णस्य' ।७।४।६८। इलोपः । द्वयोः पूरणः द्वितीयः 'द्वेस्तीयः' ।७।१।१६५। अविद्यमानो घोषो येषां यथा अनुदरा कन्येति बहुव्रीहिणा गतत्वान्न मतुः । ननु 'मात्रालाघवमप्युत्सवाय मन्यन्ते वैयाकरणाः' तथापि बहुवचनं कथमिति चेत्सत्यम् अर्थगौरवाय बहुवचननिर्देशः । बहुवचनं सर्ववर्गाणामाद्यद्वितीयपरिग्रहार्थम् अन्यथा श-ष-स साहचर्यात् कखयोः केवलयोरेव ग्रहः स्यात् । अव्यभिचारिणा व्यभिचारी यत्र नियम्यते तत् साहचर्यम् ॥१३॥

अन्यो घोषवान् । १ । १ । १४ ।

अघोषेभ्योऽन्यः कादिर्वर्णो घोषवान् स्यात् । ग घ ङ, ज झ ञ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म, य र ल व ह ॥ १४ ॥

घोषो ध्वनिर्विद्यते यस्य स अघोषापेक्षया येषामतिशायी घोषस्ते घोषवन्तः तदस्यास्त्य० ।७।२।१। इति मतुप्रत्ययः, 'मावर्णान्ता०' ।२।१।९४। इति मस्य वः सिः, ऋदुदितः ।१।४।७०। इति न् 'अभ्वादेर०' ।१।४।९०। इति दीर्घः 'दीर्घङ्याब्०' ।१।४।४५। इति सिलुक् 'पदस्य' ।२।१।८९। इति लोपः । अनिति जीवति परार्थोऽनेनेति अन्यः 'स्थाद्याभासामृमन्य०' ।३५७ इत्युणादिसूत्रेण यः ॥१४॥

यरलवा अन्तस्थाः । १ । १ । १५ ।

एते अन्तस्थाः स्युः ॥ १५ ॥

स्वस्य स्वस्य स्थानस्यान्ते तिष्ठन्तीति, स्थापास्नात्रः कः ।३।१।१४२। इति के 'इडेत्पुसि ।४।३।९४। इत्याकारलोपे 'आत् ।२।४।१८। इत्यापि च अन्तस्थाः । ष्ठां गतिनिवृत्तौ 'षः सोऽष्ट्यैष्ठिवष्वष्कः ।२।३।९८। इति स्ठा 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याऽप्यभावः इति स्था । अन्तः पूर्वः । वर्णविशेषणमपि अन्तस्थाशब्दः स्वाभावात् स्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । रेफरहिता यलवा सानुनासिकनिरनुनासिक–भेदेन द्विविधा । द्विविध–भेदपरिग्रहायात्र बहु-वचननिर्देशः ॥१५॥

अं-अः ≍ क)(प-श-ष-साः शिट् ।१।१।१६।

अ-क-पा उच्चारणार्थाः, अनुस्वारविसर्गौ वज्र-गजकुम्भाकृती च वर्णौ श-ष-साश्च शिटः स्युः ॥ १६ ॥

वज्रस्याऽऽकृतिरिवाऽऽकृतिर्यस्य स गज कुम्भयोराकृतिरिवाऽऽकृति-र्यस्य स । ककारपकारौ परदेशस्थावेवोच्चारणार्थौ पठ्येते न तु अनुस्वारवत् पूर्वदेशस्थौ । रेफादेशत्वात् कखपफसंनिधावेवानयोः प्रयोगादल्पविषयत्वम् अतः सत्यपि संज्ञिसामानाधिकरण्येऽल्पीयस्त्वज्ञापनाय शिडित्येकवचनेन निर्देशः कृतः । रेफादेशत्वादनयोर्वर्णेष्वपठितयोरपि वर्णत्वज्ञापनार्थं बहुवचनम् । न च वर्णादेशत्वेन लोपस्यापि वर्णत्वमाशङ्कनीयम् तस्याभावरूपत्वात्, न चाभावो भावस्याऽऽश्रयो भवितुमर्हति अतिव्याप्तेः । अनयो रेफादेशत्वाद् व्यञ्जनसञ्ज्ञापि ज्ञातव्या ॥१६॥

तुल्य स्थानास्यप्रयत्नः स्वः ।१।१।१७।

स्थानं कण्ठादि ।

अष्टौ स्थानानि वर्णाना-मुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च, नासिकौष्ठौ च तालु च ॥ १ ॥

आस्ये प्रयत्नः आस्यप्रयत्नः, स्पृष्टतादिः, तुल्यौ वर्णान्तरेण सदृशौ

स्थानास्यप्रयत्नौ यस्य य वर्णस्तं प्रति स्वः स्यात् । तत्र अयोऽकारा उदात्ता-नुदात्तस्वरिताः प्रत्येकं सानुनासिकनिरनुनासिक–भेदात् षट् एवं दीर्घप्लुताः इत्यष्टादशभेदा अवर्णस्य, ते सर्वे कण्ठस्थानाः विवृतकरणाः परस्परं स्वाः । एवमिवर्णास्तावन्तस्तालव्याः विवृतकरणाः परस्परं स्वाः, उवर्णा ओष्ठ्या विवृतकरणाः स्वाः. ऋवर्णा मूर्धन्या विवृतकरणाः परस्परं स्वाः । लृवर्णा दन्त्याः विवृतकरणाः परस्परं स्वाः । सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति इति तानि प्रत्येकं द्वादशभेदानि । तत्र एकारास्तालव्याः विवृततराः परस्परं स्वाः । ऐकारास्तालव्या अतिविवृततराः परस्परं स्वाः । ओकारा ओष्ठ्या अति-विवृततरा परस्परं स्वाः, वर्ग्याः पञ्च पञ्च परस्परं स्वाः, यलवानामनु-नासिको निरनुनासिकश्च द्वौ भेदौ परस्परं स्वौ ॥१७॥

यत्र पुद्गलस्कन्धस्य वर्णभावापत्तिस्तत्स्थानं कण्ठादि । तिष्ठन्ति वर्णा अस्मिन् इति 'करणाधारे ।५।३।१२९। इत्यनटि स्थानम् । प्रयत्नः उत्साहः । स्पृश्यन्ते स्म स्पृष्टा वर्णाः तेषां भावः स्पृष्टता, वर्णानां प्रवृत्तिनिमित्तम्, स्पृष्टताहेतुत्वात्प्रयत्नोऽपि स्पृष्टता 'अभ्रादिभ्यः ।७।२।४६। इत्यप्रत्यये वा संज्ञाशब्दत्वात् स्त्रीत्वम् । विव्रियन्ते स्म विवृता वर्णास्तेषां भावः । नाभिप्रदेशात्प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुः ऊर्ध्वमाक्रामन्नुरः-प्रभृतीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते, स विधार्यमाणः स्थानमभिहन्ति, तस्मात् स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यते आकाशे सा वर्ण-श्रुतिः, स वर्णस्याऽऽत्मलाभः । तत्र वर्णध्वनावुत्पद्यमाने यदा स्थानकरण-प्रयत्नाः परस्परं स्पृशन्ति सा स्पृष्टता यदेषत्स्पृशन्ति तदेषत्स्पृष्टता । दूरेण यदा स्पृशन्ति सा विवृतता एषोऽन्तः-प्रयत्नः कण्ठे भवः कण्ठ्यः तालुनि भवः तालव्यः । अवर्णहविसर्गकवर्गाः कण्ठ्याः । इवर्णचवर्गयशास्तालव्याः । ऋवर्ण-टवर्गरषाः मूर्धन्याः । उवर्ण-पवर्गौ पध्मानीया ओष्ठ्याः । लृवर्णतवर्गलसा दन्त्याः । नासिकामनुगतो यो वर्ण-धर्मः स अनुनासिकः स धर्मोऽस्यास्तीति अभ्रादित्वात् अः । निर्गतोऽनुनासिकात् य स निरनुनासिकः । अनुनासिकेन सह वर्तते स सानुनासिकः । रेफोष्मणा तु अतुल्यस्थानाऽऽस्यप्रयत्नत्वात् स्वा न भवन्ति । अन्यवर्णापेक्षया तेषां स्वत्वाभावः, रेफस्य तु रेफः स्वो भवत्येव । यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तदा गात्रस्य निग्रहः कण्ठबिलस्य चाणुत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वात् रौक्ष्यं भवति तमुदात्तमाचक्षते । यदा तु मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्रस्य स्रंसनं कण्ठबिलस्य च महत्त्वं स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति तमनुदात्तमाचक्षते । उदात्तानुदात्त-

स्वरसंनिपातात् स्वरित: इत्येष: सर्वो बाह्यप्रयत्न इति । स्वर: संजातो येषां ते स्वरिता: । तारकादित्वादितच् ॥१७॥

स्यौजस्अमौशस्. टाभ्यां भिस् ङेभ्यां-भ्यस्, ङसि-भ्यां-भ्यस्, ङसोसाम् ङ्योस्सुपां त्रयी त्रयी प्रथमादिः ।१।१।१८।

स्यादीनां प्रत्ययानां त्रयी त्रयी यथासङ्ख्यं प्रथमा द्वितीया तृतीया चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी सप्तमी स्यात् ॥ १८ ॥

त्रयोऽवयवा यस्या: सा त्रयी 'द्वित्रिभ्यामयड् वा ।७।१।१५२। इति अयट् 'अणञेये० ।२।४।२०। इति ङी:, 'अस्य ङ्यां लुक्' ।२।४।८६। 'इति अलोप:' दीर्घङ्याब्० ।१।४।४५। इति सेर्लोप: 'वीप्सायाम्' ।७।४।८०। इत्यनेन द्वित्वे त्रयी त्रयी । बहुवचनं स्याद्यादेशानामपि प्रथमादिसंज्ञाप्रतिपत्त्यर्थम् । प्रकृतेरादेश: प्रकृतिवद् भवति इति न्यायात् साध्यसिद्धिर्भविष्यति किं बहुवचनेन ? बहुवचनं महती शक्तिर्यया परिभाषां न्यायांश्च विनाऽपि साध्यते इति ज्ञापितम् ॥१८॥

स्त्यादिर्विभक्तिः ।१।१।१९।

'स्' इति च 'ति' इति च उत्सृष्टानुबन्धस्य सेः तिवश्च ग्रहणम् । स्यादयः तिवादयश्च सुप्स्यामहिपर्यन्ता विभक्तः स्युः ॥ १९ ॥

विभज्यन्ते प्रकटीक्रियन्ते कर्तृकर्मादियोऽर्था अनयेति 'श्र्यादिभ्य: ।५।३।९२। इति क्ति: । आदिशब्दो व्यवस्थावाची तेन ये यदनुबन्धा यावन्तो विभक्तिसंज्ञायां पूर्वाचार्यैर्व्यवस्थापितास्त एव तदनुबन्धा एव तावन्त एवाऽत्र गृह्यन्ते इति । उत्सृष्ट: त्यक्त: अनुबन्धो येन स तस्य । अनुबध्यते कार्यार्थमुपदिश्यते स अनुबन्ध: ॥१९॥

तदन्तं पदम् । १ । १ । २० ।

स्याद्यन्तं त्याद्यन्तं च पदं स्यात्, धर्मो वः स्वं ददाति, नः शास्त्रम् ॥ २० ॥

सा विभक्तिरन्ते यस्य तत् तदन्तम्, पदिंच् गतौ, पद्यते गम्यते कारकसंसृष्टोऽर्थोऽनेनेति पदम् । ननु 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' ।७।४।११५। इति परिभाषासूत्रेण तदन्तविधेर्लाभात् 'सा पद' मित्येव सूत्रं कर्तव्यं, न तु 'तदन्तं पद' मिति शङ्कायामाह- **धर्मो वः स्वं ददाति, नः शास्त्रमिति** । अयं भावः यदि उक्तपरिभाषया तदन्तस्य लाभस्तर्हि 'स्त्यादिर्विभक्तिः' इत्यत्रापि तदन्त-लाभेन स्त्याद्यन्तस्य विभक्तिसञ्ज्ञा प्राप्नोति, तथा च सति धर्मः ददाति इत्य । दीनां स्त्याद्यन्तानां विभक्तिसंज्ञकतया पदसञ्ज्ञाऽभावाद् युष्मदस्म-दोः 'पदाद्यु०' ।२।१।२१। इति वस्नसादेशौ न स्याताम्, अतः अन्तग्रहणं कृतम्, तथा च संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्तीति सूचितम् । एवञ्च संज्ञोत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययमात्रस्यैव ग्रहणं न तदन्तस्य' इति न्यायस्यान्तपदेन सूचनं भवति । फलं च स्त्यादिर्विभक्तिरित्यादावन्तग्रहणा-भावः । डुदांग्क् दाने ।११३८। धातोः 'हुवः शिति' ।४।१।४२। द्विरुक्तौ "ह्रस्वः" ।४।१।३९ इति द्वित्वे पूर्वस्य ह्रस्वे च **ददाति** ॥२०॥

नाम सिदय्व्यञ्जने । १ । १ । २१ ।

सिति प्रत्यये यवर्जव्यञ्जनादौ च परे पूर्वं नाम पदं स्यात्, भव-दीयः, पयोभ्याम् । अयिति किम् ? वाच्यति ।

नमति गच्छत्यर्थं प्रति इति नाम 'सात्मन्नात्मन्निति' निपातनम् । इत् अनुबन्धो यस्यासौ सित्, न य् अय्, अय् च तद्व्यञ्जनं च अय्व्यञ्जनं, सिच्च अय्व्यञ्जनं च सिदय्व्यञ्जनं तस्मिन्, पदमित्युनवर्तते । भवतोऽयं भवदीयः, भवतोरिकणीयसौ ।६।३।३०। इतीयस् अनेन पदत्वात् 'धुटस्तृतीयः' ।२।१।७६। इति तस्य दः । अत्र भवतः इति विग्रहान्तर्गतषष्ठीविभक्तिमादाय भवच्छब्दस्य पदत्वे सिद्धे सिद्ग्रहणं व्यर्थं सन्नियमयति, सकारानुबन्धप्रत्यये परे एव पदसंज्ञा, न तु प्रत्ययान्तरे इति, अतः भगवतः इदं भागवतमित्यादा-

वण्-प्रत्यये परे न पदसंज्ञा । पयस्भ्याम् . पांपाने पीयते तृषार्तै रिति पयः, पय् पयते याति स्वभावान्निम्नप्रदेशमिति पयः 'सो रुः' ।२।१।७२। सूत्रात्सस्य रुत्वं 'घोषवति' ।१।३।२१। उकारः, 'अवर्णस्ये०' ।१।२।६। सूत्रादोत्वम् । ननु 'नाम सिदय्व्यञ्जने इत्येव' सूत्र्यतां, किमित्यय्ग्रहणमिति शङ्कायामाह– **वाच्यतीति**-वाचमिच्छति वाच्यति 'अमाव्ययात्क्यन्' ।३।४।२३। 'कर्तर्यनद्भ्यः ।३।४।७१। शवोऽनाकाङ्क्षायामपि 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' इति न्यायेन शव् । अत्र यकारे परे वाचः पदत्वप्राप्त्या चकारस्य कः स्यात्, तद्व्यावृत्त्यर्थं यवर्जनम् । यद्यपि राजीयतीत्यादौ 'नाम सिदय्व्यञ्जने' ।१।१।२१। इति पदत्वप्राप्त्या 'नं क्ये' इति सूत्रं व्यर्थं सत् क्यप्रत्यये परे नकारान्तमेव नाम पदसंज्ञं भवतीति नियमयति तथा च वाच्यतीत्यादौ न पदसंज्ञा प्राप्नोतीति यवर्जनं व्यर्थं, तथापि सत्सु साधु सत्यमित्यादौ पदसंज्ञाव्यावृत्तये यवर्जनं कृतम् ॥२१॥

नं क्ये ।१।१।२२।

'क्ये' इति क्यन्क्यङ्क्यङ्षां ग्रहणम्, नान्तं नाम क्ये परे पदं स्यात् । राजीयति, राजायते, चर्मायति ॥ २२ ॥

नं क्ये ॥ क्यन्क्यञ्क्यङ्षां ग्रहणमिति, नात्र, क्यवक्यपोर्ग्रहणं नामाधिकारत्वात् । राजानमिच्छति राजीयति 'अमाव्ययात् क्यन् ।३।४।२३। पदत्वात् क्यनि ईकारः । राजेवाऽऽचरति राजायते, क्यङ् ।३।४।२६। इति क्यङि 'दीर्घश्च्विक्यङ्' ।४।३।१०८। दीर्घः । चर भक्षणे च 'मन्' ।९११। इत्युणादिमन्प्रत्यये चर्म इति । अचर्म चर्म भवति चर्मायति, अत्र चर्मन् शब्दश्चर्मवदर्थकः, चर्मणः प्रागतत्त्वासम्भवेन च्व्यर्थघटनात्, पदत्वान्नकारलोपः 'डाच् लोहिता०' ।३।४।३०। इति क्यङ्ष्, अयिति प्रतिषेधात्पूर्वेणाप्राप्ते वचनम् ॥२२॥

न स्तं मत्वर्थे ।१।१।२३।

सान्तं तान्तं च नाम मत्वर्थे परे पदं न स्यात्, यशस्वी, तडित्वान् । ॥ २३ ॥

स् च तश्च स्तं, मतोरर्थः मत्वर्थः मतुरर्थोऽस्त्यस्येति मत्वर्थस्त-स्मिन् । यशोऽस्यास्तीति यशस्वी, 'अस्तपोमायामेधास्रजो विन् ।७।२।४७। सूत्रात् विन्, 'इन् हन् पूषा०' ।१।४।८७। इति दीर्घः, तडित् विद्यते यस्यासौ 'तदस्या०' ।७।२।१। इति मतुप् । 'मावर्णान्तो०' ।२।१।९४। इति मस्य वः, अत्र पदत्वनिषेधाद्रेफदकारौ न भवतः । तथा मतोरपि मत्वर्थाऽव्यभिचारान्म-त्वर्थशब्देन ग्रहणम् । 'नाम सिदय्० ।१।१।२१ इति प्राप्तौ प्रतिषेधोऽयम् । अत्र विचारः – मतुशब्दो मत्वर्थे लाक्षणिकः 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' मतुश्च स्वार्थेन सप्तम्याधारतया षष्ठ्यर्थसम्बन्धेन वाऽव्यवभिचारात् अव्यभिचारि-त्वलक्षणो सम्बन्धः तेन मतुशब्दः सप्तम्यर्थाधारतापरः षष्ठ्यर्थसम्बन्धपरो वा तदर्थकाः प्रत्यया अपि मत्वर्था भवन्ति यथा उष्ट्रमुख शब्दे: उष्ट्रः स्वस्य मुखं भवितु नार्हतीति उष्ट्रस्य उष्ट्रमुखे लक्षणा उष्ट्रमुखमपि प्राण्यन्तरस्य मुखं भवितु नार्हतीति उष्ट्रमुखस्य उष्ट्रमुखसदृशे लक्षणा इयं लक्षितलक्षणो-च्यते-लक्षितस्य लक्षणा लक्षितलक्षणा । यथा नैयायिका द्विरेफशब्दस्य द्विरेफविशिष्टे भ्रमरशब्दे लक्षणां मन्यन्ते भ्रमरशब्दस्य च भ्रमरशब्दवाच्ये लक्षणां कुर्वन्ति ॥२३॥

मनुर्नभोऽङ्गिरोवति ।१।१।२४।

एतानि वति परे पदं न स्युः । मनुष्वत् नभस्वत्, अङ्गिरस्वत् । ॥ २४ ॥

मनुश्च नभश्च अङ्गिराश्च मनुर्नभोऽङ्गिरः वति सप्तमी । मनुरिव मनुष्वत्, नभ इव नभस्वत्, अङ्गिरा इव अङ्गिरस्वत् । अङ्गिरा नाम ऋषिः 'स्यादिरिवे' ।७।१।५२। इति वत् 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति षकारः । अत्र पदत्वाभावात् न 'सो रुः' ।२।१।७२।,पदमध्यत्वात् मनुष्वदित्यत्र षकारः ॥२४॥

वृत्त्यन्तोऽसषे ।१।१।२५।

परार्थाभिधायी समासादिर्वृत्तिः, तस्या अन्तः अवसानं पदं न स्यात्, असषे-सस्य तु षत्वे पदमेव । परमदिवौ, बहुदण्डिनौ । असष इति

किम् ? दधिसेक् ॥ २५ ॥

वृतुङ् वर्तने, वर्तनं वृत्तिः, स्त्रियां क्तिः ।५।३।९१। वर्तनं तु अवयवार्थापेक्षया परस्य समुदायार्थस्य प्रतिपादनम् । वर्तनात्मिकायाः क्रियाया अन्तो भवितुं नार्हतीति लक्षणया वृत्तिशब्दः वृत्तिमद्बोधकः । यद्वा वर्तन्ते स्वार्थपरित्यागेन पदान्यत्रेति आधारे क्तौ वृत्तिः पदसमुदायादिरूपा । सा त्रिधा समासवृत्तिः, तद्धितान्तवृत्तिः, नामधातुवृत्तिश्चेति । यथा राजपुरुषः, औपगवः, पुत्रकाम्यतीत्यादि । वृत्तेरन्तः वृत्त्यन्तः, सस्य षः सषः, न सषः असषः तस्मिन् । **परार्थाभिधायीति–** अवयवार्थापेक्षयाऽन्यस्य समुदायार्थस्याभिधायकम्, तद्घटकैः पदैरितरार्थान्वितस्वार्थस्यैवोपस्थानं सा वृत्तिरिति यावत् । **परमदिवाविति–** परमा द्यौर्ययोस्तौ अत्र परमदिव् औ, इति दशायाम् औ-विभक्तेर्वृत्त्यघटकत्वेन परमदिव् इत्यस्य वृत्त्यन्तत्वं बोध्यम् । 'परतः स्त्री पुंवत् ।३।२।४९। इति पुंवद्भावः दण्डाः सन्त्येषामिति दण्डिनः । बहवो दण्डिनो ययोस्तौ, यद्वा ईषदूनौ दण्डिनौ बहुदण्डिनौ, नाम्नः प्राग्बहुर्वा' ।७।३।१२। सूत्रात्पूर्वं बहुप्रत्ययः षिचीत् क्षरणे, सिञ्चतीति सेक्, दध्नः सेक् दधिसेक् । अत्र षत्वे कर्तव्येऽनेन सूत्रेण पदसंज्ञायां सकारस्य पदादित्वेन 'नाम्यन्तस्था० ।२।३।१५। इत्यनेन षत्वाभावः सिध्यति । अन्तर्वर्तिन्या विभक्त्याः स्थानिवद्भावेन पदत्वं प्राप्तमनेन निषिध्यते । वृत्तिग्रहणं किम्-मेत्रस्य कर्म । अन्तग्रहणं किम् ? राजवाक् । वाक्त्वचस्रुच इति त्रयाणां वृत्तौ न द्वयोः पृथग्वृत्तिरिति मध्यमस्य निषेधो न भवति । अथ वाक्त्वचमित्यत्र समासान्ते अप्रत्यये सति वृत्त्यन्तत्वाभावात्पदत्वं प्राप्नोति, तथा च कत्वं स्यात्, उच्यते समासान्तरं समासान्तप्रत्ययस्य विधानेन त्वचो वृत्त्यन्तत्वान्न कत्वम् समासान्तप्रत्ययश्च वृत्तिबहिर्भूत इति । वृत्त्यन्तशब्दात् सेः ओकारनिर्देशः 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' 'न स्वरान्तरये' इति न्यायौ सूचयति । वृत्त्यन्त + उ + असपे इति स्थिते 'इवर्णादेः ।१।२।२१। इति वत्वे वृत्त्यन्तवसषे' इति करणापत्तिरिति चेत् 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' इति न्यायात् एकपदाश्रितत्वेनान्तरङ्गत्वात् 'अवर्णस्ये०' ।१।२।६। इति पूर्वेण सहौत्वमेव भवति न तु 'इवर्णादि' ।१।१।२१। इति वत्वं पदद्वयाश्रितत्वेन बहिरङ्गत्वात् । नन्वसिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इति न्यायाद् 'अतोऽति रोः' ।१।३।२०। इत्यनेन कृतस्यात्वस्य पदान्तरस्थाकारसापेक्षत्वेन बहिरङ्गस्य 'अवर्णस्ये०' ।१।२।६। इति प्राक्स्थिताकारेण सहौत्वे एकपदाश्रितत्वेनान्तरङ्गे कर्तव्येऽसिद्धत्वात् 'वृत्त्यन्तो०' इति निर्देशोऽसङ्गत इति चेत्सत्यमत्र 'वृत्त्यन्तो०' इति निर्देशो ज्ञापयति यत् 'न

स्वरानन्तर्ये' इत्यपि न्यायोऽस्ति, 'स्वरयोरव्यवधाने सति बहिरङ्गमन्तरङ्गे कर्तव्येऽसिद्धं न भवतीत्यर्थः ॥२५॥

सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् ।१।१।२६।

प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा विशेषणैः सहितं प्रयुज्यमानमप्रयुज्यमानं वा आख्यातं वाक्यं स्यात् । धर्मो वो रक्षतु, लुनीहि ३, पृथुकांश्च खाद, शीलं ते स्वम् ॥ २६ ॥

विशिष्यते व्यवच्छिद्यते विशेष्यमनेनेति करणेऽनट्, सह विशेषणैर्वर्तते यत्तत्सविशेषणम् 'सहस्य सोऽन्यार्थे ।३।२।१४३। ख्यांक् प्रकथने, साध्यार्थाभिधायितया आख्यायते कथ्यते इत्याख्यातम्, वचंक् भाषणे उच्यते इति वाक्यम् । **प्रयुज्यमानैरित्यादि** क्रियाविशेषणस्य तत्साधनस्य वाऽव्यवधानेनातद्रूपव्यवच्छेदकं परम्पराविशेषणमुच्यते, विशेषणान्तरद्वारेण च व्यवच्छेदकं परम्परा–विशेषणमुच्यते, उभयविधैरपि विशेषणैः प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा सहितं तथाविधं विशेष्यमाख्यातं वाक्यं स्यादित्यर्थः । आख्यातपदेन क्रियावाचकपदस्य ग्रहणं न तु स्याद्यन्तमात्रस्य, तेन चैत्रेण शयितव्यमित्याद्यपि वाक्यं भवति । धर्मो वो रक्षतु 'पदाद्यु०' ।२।१।२१। इति वस् । दुर्गतिपतन्तं जन्तुसंतानं धरति स धर्मः । रक्ष पालने, पञ्चमी तुव् । इदं प्रयुज्यमानविशेषणं, लुनीहि ३ 'क्षियाशीः०' ।७।४।९२। इति प्रैषार्थ इकारः प्लुतः एतदप्रयुज्यमानविशेषणम् । प्रयुज्यमानाख्यातकं यथा-पृथुकांश्च खाद, शीलं ते स्वमित्यप्रयुज्यमानाख्यातकम् । शब्दप्रयोगोऽर्थबोधोपायः, शब्दप्रयोगाभावेऽपि अर्थात् अप्रयुज्यमानेऽपि पदे विशेष्य विशेषण-भावे अतिप्रसङ्गः स्याद्,अन्यस्यापि तत्प्राप्तेः, अप्रयुज्यमानत्वात्सर्वं सर्वस्य विशेषणं विशेष्यं च स्यान्नियामकाभावात्, क्वचित्तयोः प्रयोगस्य व्यर्थता च स्यादिति न च वाच्यम्-लोकात् प्रकरणाद्वा विशेष्यविशेषणयोर्नियतयोः प्राप्त्या तयोरप्रयोगात् । ननु लोकादेव वाक्यसिद्धिः कथमेतत्सूत्रारम्भ इति चेन्मैवम् लोको हि साकाङ्क्षत्वे सति आख्यातभेदेऽपि एकवाक्यत्वं स्वीकरोतीति वाक्यभेदार्थं वचनम् ॥२६॥

अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम ।१।१।२७।

धातुविभक्त्यन्तवाक्यवर्जमर्थवच्छब्दरूपं नाम स्यात् । वृक्षः, स्वः, धवश्च । अधातुविभक्तिवाक्यमिति किम् ? अहन्, वृक्षान्, साधुर्धर्मं ब्रूते ॥ २७ ॥

डुधांगक् धारणे च दधाति क्रियालक्षणमर्थमिति धातुः, धातुश्च विभक्तिश्च वाक्यं च धातुविभक्तिवाक्यं ततो नञ्समासः । अर्थ्यते इति, ॠक् गतौ अर्यते गम्यते पुरुषैरितिवाऽर्थः । अभिधेयद्योत्यलक्षणोऽर्थोऽस्यास्तीत्यर्थवन्नाम । **विभक्त्यन्तेति** 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' ।७।४।११५। सूत्रात् विभक्त्यन्तस्य लाभः । **अर्थवच्छब्दरूपमिति** अर्थवदिति विशेषणत्वेन स्वानुगुणं विशेष्यमध्याहृतमित्याह शब्दरूपम् । अर्थश्च द्वेधा, अभिधेयरूपः, द्योत्यरूपश्च । अभिधेयश्च स्वार्थद्रव्यलिङ्गसङ्ख्याशक्तिभेदात्पञ्चधा, द्योत्यश्च समुच्चयादिः, एतौ द्वौ शब्दे वाच्यतया स्तः इत्यर्थवच्छब्दरूपं ज्ञेयम् । **ओव्रश्चौत् छेदने** वृश्च्यते काष्ठार्थिभिरिति वृक्षः । स्वः, स्वर्ग इत्यर्थेऽव्ययम्, धुनातीति धवः वृक्षविशेषः हनक् हिंसागत्योः, ह्यस्तनी दिव्, 'अड्धातोः' ।४।४।२९। इत्यडागमः, 'व्यञ्जनाद्देः' ।४।३।७८। इति दिलोपः । अत्र नामत्वाभावात् 'नाम्नो०' ।२।१।९१। इति नलोपो मा- भूत् । न च अहन्नित्यस्य विभक्त्यन्तत्वात् नामत्वाभावात् 'नाम्नो०' ।२।१।९१। इति नलोपो न भवेदिति धातुवर्जने प्रयोजनाभाव इति वाच्यम्-हन्तीत्यत्र विभक्तेःपरत्वे हनो नामत्वे 'नाम सिदय०' ।१।१।२१। इति पदत्वे नलोपः स्यात्तद्व्यावृत्तये धातुवर्जनमिति । **वृक्षानिति**-अत्र नामत्वे नलोपः स्यात् न च वृक्षानित्यत्र 'शसोऽता सश्च' ।१।४।४९। इति नकारविधानसामर्थ्यान्नलोपो न भवेदिति विभक्त्यन्तवर्जनं व्यर्थमिति वाच्यम् कारकानित्यादौ नविधानस्य चरितार्थत्वान्नलोपः स्यादिति । विभक्त्यन्तवर्जनाच्च आबादिप्रत्ययान्तानां नामसंज्ञा स्यादेव । साधंट् संसिद्धौ उत्तमक्षमादिभिः तपोविशेषैर्भाविनात्मा साध्नोति रत्नत्रयीमिति साधुः । ब्रूंग्क् व्यक्तायां वाचि, साधुर्धर्मं ब्रूते, इत्यादिवाक्यस्य यद्यपि विभक्त्यन्तत्वान्न नामसंज्ञेति शङ्का सम्भवति तथापि ब्रूते इत्यस्यैव विभक्त्यन्तत्वात् 'साधु धर्मं ब्रूते इति समुदायस्य च विभक्त्यन्तत्वाभावात् नामसंज्ञाप्राप्तौ स्यादिः स्यादतो वाक्यवर्जनम् ।

अर्थवदिति विशेषणत्वेन स्वानुगुणं विशेष्यं शब्द-रूपं निर्दिशतीति वाक्यस्य नामसञ्ज्ञाप्राप्तिरेव नास्तीति वाक्यवर्जनम् किमर्थमिति चेन्मैवं समासादेः समुदायस्य नामसंज्ञा भवतीति ज्ञापनार्थम् ॥२७॥

शिड्घुट् ।१।१।२८।

जस्शसादेशः शिघुट् स्यात् । पद्मानि तिष्ठन्ति पश्य वा ॥ २८ ॥

पद्म + जस् 'नपुंसकस्य० ।१।४।५५। सूत्रात् शिरादेशः । 'स्वराच्छौ' ।१।४।६५। इति नोन्तः 'शिघुंट्' ।१।१।२८। इत्यस्मात्सूत्रात् घुट्-त्वात् 'नि दीर्घः' ।१।४।८५। इति दीर्घः । ष्ठां गतिनिवृत्तौ 'षः सोऽ०' ।२।३।९८। इति सत्वे 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः' इति न्यायात् ठस्य थत्वे 'स्था+अन्ति' इति स्थिते 'श्रौतिकृवु०' ।४।२।१०८। इति तिष्ठादेशे, 'लुगस्या०' ।२।१।११३। अलोपे च तिष्ठन्ति । दृशं प्रेक्षणे पञ्चमीहिप्रत्यये पश्यादेशे 'अतः प्रत्यया०' ।४।२।८५। इति हिलोपे च पश्य । जस्शसादेश इति अत्र जस्साहचर्यात् स्यादेरेव शसो ग्रहणं न तु तद्धितशसः, तेन एकशो ददाती-त्यादौ 'सङ्ख्यैका० ।७।२।१५१। इति शसो न घुट्संज्ञा ॥२८॥

पुंस्त्रियोः स्यमौजस् ।१।१।२९।

स्यादयो पुंस्त्रीलिङ्गयोः घुटः स्युः । राजा, राजानौ, राजानः, राजानम्, राजानौ, सीमा, सीमानौ, सीमानः, सीमानम् ॥ २९ ॥

पुमांश्च स्त्री च पुंस्त्रियौ तयोः । अलौकिकोऽयं निर्देशोऽन्यथाऽ-र्थत्वात्स्त्रीशब्दस्य प्राग्निर्देशे 'स्त्रियाः पुंसो० ।७।३।९६। सूत्रेण समासान्ते च स्त्रीपुंसयोरिति स्यात् औश्च औश्च आवौ, सिश्च अम् च आवौ च जस् च स्यमौजस्, स्यमौजसिति व्युत्क्रमाभिधानमौकारद्वयस्य ग्रहणाय । राजन्+सि 'नि दीर्घः ।१।४।८५। दीर्घङ्याब्० ।१।४।४५। 'नाम्नो नो० ।२।१.९१। स्यति सन्देहमिति सीमा इदं स्त्रीलिङ्गस्योदाहरणम् ॥२९॥

स्वरादयोऽव्ययम् ।१।१।३०।

स्वरादयोऽव्ययानि स्युः । स्वर, अन्तर्, प्रातरित्यादि ॥ ३० ॥

स्वर् आदिर्येषां ते स्वरादयः । विपूर्वः इणक् गतौ न व्येति, न क्षयं यातीत्यव्ययम्, लिहादिभ्योऽच्' ।५।१।५०। इत्यच् ।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु, यन्न व्येति तदव्ययम् ॥

स्वरिति- स्वर्गे परलोके च । अन्तरिति-मध्ये । प्रातरिति प्रभाते । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्-एव प्रकाराः स्वरादयो नत्वेतावन्त इति ॥३०॥

चादयोऽसत्वे ।१।१।३१।

अद्रव्ये वर्तमानाश्चादयोऽव्ययानि स्युः । वृक्षश्चेत्यादि ॥ ३१ ॥

चादिर्येषां ते 'जस्येदोत्' ।१।४।२२। 'सो रुः ।२।१।७२। अतोऽति रोरुः ।१।३।२०। 'अवर्णस्ये०' ।१।२।६। 'एदोतः०' ।१।२।२७। सीदतोऽस्मिन् लिङ्गसङ्ख्ये इति सत्वम्, लिङ्गसंख्याद्याश्रयो द्रव्यं सत्त्वम्, इदं-तदित्यादि-सर्वनामव्यपदेशभागिति यावत् असत्त्वे कोऽर्थः यत्र सत्त्वरूपेऽनुकार्यादावर्थे एषां प्रवृत्तिस्तदा चादीनामव्ययसंज्ञा न भवति तथा चः समुच्चये । 'वृक्षस्+च' 'चटते सद्वितीये' ।१।३।७। बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥३१॥

अधण्तस्वाद्याः शसः ।१।१।३२।

धण्वर्जास्तस्वादयः शस्पर्यन्ता ये प्रत्ययास्तदन्तं नामाव्ययं स्यात् देवा अर्जुनतोऽभवन्, ततः, तत्र, बहुशः । अधणिति किम् ? पथिद्वैधानि ॥ ३२ ॥

न धण् अधण्, 'नञत्' ।३।२।१२५। तसुरादिर्येषां ते तस्वादयः अधण् च तत् तस्वादि च अधण्तस्वादि, शस् आऽभिविधि येषां ते आशसः । पञ्चमी । अर्जुनतः अर्जुनस्य पक्षे इत्यर्थः 'व्याश्रये तसुः' ।७।२।८१। इति तसुः । अव्ययम् । भू सत्तायाम्, ह्यस्तनी अन् 'अड्धातोः०' ।४।४।२८। इत्यडागमः कर्तरि शव्, 'नामिनो गुणोऽ०' ।४।३।१। इति गुणः 'ओदौतोऽवाव्' ।१।२।२४। इत्यभवन् । तनूयी विस्तारे तनोति परोक्षप्रतीतिमिति तद्, तस्मादिति ततः 'किमद्व्यादिसर्वाद्य०' ।७।२।८९। तस्प्रत्ययः । तस्मिन् तत्र 'सप्तम्याः' ।७।२।९४। इति त्रप् । बहुभिः क्रीतो बहुशः 'बह्वल्पार्थात्०'

।७।२।१५०। इति शस् । द्वौ प्रकारौ एषां तानि द्वैधानि 'तद्वति०' ।७।२।१०८। इति धण् पथां द्वैधानि पथिद्वैधानि । अत्र नाव्ययसंज्ञा । ३२॥

विभक्तिथमन्ततसा-द्याभाः । १ । १ । ३३ ।

विभक्त्यन्ताभाः थमवसान-तसादि प्रत्ययान्ताभाश्चाव्ययानि स्युः। अहंयुः, अस्तिक्षीरा गौः, कथम्, कुतः ॥ ३३ ॥

थम् अन्ते येषां ते थमन्ताः । तस् आदिर्येषां ते तसादयः थमन्ताश्च ते तसादयश्च विभक्तयश्च थमन्ततसादयश्च विभक्तिथमन्ततसादयः, तेषामाभा सादृश्यं येषां ते । उष्ट्रमुखादित्वाद् बहुव्रीहिः । विभक्त्यागमनस्यानु नाम्नो धातोर्वा यद्रूपं तद्रूपतुल्यं यदन्यद्रूपं तद् विभक्त्यन्ताभम् तच्चाव्ययम् एवं तसादिथमन्तप्रत्ययेभ्यो यद्रूपं निष्पद्यते तद्रूपतुल्यं यद्रूपं तदपि अव्ययम् । विभक्तयो द्वैधा स्यादयः त्यादयश्च । अहं स्वतन्त्रं पदम् अहं विद्यतेऽस्येति 'ऊर्णाहं०' ।७।२।१७। सूत्रात् युस् । अहमस्मच्छब्दस्य प्रथमाविभक्त्यन्ततुल्यरूपमिति अव्ययम् अहंयु-शब्दोऽव्ययं नास्ति । विभक्तिप्रतिरूपकस्याव्ययत्वे न किमपि प्रयोजनमिति नाशङ्कनीयम् विभक्त्यन्तरानुत्पत्तौ 'ऐकार्थ्ये' ।३।२।८। सूत्राद् विभक्तेर्लुपि अहं पुत्रोऽस्या 'त्वमौ०' ।२।१।११। सूत्रात् मत्पुत्र इत्यादि वैरूप्यमापद्येत ।

अस्ति विद्यमानं क्षीरं यस्याः सा अस्तिक्षीरा दुग्धवती गौरित्यर्थः स्यादिविभक्त्यन्ताभस्योदाहरणमिदम् । अत्रास्तिशब्दस्याव्ययत्वात् 'एकार्थं०' ।३।१।२२। सूत्रात्समासः । नामत्वाभावे अस्तेः क्षीरेण सह समासो न स्यात् । कथम्-केन प्रकारेणेत्यर्थः 'कथमित्थम्' ।७।२।१०३। कुतः कस्मादित्यर्थः 'किमद्व्यादि०' ।७।२।८९। अहं, शुभम्, कृतम्, पर्याप्तम्, येन, तेन, चिरेण, अन्तरेण, ते, मे, चिराय, अह्नाय, चिरात्, अकस्मात्, चिरस्य, अन्योन्यस्य, मम, एकपदे, अग्रे, प्रगे, प्राह्वे, हेतौ, रात्रौ, वेलायाम्, मात्रायाम् एते प्रथमादि-विभक्त्यन्तप्रतिरूपकाः । अस्ति, नास्ति, असि, अस्मि, विद्यते, भवति, एहि, ब्रूहि, मन्ये, शङ्के, अस्तु, भवतु, पूर्यते, स्यात्, आस, आह, वर्तते, नवर्तते, याति, नयाति, पश्य, पश्यत, आदह, आदङ्क, आतङ्कः इति तिवादि-विभक्त्यन्तप्रतिरूपकाः ॥३३॥

वत्तस्याम् ।१।१।३४।

वत्-तसि-आम्प्रत्ययान्तमव्ययं स्यात् । मुनिवद् वृत्तम्, उरस्तः, उच्चैस्तराम् ॥ ३४ ॥

वच्च तसिश्च आम् च वत्तस्याऽऽम् 'अनतो' ।१।४।५९। इति लोपः मन्यते संसाराऽसारतामिति मुनिः । मुनेरर्हं मुनिवद्, 'तस्यार्हे०' ।७।१।५१। वत् । उरसा एकदिक् उरस्तः 'यश्चोरस०' ।६।३।२१२। तस् । इदमनयोर्मध्येऽतिशयेनोच्चैरित्यच्चैस्तराम् 'द्वयोर्विभज्ये०' ।७।३।६। तरप् 'किन्त्याद्ये०' ।७।३।८। इति आम् । वत्तसिसाहचर्यात् 'साहचर्यात्सदृशस्यैव ग्रहणम्' इति न्यायात् वत्तसी अविभक्ती स्वंअविभक्तेरेवामो ग्रहणं, तेन 'किन्त्याद्येऽ० ।७।३।८। विहितस्य 'धातोरनेक० ।३।४।४६। 'तत्र क्वसु०' ।५।२।२। इति क्वसुकानस्थाननिष्पन्नस्य चामो ग्रहणं न तु षष्ठीबहुवचनस्य । क्वसुकानस्थाननिष्पन्नस्यामो ग्रहणादेव पाचयांचकृषेत्यत्र टालोपे पदत्वादनुस्वारसिद्धिः, उच्चैस्तरामित्यत्राव्ययत्वात् स्यादेर्लुप् पाचयांचकृषेत्यादावामन्तस्याव्ययत्वेऽपि 'अव्ययस्य को द् च' ।७।३।३१। इति अक् तु न भवति अपरिसमाप्तार्थत्वेनामन्तस्य कुत्सिताद्यर्थसम्भवात् ॥३४॥

क्त्वातुमम् ।१।१।३५।

क्त्वातुम्-अम् प्रत्ययान्तमव्ययं स्यात् । कृत्वा, कर्तुम्, यावज्जीवमदात् ॥ ३५ ॥

क्त्वा च तुम् च अम् च क्त्वातुमम् 'अनतो०' ।१।४।५९। इति लोपः अमिति 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्येन' इति न्यायात् णम्खणमोरुत्सृष्टानुबन्धयोर्ग्रहणम् ह्यस्तन्यद्यतनोद्वितीयैकवचनानामम् 'साहचर्यात्सदृशस्यैव ग्रहणम्' इति न्यायेन व्यावृत्तः । द्वितीयैकवचनस्याप्यव्ययत्वे तु 'अव्ययस्य को द् च' ।७।३।३१। इत्यक् स्यात्एवं देवस्य दर्शनं कुर्वित्यत्र 'तृन्नुदन्ताव्यया० ।२।२।९०। इति षष्ठी प्रतिषिध्येत । डुकृंग् करणे, करणं पूर्वं कृत्वा 'प्राक्काले' ।५।४।४७। इति क्त्वा । करणायेति कर्तुं 'क्रियायां क्रियार्थायां० ।५।३।१३' इति तुम् । जीव प्राणधारणे 'यावतो विन्दजीव०' ।५।४।५५। इति णमि यावज्जीवम् जीवन-

पर्यन्तमित्यर्थः । अदात् डुदाञ्‌ अद्यतनीदि 'सिजद्यतन्याम्' ।३।४।५३। सूत्रात् सिच् । पिबैतिदा० ।४।३।६६। सूत्रात् सिचो लुप् । 'अड्धातोरादि०' ।४।४।२९। सूत्रादडागमः ॥३५॥

गतिः ।१।१।३६।

गतिसंज्ञमव्ययं स्यात् । अदः कृत्य । "अतः कृकमि" । इत्यादिना रः सो न स्यात् ॥ ३६ ॥

गम्लृ गतौ गमनं गतिः, 'स्त्रियां क्तिः' ।५।३।९१। 'यमिरमिनमि०' ।४।२।५५। इति म्लोपः । अदः करणं पूर्वम् अदः कृत्य एतत्कृत्वेत्यर्थः, अत्र अदः इत्यस्य 'अग्रहा०' ।३।१।५। सूत्रेण गतिसंज्ञा । अदस्कृत्य न भवति अनेन सूत्रेणाव्ययसंज्ञा । अव्ययस्य रस्य सो निषिध्यते । 'अनञः क्त्वो यप् ।३।२।१५४। 'ह्रस्वस्य तः ।४।४।११३। इति तागमः 'अतःकृकमिकंस०' ।२।३।५। इति सकाराभावः । 'ऊर्या० ।३।१।२। सूत्रात् जीविको० ।३।१।१७। सूत्रं यावद्‌गतिसञ्ज्ञा ॥३६॥

अप्रयोगीत् ।१।१।३७।

इह शास्त्रे उपदिश्यमानो वर्णस्तत्समुदायो वा प्रयोगेऽदृश्यमान इत् स्यात् । एधते, यजते, चिक्रीयते ॥ ३७ ॥

युजूंपी योगे प्रयोजनं प्रयोगः 'भावाकर्त्रोर्घञ् ।५।३।१८। इति घञ् । प्रयोगोऽर्थात् शब्दोस्योच्चारणम् । प्रयोगोऽस्यास्तीति प्रयोगी । 'अनोऽनेकस्वरात्' ।७।२।६। इतीन् । न प्रयोगी अप्रयोगीति संज्ञी । इणक् गतौ, एति गच्छतीति इत् 'क्विप् ।५।१।१४८। इति क्विप् इदिति संज्ञा । अप्रयोगीत्वानुवादेनेत्सञ्ज्ञाविधानाच्चास्य प्रयोगाभावः सिद्धः । वर्णस्तत्समुदायो वेति-कस्मैचित् कार्यार्थमुच्चार्यमाणं एकवर्णो वा द्वित्र्यादिवर्णसमुदायो वा प्रयोगकालेऽदृश्यमान इत्संज्ञो भवतीत्यर्थः । एधि वृद्धौ इत्यत्र इकारः एक इत् । 'इङितः कर्तरि ।३।३।२२। इत्यात्मनेपदार्थः । यजीं देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु

ईकारानुस्वारो इतौ 'ईकारः; ईगितः ।३।३।९५। सूत्रात्फलवत्यात्मनेपदार्थः । अनुस्वारः 'एकस्वरा०' ।४।४।५६। इत्यनिट्त्वार्थः । चिञङ् आश्चर्ये चित्र-माश्चर्यं करोति 'नमो वरि०' ।३।४।२७। क्यनि ईः ङित्त्वादात्मनेपदम् ।

वर्णो वर्णसमूहो वा, पाठे समुपलभ्यते ।
न दृश्यते प्रयोगे यः, स इत्संज्ञक उच्यते ।।३७।।

अनन्तः पञ्चम्या प्रत्ययः ।१।१।३८।

पञ्चम्यर्थाद् विहितोऽन्तशब्दाऽनिर्दिष्टः प्रत्ययः स्यात् । "नाम्नः प्रथमैकाद्विबहौ" । वृक्षः । अनन्त इति किम् ? आगमः प्रत्ययो मा भूत् ॥ ३८ ॥

न विद्यते अन्तः- अन्तशब्दो वाचकोऽभिधायको यस्य स अनन्तः । "अन् ।३।२।१२९। सूत्रादनादेशः । पञ्चम्याः, 'स्त्रीदूतः ।१।४।२९। सूत्रात् दासादेशः प्रति इंणक् गतौ प्रतीयतेऽर्थो येनासौ प्रत्ययः । सूत्रे पञ्चमीति प्रत्ययोऽभिधीयते, स च प्रत्ययः न प्रकृति-मन्तरेणेति येन विना यन्न भवति तत्तेनाऽऽक्षिप्यते । तथा चार्थाविनाभावि-त्वादर्थ आक्षिप्यते इति-प्रकृते राक्षेपादाह **पञ्चम्यर्थादिति** पञ्चम्यन्ता-द्विहित इत्यर्थः । 'नाम्नः प्रथमैकद्वि० ।२।२।३१। सूत्रात् नाम्नः परा सिऔजस् लक्षणा प्रथमा विधीयते इति नामशब्दात्पञ्चमी, पञ्चम्यन्तात्प्रथमा विहिता अन्तशब्दाऽनिर्दिष्टश्च अत प्रथमायाः प्रत्ययत्वम् । **आगमः प्रत्ययो मा भूदिति**-आगमस्य प्रत्ययत्वे हि अनन्दत् इत्यादौ 'उदितः० ।४।४।९८। इत्यादिना नागमेन धातोः खण्डितत्वात् नन्दधातोः प्राक् 'अड्धातो० ।४।४।२९। सूत्रा-दडागमो न स्यात् । अरुणद् इत्यत्र 'रुधां स्वराच्छ्नो नलुक् च' ।३।४।८२। सूत्रात् श्नप्रत्ययवत् 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते इति न्यायाद् नागम-विशिष्टस्यापि धातुत्वमक्षतमिति चेत् उच्यते तथा सति इदमेवान्तग्रहणं एतन्न्यायस्यानित्यत्वं ज्ञापयति अत एव यका सका इत्यादौ 'इच्चापुंसोऽ-नित्क्याप्परे' ।२।४।१०७। इति सूत्रेण इकारप्राप्त्या 'अस्यायत्०' ।२।४।१११। इत्यनेन इत्वप्रतिषेधः सार्थकः अन्यथा ककारस्य प्रकृत्यवयवत्वे-तु इत्वप्राप्ति-रेव न स्यात् । मा भूदित्यत्र 'माङ्यद्यतनी ।५।४।३९। इत्यद्यतनी ।

डत्यतु संख्यावत् ।१।१।३९।

डत्यन्तमत्वन्तं च संख्याकार्यभाक् स्यात् । कतिकः, यावत्कः ॥ ३९ ॥

डतिश्च अतुश्च डत्यतु समाहारद्वन्द्वः अथवा डति अतु व्यस्तमेव सौत्रत्वाद् विभक्तेर्लोपः । डतो डकारोऽनुबन्धः औणादिकातिप्रत्ययमादाया-तिप्रसङ्गनिरासार्थः 'अतु' इत्यत्रोकारानुबन्धविरहे 'पञ्चद्दशद्वर्गे वा' ।६।४।१७५। इत्यत्प्रत्ययस्य ग्रहणं स्यात् । शब्दादीनां ग्रहणं तु साहचर्यादेव निरस्तम् । अथवा उकारानुबन्धाभावे तकारस्योच्चारणार्थत्वे 'अप्रत्ययान्तं नाम सङ्ख्यावद्भवतीत्यर्थः स्यादत उकारोऽनुबन्धः पठितः । सङ्ख्येव सङ्ख्यावत् 'स्यादिरिवे' ।७।१।५२। सूत्रात् वत् । संपूर्वात् ख्यातेः 'उपसर्गा-दातः' ।५।३।११०। इति 'वत्तस्याम्' ।१।१।३४। इत्यव्ययसंज्ञा 'अव्ययस्य' ।३।२।७। इति विभक्तिलोपः । एकद्व्यादिका लोकप्रसिद्धा सङ्ख्या, तत्कार्यं भजते इत्यर्थः । डत्यत्वोः केवलयोः सङ्ख्यावद्विधाने फलाभावात् 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्तीति परिभाषामुपेक्ष्य तदन्तविधेरङ्गीकारेणाह **डत्यन्तमत्वन्तमिति** । संख्यावाचकाः शब्दाः अन्यूनानतिरिक्तपरिमाणबोधकाः भवन्ति यथा शतशब्दात् न कश्चिदेकाधिकशतम् एकोनशतं वा बोधति एवमेवैकादिशब्दादपि अन्यूनानतिरिक्तपरिमाणावच्छिन्नं परिमाणं बुध्यते कसमासेऽध्यर्धः'।१।१।४१। इत्यत्राध्यर्धशब्दो न नियतपरिमाणावच्छिन्नबोधकः अतो न सङ्ख्यावाची । तथा डत्यन्तादयः शब्दाः अनियतपरिमाणाव-च्छिन्नबोधकत्वेन न संख्यावाचिनः तेषां संख्याकार्यलाभाय 'डत्यतु संख्यावत्' इत्येवमादीनी सूत्राणि । एकद्वित्रीत्यादयो दशान्ताः शब्दाः परिमाणावच्छिन्न-वाचका एव एकोनविंशत्यादयः शब्दास्तु परिमाणावच्छिन्नवाचकाः परिमाण-वाचकाश्च यथा- एकोनविंशतिर्जनाः, जनानामेकोनविंशतिरति । ननु संज्ञा-प्रकरणत्वात् 'डत्यतु संख्या' इत्याकारकसंज्ञासूत्रमेवास्तु किं वदित्यनेनेति-चेन्मैवं सङ्ख्येत्यनेन 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे' इति न्यायात् डत्यन्तात्वन्ता-नामेव ग्रहणापत्तिः तस्मात् एकादिकाया लोकप्रसिद्धायाः संख्यायास्तु अकृ-त्रिमत्वाद् ग्रहणं न स्यादित्यापत्तिभयः । न च 'परार्थे प्रयुज्यमानः शब्दो वतं विनाऽपि वदर्थं गमयति' इति न्यायात् 'डत्यतु संख्या' इत्याकारकमेवातिदेश-सूत्रं कर्तव्यमिति वाच्यम् अत्र वत्करणस्य स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थत्वात् । अन्यत्र प्रसिद्धस्यार्थस्यान्यत्र कथनमतिदेशः । ननु डतिप्रत्ययान्तेऽतिदेशं विनाऽपि

'संख्याडतेश्च॰' ।६।४।१३०। सूत्रे सङ्ख्याग्रहणपार्थक्येन डतिग्रहणादेव कतिक इत्यत्र कप्रत्ययः सेत्स्यतीति चेद् अत्रोच्यतेऽत्र डतिग्रहणं संख्याग्रहणेन ग्रहणार्हस्यापि कतिशब्दस्य त्यन्तत्वेन 'अशत्तिष्टेः' इति प्रतिषेधः स्यादिति तदुपजीवनाय डतेःपृथग्ग्रहणम् । न चाशत्तिष्ठेः कः इत्यत्रार्थवत एव तेर्ग्रहणेन डतिघटकस्य तेरनर्थकतया 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इति न्यायात् डतिप्रत्ययान्तस्य न निषेध इति वाच्यम्- 'अर्थवद्ग्रहणे॰' इति न्यायस्यानित्यताज्ञापनार्थत्वात् । अनित्यताज्ञापनस्य फलं तु एकसप्ततीत्यादावपि त्यन्तत्वेन कप्रत्ययस्य प्रतिषेधसाधनम् । नित्यत्वे त्वर्थवान् तिशब्द एव गृह्येत स च प्रत्यय एवेति प्रत्ययत्वेन 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' ।७।४।११५। इति तदन्तविधानाधिकग्रहणाभावेन 'सप्तति' इत्यादा वेव कप्रत्ययनिषेधः 'एकसप्तति' इत्यादौ तु न स्यात् । अनित्यत्वे तु 'ति' इत्यस्य प्रत्ययभिन्नस्यापि ग्रहणसम्भवे नैषाऽऽपत्तिः । का सङ्ख्या मानमेषां 'यत्तत्किमः संख्याया डतिर्वा' ।७।१।१५०। सूत्रात् डतिः कतिभिः क्रीतः कतिकः 'सङ्ख्याऽतेश्चा॰' ।६।४।१३०। इति कः। सङ्ख्यावत्त्वात् 'संख्याया धा' ।७।२।१०४।धा-प्रत्ययाद्यपि । या संख्या मानमेषां यत्परिमाणमेषां वा ते यावन्तः 'यत्तदेतदो डावादिः' ।४।१।१४९। सूत्रात् यावन्तः यावद्भिः क्रीतः यावत्कः सङ्ख्यावत्त्वात्कः ।

'बहुगणं भेदे' ।१।१।४०।

बहुगणशब्दौ भेदवृत्तो सङ्ख्यावत् स्याताम् । बहुकः, गणकः । भेद इति किम् ? वैपुल्ये सङ्घे च मा भूत् ॥ ४० ॥

बहुश्च गणश्च बहुगणं । भेदो नानात्वमेकत्वप्रतियोगी । बहुभिः क्रीतः बहुकः । गणैः क्रीतो गणकः 'संख्याडतेश्चा॰ ।६।४।१३०। इति कः । बहुगणौ न नियतविषयपरिच्छेदाभिधायकाविति संख्याप्रसिद्धेरभावाद्वचनम् । यत्र बहुशब्दो वैपुल्ये महति वर्तते गणश्च सङ्घे समूहे तत्र संख्यावन्न भवति यथा रजोगणः रजसघात इत्यर्थः ॥४०॥

कसमासेऽध्यर्द्धः ।१।१।४१।

अध्यर्द्धशब्दः के प्रत्यये समासे च विधेये संख्यावत्स्यात् । अध्यर्द्ध-

कम्, अध्यर्द्धशूर्पम् ॥ ४१ ॥

कश्च समासश्च कसमासम् तस्मिन् । अल्पस्वरत्वात् 'क' इत्यस्य प्राग्निपात: । समसनं पदयो: पदानां वैकीकरणं समास: । यद्यपि 'इवर्णादे: ।१।२।२१। इतिवदत्रापि प्रथमं निमित्ती पश्चान्निमित्तमिति रचनाक्रम: तथा सति 'अध्यर्द्ध: कसमासे' इति सूत्रं कर्त्तव्यम् तथापि मात्रालाघवमपि पुत्रोत्सवाय मन्यन्ते वैयाकरणा:' इति न्यायात् 'कसमासेऽध्यर्द्ध:' इति कृतम् । यद्वा निमित्तिपदं पूर्वमेव प्रयुज्यते इति भ्रमात्मक संस्कारस्य समूलोच्छेदनाय । अयं प्रयाग: प्रचुरप्रयोगे निमित्तिपदं पूर्वमेव प्रयुज्यते तथापि व्युत्क्रमेण प्रयोगेऽसाधुत्वं न भवतीति ज्ञापनार्थम् । अधिकमर्धं यस्यासौ अध्यर्ध: 'एकार्धं चानेकंच०' ।३।१।२२। इति बहुव्रीहि: । अध्यर्द्धेन क्रीतम् अध्यर्द्धकम्, यस्मिन्नर्धमधिकमेतादृशमेकमित्यर्थ: । 'संख्याडतेश्चा०' ।६।४।१३०। सूत्रात्क: । यस्मिन्नर्धं शूर्पमधिकमर्थात् अर्द्धाधिकशूर्पम् अध्यर्धेण शूर्पेण धान्यादिनिष्पवनभाण्डेन क्रीतमध्यर्धशूर्पम् । 'मूल्यै: क्रीते' ।६।४।१५०। इतीकण् 'अनाम्न्यद्वि:' ।६।४।१४१। इति तस्य लाप: । अत्र 'संख्या समाहारे च०' ।३।१।९९। इति द्विगु: । ननु यथा एको द्वौ त्रयश्च इत्यादि गण्यते तथैव एकोऽध्यर्धो द्वौ अर्धत्रय: इत्याद्यपि इति अतिदेशानपेक्षमेव कप्रत्ययादिकार्यं द्विकमित्यादाविव अध्यर्धकमित्यादावपि सेत्स्यतीति किमनेन सूत्रेणेति चेन्मैवम् धाकृत्वसादि प्रत्ययानुत्पत्त्यर्थं कसमासे इति नियम आवश्यक: । तथा सति नियमसूत्रमिदं विध्यर्थत्वं त्वस्य दुरुपपादमिति चेन्मैवं अर्धशब्दो भागद्वयेन विभज्यमानस्य वस्तुनो द्वितीयं सममंशं वाच्यत्वेन निवेदयति स चांशोऽवयवभूत इत्येकदेशादिशब्दवद् अर्धशब्दोऽप्यवयववाच्येवेति नास्य सूत्रस्य नियमार्थता ।।४१।।

अर्धपूर्वपदः पूरणः ।१।१।४२।

अर्द्धपूर्वपद: पूरणप्रत्ययान्त: के प्रत्यये समासे च कार्ये संख्यावत् स्यात् । अर्द्धपञ्चमकम्, अर्द्धपञ्चमशूर्पम् ॥ ४२ ॥

अर्धशब्द: पूर्वपदं यस्य स । पूरयतीति पूरण: 'नन्द्यादिभ्योऽन:' ।५।१।५२। इति न: । पूर्यतेऽनेन वेति पूरण:, तदर्थप्रत्ययोऽपि पूरण: । अध्यर्ध-

पूर्वपद इति- समासावयभूते पदे पूर्वं भागे पूर्वपदम् उत्तरभागे चोत्तरपदमिति प्रसिद्धिः। अर्धपञ्चमैः क्रीतमर्धपञ्चमकम्, अर्धपञ्चमैः शूर्पैः क्रीतम् अर्धपञ्चमशूर्पम्। 'मूल्यैः क्रीते' ।६।४।१५०। इतीकण् 'अनाम्न्यद्विः०' ।६।१।१४१। इति प्लुप् ॥४२॥

इति प्रथमः पादः

अथ द्वितीयः पादः

समानानां तेन दीर्घः ।१।२।१।

समानानां तेन समानेन परेण सह दीर्घः स्यात्। दण्डाग्रम्, दधीदम्, नदीन्द्रः ॥ १ ॥

समानं तुल्यं मानं परिमाणं येषां ते समानास्तेषाम्। तेन दीर्घः तच्छब्देन समानस्य परामर्शः तच्छब्दस्य बुद्धिस्थत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्ने शक्तिः। इवर्णचवर्गयशास्तालव्या दधि शीतमित्यत्र न दीर्घः, शकारस्याऽऽस्य-प्रयत्नभेदेन समानत्वाभावात्, परेण सहेति अत्र पुत्रेण सह स्थूल इतिवन्न द्वयोः पृथक् पृथग्दीर्घता, किन्तु अजाक्षीरेण सहौषध पिबेदितिवद् द्वयोरेक एव दीर्घः। 'आसन्नः' ।७।४।१२०। इति न्यायादवर्णस्याऽऽकार एव दीर्घः, न त्वीकारः,एवमिवर्णादेरपि ज्ञेयम्। समानानामित्यत्र बहुवचनं व्याप्त्यर्थं तेनोत्तरसूत्रेण ऌ ॠलोरपि ॠऌति ह्रस्वो भवति। क्लृ ऋषभः, होतृ ऌकारः। अन्यथा 'ॠ ऌतयोः' ।१।२।५। इति परत्वात् ॠ इत्येव स्यात्। समानानामिति निर्देशात् 'अपेक्षातोऽधिकार' इति न्यायो निश्चीयते। तथाहि 'ह्रस्वापश्च' ।२।४।३२। इति सूत्रेण आमो नाम् कृतः। स च तदैव सिध्येत् यदा 'आमोनाम्वा' ।१।४।३१। इति पूर्वसूत्रात् 'आमः नाम् इति च पदे तत्रानुवर्तताम्। दण्डस्याग्रम्- दधि दुग्धविकृतिविशेषः इदम्- प्रत्यक्षसन्निकृष्ट निर्देशकशब्दः दधीदमित्यसमस्तम् अथवा दध्न इदम् दधीदमिति षष्ठीतत्पुरुषसमासः। णद अव्यक्ते शब्दे नदति इति 'अच्' ।५।१।४९। इत्यचि गौरादित्वात् ङ्यांच नदी, नद्या इन्द्रः नदीन्द्रः।

स्याद्वादादिति सर्वत्र स्याद्वादाश्रयणे प्रसक्तेऽपि क्वचिदेव तदाश्रयो

न तु सर्वत्रेति ज्ञापनार्थः 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायः। एतेन न्यायेनैवस्या-प्रयोगेऽपि 'समानानाम्०' ।१।२।१। इत्यत्र दीर्घः स्यादेवेति वाक्यस्यावधारणाद्दण्डाग्रमित्यत्र दीर्घोऽभूदेव । नन्ववर्णात्परेणावर्णेतरसमानेन देवेन्द्र इत्यादावपि दीर्घो भविष्यतीति नाशङ्कनीयम् 'येन नाप्राप्ते०' इति न्यायात् 'अवर्णस्ये०' ।१।२।६। इति सूत्रेण 'समानानाम्०' ।१।२।१। इत्यस्य बाधात् । एवमिणादिः परेण इवर्णेतरसमानेन 'दध्यत्र' इत्यादौ दीर्घो भविष्यतीति न च वाच्यम् । नद्येषा इत्यादौ 'इवर्णादेः' ।१।२।१। इत्यस्य सावकाशत्व देवं दण्डाग्रमित्यादौ 'समानानां०' ।१।२।१। इत्यस्य सावकाशाद् 'दध्यत्र' इत्यादौ द्वयोः स्पर्धासत्त्वात् 'स्पर्द्धे' ।७।४।११९। इति परिभाषया परत्वात् 'इवर्णादेः०' ।१।२।२१। इत्येव प्रवर्तते ॥१॥

'ऋलृति ह्रस्वो वा' १।।२।२।

ऋति लृति च परे समानानां ह्रस्वो वा स्यात् । बाल ऋश्यः, लृ ऋषभः, होतृ लृकारः । पक्षे बालर्श्यः ॥ २ ॥

ऋश्च लृच्च ऋलृत् तस्मिन्, समानानामित्यनुवर्तते । 'ह्रस्वोऽपदे वा' ।१।२।२२। इत्येव सिद्धाववर्णार्थं पदार्थं च वचनम् । वल प्राणनधान्यावरोधयोः बलति प्राणिति मातुस्स्तन्येनेति बालः 'वा ज्वलादिः०' ।५।१।६२। इति णः । ऋश्यो हरिणः बालश्चासौ ऋश्यश्च बाल ऋश्यः ह्रस्वकरणसामर्थ्यात् कार्यान्तर न भवति । अत एव ह्रस्वस्यापि ह्रस्वः क्रियते । 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' इति न्यायात् । पक्षे 'अवर्णस्ये०' ।१।२।६। इत्यर्, लृ ऋषभः लृ ऋषभः । लृशब्दाङ्कित ऋषभ इत्यर्थं । होतुः लृकारः होतृ लृकारः अत्र लेख्यलेखकभावसम्बन्धे उच्चार्योच्चारकभावसम्बन्धे वा 'शेषे' ।२।२।८१। इति षष्ठी । बालर्श्यं इत्यत्र जलतुम्बिकान्यायेन रेफस्य उद्ध्र्वं गमनम् । अत्र वग्रहणं 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायं सूचयति अन्यथा तु 'सिद्धिः स्याद्वादाद्' इत्यनेनैव सिध्येत अत्रेदं विचार्यते ननु ऋलृति' ।१।१।२। सूत्रस्य निष्पत्स्यमानत्वात् एतेन सूत्रेण एतत्सूत्रे कथं ह्रस्वः ? इति चेदत्रोच्यते-उदेष्यन्नपि मार्तण्डः किं तमो न नाशयति ? तथा अत्रापि उदेष्यत्यपि सूत्रे ह्रस्वः । यदि तु 'सुशिक्षितोऽपि नटः स्वस्कन्धं नारोहतीति न्यायाश्रयणे स्वस्मिन् स्वक्रियाया अभावः अनिष्पन्नेन कार्यकरणे यदि अतिप्रसङ्गः तदा तु 'लोकात्'

।१।१।३। सूत्रात् समाधेयम् । 'ऋलृति' इत्यत्र तकारः उच्चारणार्थः स्वरूप-परिग्रहार्थः इति यावत् । अन्यथा लृ+इ इति सन्धौ सति सन्देहः स्यात् किमयं लृकारः उत वा लकार इति । 'ऋकारापदिष्टं कार्यं लृकारस्यापि' इति न्यायस्यानित्यताख्यापनार्थमत्र लृकारग्रहणम् ॥२॥

'लृतः रृलृ ऋलृभ्यां वा' ।१।२।३।

लृत ता लृता च सह यथासंख्यं रृ लृ इत्येतौ वा स्याताम् । ऋता रृकारः, पक्षे लृ ऋकारः ॠकारः । लृता लृकारः, पक्षे लृलृकारः, ॡकारः ॥ ३ ॥

लृतः षष्ठी, रृश्च लृश्च रृलृ सौत्रत्वाद्विभक्तेर्लुप् । ऋ च लृ च ऋलुनी ताभ्याम् वा । लृ+ऋकारः अत्र लृ इत्येतस्य ऋता सह रृकारः पक्षे ह्रस्वत्वेन लृकारः । 'ॠ स्तयोः' ।१।२।५। इत्युत्तरेण च ॠकारः । लृता, लृलृकार, लृकारः, पक्षे प्राग्वत् । रृ लृ इति स्वरसमुदायः स्वरव्यञ्जनसमुदाये वर्णान्तरं वा । अत्रायं विचारः 'सौ नवेतौ' ।१।२।३८। इत्यत्र वाग्रहणेन भगवानाचार्यो ज्ञापयति, यत्र नवाशब्दोपादानं तत्रानुवृत्तिः, यत्र वा शब्दोपादानं तत्र नानुवर्ततेऽतो वाशब्दोपादानम् । बहुवचनस्थले ग्रन्थकृत् किमपि फलं दर्शयति द्विवचनस्थले तु पृथक्पृथमवयवभेदविवक्षैव, अन्यत्फलं तु नैव दृष्टिपथमायाति ॥३॥

ऋतो वा तौ च ।१।२।४।

ऋत ऋलृभ्यां यथासंख्यं रृ लृ इत्येतौ वा स्याताम् । तौ च ऋकारलृकारौ ऋलृभ्यां सह वा स्याताम् ऋता पितृ-रृषभः, पक्षे पितृ षभः पितॄषभः । लृता-होतलृकारः, पक्षे होतृलृकारः, होतॄकारः । तौ च पितृषभः, होतॢलृकारः, पक्षे पूर्ववत् ॥ ४ ॥

ऋतः षष्ठी, वा, तौ प्रथमा च । ऋलृभ्यामित्यनुवर्तते । तच्छब्देन

ॠकारऌकारयोः परामर्शः । पितुः ऋषभः अनेन विजातीय र् इत्यादेशे पितॄ-षभः, पितृषभः, पक्षे पितृ ऋषभः । 'समानानां०' ।१।२।१। इति दीर्घ, पितॄषभः । होतुः ऌकारः, होत् ऌकारः, पक्षे । पूर्ववदिति ह्रस्वत्व दीर्घत्वं च ।।४।।

ॠ स्तयोः ।१।।२।५।

तयोः पूर्वस्थानिनोर्ऌकारऋ- कारयोर्यथासंख्यम् ॠऌभ्यांसह 'ॠ' इति दीर्घः स्यात् । ॠषभः, होतॄकारः ।। ५ ।।

ॠ: प्रथमा, तयोः षष्ठी । ऋऌभ्यामित्यनुवर्तते । अनेन ऌकार-ऋकारयोः, ॠकारऌकारयोश्च ॠकारो भवति यथा ऌ+ऋषभः=ॠषभः, पूर्वोक्तविजातीयादेशह्रस्वत्वयोरभावपक्षेऽनेन द्विमात्रिक ॠकारः । ऌ इति कस्यचिन्नाम । होतुर्ऌकारः होतॄकारः पूर्वोक्तविजातीयादेशे होत्ऌकारः ह्रस्वत्वाभावपक्षे चानेन द्विमात्रिक ॠकारः । अत्र षष्ठीसमासः होतृसम्बन्धी, होत्रा लिखितः उच्चारितः ऌकार इति वार्थः ।

अत्रेदम् ननु 'ऋकारापदिष्टं कार्यं ऌकारस्यापि' इति न्यायात् ॠकारऌकारयोः सजातीयत्वेन 'समानानां तेन दीर्घः' ।१।२।१। इत्यनेनेव ऋता ऌतः, ऌता च ऋतः, ॠकारो दीर्घः स्यादितीदं सूत्रं व्यर्थमिति चेन्न क्ऌ ऋषभं इत्यादौ द्वयोः स्थानित्ववदत्रापि ऋकारमेव स्थानिनमादाय ॠकारः प्रत्यासत्त्या स्यात् एव । एवमेव ऌकारस्थानिनमादाय ॡकार इति दीर्घः स्यात् तन्निराकरणायैतत्सूत्रमावश्यकम् अथवैतन्न्यायस्यानित्यत्व ऋऌति ।१।२।१। इत्यत्र प्रदर्शितमेवेत्येतत्सूत्रारम्भ आवश्यकः ।

अत्र ॠरिति वर्णं समाम्नाये पठितोऽष्टमस्वरो न तु विजातीयः । नन्वयमागमः आदेशो वा ? नास्त्ययमागमः यत आगमाः अवयविना सह सुहृद्भावतो वर्तन्ते अर्थात् स्वावयविनं दूरीकृत्य स्वस्थितिं न कुर्वन्ति । आदेशः स्वावयविनं दूरीकृत्य तिष्ठति उक्तं च 'मित्रवदागमाः' 'शत्रुवदादेशाः । ऌ ऋषभ इत्यत्र ऌकारर्कारौ दूरीकृत्य ॠ: स्वस्थितिं करोति यतोऽयमादेशः ।।५।।

अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल् ।१।२।६।

अवर्णस्य इउऋऌवर्णैः सह यथासंख्यम् एत् ओत् अर् अल् इत्येते स्युः । देवेन्द्रः, तवेहा, मालेयम्, सेक्षते, तवोदकम्, तवोढा, तवर्षिः, तवर्कारः, महर्षिः, सर्कारः, तवल्कारः, सल्कारेण ॥ ६ ॥

अश्चासौ वर्णश्चा वर्णस्तस्य, इवर्ण आदि-र्यस्य स इवर्णादिः तेन, एच्च ओच्च अर् च अल् च एदोदरल् 'सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाषया एकवद्भवति'। 'सम्बन्धविशेषेऽनिर्धारिता षष्ठी स्थानेयोगा भवति' इत्यनेनेवर्णादिना सहितस्यावर्णस्य स्थाने एकारादयो भवन्तीति सूत्रार्थ.। 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इति न्यायात् समसम्बन्धी विधिः यथासङ्ख्यमिति। दीवूच् क्रीडादौ दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः, इदु परमैश्वर्ये इन्दतीति इन्द्रः देवानामिन्द्रः देवेन्द्रः।, अत्र 'वर्णग्रहणे जातिग्रहणम्' इति न्यायेनावर्णेवर्णादिपदेन अत्वेत्वादिजात्यवच्छिन्नानां यथायोगमष्टादशभेदानां ग्रहणमित्याशयेनोदाहृतं तवेहा. मालेयमित्यादि। युष्मच्छब्दस्य 'तव मम ङसा' ।२।१।१५। इति तवादेशः, ईहि चेष्टायाम्- ईहनमीहा क्तेटो गुरोर्व्यञ्जनाद् ।५।३।१०६। इत्यः, आप् च । मांक् माने मान्ति पुष्पाण्यस्यामिति शा-मा-श्या०' उणा० ४६२ इति ले माला यद्वा मल्लि धारणे मल्ल्यते धार्यते इति कर्मणि घञि माला। इदमिति प्रत्यक्षनिर्देशे। सा, ईक्षि दर्शने वर्तमानाते। तव उदकम्। तव, वहीं प्रापणे उह्यते परिणीयते स्म इति ऊढा कलत्रम्, अत्र 'तत्साप्या०' ।३।३।२१। सूत्रात्कर्मणि 'क्तक्तवतू' ।५।१।१७४। सूत्रात् क्ते 'यजा-दि०' ।४।१।७९। सूत्राद् य्वृति 'हो धुट्०' ।२।१।८२। सूत्रात् ढकारे 'अधश्चतुर्थात्तथोर्धः' ।२।१।७९। सूत्रात् प्रत्ययस्य धत्वे 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। सूत्रात् ढकारे 'ढस्तड्ढे' ।१।३।४२। सूत्रात्पूर्वढकारलोपे दीर्घत्वे च 'आत्' ।२।४।१८। सूत्रादाप्। तव+ऋषिः, ऋषैत् गतौ 'गत्यर्था ज्ञानार्थाः इति न्यायात् ऋषति जानाति तत्त्वमिति ऋषिः। ह्रस्वविकल्पपक्षेऽनेनार्। तव+ऋकारः। महत् पूजायाम् 'द्रुहि-वृहि-महि उणा० ८८४ इति किदतृप्रत्यये 'ऋदुदितः ।१।४।७०। सूत्रात् नागमे 'पदस्य ।।२।१।८९। सूत्रात्संयोगान्तलुकि 'नि दीर्घः' ।१।४।८५। सूत्रात् दीर्घे च महां चासौ ऋषिश्च महर्षिः 'सन्महत्० ।३।१।१०९। सूत्रात्कर्मधारयः। सा+ऋकारः। 'हादर्हस्वरस्यानु नवा ।१।३।३१। इति ककारः द्विर्वा भवति। तव+ऌकारः। सा प्रस्तुता वर्णपङ्क्ति ऌकारेण सहितेत्यर्थः।

अश्चासौ वर्णश्चावर्णः अत्र कर्मधारयः कर्मधारयेन विशेष्ये संकोचो जायते यथा नीलोत्पलमानयेत्यत्र नीलत्वेन संकोच्यमानः उत्पलोऽर्थः नीलकमल-मात्रे एव तिष्ठति न तूत्पलत्वेन पीतशुक्लाद्युत्पलेष्वपि, तथावदत्रापि वर्णत्वेन वर्णोऽर्थः इवर्णादिषु वर्तमानेपि अत्वेन संकोच्यमानः वर्णोऽर्थः अत्वावच्छिन्न एव तिष्ठति न त्वत्वावच्छिन्नभिन्ने। ननु जलाहरणसाधनो घट इत्यादिषु घटपदेन घटत्वावच्छिन्नस्य यथा बोधो भवति तथावदत्रापि वर्णपदानुपादानेपि अष्टादशाकाराणां ग्रहणे सिद्धे सति वर्णग्रहणमनर्थकमिति चेन्न वर्णग्रहणं व्यर्थं सञ्ज्ञापयति यद् वर्णग्रहणाभावस्थलेष्टादशप्रकाराणां ग्रहणं न कर्त्तव्यम् परन्तु केवलमकारादीनामेव ग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥६॥

ऋणे प्रदशार्णवसनकम्बलवत्सरवत्सतरस्यार् ।१।२।७।

प्रादीनामवर्णस्य ऋणे परे ऋता सह आर् स्यात् । प्रार्णम्, दशार्णम्, ऋणार्णम्, वसनार्णम्, कम्बलार्णम्, वत्सरार्णम्, वत्सतरार्णम् ॥ ७ ॥

प्रश्च दश च 'प्रकृतिवदनुकरणम्' एत न्यायस्यानित्यत्वाश्रयणे दशा च दशशब्दस्यानुकरणे दशश्च ऋणञ्च वसनञ्च कम्बलञ्च वत्सरश्च वत्सतरश्चेति समाहारद्वन्द्वस्तस्यावयवावयविभावसम्बन्धे षष्ठी आर्। प्रकृष्टम् ऋणम्, प्रगतमृणं वा प्रार्णम् 'प्रात्यव० ।३।१।४७। सूत्रात्समासः, ऋणं देयमित्यर्थः', दशानामृणम् दशार्णम्। ऋणस्यावयवतया तत्सम्बन्धि ऋणम् ऋणार्णम्। केचित्तु 'अपनयनाय इत्याध्याहार्य ऋणस्यापनयनाय यदन्यदृणं क्रियते तदृणार्णमिति वदन्ति। वस्यतेऽनेनेति करणेऽनटि वसनम् वस्त्रमित्यर्थः। वसनस्य कम्बलस्य वत्सरस्य वत्सतरस्य वा ऋणम्। कम्बलः ऊर्णापटः, वत्सरः संवत्सर इत्यर्थः। वत्सतर दम्य इति पर्यायः। समानानामिति बहुवचनस्य व्याप्त्यर्थत्वेनेहोत्सगत्र पूर्वत्र च ह्रस्वोपि भवति। तेण प्र ऋणम्, दश ऋणम्, इत्याद्यपि। पक्षे अर् प्राप्तावनेनाऽऽर्। अर एवायं बाधकः 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यैव बाधक इति न्यायात्।

पूर्वसूत्रादवर्णस्येत्यनुवृत्तम् नन्वत्र 'अवर्णस्य' इत्यनुवृत्तिं विनापि

'षष्ठ्याऽन्त्यस्य' ।७।४।१०६। इति सेत्स्यतीति चेन्मैवम् 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ।७।४।१०७। इति सर्वादेशबाधनार्थत्वात् । अत्रेदं विचार्यते–ऋणशब्दाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टप्रादीनामवर्णत्वं प्रकृतसूत्रस्योद्देश्यतावच्छेदकमिवर्णाद्यव्यवहितपूर्व त्वविशिष्टावर्णत्वरूपोद्देश्यतावच्छेदकस्य व्याप्यम् । इवर्णाद्यव्यवहित पूर्वत्व विशिष्टावर्णत्वं 'अवर्णस्य०' । १।२।६। इति सूत्रीय उद्देश्यतावच्छेदकम् 'ऋणे'० ।१।२।७। सूत्रस्य ऋणशब्दाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टप्रादीनामवर्णत्व-रूपोद्देश्यतावच्छेदकस्य व्यापकम् अतः व्याप्योद्देश्यतावच्छेदकशास्त्रेण व्यापकोद्देश्यतावच्छेदकस्य 'अवर्णस्य'० ।१।२।६। इत्यस्य बाधो जायतेऽतः प्रार्णमित्यादिषु आरेव भवति ॥७॥

ऋते तृतीयासमासे ।१।२।८।

अवर्णस्य ऋते परे तृतीयासमासे ऋता सह आर् स्यात् । शीतार्तः । तृतीयासमास इति किम् ? परमर्तः । समास इति किम् ? दुःखेनर्तः ॥ ८ ॥

समसनं समासः, तृतीयया समासः, तस्मिन । धाराप्रवाह–न्यायेनावर्णस्येत्यनुवर्तते आरिति चानुवर्तते । अनुवर्तनं नाम पूर्वतः परस्मिन् सम्बन्धः । शीतेन ऋतः शीतार्तः शीतेन व्याप्तः पुरुषादिरि–त्यर्थः । शीत ऋत इति ह्रस्वोऽपि । परमश्चासौ ऋतश्च परमर्तः अत्र तृतीयासमासाभावादवर्णस्येत्यनेनारेव भवति । दुःखेनर्त इत्यत्र तु समास एव न, अतो नार् किन्तु अरेव । अत एवायमपवादः ॥८॥

ऋत्यारुपसर्गस्य ।१।२।९।

उपसर्गस्थस्यावर्णस्य ऋकारादौ धातौ परे ऋता सह आर् स्यात् । प्रार्च्छति, परार्च्छति ॥ ९ ॥

ऋति सप्तमी आर्, उपसृजति धात्वर्थविशेषम्, उपसर्जनमिति वोपसर्गस्तस्य । अवर्णस्येत्यनुवर्तने, एवमग्रेऽपि । यथा पीनोऽयं देवदत्तः

दिवा न भुङ्क्ते अत्र पीनत्वं भोजनं विनाऽनुपपन्नं दिवाभोजनबाधाच्च रात्रि-भोजनमाक्षिप्यते तथाऽत्रापि क्रियायोग एवं उपसर्गत्वादुपसर्गग्रहणबलेन धातोराक्षेपाद् सप्तम्या' ०।७।४।११४ इति परिभाषाबलाच्चाह-ऋकारादौ धाताविति। प्र ऋच्छति-ऋच्छ गतौ अग्रं गच्छतीत्यर्थः परोपसर्गस्त्वनभिमुख्यार्थद्योतकः पराच्र्छति अनभिमुखं गच्छतीत्यर्थः। 'येन धातुना युक्ताः प्रादयस्तं प्रत्येवोपसर्ग सञ्ज्ञा' तेन प्रगता ऋच्छका यस्मात्स प्रच्छको देश इत्यत्रारादेशो न भवति अत्र गत इत्यनेन प्रस्य सम्बन्धः न तु ऋच्छधातुना। अस्यार्थस्य ज्ञापकस्तु एतादृशो निर्देश एव। अन्यथा उपसर्गस्येति त्यक्त्वा ऋत्यार्, प्रादेरित्येव सूत्र्यताम्। आरिति वर्तमाने पुनराग्रंहणमारेव स्यादित्येवमर्थम् तेनोहेत्तरत्र च सूत्रयोर्ह्रस्वो बाध्यते। सर्वापवादोयम्। ननु प्रार्च्छतीत्यादावकारर्कारोभयस्थाननिष्पन्नत्वात् 'उभयस्थान निष्पन्नोऽन्यतरव्यपदेशभाक्' इति न्यायात् अकारादेशभजनेकारस्य पदान्तत्वादारादेशस्यापि पदान्तत्वात् नदृयटकस्य रस्य 'रः पदान्ते०।१।३।५३। इति विसर्गः प्राप्नोतीति चेत्सत्यम 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न्यायेनावर्णान्तोपसर्गकारादिधात्वादि बहुनिमित्तकत्वेन बहिरङ्गं कार्यमिति अल्पनिमित्तत्वादन्तरङ्गे विसर्गे कर्तव्येऽसिद्धत्वाद्विसर्गो न भवति ॥९॥

नाम्नि वा ।१।२।१०।

उपसर्गस्थस्यावर्णस्य ऋकारादौ नामावयवे धातौ परे ऋता सह आर् वा स्यात्। प्रार्षभीयति, प्रर्षभीयति ॥ १० ॥

नाम्नि वा—पूर्वसूत्रं सम्बध्यते। ऋकारादिधातोर्नाम्ना सह समानाधिकरण्येन विशेषणसम्भवादवयवद्वारेणाह ऋकारादौ नामवयवे धातौ परे इति। ऋषभमिच्छति ऋषभीयति 'अमाव्ययात्' ।३।४।२३। क्यनि ।४।३।११२। इति। प्र+ऋषभीयति, अनेनाऽऽर्, पक्षे 'अवर्णस्ये०' ।१।२।६। इति अर्। ह्रस्वमपि केचिदिच्छन्ति तन्मते प्र ऋषभीयति। नन्वत्र पूर्वसूत्रे आदित्यनुवर्तमानेऽपि आर्-ग्रहणेन ह्रस्वबाधा, परन्त्वत्र ह्रस्वकरणे का बाधेति चेत्-'नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति' इति पूर्वसूत्रादेवानुवृत्त आरादेश आत्मीयं बाधसामर्थ्यं कुत्र न्यस्य ह्रस्वत्वं न बाधेत अर्थादवश्यमेव बाधेतेत्यर्थः ॥१०॥

लृत्याल् वा ।१।२।११।

उपसर्गस्थावर्णस्य लृकारादौ नामावयवे धातौ परे लृता सह आल् वा स्यात् । उपाल्कारीयति, उपल्कारीयति ॥ ११ ॥

लृति सप्तमी, आल् वा । उपसर्गस्य, नाम्नि इति पदद्वयमनुवर्तते । लृकारमिच्छति लृकारीयति, उप लृकारीयति उपाल्कारीयति । पक्षेऽल्, केषाञ्चिन्मते ह्रस्वश्च । अलोऽपवादोऽयम् । 'दूरादा०' ।७।४।९९। सूत्रात् ज्ञापितात् 'ऋकारापदिष्टं कार्यं लृकारस्यापि' इति न्यायात्पूर्वसूत्रेणैव सिद्धेऽप्यारादेशबाधनार्थम् ।

ऐदौत्सन्ध्यक्षरैः ।१।२।१२।

अवर्णस्य सन्ध्यक्षरैः परैः सह ऐ औ इत्येतौ स्याताम् । तवैषा, खट्वैषा, तवैन्द्री, सैन्द्री, तवौदनः, तवौपगवः ॥ १२ ॥

ऐच्च औच्च ऐदौत् सन्धिना कृतान्यक्षराणि सन्ध्यक्षराणि तैः सन्ध्यक्षरैः । अ इ इत्यनयोर्मेलनेन ए ऐ इतीमौ अ इ इत्यनयोर्मेलनेन ओ औ इतीमौ निष्पद्यन्ते । ऐ इत्यस्य अ इ वर्णाभ्यां निष्पत्तावपि अर्धमात्रेणावर्णेन अध्यर्धमात्रेण इवर्णेन च निष्पत्तिस्वीकारः,औ इत्यस्य च अध्यर्धमात्रेणावर्णेनाध्यर्द्धमात्रेणावर्णेन विलक्षणीभूतेन निष्पत्तिस्वीकारः अन्यथा समानावयवनिष्पन्नत्वेन 'ए ऐ' अत्र ओ औ अत्र च वैलक्षण्यं न स्यात् अथवा सन्धेरक्षराणि सन्ध्यक्षराणि सम्पाद्यसम्पादकभावसम्बन्धे षष्ठी । तव एषा- 'ऋत्यारुपसर्गस्य' ।१।२।९। सूत्रेण उपसर्गस्येति नानुवर्तते 'अपेक्षातोऽधिकार इति न्यायात् सन्ध्यक्षरैरित्यत्वनिर्देशाच्च । गुणापवादोऽयम् । अत्रावर्णस्य सन्ध्यक्षरैः परैः सह 'आसन्न' ।७।४।१२०। इति परिभाषयाऽऽसन्नविधिरेव कर्तव्या । आसन्नत्वं सादृश्यं च स्थानकृतं ए ऐ इत्यनयोः तालुस्थानजन्यत्वम्, ओ औ इत्यनयोश्चौस्थानजन्यत्वम् । नात्र यथासङ्ख्यपरिभाषया निर्वाहः स्थानिभूतसन्ध्यक्षराणां चतुःसंख्याकत्वात् आदेशद्वित्वेन समत्वाभावात् । खट्वा एषा=खट्वैषा । इन्द्रो देवताऽस्याः सा ऐन्द्री 'देवता' ।६।२।१०१। इत्यण् 'वृद्धिः स्वरेष्वादे०' ।७।४।१। 'अणञेये०' ।२।४।२०। अस्य

ङ्यां लुक्' ।२।४।८६। सूत्रादलोपः । तव+ओदनः, भक्तम् । उप समीपे गावो यस्य स उपगुः, 'गोश्चान्ते०' ।२।४।९६। सूत्राद्ध्रस्वः, 'ङसोऽपत्ये' ।६।१।२८। इत्यणि वृद्धिः, 'अस्वयम्भुवोऽव्' ।७।४।७०। ॥१२॥

ऊटा । १ । २ । १३ ।

अवर्णस्य परेण ऊटा सह औः स्यात् । धौतः, धौतवान् ॥ १३ ॥

॥ ऊटा तृतीया ॥ एदोतोरित्यनुवृत्तावपि 'आसन्नः ।७।४।१२०। सूत्रादौकार एव भवत्यत आह औरिति । 'अवर्णस्ये० ।१।२।६। इति गुणापवादोऽयम् । धावूग् गतिशुद्धयोः, धाव्यते स्म धौतः शोधित इत्यर्थः । 'गत्यर्था० ।५।१।११। 'तत्साप्या० ।३।३।२१। धावति स्म धौतवान् 'क्तक्तवतू' ।५।१।१७४। 'कर्तरि' ।५।१।३। इति सूत्रात् कर्तरि क्तवतु 'अनुनासिके० ।४।१।१०८। 'अभ्वादेरत्वसः ।१।४।९०। सूत्रात् दीर्घः, ऋदुदितः ।१।४।७०। सूत्रात् नागमः 'दीर्घङ्याब्० ।१।४।४५। सूत्रात्सिलोपः 'पदस्य' ।२।१।८९। सूत्रात् तलोपः ॥१३॥

प्रस्यैषैष्योढोढ्यूहे स्वरेण । १ । २ । १४ ।

प्रावर्णस्य एषादिषु परेषु परेण स्वरेण सह ऐ औ स्यातम् । प्रैषः, प्रैष्यः, प्रौढः, प्रौढिः, प्रौहः ॥ १४ ॥

॥ प्रस्य षष्ठी ॥ एषश्च एष्यश्च ऊढश्च ऊढिश्च ऊहश्चेति समाहार द्वन्द्वः तस्मिन् स्वरेण । प्रस्येत्यत्रावयवावयविभावसम्बन्धे षष्ठी, प्रावर्णस्येति प्रशब्दावयवस्यावर्णस्येत्यर्थः । औपश्लेषिकाधिकरणे सप्तमी अत आह-एषादिषु परेष्विति ऐदौदित्यनुवर्तते । प्र इषत् इच्छायाम् एषणमेषः, प्र एषः, प्रैषः, प्रेषणं प्रैषः 'भावाकर्त्रोः' ।५।३।१८। घञ् 'घञोरुपान्त्यस्य' ।४।३।४। सूत्रादुपान्त्यगुणः सत्कारपूर्विका प्रेरणेत्यर्थः । एष्यते इति एष्यः ऋवर्ण०' ।५।१।१७। सूत्राद् घ्यण् प्रकर्षेण नियोक्तुं शक्य इत्यर्थः । प्र वहति स्म प्रौढः, क्तः 'यजादिवचेः किति ।४।१।७९। 'हो धुट्पदान्ते' ।२।१।८२। अधश्चतुर्थात्त० ।२।१।७९। तकारस्य धकारः । 'तवर्गस्य० ।१।३।६०। सूत्रात् ढकारः, 'ढस्तड्ढे' ।१।३।४३। पूर्वढकारलोपः दीर्घश्च प्रकर्षेण ऊढः प्रौढः, प्रतिभान्वितः,

प्रवृद्धो वा । प्रवहणं प्रौढिः 'स्त्रियां क्तिः' ।५।३।९१। उत्साह इत्यर्थः । ऊहि वितर्के, प्रोहणं प्रोहः. घञ्, प्रकृष्टः तर्क इत्यर्थः । ऊहे नेच्छन्त्येके तन्मते प्रोहः । अत्र एष-एष्य-ऊढादयः 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इति न्यायात् सार्थका ग्राह्याः, तेन प्रेषते प्रेष्यते प्रोढवानित्यादयो न गृह्यन्ते । ऊढिरपि ऊढसाहचर्यात्स्याद्यन्त एव ग्राह्यः न तु व्यन्तस्तेन प्रोढयतीत्यत्र न औत् । 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवती' ति न्यायेन 'उपसर्गस्या–निणेधेदोति' ।१।२।१९। इत्यस्य बाधः, न तु 'ओमाङि ।१।२।१८। इत्यस्य तेन आ+इष्यः एष्य, प्र+एष्यः प्रेष्यः इत्यत्राङादेशत्वे ऐदादेशो न भवति ।

एतेषाम् उभयस्थाननिष्पन्नेन 'उभयस्थाननिष्पन्नोऽन्यतरव्यपदेशभाक् इति न्यायेन यदाऽऽङादेशत्वम्, तदा 'ओमाङि' ।१।२।१८। इत्यलुकि प्रेष्य इति भवति यदा धात्वादेशत्वं तदा 'उपसर्गस्या०' ।१।२।१९। इति बाधित्वा विशेषविहितत्वादनेन सूत्रेण ऐत्वे कृते प्रैष्य इति भवति । नन्वेषादिषु परेषु 'उपसर्गस्या०' ।१।२।१९। सूत्रप्रवृत्तिर्न सम्भवति तेषां धातुत्वाभावादिति-चेन्मैवं 'क्विबन्ताः धातुत्वं नोज्झन्ती' ति न्यायात् क्विबन्तवद् घञ्-घ्यणन्तानामपि धातुत्वात् ॥१४॥

स्वैरस्वैर्यक्षौहिण्याम् ।१।२।१५।

स्वैरादिष्ववर्णस्य परेण स्वरेण सह ऐ औ स्याताम् । स्वैरः, स्वैरी, अक्षौहिणी सेना ॥ १५ ॥

स्वैरश्च स्वैरी च अक्षौहिणी तस्याम् । इतरेतरयोगः, सौत्रत्वादेकवचनम् अथवा समाहारे सौत्रत्वात् नपुंसकत्वाभावः 'स्व' आत्मा-त्मीय-ज्ञातिधनार्थकः, ईरिक् गतिकम्पनयोः 'भावाकर्त्रोः ।५।३।१८। सूत्रात् घञ् यद्वा ईरण् क्षेपे धातोः घञि ईरः, स्वस्य ईरः स्वैरः । स्वयमीरति ईर्तेवा स्वैरः 'नाम्युपान्त्य०' ।५।१।५४। सूत्रात्कप्रत्ययः । स्वयमीरितुं शीलमस्येति स्वैरी स्वच्छन्दचारीत्यर्थः 'अजातेः शीले' ।५।१।१५४। स्वैरशब्दान्मत्वर्थीयेनैव इना सिद्धे स्वैरिन्ग्रहणं ताच्छीलिकेऽपि स्वैरिन्शब्दे ऐत्वार्थम् । स्वैरीति नामग्रहणात् 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति न्यायेन नाममात्रनिर्देशे स्त्रीत्वादिलिङ्गविशिष्टमपि नाम ग्राह्यमित्यर्थकेन स्वैरिणीत्यपि ।

स्वच्छन्दचारिणी स्त्री पुंश्चलीत्यर्थः । अक्षाणामिन्द्रियाणां रथानां वा ऊहः समूहो रचनाऽस्त्यस्यां सा अक्षौहिणी 'अतोऽनेकस्वरात् ।७।२।६। इतीन्, स्त्रियां ङी, परिमाणविशेषविशिष्टा सेनेत्यर्थः, 'पूर्वपदस्था० ।२।३।६४। इति णः । ऊहशब्दात्पूर्वमिन्प्रत्ययः पश्चादक्षशब्देन समासः, अक्षशब्दस्य ऊहशब्देन समास कृत्वा इन्प्रत्यये अक्षौहिणीत्येव सिध्यति, न त्वौत् । अक्षौहिणीसेनायां गजाः, २१८७० रथाः २१८७० रथाश्ववर्जिता अश्वाः ६५६१० पत्तयः १०९३५० सर्वे २१८७०० भवन्ति यदाहुः-

स्यात्सेनाक्षौहिणी नाम खाऽगाष्टैकद्विकैर्गजैः ।
रथैश्चैभ्यो हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः ॥

केचित्तु स्वैरस्वैर्यक्षौहिण्यामित्यत्र तदभिन्नाभिन्नं तदभिन्नमिति न्यायेन कर्मधारयसमासं कुर्वन्ति तेषामभिप्रायस्त्वित्थं 'सममात्रौषधनिष्पन्नश्चूर्णो यथा सम इति व्यपदिश्यते तथात्रापि स्वैरावयवत्वात् स्वैरस्वैर्यक्षौहिण्यात्मकसमुदायोऽपि स्वैरः एवं स्वैर्यवयवत्वात् अक्षौहिण्यवयवत्वाच्च, व्यपदेशे सति स्वैराभिन्न एतत्समुदायः, एतत्समुदायाभिन्नः स्वैरिशब्दः, अतः तदभिन्नाभिन्नं तदभिन्नमिति न्यायेन स्वैराभिन्नः स्वैरिशब्दः एवं स्वैर्यभिन्न अक्षौहिणीशब्दः । एतत्समासे प्रमाणं तु

ईषदर्थे क्रियायोगे, मर्यादाभिविधौ च यः
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

इत्यत्र मर्यादाभिविधौ इति निर्देशः तदभिन्नाभिन्नं तदभिन्नमिति न्यायेन । मर्यादाभिविधावित्यत्र मर्यादावयवत्वात् समुदाये मर्यादात्वम्, अभिविध्यवयवत्वादभिविधित्वम् इति युक्त्या कर्मधारयः । मर्यादायामर्थेऽभिविधौ चार्थे यः 'आ' एतं ङितं विद्यात् इत्यर्थः इतरेतरद्वन्द्वकरणे द्विवचनस्य समाहारद्वन्द्वकरणे तु नपुंसकत्वापत्तेः । अन्ये तु मर्यादासहितोऽभिविधिरिति मध्यमपदलोपिसमासमिच्छन्ति तन्मतेऽपि स्वैरसहितः स्वैरी स्वैरीस्वैरी तत्सहिता अक्षौहिणीति मध्यमपदलोपिसमासः ।।१५।।

अनियोगे लुगेवे ।१।२।१६।

अनियोगोऽनवधारणं तद्विषये एवे परेऽवर्णस्य लुक् स्यात् । इहेव

तिष्ठ, अद्येव गच्छ । नियोगे तु, इहेव तिष्ठ मा गाः ॥ १६ ॥

नि, युज् पी योगः, नियोजनं नियोगः, घञ् नियोगः निश्चयोऽवधारणमिति पर्यायः न नियोगोऽनियोगस्तस्मिन् अनिश्चय इत्यर्थः लुग् एवे सप्तमी । एवेत्य-स्वाव्ययत्वेऽपि अनुकरणेनानुकार्येणार्थेन भेदविवक्षया च नामत्वात् स्यादिः । इहेव तिष्ठेति । ष्ठां गतिनिवृत्तौ, पञ्चमी हि, इहैव तिष्ठ, अन्यत्र वा गच्छ कामचारः स्वेच्छावृत्तिः, यथेच्छमकुरु इत्यनवधारणमत्र प्रतीयते । इहैव तिष्ठेत्युक्तौ त्वन्यत्र मा गाः इत्यवस्थानस्य निर्धारणं प्रतीयते । अत्रैनद्देशस्थितिप्रकारकं युष्मदर्थमिशेष्यकमवधारणं प्रतीयते । अस्मिन्नहनि अद्य एव । गम्, पञ्चमी हि, मा पूर्वम् इणक् गतौ 'माङ्यद्यतनी' ।५।४।३९। 'इणिकार्गा ।४।४।२३। 'पिबैति० ।४।४।६६। अद्य वाऽपरेद्युर्वा गच्छ नात्र मामकं किमपि नियन्त्रणमिति वक्तुरभिप्रायप्रतीतिः ॥१६॥

वौष्ठौतौ समासे ।१।२।१७।

ओष्ठौत्वोः परयोः समासेऽवर्णस्य लुग्वा स्यात् । बिम्बोष्ठी, बिम्बौष्ठी, स्थूलोतुः, स्थूलौतुः । समास इति किम् ? हे पुत्रौष्ठं पश्य ॥ १७ ॥

वा, ओष्ठश्च ओतुश्च ओष्ठौतुः तस्मिन् समासे 'चार्थे द्वन्द्वः०' ।३।१।११७। इत्यनेन न्यग्भूतावयवभेदविवक्षया समाहारद्वन्द्वः पुंस्त्वं तु सौत्रत्वात् नपुंसकत्वे तु 'ओष्ठौतुनि' स्यात् । लुगिति वर्तते, एवमग्रेऽपि । एकवचनादेकस्मिन्नेव समासे, न समासान्तरे अत एव वृषलोष्ठव्रणः इत्यादौ नाकारलोपः अत्र ओष्ठव्रणशब्देन सहैकार्थ्ये सत्यपि ओष्ठशब्देन सहैकार्थ्याभावात् । नचात्र सूत्रे 'ओष्ठौतौ' इत्युत्र कथं नावर्णस्य लुगिति वाच्यमस्य लुको वैकल्पिकतया औत्वेकृते 'ओष्ठौतु' इति भवतीति । दन्त्योष्ठ्य इत्यत्र तु काकवद्देवदत्तस्य गृहमिति प्राक्स्थितौष्ठघटकत्वमादायाथवा 'एकदेशविकृतमनन्यवदिति न्याया यात् । बिम्ब्याः फलं बिम्बम् बिम्बमिव रक्तौ ओष्ठौ यस्याः सा बिम्बोष्ठी उष्ट्रमुखादित्वात् समासः । बिम्बी लताविशेषः हेमादिभ्योऽञ् ।६।२।४५।

इति । स्थूलश्चासौ ओतुश्च पृथुलबिडाल इत्यर्थः । हे पुत्रेति-'पुत्रादयः ।४५५ उणादिसूत्रान्निपातने पुत्रः । केचित्तु

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात्, पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः, स्वयमेव स्वयम्भुवः ॥(मनु०अ०९-१३८)

इति व्युत्पत्तौ तु पुत् पूर्वात् त्रैङ् पालने धातोः 'स्थापास्नात्रः कः' ।५।१।१४२। सूत्रात् के पुत्रः इत्याहुः तत्रास्माकमरुचिः, अरुचिकारणं मृग्यम् । व्युत्पत्तिस्तु शब्दानामनेकधा भवति । पश्येति दृशूं प्रेक्षणेधातोः पञ्चमी हिः 'श्रौतिकृवु०' ।४।२।१०८। 'अतः प्रत्ययात्० ।४।२।८५। सूत्रात् हेर्लुक् ॥१७॥

ओमाङि ।१।२।१८।

अवर्णस्य ओमि आङादेशे च परे लुक् स्यात् । अद्योम्, ओम्, आ ऊढा ओढा, अद्योढा, सोढा ॥ १८ ॥

ओम् च आङ् च तस्मिन् । अद्य+ओम् लिखित उच्चारित वेति क्रियाध्याहारेण अस्मिन् दिने ओम् शब्दो लिखित उच्चारित वेत्यर्थः । सा+ओम् सा प्रस्तुता स्त्री ओमिति स्वीकरोमीत्येवं कञ्चित्प्रति कथ्यते । अकाराऽऽकारयोरुदाहरणद्वयम् । आ ऊढा इति प्रथमं प्रसाध्य ओढेति 'गतिक्वन्य०' ।३।१।४२। इति समासः ततः अद्य ओढा, सा ओढा, इत्याङा-देशस्योदाहरणद्वयम् आङ् आभिमुख्यार्थे अर्हणाद्यर्थे वा ऊढा परिणीता । अस्मिन्दिने आभिमुख्येन सत्कारेण वा परिणीता नारीति वाक्यार्थः । एवं सा परिणीता नारीत्यर्थः ।

नन्वाङि परे 'समानानां०' ।१।२।१। इति दीर्घत्वे सिद्धे लुग्विधान-मनर्थकमिति नाशङ्कनीयं लक्ष्यानुरोधाद् आङादेशो गृह्यते । अयंभावः-धातूप-सर्गयोः कार्यमन्तरङ्गमिति न्यायात् पूर्वं धातोरूपसर्गेण योजनात् अद्य+ओढा इति स्थितौ सत्याम् ऐदौत्०।१।२।१२। इत्यौत्वापत्तिर्दुरुद्धरा तन्निवा-रणार्थं लुग्विधानम् । 'उभयस्थान०' इति न्यायात् उभयस्थाननिष्पन्नेऽपि आङादेशेन व्यपदेशः । ङकारोपादानाभावेपि 'वादिः स्वरोऽनाङ्' ।१।२।३६ इति सन्धिप्रतिषेधात् पारिशेष्यात् आङ एव ग्रहणं भविष्यति, वर्णवाचक आकारस्तु 'साहचर्यात्सदृशस्यैव ग्रहणमिति न्यायादेव निवृत्तस्तथा सति 'ओमाति' इति निर्देशो निर्दुष्टस्तथापि सुखावबोधाय ङकारसहितो निर्देशः ॥१८॥

उपसर्गस्यानिणेधेदोति ।१।२।१९।

उपसर्गावर्णस्य इणेधिवर्जे एदादावोदादौ च धातौ परे लुक् स्यात् । प्रलयति, परेलयति, प्रोषति, परोषति । अनिणेधिति किम् ? उपैति, प्रैधते ॥ १९ ॥

उपसर्गस्य इण् च एध् च इणेध्, न इणेध् अनिणेध्, एच्च ओच्च एदोत्, अनिणेध् चासौ एदोच्च तस्मिन् । अनिणेधित्यत्र 'धुटस्तृतीयः ।२।१।७६। इति दत्वं तु संदेहभयात्सौत्रत्वान्न कृतम् । प्र, परा, इलण् प्रेरणे 'चुरादिभ्यो णिच् ।३।४।१७। णिच्, प्र एलयति, परा एलयति, अत्र वृद्धिं बाधित्वाऽनेनावर्णलोपः प्रकर्षेण प्रेरयतीत्यर्थः । पराशब्दोऽनभिमुखादौ वर्तते । प्र, परा, उषू दाहे,तिव्,शव् । उष इण्क्, तिव् । एधि वृद्धौ, प्र एधते, अत्र 'ऐदौद् सन्ध्यक्षरैः' ।२।१।१२। सूत्राद्वृद्धिः । अत्रेदम्- 'येन विना यन्न भवति तत्तेनाक्षिप्यते' इति न्यायादुपसर्गसञ्ज्ञा धातुसम्बन्धं विनाऽसम्भवेन धातोराक्षेपः 'अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः' इति न्यायादुक्तं धाताविति । 'सप्तम्या आदिः ।७।४।११४। सूत्रादाह एदादावित्यादि । नन्वुपसर्गस्येति कथनाभावेऽपि पर्युदासनञाश्रयणे इणेधिवर्जितधातोरेव ग्रहणं भविष्यतीति उपसर्गग्रहणं न कर्तव्यमथवा धातुसबन्धे उपसर्गसञ्ज्ञायाः सिद्धत्वात् प्रादेरित्येवोच्यताम् मात्रालाघवं भविष्यतीति चेन्मैवम् प्रगता एलका यस्मात्स प्रैलको देश इत्यत्रोपसर्गपदोपादानाभावे 'येन धातुना०' इति न्यायेनेल्धातुना सम्बन्धादुपसर्गसञ्ज्ञाऽभावेप्यकारस्य लुक् स्यात् तन्निवारणार्थम् ।।१९।।

वा नाम्नि ।१।२।२०।

नामावयवे एदादावोदादौ च धातौ परे उपसर्गावर्णस्य लुग्वा स्यात् । उपेकीयति, उपैकीयति, प्रोषधीयति, प्रौषधीयति ॥ २० ॥

वा, नामन् तस्मिन् । उपसर्गस्य, अवर्णस्य, एदोति लुगिति च पदचतुष्टयमनुवर्तते । 'नाम्नि' इत्यस्य सामानाधिकरण्यासंभवादवयवद्वारेणाह नामावयवे इति । उप एक-मिच्छति 'अमाव्यया०' ।३।४।२३। 'क्यनि' ।४।३।११२।

'क्रियार्थो धातुः।३।३।३। इति धातुसंज्ञा। उपेत्यत्रावर्णलोपे उपित्यस्य पदत्वात् 'धुटस्तृतीयः'।२।१।७६। इति पस्य बत्वं प्राप्नोति तत् 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न्यायेन न भवति, वा नाम्नि' इत्यस्य बहुवपेक्षेण बहिरङ्गत्वात्। प्र ओषधिमिच्छति क्यनि प्रोषधी।ति 'दीर्घश्च्व०' ।४।३।१०८ इति दीर्घः। पक्षे 'ऐदौत्सन्ध्यक्षरैः' ।१।२।१०। इति धस्य दस्त्वाशङ्का प्राग्वन्निरसनीया। प्रकर्षेण ओषधिमिच्छतीत्यर्थः। न च स्याऽनोवावर्णविधौ'७।४।१०९। इति स्थानिवद्भावादेव पस्य बत्वाशङ्का निरस्ता किमसिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इति न्यायाश्रय इति वाच्यम् 'न सन्धिः०' ।७।४।१११। इत्यनेन निषेधात्। ननु न सन्धि० ।७।४।१११। सूत्रे सन्धिग्रहणेनैव स्थानिवद्भावनिषेधे सिद्धेऽपि द्विग्रहणमेतन्न्यायबाधनार्थत्वादत्रापि एतन्न्यायबाधो भविष्यतीति वाच्यं द्विग्रहणेन द्वित्वविषये एतन्न्यायबाधस्य चरितार्थत्वादत्रैतन्न्यायस्य बाधकरणे द्विग्रहणस्यासामर्थ्या-देतन्न्यायप्रवृत्तिः ॥२०॥

'इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्।१।२।२१।

इ उ ऋ लृ वर्णानामस्वे स्वरे परे यथासंख्यं य व र ल इत्येते स्युः। दध्यत्र, नद्येषा, मध्वत्र, वध्वासनं, पित्रर्थः, क्रादिः, लित्, लाकृतिः ॥ २१ ॥

इवर्ण आदिर्यस्य स इवर्णादिः, तस्य इ उ ऋ लृ वर्णानां बहुत्वेऽपि जातिविवक्षया इवर्णादेरिति एकवचनेन निर्देशः। न स्वः अस्वः तस्मिन्, स्वरे यश्च वश्च रश्च लश्च यवरलम्। इवर्णादेरित्युक्तत्वाद - वर्णस्येति निवृत्तम्। अस्वे स्वरे इत्यसमस्ताभिधानमुत्तरसूत्रेषु केवलं स्वर इत्यस्यैवानुवृत्त्यर्थमन्यथा' सन्नियोगशिष्टानां सह प्रवृत्तिः स्यात्। 'अस्वस्वरे' इत्यनुवृत्त्या तु' रायैन्द्रीत्यत्र आयादेशो न स्यात् अस्वस्वरा- भावात्। अस्व इति विशेषणं तु 'ह्रस्वोऽपदे वा ।१।२।२२। इत्यत्राऽऽवश्यकतयाऽत्र तु स्पष्टप्रतिपत्तयेऽभिहितं न तु दधि इदमित्यत्र यत्वप्रसङ्ग-वारणार्थम्, 'समानानां तेन दीर्घः' ।१।२।१। इत्यनेन बाधनात्। इवर्णादेरिति सामान्यनिर्देशः, एवं यवरलमित्यपि। अत एव यथासंख्योपपत्तिः, व्यक्त्या निर्देशे तु इवर्णादेरित्यनेन द्वासप्ततेः, यवरलमित्यनेन च सप्तानामुपस्थित्या यथा-

सङ्ख्यता न स्यात् । 'आसन्नः' । ७ । ४ । १२० । इति परिभाषाश्रयणे तु जातिव्यक्त्युभयपक्षयोरपि भविष्यति तदा द्विबद्धं सुबद्धं भवति" इति न्या-येन स्वीकारेऽ दोषः । 'सप्तम्या पूर्वस्य' । ७ । ४ । १०५ । इति न्यायात् अव्यवहितस्यैव पूर्वस्य यकारादिर्भवति न तु केनापि वर्णेन व्यवहितस्य । नदी एषा, मधु अत्र, वधू + आसनम्, पितुरर्थः षष्ठीसमासो वा पित्रेऽय-मिति पित्रर्थः 'तदर्थार्थेन । ३ । १ । ७२ । लिङ्गानुशासनात् अर्थशब्दःविशेष्यस्य समासलिङ्गो भवति. ऽर्थो वाच्यवत् इति । लिङ्गानुशासने ४०१) पितृ + अर्थः कृ त् विक्षेपे कॄ गश् हिंसायाम् वा धातोरनुकरणे कृ आदिर्यस्य स कादिः ऌ इत्अनुबन्धो यस्य स लित्, ऌ वदाकृतियस्य सः ऌ कारस्याऽऽ कृतिरिवाऽऽ कृतिर्यस्य स लाकृतिः उष्ट्रमुखादित्वाद् बहुव्रीहिः यद्वा ऌ कारस्याऽऽकृतिः लाकृतिरिति षष्ठीसमासः । 'इवर्णादि' रित्यत्र केचित्ऽन्वर्मी व्याख्यानयन्ति तन्मते दध्यत्र, मधुवत्र, भुवादय इति भवति । अत्र किञ्चिद् विचार्यते-इवर्ण आदिर्यस्य स इवर्णादिरित्यत्र तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः. न तु दृष्टसागर इति वदतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः, अत्रादिशब्दो व्यवस्थावाची । ननु इवर्णादिरि-त्यत्राऽऽदिशब्देन यथा इकारादयः स्वरा गृह्यन्ते तथा इन्द्रादिशब्दा अपि किं न गृह्यन्ते तथा सति इन्द्रस्याऽऽगनम्-इन्द्र + आगमन इत्यत्र यकारादिविधा-नरुप सन्धिकार्यं भविष्यतीति चेन्नैवमिद सन्धिप्रकरणम् सन्धिस्त्रिधा स्वर-सन्धिः व्यञ्जनसन्धिः गोबलीवर्दन्यायात् विसर्गसन्धिश्च । 'इवर्णादि०' । १ । २ । २१ । इति सूत्रं स्वरसन्धिप्रकरणस्थम्, इन्द्रादिशब्दास्तावन्न स्वरा अतोत्र इवर्णादिशब्देन इकारादयो वर्णा एव ग्राह्या न तु इन्द्रादिशब्दाः । गोबलीवर्दन्यायश्चेत्थं गावश्चरन्ति गोमध्ये बलीवर्दोऽपि समायातस्तथापि गवान्तरापेक्षया बलीवर्दस्य विशेषताशालित्वात्त्वात्पृथक् उपादीयते । अत्र व्यञ्जनान्तर्पातित्वेपि विसर्गस्य विशेषताशालित्वात्पृथगुपन्यासः ।

इवर्णादीनां द्वसप्ततिः भेदाः-

ह्रस्वोदात्तः दीर्घोदात्तः प्लुतोदात्तः प्रत्येकं सानुनासिकनिरनु-नासिको एवमनुदात्तस्वरितेषु सर्वमष्टादशभेद इवर्णः एवमुवर्णवर्णऌवर्णाः सर्वं मिलित्वा द्वासप्ततिः

यरलवानां सप्तभेदाः-

यलवाः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च रकारो निरनुनासिक एव अस्वे इत्यस्य 'तुल्यस्थानास्य०' । १ । १ १७ । इति विहितस्वसंज्ञकभिन्न

इत्यर्थः । नञर्थो द्वेधा-

> नञर्थौ द्वौ समाख्यातौ, पर्युदासप्रसज्यकौ ।
> पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥
> पर्युदासः स विज्ञेयः यत्रोत्तरपदेन नञ् ।
> प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ॥

पर्युदासोदाहरणं तु 'अब्राह्मणमानय' इत्युक्तौ ब्राह्मणभिन्नो मनुष्यत्वेन सदृश एवानीयते न तु गर्दभादिः । प्रसज्योदाहरणं तु अगमनमित्युक्तौ गमनाभावः प्रतीयते । प्रसज्यप्रतिषेधेऽसमर्थसमासकल्पना, वाक्यभेदः, क्रियाध्याहारश्च । पर्युदासे लाघवेऽपि यत्र तत्कल्पनेऽतिप्रसङ्गः तत्र प्रसज्योपि आश्रीयते 'अस्वे' इत्यत्र पर्युदास एवाश्रयणीयः । ननु तथासति स्वरत्वेन सादृश्यग्रहणे 'स्वरे' इत्युपादानं व्यर्थं स्यादिति चेन्न पर्युदासाश्रयणे हि केन धर्मेण सादृश्याश्रयणं ? वर्णत्वेन सादृश्यग्रहणे मधु पिबतीत्यत्रापि वकारः स्यात्तन्निराकरणार्थम् । यद्वा 'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थगतिः' इति न्यायस्यानित्यत्वेन व्यञ्जनेप्यस्य प्रवृत्तौ मधु पिबतीत्यत्रापि वकारः स्यात्तन्निराकरणार्थं 'स्वर' इत्यस्यावश्यकता ।

दध्यत्रेत्यस्य चतुः- पञ्चाशद्रूपाणि ।

ततोऽस्याः । १ । ३ । ३४ । सूत्रात् अवर्जवर्गात्परस्या अन्तस्थाया द्वे रूपे भवत इति यकारस्य वा द्वित्वम् । केषाञ्चिन्मते संयुक्तव्यञ्जनपरेऽपि द्वित्वमिति पुनर्धस्य द्वित्वे त्रिधं रूपम् । (१) एकधं एकयम् (२) एकधं द्वियम्, (३) द्विधमेकयम् (४) द्विध द्वयम् (५) त्रिधमेकयम् (६) त्रिधं द्वयम् (७) यागमे दधियत्रेति (८) न सन्धिः । १ । ३ । ५२ । इत्यसन्धौ दधि अत्र (९) 'अ इ उवर्णस्या० ।१।२।४१। सूत्रादिकारस्य सानुनासिकत्वे दधिँ अत्र एवं नवरूपाणि । अत्रेत्यत्र तद्द्वित्वे द्वितानि नव, पुनस्तद्द्वित्वे त्रितानि नव एव सप्तविंशतिः । अन्तस्थाकारस्यानुनासिकत्वे पुनः सप्तविंशतिरेव चतुःपञ्चाशद्रूपाणि । धुटो धुटि स्वे वा । १ । ३ । ४८ । विकल्पेन धकारलोपे तथा 'व्यञ्जनात्' । १ । ३ । ४७ । सूत्राद्विकल्पेन यकारलोपे रूपाणि भवन्ति तानि तु पूर्वोक्तरूपेभ्यो न भिद्यन्तेऽतो पृथग्न दर्शितानि ॥२१॥

ह्रस्वोऽपदे वा । १ । २ । २२ ।

इवर्णादीमस्वे स्वरे परे ह्रस्वो वा स्यात् । न चेत्तौ निमित्तनिमित्तिनावेकत्र पदे स्याताम् । नदि एषा-नद्येषा । मधु अत्र-मध्वत्र । अपद इति किम्? नद्यौ, नद्यर्थः । २२ ।

ह्रस्वः ॥ न पदं अपदं तस्मिन् वा । इवर्णादिरस्वे स्वरे इत्यनुवर्तन्ते । नदी एषा, अनेन ह्रस्वत्वम्, पक्षे यत्वम् । यद्यपि एकारैकारयोस्तालव्यत्वादिवर्णस्य अस्वस्वरपरत्वं नास्तीति ह्रस्वयत्वे न स्याताम्, तथापि 'एदैत': कण्ठतालु, ओदौतो: कण्ठोष्ठमिति मतान्तरमाश्रित्य ते विज्ञेये । मधु अत्र ह्रस्वस्यापि ह्रस्वः, ननु ह्रस्वस्य ह्रस्वकरण न युक्त 'नहि भुक्तवान्पुनर्भुङ्क्ते' भोजनविशेषात्तु तत्र प्रवृत्तिर्दृश्यतेऽत्र ह्रस्वस्य ह्रस्वकरणे का हेतुः 'अकृतकारी खल्वपि शास्त्रमग्निवत् यद्दग्धं न दहतीति चेत्सत्यं'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिरिति न्यायेन ह्रस्वस्यापि ह्रस्वः क्रियते, पर्जन्यो मेघो ऊन पूर्ण वानपेक्षमाणः सर्वत्र वर्षति यद्यपि जलपूर्णे वर्षतः तत्कालं फलं नास्त्येव, कालान्तरे तु ओषधिनिष्पत्तिरसाऽऽधिक्यादिकं फलमस्त्येवेति ह्रस्वविधानसामर्थ्यात् अत्रापि यत्वादिकार्यान्तरं न भवति । ह्रस्वविधानं निरवकाशं सत् 'निरवकाशस्य सर्वतो बलीयस्त्वात्' इति बलीयः सत् यादेशं बाधते इत्यर्थः । अग्निर्दग्धं न दहति तत्र तु अयोग्यता बीजम् । नद्या अर्थः नद्यर्थः, हितादित्वाच्चतुर्थीसमासः । अत्रान्तर्वर्तिन्या विभक्तेरपेक्षया पदभेदेपि समासे सति ऐकपद्यमिति युगपत्पदत्वमपदत्वं च, तत्र पदभेदाश्रयेण विधीयमानो ह्रस्वो गौणः, अपदे इत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधाश्रये निषेधस्य प्राधान्यम् अर्थात् एकपदाश्रयेण निषेधः प्रधानम्, तस्मात् 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायेन प्रधानाश्रितमेव कार्यं भवतीति न ह्रस्वः । अपदे इति- अविभक्तिकानां प्रयोगानर्हत्वात् सविभक्तिकानां च पदत्वात् सर्वत्र पदस्यैव सद्भावे अपदे निमित्तनिमित्तिनौ न सम्भवतः इति पदशब्देन एकपदमिह विवक्षितम् एकवचनमप्येतदर्थं पुष्णाति तच्चैकपदं नद्यौ इत्यपि, नद्यर्थ इत्येवं समासोपि । अत्र किञ्चित्- 'सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायात् भिन्नपदे एव ह्रस्वो भवति नद्यर्थ इत्यत्र तु एकपदेपि वर्तमानत्वात् ह्रस्वो न भवति ॥२२॥

एदैतोऽयाय् । १ । २ । २३ ।

एदैतोः स्वरे परे यथासंख्यं अय् आय् इत्येतौ स्याताम् । नयनम्,

वृक्षयेव, नायकः, रायैन्द्री ॥२३॥

॥एच्च॥ ऐच्च एदैत् तस्य अय् च आय् च अयाय् । स्वरे इत्यनुवर्तते, इवर्णादिसम्बद्धस्याऽस्याऽक्ये इत्यस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तेः, तन्निवृत्तिश्च एदैत इत्युक्ते । तेनेह स्वसञ्ज्ञकेपि भवति । णींग् प्रापणे, नीयतेनेनेति नयनम्, 'करणाधारेऽनट्' ।५।३।१२९। सूत्रादनट् 'नामिनो गुणोऽ०।४।३।१। ने अयनम्, अनेन अय्करणे प्रापणसाधनम् आधारे प्रापणाधिकरणम् 'अनट्' ।५।३।१२४। इति भावे तु प्रापणमित्यर्थः । वृक्षे एव स्वे स्वरे परेऽप्यत्र अय् 'स्वरे वा' ।१।३।२४। सूत्रात् यकारलोपे वृक्ष एव इत्यपि भवति । नयतीति नायकः 'णकतृचौ ।५।१।४८। णकः 'नामिनोऽकलिहलेः ।४। ।५१। इति नै अकः, नायकः प्रापयितेत्यर्थः । रांक् दाने रायते महामनोभिरिति 'रातेर्डैः । उणा ८६६ । इति डिति ऐप्रत्यये रै इति रायःसुवर्णस्य ऐन्द्री इन्द्रसम्बन्धिनी प्रतिमेत्यर्थः ॥२३॥

आदौतोऽवाव् ।१।२।२४।

ओदौतोः स्वरे परे यथासंख्यं अव् आव् इत्येतौ स्याताम् । लवनम्, पटवोतुः, लावकः गावौ ॥२४॥

॥ ओच्च औच्च ओदौत् तस्य, अव् च आव् च अवाव् । स्वरे इत्यनुवर्तते । औपश्लेषिकाधिकरणे सप्तमी इति 'परे' इत्यर्थलाभ । यथासङ्ख्यमनुदेशः समानामिति समसङ्ख्यात्वाद्व यथासङ्ख्यमन्वयः । लूयतेनेनेति लवनम् अनट्प्रत्ययः 'नामिनो गुणो ।४।३।१। लो अनम्, अनेनाव् । छेदनं, छेदनसाधनं, छेदनाधिकरणमित्यर्थः । पटु ह्रस्वस्य गुणः' । १।४।४१। सूत्रात् पटो ओतुः हे दक्ष । बिडालास्तीत्यर्थः । लुनातीति लावकः 'णकतृचौ । ५।१।४८। 'नामिनोऽकलि०' ।४।३।५१। लौ अकः । गो औ – द्वौ वृषभाविरयर्थः । 'आत औः ।१।४।७४। ॥२४॥

य्यक्ये ।१।२।२५।

ओदौतोः क्यवर्जे यादौ प्रत्यये परे यथासंख्यमव् आवौ स्याताम् । गव्यति, गव्यते, नाव्यति, नाव्यते, लव्यम्, लाव्यम्, अवश्य इति

किम् ? उपोयते, औयत ॥२५॥

सप्तमी, न क्य अक्य: तस्मिन् । ओदौतोऽवावित्यनुवर्तते । अक्य इत्यत्र पर्यु दासनञ् क्यभिन्ने क्यसदृशे च यि इत्यन्वये सादृश्यस्य प्रत्ययत्वेन ग्रहणात् क्यभिन्ने यि प्रत्यये इति । प्राप्ते य् इत्येतावन्मात्रस्य कस्यापि प्रत्ययस्याभावात् तस्यावयवार्थे पर्यवसानात् 'अभेदोनोक्तोऽवयवो विशेषणम्' इति प्रत्ययविशेषणत्वे प्राप्ते 'सप्तम्या आदि: ।७।४।११४। सूत्रात् तदादित्वलाभ: । 'एकानुब न्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य' इति न्यायेनैकानुबन्धस्य क्यस्य वर्जनात् द्व्यनुबन्धके क्यनि क्यङि च अवावौ स्यातामेवेत्यत आह–गव्यतीत्यादि । गामिच्छति गव्यति 'अमाव्ययात् क्यन्' ।३।४।२३। वर्तमानातिव्, शव् अनेन अव्, 'शेषात्परस्मै ।३।३।१००। गौ: वृषभ इवाचरति 'क्यङ् ।३।४।२३। वर्तमानाते,'इङि०'।३।३।२२। सूत्रात् । नावमिच्छति-नाव्यति,नौरिवाचरति नाव्यते क्यङ् । लूयते लवितुं योग्यमिति लव्यम् 'य एच्चात: ।५।१।२८। नामिनो गुणो० ।४।३।१। अवश्यं लूयते इति लाव्यम् 'उवर्णादावश्यके ।५।१।१९। घ्यण् 'नामिनोऽकलिहले: ।४।३ ५१।'नञुवर्तं तत्सदृशे' इति न्यायेन क्यवर्जनात् यादिप्रत्यय एव गृह्यते तेन गवां यूति: गोयूति:, गोयानमित्यत्रावादेशो न भवति । गव्यूतिरिति त्वव्युत्पन्न: सञ्ज्ञाशब्द: उक्तं च सञ्ज्ञाशब्दास्त्वव्युत्पन्ना:, प्रकृति-प्रत्ययविभागविकला: । व्युत्पत्तिपक्षे तु पृषोदरादित्वादवादेश: । गव्यूति: क्रोशद्वयम् । उप वेंग् तन्तुसन्ताने, वर्तमानाते ' क्य: शिति' ।३।४।७०। इति क्यप्रत्यय:, 'यजादिवचे: किति' ।४।१।७९। व: उ:, दीर्घश्च्व० ।४।३।१०८। इति दीर्घ: । उप ऊयते 'अवर्णस्ये० ।१।२।६। इत्योत्वम्, क्यवर्जनान्नात्राव् । अत्र धातूपसर्गकार्यस्य गुणस्य बहिरङ्गत्वेन 'य्यक्ये' इत्यवादेशे कर्तव्येऽसिद्धत्वेन नात्राव् प्राप्नोतीत्यरुचेरुदाहरणान्तरं दर्शयति औयते इति । वेंग् तन्तुसन्ताने 'आत्सन्ध्यक्षरस्य' ।४।२।१। इत्यात्वे ह्यस्तनीतप्रत्यय: 'क्य: शिति ।३।४.७०। 'यजादिवचे:' ।४।१।७९।' 'स्वरादेस्तासु' ।१।२.१२। इति वृद्धि: । ॥२५॥

ऋतो रस्तद्धिते ।१।२।२६।

ऋकारस्य यादौ तद्धिते परे र:स्यात् । पित्र्यम् । तद्धित इति किम् ? कार्यम् ॥२६॥

ऋतुषष्ठी, रः प्रथमा तस्मै लौकिकवैदिकशब्दसन्दर्भाय हितः तद्धितः तस्मिन् तद्धिते । यि इत्यनुवर्तते । पितरि साधु पित्र्यम् 'तत्र साधौ' ।७।१।१।१५। साधावर्थे यप्रत्ययः रादेशश्चानेन । डुकृञ् करणे क्रियते इति कार्यम्, 'ऋवर्णव्यञ्जना घ्यण्' ।५।१।१७। 'नामिनोऽकलि०।४।३।५१ सूत्राद् वृद्धिः । यद्यप्यत्रपरत्वाद् वृद्धिखे भविष्यति तद्धितग्रहणेनालमिति चेन्न तद्धित-ग्रहणाभावे जागृयात् इयृयात् इत्यादौ ऋकारस्य रत्वधारणाय तदग्रहणं सार्थकम् । न च तद्धितग्रहणाभावे 'परिसर्या' इत्यत्रापि रत्वं प्रसज्येतेति वाच्यम् 'आस्यटि० ।५।३।९७। इति क्यपोऽनुवृत्त्या सिद्धे 'परेः सृचरेर्यः । ।५।३।१०३। इति यग्रहणस्य गुणार्थत्वात् ॥२६॥

एदोतः पदान्तेऽस्य लुक् ।१।२।२७।

एदोभ्यां पदान्तस्थाभ्यां परस्याकारस्य लुक् स्यात् । तेऽत्र, पटोऽत्र । पदान्त इति किम् ? नयनम् ॥ २७ ॥

॥ एच्च ॥ ओच्च एदोत् तस्मात्, पदस्यान्तः पदान्तस्तस्मिन्, अस्य, लुक् । एदोत् इत्यत्र 'प्रभृत्यन्यार्थ० ।२।२।७५। इति दिग्योगलक्षणा पञ्चमी दिग्योगस्य पूर्वापरसाधारणत्वेऽपि 'पञ्चम्या०' ।७।४।१०४। इति सूत्रबलात्परस्यैव भवति । तकारावुच्चारणार्थौ । ननु 'पदान्ते' इति व्यधिक-रणविशेषणम् 'एदोत' इत्यस्याथवा'अस्य'इत्यस्येति चेत्सयम् एदोत' एव कर्तव्यमन्यथाऽनन्तरं वक्ष्यमाणः गोरोतोऽक्षे परे संज्ञायामलोपबाधनार्थमवा-देशविधानं न स्यात् अपदान्तस्थत्वात् अकारलोपस्य प्राप्त्यभावाच्च । पदस्यान्तोऽवसानं पदान्तः तत्रेति अधिकरणसप्तमी । अयवोरपवादः । 'तद्' जस् 'आद्वेरः ।२।१।४१। सूत्राद्स्याकातेरे 'लुगस्या०' ।२।१।११३। पूर्वाकारलोपे 'जस इः' ।१।४।९। इति । ते अत्र अनेनाकारस्य लोपः । पटु सम्बोधने 'ह्रस्वस्य गुणः ।१।४।४१। णीञ् प्रापणे ने अनम्, अत्र पदान्त त्वाभावान्नानेनाकारलोपः किन्त्वयादेशः । ॥२७॥

गोरम्न्यवोक्षे । १ । २ । २८ ।

गोरोतः पदान्तस्थस्य अक्षे परे संज्ञायाम् अव इति स्यात् ।

गवाक्षः । नाम्नीति किम् ? गोऽक्षाणि ।। २८ ।।

गोः अवयवावयविभावसम्बन्धे षष्ठी नाम्नि सप्तमी, अवः प्रथमा, अक्षे सप्तमी । एदोत इत्यस्मात् ओतः, पदान्ते इत्यनुवर्तते, न तु एद्, असम्भवात् । 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे' इतिन्यायात् 'अधातु० ।१।१२७। इति कृत्रिमनाम्नो ग्रहणे प्रसक्तेपि गो अक्ष शब्दयोर्नामत्वाव्यभिचारात् 'सम्भवे व्यभिचारे च स्याद्विशेषणमर्थवदितिन्यायात् नाम्नीत्यस्य लौकिकनाम्नीत्यर्थः संज्ञायामिति यावत् । एदोतः इति स्थानिपदस्य 'अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः' इति न्यायात् षष्ठ्यन्तत्वेन परिणामः । ननु 'षष्ठ्याऽन्त्यस्य ।७।४।१०६। इति सूत्रेणै व सिद्धो 'एदोत' इत्यस्यानुवृत्त्यालमिति चेन्न'अनेकवर्णः सर्वस्य । ।७।४।१०७। इति प्रवृत्तावनिष्टं स्यात् । व्याप्त्यर्थकाशौटिधातोः 'प्रुषिप्लुषि, उणा. ७०७ इति किल्सिप्रत्यये 'यजसृज.' ।२।१।८७। 'षढोः कःसि ।२।१।६२ इति शस्य षत्वे कत्वे च 'नाम्यन्तस्था. ।२।३।१५। इति प्रत्ययसस्य षत्वे च अक्षिशब्दो व्युत्पन्नः । अक्षिशब्दोऽक्षीवेत्यर्थे, लाक्षणिकः । गोःधेनोरक्षीव विवराकारादिना नेत्रमिवेत्युपमा । केचित्तु गवां किरणानाम्, अक्षि नेत्रमिव गवाक्षद्वारा किरणा गेहान्तर्गत वस्तु पश्यन्तीत्युपेक्षेति वदन्ति । 'अक्ष्णोऽप्राण्यङ्गे ।७।३।८५। सूत्रात्समासान्तेति 'अवर्णवर्णस्य ।७।४।६८। इतीकारलोपेनेनावादेशे च **गवाक्षः** वातायन इत्यर्थः । अक्षशब्दस्तु व्याप्त्यर्थकाशौटिधातोः 'मावावद्य. । उणा. ५६४ इति से सिद्धः । गवामक्षाणि इन्द्रियाणि गोऽक्षाणि पूर्वसूत्रेणास्य लुक् । 'वात्यसन्धिः ।१।२।३१। इति विकल्पेनाऽसन्धौ गोअक्षाणित्यपि ।।२८।।

स्वरे वाऽनक्षे । १ । २ । २९ ।

गोरोतः पदान्तस्थस्य स्वरे परे अव इति वा स्यात्, स चेत्स्वरोऽक्षस्थो न स्यात् । गवाग्रम्, गोऽग्रम् । गवेशः, गवीशः । अनक्ष इति किम् ? गोऽक्षम् । ओत इति किम् ? चित्रग्वर्थः ।। २९ ।।

।। **स्वरे** ।। सप्तमी, वा, न अक्षः अनक्षस्तस्मिन् । गोः ओतः, पदान्ते, अव इति वर्तन्ते, एवमग्रेपि । गवामग्रं गवाग्रं वैकल्पिकोवादेशः, 'वात्यसन्धिः ।१।२।३१। इत्यसन्धौ गो अग्रमित्यपि । गवामीशः गवेशः विकल्प-

पक्षे 'ओदौतोऽवाव् ।१।२।२४ गोऽक्षमित्यत्राक्षशब्द एवास्ति, न च संज्ञा गम्यते, अतः 'एदोतः ।१।२।२७। इति लोपः । गोधेनुर्वृषभो वा । चित्रा चित्र-वर्णाः गावो यस्य स चित्रगुः 'गोश्चान्ते' ।२।४।९६। चित्रगोरर्थः वा चित्रगवेऽयमित्यर्थे तदर्थार्थेन'।३।१।७२। इति ननु चित्रगुरित्यत्र गोशब्दो नास्ति तस्मादेव नावादेशापत्तिरिति चेन्न 'एकदेशविकृतमनन्यवद्' इति न्यायाद् भविष्यति तन्निवारणार्थमोत इत्यस्यावश्यकता । एवम् ओत इत्यस्याभावे 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ।७।४।१०७। इति सम्पूर्णगोशब्दस्यादेशः स्यादित्योत इत्यवश्यमुपादेयम् । 'चित्रगो उदकम्' अत्र चित्रगुशब्दस्य सम्बोधने तु 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोरिति न्यायान्न भवति । प्रसज्ये निषेधस्य प्राधान्यात् 'गवाक्षसंघात' इत्यनिष्टरूपं न भवत्यन्यथा पर्युदासाश्रये तु गो अक्षशब्दो न अक्षसंघातशब्द इति अवादेशापत्तिः स्यात् । प्रसज्याश्रये तु गोऽक्षसघात इतीष्टं सिध्यति । प्रसज्योऽत्यन्ताभाव-, पर्युदासोऽन्योन्याभाव इति सामान्यार्थः ।।२९।।

इन्द्रे । १ । २ । ३० ।

गोरोतः पदान्तस्थस्य इन्द्रस्थे स्वरे परे अव इति स्यात् । गवेन्द्रः ।। ३० ।।

।। **इदु परमैश्वर्ये इन्द्रे** ।। स्वरे इति वर्तते, गवामिन्द्रः गवेन्द्रः । पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् । अत्र 'सप्तम्या आदिः' ।७।४।११४। इति परिभाषया इन्द्रादौ शब्दे परे इत्यर्थः, तथा च इन्द्रयज्ञादिशब्दे परे एव गोरोतोऽवादेशः प्राप्नोति, न तु गवेन्द्र इत्यत्रापि, परन्तु, आद्यन्तवदेकस्मिन् इति न्यायेन गवेन्द्र इत्यत्रापि इन्द्रादित्वकल्पनादवादेशः सिध्यतिः । गोषु वृषभेषु इन्द्र इवेति 'सिंहाद्यैः पूजायाम् ।३।१।१८९। सूत्रात्समासः । गवेन्द्रः वृषभराज इत्यर्थः ।।३०।।

वात्यसन्धिः । १ । २ । ३१ ।

गोरोतः पदान्तस्थस्याकारे परेऽसन्धिभावो वा स्यात् । गो अग्रम्, गवाग्रम्, गोऽग्रम् । अतीति किम् ? गवेङ्गितम् ।। ३१ ।।

अति सप्तमी, न सन्धिरसन्धिः सन्धिर्नाम वर्णद्वयजातो विकार-

विशेषस्तस्याभाव: । वर्णयो: प्रकृत्या स्वरूपेणावस्थितिर्भवतीत्यर्थ: । गो: पदान्ते इत्यनुवर्तते । गवामग्रम्, गो अग्रम् गवामिङ्गितं चेष्टितम् 'स्वरे वा. ।१।२।२९। इत्यवादेश: ॥३१॥

प्लुतोऽनितौ ।१।२।३२।

इतिवर्जे स्वरे परे प्लुतः सन्धिभाग्न स्यात् । देवदत्त ३ अत्र न्वसि । अनिताविति किम् ? सुश्लोकेति ॥ ३२ ॥

॥ प्लुत: ॥ न इति अनिति तस्मिन् । असन्धि:, स्वरे इत्यनुवर्तते । देव एनं देयादित्याशीर्विषये 'तिक्कृतौ नाम्नि ।५।१।७१। सूत्रात् क्त: 'दूरादामन्त्र्य. ।७।४।९९। इति प्लुत: । अत्र नु असि, वितर्कार्थे नु इति अव्ययम् शोभन: श्लोक: कीर्तिर्यस्य स सुश्लोक:, तस्य सम्बोधनं, हे सुश्लोक इति, अत्र गुण: ॥३२।

इ ३ वा ।१।२।३३।

इस्थानः प्लुतः स्वरे परेऽसन्धिर्वा स्यात् । लुनीहि ३ इति, लुनीहीति ॥ ३३ ॥

॥ इ ३ ॥ सूत्रत्वात्सिलोप:, वा । रे स्वरे, असन्धि:, इत्यनुवर्तते, विकल्पस्त्रेधा-प्राप्तविषयकोऽप्राप्तविषयक:, प्राप्ताप्राप्तविषयकश्च । प्राप्तविषयको यथा'ऋत्यारुपसर्गस्य' ।१।२।९। इति प्राप्तस्यारादेशस्य 'नाम्नि वा' ।१।२।१०। इति विकल्प: अप्राप्तविषयको यथा 'वात्यसन्धि: ।१।२।३१। इत्यत्र केनापि सूत्रेणाप्राप्तस्यासन्धेर्विकल्प: प्राप्ताप्राप्तविषयक: तु इदमेव सूत्रम् 'प्लुतोऽनितौ ।१।२।३२। सूत्रेण लुनीहि ३ इदमित्यादौ इतिवर्जे स्वरे परे प्राप्तस्य इतौ परेऽप्राप्तस्यासन्धेर्विकल्प: । छेदनार्थक: क्र्यादिलूधातु: 'प्रैषानुज्ञा० ।५।४।२९। सूत्रात्पञ्चमीहि:, 'क्र्यादे:' ।३।४।७८। श्नाप्रत्यय: 'प्वादेर्ह्रस्व: ।४।२।१०५। 'क्षियाऽऽशी.' ।७।४।९२। इति प्लुत:, लुनीहि ३ इति । यद्वा किं मया कर्तव्यमिति पृष्ट: प्राह-लुनीहि ३ इति 'विधिनिमन्त्रणामन्त्र. ।५।४।२८। सूत्रात्पञ्चमी 'हे: प्रश्नाख्याने ।७।४।९७। सूत्रात्प्लुत:, अनेन

'समानानां तेन दीर्घः ।१।२।१। सूत्रात्प्राप्तसन्धिनिषेधः ॥३३॥

ईदूदेद्द्विवचनम् ।१।२।३४।

ई ऊ ए इत्येवमन्तं द्विवचनान्तं स्वरे परेऽसन्धिः स्यात् । मुनी इह, साधू एतौ, माले इमे, पचेते इति । ईदूदेदिति किम् ? वृक्षावत्र । द्विवचनमिति किम् ? कुमार्यत्र ॥ ३४ ॥

॥ ईच्च ॥ उच्च एच्च ईदूदेत्, द्वावर्थौ वक्तीति द्विवचनम् । स्वरे, असन्धिरित्यनुवर्तते । 'विशेषणमन्तः ।७।४।११३। अभेदोक्तोवयवो विशेषणम् तद्विशेष्यस्य समुदायस्यान्तः स्यात् । तथा च द्विवचनरूपं यदीदूदेत् तदन्तः सन्धिं न प्राप्नोतीत्यर्थकरणे 'उभयस्थान० इति न्यायेन माले इत्यत्रासन्धेः प्राप्तावपि पचेते इत्यादौ न स्यात्, आते इति द्विवचनस्यैतदन्तत्वेऽप्येकाररूपत्वाभावात् । ईदूदेदन्तं द्विवचनमित्युक्तौ तु पचेते इत्यत्रासन्धेःप्राप्तावपि माले इत्यादौ न भवेत्, तत्र ईकारादेर्द्विवचनत्वेऽपि ईदन्तद्विवचनाभावादित्युभयत्र दोषादाह-ई ऊ ए इत्येवमन्तं द्विवचनान्तमिति समुदायोऽत्र विशेष्यम् । यः समुदाय ईदू- देदन्तः, अथ च द्विवचनान्तः सन्धिं न लभते इत्यर्थः तथा च माले पचेते इत्यादौ न दोषः, तादृशसमुदायस्य द्विवचनान्तत्वादीदूदेदन्तत्वाच्च । मुनी इह,साधू एतौ, माले इमे, पचेते इति अत्र सर्वत्रासन्धिः मन्यते जगत्तत्त्वं सस मुनिः, उत्तमक्षमादिभिस्तपोविशेषैर्भावितात्मा साध्नोति, सम्यग्दर्शनादिभिः परमपरं साधयति वेति उभयलोकफलं साधयति वेति साधु "कृवापा. उणाः १ इत्युण्प्रत्ययः । कुमार्यत्रेत्यत्र तु इवर्णादे:० ।१।२।२१। इत्यनेन यकारः ॥३४॥

अदो मुमी ।१।२।३५।

अदसः सम्बन्धिनौ मुमी इत्येतौ स्वरे परेऽसन्धी स्याताम् । अमुमुईचा । अमी अश्वाः ॥ ३५ ॥

॥ मुश्च ॥ मीश्च मुमी, अदसो मुमी अदोमुमी । न तु अमुष्य

मुमीति विग्रहः, अत्रादस्शब्दस्य शब्दपरत्वेन स्वार्थानभिधायकत्वात्, अदस्-शब्दनिमित्तकविधिषु विप्रकृष्टवर्तिज्ञातपदार्थार्थकस्यैव अदसो ग्रहणम्। मुश्च मीश्च मुमी समाहारद्वन्द्वाश्रयणे सौत्रत्व दृध्रस्वाभावः, इतरेतरद्वन्द्वाश्रयणे सौत्रत्वादौलोपः। अदसः अग्रे अञ्चू गतौ च अमुमञ्चतीती 'क्विप् ।५।१।१४८। सूत्रात्क्विप् 'ङस्युक्तं कृता' ।३।१।४९। सूत्रात्समासः, ऐकार्थ्ये ।३।२।८। 'अञ्चोऽनर्चायाम् ।४।२।४६। 'सर्वादिविश्वग्देवा.। ।२।१२२ सूत्रादसः परः डद्रिप्रत्ययः 'डित्यन्त्यस्वरादेः ।२।१।११४। इत्यदसोऽस्लोपे अदद्रि+अच् इति स्थिते टाप्रत्यये 'अच्च प्राग्दीर्घश्च' ।२।१।१०४। सूत्रात् 'अच्' इत्यस्य 'च्' इत्यादेशे पूर्वस्वरस्य दीर्घत्वे 'अदद्रीच् आ' इति स्थिते 'वाऽद्रौ' ।२।१।४६। सूत्राद् द्वयोर्दकारयोर्मकारे 'मादुवर्णोऽनु' ।२।१।४७। सूत्रादकारस्य रस्य चोत्वेऽनेनासन्धौ 'इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम् ।१।२।२१। सूत्राप्रवृत्तौ 'अमुम ईचा' इति। अमी अथवा:-अदम् 'जस इ' ।१।४।९। आ द्वेरः ।२।१।४१। लुगस्यादेत्यपदे ।२।१।११३। 'मोऽवर्णस्य'।२।१।४५। इति दस्य मकारः 'जस इ' ।१।४।९। 'अवर्ण० ।१।२।६। इति एः। 'बहुष्वेरीः' ।२।१।४९। इति एकारस्य ईः ॥३५॥

चादिः स्वरोऽनाङ् ।१।२।३६।

आङ्वर्जश्चादिः स्वरः स्वरे परेऽसन्धिः स्यात्। अ अपेहि, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ, आ एवं किल मन्यसे, आ एवं नु तत्। अनाङिति किम्? आ इहि आहि।

॥ च आदिर्यस्य स चादिः स्वरः, न आङ् अनाङ् ॥ स्वरे, असन्धिरिति चानुवर्तते। स्वर इत्यस्य 'चादिः' इत्यस्य विशेषणत्वे 'विशेषणमन्तः' ।७।४।११३ सूत्रात्तदन्तलाभे स्वरान्तश्चादिरित्यर्थो भवितुमर्हति तथा सति आङ्वर्जनेन आङःस्वरान्तत्वाभावात्तद्वर्जनं विफलं स्यादत अनाङिति पर्युदासाश्रयणेन पर्युदासस्य च सदृशग्रहणरूपत्वात्, आङि भिन्नाङ्सदृशस्यैव स्वरस्य ग्राह्यतया न तदन्तविधिः, उत्तरसूत्रेऽन्तग्रहणेनात्र केवलस्यैव सम्मतत्वाद्दाह-आङ्वर्जश्चादिः स्वर इति। अ अपेहीति, अपपूर्वकाद् इण्क् गताविति धातोः पञ्चमीहिप्रत्यये गुणे च अपेहीति, अनेन चाकारेण समानानां' ।१।२।१। इति सन्ध्यभावः। अ इति निर्भर्त्सने, अ अपेहि, अपसर,

दूरीभवेत्यर्थः। 'अ' पूरणभर्त्सनाऽऽमन्त्रणनिषेधार्थकश्चादिः। इ इति चादिगणपठितमव्ययं सम्बोधने विस्मये वा इ इन्द्रं पश्य-इन्द्रदर्शनेन विस्मितस्सन्नयमीन्द्रदर्शनाय अनेन वाक्येन प्रेरयति। उ इति चादिगणपठितमव्ययं जुगुप्सासन्तापन्यर्थाप्यर्थेषु। कस्यचित्सामीप्येन संतप्तः सन् निजसामीप्यात्तमपसारयन्नित्यवदत्। आ एवं किल मन्यसे-पूर्वप्रकान्तस्य वाक्यार्थस्यान्यथात्वद्योतकमा इत्यव्ययम् पूर्वमित्थं नाऽमंस्थाः, इदानीं त्वेवं मन्यसे इत्यर्थः, वृद्धौ प्राप्तायामसन्धिः। आ एवं नु तत्, विस्मृतस्य स्मरणद्योतकोऽयमाकारः, उभयत्राकारः आङ्भिन्नः।

ईषदर्थे क्रियायोगे, मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्यात्, वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

इत्याकारस्याङ्त्वानाङ्त्वप्रदर्शकः श्लोकः।
आ इहि एहि, अत्र आ इति आङुपसर्गः, अत्र तु गुणः ॥३६॥

ओदन्तः ।१।२।३७।

ओदन्तश्चादिः स्वरे परेऽसन्धिः स्यात्। अहो अत्र ॥ ३७ ॥

॥ ओत् अन्ते यस्य स ओदन्तः ॥ चादिः स्वरे, असन्धिरित्यनुवर्तन्ते। अहो इत्यादयो अखण्डाश्चादय इति पृथग्योगः, पूर्वसूत्रेऽनाङिति पर्युदासादेकस्वररूपचादेरेव ग्रहणस्येष्टतया वा पृथग्योगः। 'एदोतः पदान्तस्य लुक्' ।१।२।२७। सूत्रादकारलोपे प्राप्तेऽनेनासन्धिः। अहो इति शोके धिगर्थे विषादे दयायां सम्बोधने विस्मये प्रशंसायां वितर्केऽसूयायां च ॥३७॥

सौ नवेतौ ।१।२।३८।

सिनिमित्त ओदन्त इतौ परेऽसन्धिर्वा स्यात्। पटो इति, पटविति ॥ ३८ ॥

॥ सौ सप्तमी, न वा, इतौ सप्तमी। ओदन्त असन्धिः इत्यनुवर्तते। सिश्च आमन्त्र्यविहितो ग्राह्यः अन्येन स्वरस्य व्यवधानादोकारस्यासम्भवाच्च प्राप्त्यभावात्प्रतिषेधो व्यर्थः स्यात्। पटुशब्दात् सम्बोधनैकवचने

सो 'ह्रस्वस्य गुणः ।१।४।४१। सूत्रादोकारे पटो ! इति अनेनासन्धिः 'ओदौतो-ऽवाव् ।१।२।२४। इत्यवादेशाभावः वैकल्पिकत्वात् अवादेशोपि 'स्वरे वा ।१।३।२४। पट इत्यपि। वेत्येव सिद्धौ नवेति ग्रहणमुत्तरत्रानुवृत्त्यर्थम्। त्रिसूत्रेषु तु अनुवृत्तिर्नवा इत्यस्य दृश्यते एव ॥३८॥

ॐ चोञ् ।१।२।३९।

उञ् चादिरितो परेऽसन्धिर्वा श्यात्। असन्धौ च उञ् ॐ इति दीर्घोऽनुनासिको वा श्यात्। उ इति, ॐ इति, विति ॥ ३९ ॥

ॐ सूत्रत्वाद्विभक्तिलोपः। चउञ्। चादिः, इतौनवेत्यनुवर्तन्ते। पक्षे ओदौतोऽवाव् ।१।२।२४। उञ् शब्दो भत्सनार्थकः। ननु उञो ञित्करणं किमर्थमिति चेत्सत्य ञित्करणं स्वरूपपरिग्रहार्थम् तेन विकृतस्य ञितो न भवति। अयं भावः द्वावुकारौ निरनुबन्धः सानुबन्धश्चः। तत्र यो निरनुबन्ध-स्तस्याहो इत्यत्रौकारादेशः इष्यते नापरस्य, अतोऽहो इत्यत्राञित एव कृता-देशत्वादिदं सूत्रं न प्रवर्तते। अत एव जान्वस्य रुजतीत्यत्रोत्तरसूत्रेण वत्वं भवति, उजा सह जानोरुकारस्य दीर्घीभूतत्वात्, अथवाऽत्र सूत्रे उकार-प्रश्लेषात् उ उञ् ऊञ् इत्युकारेण उञो विशेषणात् उकाररूपस्य उञो ग्रह-णात् अहो इत्यादौ न भवति उत्तरत्र तु जात्याश्रयणात् दीर्घीभूतस्यापि जान्वस्य रुजतीत्यादौ वत्वं भवति। न च ॐ इत्येव चादिषु पठ्यतां किमादे-शेनेति वाच्यं, तथा सति तस्यानितावपि प्रयोगः स्यात् स तु नेष्ट इति, यथा अह+उ, अत्र 'अवर्णस्ये० ।१।२।६। इत्यनेनोत्वे अहो, पश्चादोदन्त इत्यसन्धौ अहो इति। उ इति असन्धौ ॐ इति दीर्घानुनासिकाभ्यां विति च असन्ध्य-भावे इति त्रैरूप्यम् ॥३९॥

अञ्वर्गात् स्वरे वोऽसन् ।१।२।४०।

अञ्वर्गेभ्यः परः उञ् स्वरे परे वो वा स्यात्, स चासन्। क्रुङ् ङ्वास्ते, क्रुङ् ङ्उआस्ते। असत्त्वाद् द्वित्वम् ॥ ४० ॥

॥ न ञ् अञ् चासौ वर्गश्च, तस्मात्, स्वरे, वः, असतीति

सन् न सन् असन्, ऊँञ् इत्यनुवर्तते। ननु 'असन्' इत्यस्य स्वरूपेणाभाव इत्यर्थः तथा सति किं वकारविधानेनेति चेत्सत्यमसन्नित्यस्य मुख्यार्थपरित्यागेन गौणः असिद्धवत्, अभूतवदित्यर्थः कर्तव्यः तथा सति वैयर्थ्यशङ्का नैव तिष्ठति, तथा च स्थान्याश्रयं कार्यं सिद्धं भवति। अञ्-वर्गादित्यत्र जात्यपेक्षयैकवचनेन निर्देशेपि स्पष्टप्रतिपत्तये व्यक्त्यपेक्षणादाह-अवर्जवर्गेभ्य इति। 'पञ्चको वर्गः ।१।१।१२। इतिपञ्चसमुदायस्य वर्गत्वेपि युगपत्समुदायासम्भवात् प्रत्येकं वर्गशब्देन वर्ग्यःप्रतीयते। 'स्वरे वाऽनक्षे' ।१।२।२३। सूत्रात् धाराप्रवाहन्यायेन, मण्डुकप्लुतिन्यायेन वाऽनुवृत्तिसम्भवेपि 'स्वरे' इति पुनः कथनमुत्तरत्रानुवृत्त्यभावार्थम्। 'कुञ्च गतौ कौटिल्याल्पीभावयोश्च' क्रुञ्चतीति क्विपि 'युजञ्चक्रुञ्चोनोङः ।२।१।७१। सूत्रे विवक्षितस्यापि क्रुञ्च् इति निर्देशात् 'नो व्यञ्जनस्यानुदितः' ।४।२।४५। सूत्रात् नलोपाभावे क्रुञ्च्+सि इति स्थिते सिलोपे 'पदस्य' ।२।१।८९। इति चकारलोपे 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः' इति पुनः नकारसद्भावे 'युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः' ।२।१।७१। सूत्रात् ङकारे क्रुङ् इति कुटिलं गत्वा, क्रौञ्चपक्षी वेत्यर्थः। आस्ते उपविशतीत्यर्थः। उ इति सम्बोधने। कोपवचने अनुकम्पाविस्मयनियोगेषु च। क्रुङ्, उ आस्ते अनेन उकारस्य वकारे कृतेऽप्यसत्त्वात् 'ह्रस्वाद् ङणनो द्वे ।१।३।२७। सूत्रात् ङकारस्य द्वित्वम्। नन्वसद्भावमन्तरेणापि क्रुङ् उ आस्ते, इत्यवस्थायां प्रथमं द्वित्वे कृते, पश्चाद् वत्वे क्रुङ्ङ्वास्ते इति सिध्यति किमनेनासद्भावेनेतिचेन्न, 'ह्रस्वान्ङणनो द्वे ।१।३।२७। इति सूत्रं यद्यपि परं तथापि वत्वस्य कृतेऽकृतेऽपि च भावात् नित्यत्वेन 'परान्नित्यम्' इति न्यायेन द्वित्वं बाधित्वा वत्वस्य भावात् पश्चात्स्वराभावेन द्वित्वं न स्यादतोऽसद्भावः कृतः। असन्निति पदमुत्तरसूत्रं मुक्त्वा 'तृतीयस्य पञ्चमे' ।१।३।१। 'प्रत्यये च' ।१।३।२। इति सूत्रयोःसम्बध्यते 'अपेक्षातोऽधिकार' इति न्यायात् ॥४०॥

अइउवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः ।१।२।४१।

अ इ उ वर्णानामन्ते विरामेनुनासिको वा स्यात्, न चेदेते 'ईदूदेद्द्विवचनम्' इत्यादि सूत्रसम्बन्धिनः स्युः। सामँ, साम, खट्वाँ, खट्वा, दधिँ,दधि। कुमारीँ,कुमारी। मधुँ, मधु। 'अनीदादेरिति किम्? अग्नी, अमी, किमु ॥

॥ अश्च इश्च उश्च अ – इ – ऊनां वर्णः तस्य, अन्ते, अनु पश्चान्नासिकास्थानमुच्चारणीयं यस्यासावनुनासिकः, ईत् आदिर्यस्य स ईदादिः, न ईदादिरनीदादिस्तस्य । देशदेशिनोः कथञ्चिद् भेदाद्देशग्रहणे देशिनोऽपि ग्रहणादत्र 'ईद्' इत्येकदेशग्रहणेन 'ईदूदेद्द्विवचनम्' ।१।२।३४। इति सूत्रं प्रगृह्याह न चेदेते इत्यादि । अनीदादेरित्यत्रादिशब्देन 'अदो मुमी' ।१।२।३५। सूत्रादारभ्य 'अञ् वर्गात्स्वरे वोऽसन्' ।१।२।४०। सूत्रषट्कस्य ग्रहणे प्रसक्तेपि 'ओदन्तः' ।१।२।३७। 'सो नवेतौ ।१।२।३८। सूत्रद्वय न गृह्यते तत्रा-इउवर्णाभावेन प्रकृतानुपयोगित्वात् । अनीदादेरित्यत्र विषयविषयिभाव-सम्बन्धे 'शेषे' ।२।२।८१। सूत्रात् षष्ठी । अनीदादेरित्यत्र प्रसज्यवृत्तिर्नञ् । सामन् सात्वनमित्यर्थः,'अनतो लुप् ।१।४।५८। 'नाम्नो नोऽनह्नः' ।२।१।९१। इति नकारलोपेऽनेन विकल्पेनानुनासिकत्वम् । एवं खट्वादिष्वपि । अग्नि-शब्दस्य प्रथमाया द्वितीयाया वा द्विवचने 'ईदूदेत्० ।१।२।३४। सूत्रविषय ईकारः । अदस्शब्दस्य प्रथमाबहुवचने 'अदोमुमी' ।१।२।३५। सूत्रविषय ईकारः ।

किम्+उञ्+इति अत्र उकारः इतिशब्दे परे ऊँ चोञ् ।१।२।३८ सूत्रविषय उकारः, इतिवर्जिते स्वरे परे 'अञ्वर्गात्० ।१।२।४०। सूत्रविषयः । अस्य वैक-ल्पिकत्वादेतदभावपक्षे 'चादिः स्वरोऽनाङ् ।१।२।३६। सूत्रविषयः एषु ईद-ादिसम्बन्धित्वान्नानेनानुनासिकः । 'एदोतः०' ।१।२।८७। सूत्रात्पदान्ते इत्य-स्यानुवृत्तिसम्भवेप्यन्तग्रहणं किमर्थमिति चेत्सत्यमन्तग्रहण विरामग्रहणं विरामप्रतिपत्त्यर्थम् स च विरामे भवन् पदस्यान्ते भवति । केवलमुपसर्गस्य समासान्तर्वर्तिनश्च न भवति । तेन राजपुरुष इत्यत्र राजशब्दस्यान्त्याका-रस्यानुनासिक आदेशो न भवति । वर्णान्तरप्रतियोगिकप्रागभावानधिकरण-कालोऽन्तशब्दवाच्यः,विरामशब्दवाच्य इति यावत् । केचित्तु समुदायघटको-पान्त्यवर्णप्रतियोगिकध्वंसाधिकरणकालः अन्तशब्दार्थ इति कथयन्ति तन्न-चारु राजपुरुषसमुदायघटकराजशब्दान्त्याकारस्यापि विरामत्वप्रसङ्गात् । "अइउवर्ण०" ।१।२।४१। इति सूत्रे अविकृतस्वरूपलाभाय सन्ध्यभावः समासे सति नित्यसन्धिः स्यात् । 'द्वन्द्वान्ते०' इति न्यायात्प्रत्येकं वर्णशब्दस्य सम्बन्धः ॥४१॥

तृतीयः पादः

तृतीयस्य पञ्चमे । १ । ३ । १ ।

वेति, पदान्त इति, अनुनासिक इति चानुवर्तते । वर्गतृतीयस्य पदान्तस्थस्य, पञ्चमे परे अनुनासिको वा स्यात् । वाङ् ङ्वते, वाग्ङ्वते, ककुम्मण्डलम् ककुब्मण्डलम् ॥ १ ॥

त्रयाणां पूरणस्तृतीयः, तस्य, पञ्चानां पूरणः पञ्चमः, तस्मिन्, "सौ नवेतौ' ।१।२।३८। सूत्रात् वेति 'एदोतः० ।१।२।२७। सूत्रात् पदान्त इति 'अइ उवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः' ।१।२।४२। सूत्रात् अनुनासिक इति एते पादान्तरस्थिता अपि 'अपेक्षातोऽधिकार' इति न्यायेन पादान्तरस्थिता अपि अनुवर्तन्ते । तृतीयत्वस्य वर्गघटकवर्णमात्रवृत्तित्वे आचार्याभिप्रायादाह-**वर्गतृतीयस्येति** । ननु तृतीयस्य इति कथं कृतं 'वर्गस्य' इति करणेऽपि काप्यापत्तिर्न दृश्यते इति चेत्सत्यं 'तृतीयस्य' इत्युत्तरार्थम् अन्यथा प्राङ् ह्सतीति न सिध्येत्, प्राङ् धसतीत्यापद्येत स तु नेष्टः । वाच्+ङ्वते सेर्लोपः, चस्य ककारः 'धुटस्तृतीयः ।२।१।७६। सूत्रात् ककारस्य तृतीयः तृतीयस्यानेनानुनासिकादेशः । ननु ककुभां दिशां मण्डलम् 'धुटस्तृतीयः' । ।२।१।७६। इति बत्वेनेनानुनासिकत्वे 'तौ मुमो० ।१।३।१४। इत्यनुस्वारः कथं न भवतीति नाशङ्कनीयम् 'अञ्वर्गात्स्वरे० ।१।२।४०। सूत्रादसन्नित्यधिकारस्य प्रयोजनवशादिष्टत्वात् अथवा 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न्यायात् मस्य बहिरङ्गस्यान्तरङ्गेऽनुस्वारे कर्तव्येऽसिद्धत्वात् । यत्तु 'धुटस्तृतीयः' ।-।१।७६ इति विहितस्य तृतीयस्य बस्यासत्त्वेन तत्स्थानस्थ मस्यापि असत्त्वान्न भवति तत्तुच्छ्म् परविधेः स्यादिविधेश्चाभावात् ॥१॥

प्रत्यये च । १ । ३ २ ।

पदान्तस्थस्य तृतीयस्य प्रत्यये पञ्चमे परेऽनुनासिको नित्यं स्यात् । वाङ्मयम्, षण्णाम् । 'च' उत्तरत्र वा अनुवृत्त्यर्थः ॥ २ ॥

॥ प्रतीयते ऽर्थोनेन स प्रत्ययस्तस्मिन् च। पदान्ते अनुनासिक इत्यनुवर्तते। चकार: पूर्वयोगस्यैव पेक्षतां प्रतिपादयन्नात्मनि वेत्यस्य सम्बन्धाभावं वानुवृत्तेश्चोत्तरत्राव्यवधानं सूचयति। वाचां विकारोऽवयवो वा 'एकस्वरात् ।६।२।४८। इति मयट्। वाच आगतम् 'नृहेतुभ्यो रूप्यमयटौ। ।६।३।१५६। इति वा मयट्। षष् आम् 'संख्यानां र्णाम् ।१।४।३३। 'धुटस्तृतीय: ।२।१।७६। तवर्गस्य०'।१।३।६०। इति नस्य ण: षड्णाम्, अनेन ङस्य ण:। 'अनाम्नगरीनवते:' इति पर्युदासान्न टवर्गनिषेध:। असदधिकारोऽप्यत्र वर्तते तेन तन्नयनमित्यादौ न लोपो न भवति।

ततो हश्चतुर्थ:।१।३।३।

पदान्तस्थात् तत: तृतीयात्परस्य हस्य पूर्वसवर्गश्चतुर्थो वा स्यात्। वाग्घीन:, वाग्हीन:। ककुब्भास:, ककुब्हास: ॥

॥ तत: ॥ तस्मात् ह: षष्ठी, चतुर्णां पूरण: चतुर्थ:। पदान्त इति वर्तते, तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वात् तच्छब्देन तृतीयस्य परामर्श:। ननु 'तृतीयस्य' इत्यनुवृत्तौ 'अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणाम:' न्यायेन पञ्चम्यन्तत्वेन परिणमनसम्भवेपि तत इति ग्रहणं कथमिति चेदत्रोच्यते-'तृतीयस्य' इत्यनुवृत्तौ हकारात्परस्य तृतीयस्येति शङ्का स्यादत: ततो'ग्रहणम्। न च पदान्तस्य हकारस्यासम्भव: 'धुटस्तृतीय: ।२।१।७६। इति प्रवर्तनादिति वाच्यं भूतपूर्वन्यायेन सम्भवात्। ननु हस्य कण्ठ्यतया तस्यासन्नो घकार एक भविष्यति न झढधभा इति हेतो: हो घ: 'इत्येव सूत्र्यतां किं गुरुतरचतुर्थशब्दग्रहणेनेति चेन्न 'चतुर्थ' इति गुरुतरग्रहणेन पूर्ववर्गस्य चतुर्थो भवति इत्यर्थलाभ:। वाचा हीन:, वाग्घीन:, विकल्पपक्षे वाग्हीन:। ककुभां हास: ककुब्भास:, विकल्पपक्षे ककुब्हास:। हसनं हास: घञ्।

प्रथमादधुटि शश्छ:।१।३।४।

पदान्तस्थात् प्रथमात्परस्य शस्याधुटि परे छो वा स्यात्। वाक्छूर:, वाक्शूर:। त्रिष्टुप्छ्रुतम्, त्रिष्टुप्श्रुतम्। अधुटीति किम्? वाक्श्च्योतति।

॥ प्रथमात्, न घुट् अघुट् तस्मिन्, श: षष्ठी, छ: प्रथमा, पदान्ते इति वर्तते एवमग्रेऽपि । ननु पूर्वसूत्रेण तत इत्यनुवृत्त्या वाचा शूर:, वाच् शूर: 'घुटस्तृतीय:' ।२।१।७६। 'चज: कगम्' ।२।१।८६। इति वाग् शूर: इति जाते पदान्ततृतीयात् गकारात्परस्य शस्य छकारे कृते 'अघोषे प्रथमोऽ०' ।१।३।५०। इति गस्य ककारे वाक् छूर इति सिद्धौ किं प्रथमादित्यभिधानेनेति चेन्मैवं 'तृतीयाच्छे कृते ततस्तृतीयस्य प्रथमत्वाभावप्रसङ्गात् यथा षट् सीदन्तीत्यत्र 'ङण: स: त्सोऽश्च: ।१।३।१८। इति त्से कृते षड्त्सीदन्तीति जाते पुन: डकारस्य प्रथमो न भवति विधानसामर्थ्यात् तथा च वाक् छूर इति न सिध्येदत: प्रथमादित्युक्तम् । पाणिनीयास्तु षट्त्सीदन्तीति प्रथममिच्छन्ति । अथवा प्राङ्क् छेते, सुगण्ट् छेते इत्यादौ तृतीयात्परस्य शस्याभावाच्छादेशो न भवति । वाक्श्च्योततीत्यत्र तु प्रथमात्परस्य शकारस्य सत्त्वेऽपि तत: परमघुट् नास्तीत्यतो न छकार: । अघुटीति पर्युदासात् स्वरान्तस्थाऽनुनासिकपर: यस्मात् तस्य शस्य छो भवति तेन वाक्श् इत्यत्र छो न भवति ॥४॥

र: कखपफयो: ≍ क)(पौ । १ । ३ । ५ ।

पदान्तस्थस्य रस्य कखे पफे च परे यथासंख्यं ≍ क)(पौ वा स्याताम् । क ≍ करोति, क: करोति । क ≍ खनति, क:खनति क)(पचति, क: पचति । क)(फलति, क: फलति ।

र:, कश्च खश्च कखम् पश्च फश्च पफम्, कख च पफ च कखपफे, तयो:, ≍ कश्च)(पश्च ≍ क)(पौ, द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वं विधाय पुनर्द्वन्द्वकरणाद् यथासङ्ख्यलाभ: । अत एव वृत्तौ कखे पफे इत्युक्तम् । ≍ क)(पे-यत्र ककारपकाराकारा उच्चारणार्था:। अत्र ≍ क इति जिह्वामूलीय,)(प इति उपध्मानीय: ननु निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य इति न्यायेन निरनुबन्धस्य ग्रहणेन सानुबन्धस्य रो: ≍ क)(पौ न भविष्यत: तथा सति क ≍करोतीत्यादि न सिध्येदिति चेत्सत्यं 'र: पदान्ते विसर्गस्तयो:' इति निरनुबन्धग्रहणे तस्यैवानुवृत्त्या 'अरो: सुपि र:' ।१।३।५७। अत्र सानुबन्धस्य रो रत्वप्राप्तावरोरिति स्वर्जनाभिधानं व्यर्थं सज्ज्ञापयति 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणमिति न्यायमस्ति ततश्च सामान्यस्य रकारस्य ग्रह-

णादत्र ≍ क)(पादेशौ भवतः । कः करोतीत्यादि 'किमः कस्तसादौ च ।२।१।४०।'सो रुः ।२।१।७२। इति खनूग् विदारणे, डुपचींष् पाके,फल निष्पत्तौ ॥५॥

शषसे शषसं वा । १ । ३ । ६ ।

पदान्तस्थस्य रस्य शषसेषु परेषु यथासंख्यं शषसा वा स्युः । कश्शेते, कःशेते । कष्षण्ढः, कः षण्ढः । कस्साधुः, कः साधुः ॥६॥

शश्च षश्च सश्च शषसं तस्मिन् वा ॥ रः इति वर्तते । नवाधिकारे वाग्रहणमुत्तरत्र विकल्पनिवृत्त्यर्थम् । ननु शषसे सो वा इत्येवं सूत्यतां सकारस्य च 'सस्य शषौ" ।१।३।६१। इति कृते कश्शेते, कष्षण्ढः इत्यादौ शकारषकारौ सिध्यतः एवमुत्तरत्रापि 'कश्चरः, इत्यादौ शषौ सेत्स्यत इत्युत्तरार्थमित्यपि न वक्तव्यम्, तथा कश्शेते इत्यादौ 'धुटस्तृतीयः ।२।१।७६। इत्यस्मिन्कर्तव्ये रुत्वस्य, 'अन्तश्शेते' इत्यादौ 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इति न्यायेन शत्वस्यासिद्धत्वे तृतीयत्वमपि न प्रवर्त्स्यति, तत् किं शषयोः पृथग्विधानेनेति चेत्सत्यम्-'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इति न्यायस्यानित्यत्वज्ञापनार्थम् किञ्च शषसग्रहणं व्यक्त्यर्थम् तेनैतेषु कृतेष्वेतद्विलक्षणं कार्यान्तरं न भवति, ततश्चान्तश्शेते इत्यादौ 'धुटस्तृतीयः' ।२।१।७६। इति जत्वादिकं न भवति, कश्शेते इत्यादौ तु तृतीयाभावः रोः परेऽसत्त्वादपि सिध्यतीति । कथ 'तर्हि सर्पिष्षु' इत्यादौ षकारः ? सत्यम्-शषसविलक्षणं तृतीयत्वादिकं न भवति, शषसरूपं तु भवत्येवेति दिक् ॥६॥

चटते सद्वितीये । १ । ३ । ७ ।

पदान्तस्य रस्य चटतेषु सद्वितीयेषु परेषु यथासङ्ख्यं शषसा नित्यं स्युः । कश्चरः, कश्छन्नः, कष्टः, कष्ठः । कस्तः कस्थः ॥ ७ ॥

॥ चश्च टश्च तश्च चटतं तस्मिन् सह द्वितीयेन वर्तते यः स सद्वितीयस्तस्मिन् । 'सहस्य सोऽन्यार्थे' ।३।२।१४३। सूत्रात्सहस्य सः । नन्वत्र स्व-

रुपेणासन्देहार्थं चछटठतथेति सूत्रं कर्तुं शक्यं तथापि 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' इति यथासङ्ख्यार्थमेव निर्देशः अन्यथा निमित्तबहुत्वे यथासंख्यं न स्यात्। न च सद्वितीयग्रहणे सति यत्र चकाराक्रान्तश्छकारः, टकाराक्रान्त-ष्ठकारः, तकाराक्रान्तस्थकार तत्रैव कार्यं प्राप्नोतीति नाशङ्क्यम्-'उदश्चरः साप्यात् ।३।३।३१। 'चरेष्टः' ।५।१।१३८। 'व्रीह्यादिभ्यस्तौ' ।७।२।५। इत्यादि-ज्ञापकात् केवलेष्वेव भवतीति। चर भक्षणे च, चरतीति चरः छदण् अपवा-रणे, छाद्यतेस्म-छन्नः "णौ दान्तशान्तपूर्ण०" ।४।४।७४। इति छन्न इति निपा-तनम्। कष्टः-टः ध्वनौ, कष्ठः-ठः ध्वनौ कस्तः-तः तस्करे, कस्थः-थः पर्वते। ॥७॥

नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याधुट्परे ।१।३।८।

पदान्तस्थस्य प्रशान्वर्जशब्दसम्बन्धिनो नस्य चटतेषु सद्वितीयेषु अधुट्परेषु शषसा यथासंख्यं स्युः, अनुस्वारानुनासिकौ चागमादेशौ पूर्वस्य क्रमेण स्याताम्। भवांश्चरः, भवाँश्चरः। भवांश्छ्यति, भवाँश्छ्यति। भवांष्टङ्कः, भवाँष्टङ्कः,। भवांष्ठकारः, भवाँष्ठ-कारः। भवांस्तनु, भवाँस्तनुः। भवांस्थुडसि भवाँस्थुडसि। अप्रशा-निति किम्? प्रशान्चरः। अधुट्पर इति किम्? भगवान्त्सरुकः ॥८॥

॥ नः षष्ठी, 'शमू दमू उपशमे च' शम्। प्र। प्रशाम्यतीति प्रशान् 'क्विप्' ।५।१।१४८। 'अहन्पञ्चमस्य०।४।१।१०७। इति दीर्घः,'मो नो म्वोश्च' ।२।१।६७। इति मस्य न्। न धुट् अधुट्। अधुट्परो यस्मात् चटतात् सोऽ-धुट्परस्तस्मिन् इति। धुट्परो यस्मादिति कृत्वा पश्चान्नञा योगो न कार्यः तथा सति प्रसज्यशङ्कया वर्णाभावेपि भवान् तु इत्यादावादेशः स्यात्। परं न धुट् अधुट् अधुट्परो यस्मादिति विग्रहः कार्यः। अनुस्वार आगम अनु-नासिकश्चादेश उच्यते। 'मित्रवदागमाः, शत्रुवदादेशाः। आगमः मित्रमिव सह वर्तते, आदेशस्तु शत्रुवद् पूर्वस्य स्थाने तमुन्मूल्य वर्तते। 'भाक् दीप्तौ'

'भातीति भातेर्डवतु' भवत्, सि:, 'ऋदुदित:' ।१।४।७०। इत्यनेन त् उपरि न् न्त् । 'अभ्वादेरत्वस: सौ ।१।४।८०। इति दीर्घ:,'दीर्घङ्याब्०'।१।४।४५। इति सेर्लोप:, 'पदस्य' ।२।१।८९। इति लुक् । प्रशाञ्चर इत्यत्र 'तवर्गस्य श्चवर्ग० ।१।३।६०। सूत्रेण ञ् । अधुटीत्युक्तो चटते परतो योऽधुट् तस्मिन्परे नकारस्यैते भवन्तीति विपरीतार्थवारणाय अधुट्पर इत्युक्तम् । अत्र लक्षणप्रतिपदोक्तयोरिति न्यायात् नकारो लाक्षणिको न गृह्यते तेन त्वन् तत्र इत्यादौ नस्य सो न भवति । अयं नकारो 'तौ मुमो०' ।१।३।१४। इत्यनेनानुनासिकंशब्देन सामान्येन विहितत्वात् लाक्षणिक: । भवानित्यादौ तु नकारो नोन्त इत्यनेन नामग्राहं विहितत्वात् प्रतिपदोक्त: ॥८॥

पुमोऽशिट्यघोषेऽख्यागि र: ।१।३।९।

'पुम्' इति पुंस: संयोगलुक्यनुकरणम्, अधुट्परे अघोषे शिट्-ख्यागिवर्जे परे 'पुम्' इत्येतस्य र: स्यात्, अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । पुंस्कामा पुँस्कामा । अशिटीति किम् ? पुंशिर: । अघोषे इति किम्? पुंदास: । अख्यागीति किम् ? पुंख्यात: । अधुट्पर इत्येव पुंक्षार: ॥ ९ ॥

॥ पुम: षष्ठी पुमिति पुंस: संयोगान्तलोपस्यानुकरणम् । कमूङ् कान्तौ 'कमेर्णिङ्' ।३।४।२। 'ञ्णिति' ।४।३।५०। इति वृद्धि: पुमांस कामयते इत्येवंशीला पुंस्कामा 'शीलिकामिभक्ष्या० ।५।१।७३। इति, अणपवादो ण:, 'णेरनिटि ।४।३।८३। णेर्लोप:, 'आत्' ।२।४।१८। इत्याप्, 'पदस्य' ।२।१।८९। पुम्स: सलोप:, अनेन म: र:,पूर्वस्य चानुस्वारानुनासिकौ । 'र: कखपफयो:०' ।२।३।५। इति प्राप्तौ 'पुंस' इति, रस्य स: । पांक् रक्षणे पाति पुरुषार्थमिति पुमान् 'पातेर्डुम्सु (१००२) 'पुम्स्', पुंस: शिर:-पुंशिर:, सलोप: 'शिड्हेनुस्वार:'।१।३।४०। इति । पुंसो दास: 'पदस्य'।२।१।९८। इति सलोप: । ख्याग्वर्जनात् ख्यांक्धातो: पुंख्यात: । पुँख्यात भवत्येव । पुंस: क्षार: 'वा ज्वलादि ०।५।१।६२। सूत्रात् ण:, अत्र धुट्परत्वाद् न र: ।

नॄनः पेषु वा । १ । ३ । १० ।

नॄनिति शसन्तस्यानुकरणम्, नॄनः पे परे रो वा स्यात्, अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । नॄं)(पाहि, नॄँ)(पाहि नॄन्पाहि, नॄंः पाहि ॥ १० ॥

नॄनः षष्ठी, पेषु वा । नॄन् इति शसन्तस्यानुकरणम् अनुकार्यानुकरणयोर्भेदस्य विवक्षितत्वात्स्यादिः । पेषु इत्यत्र बहुवचनं व्याप्त्यर्थम् व्याप्तिर्नाम धुट्परे धुट्परे च पकारमात्रेऽस्य प्रवृत्तिः तेन अधुट्पर इति निवृत्तम् । तेन नॄं)(प्सातीत्याद्यपि सिध्यति । नॄन् पाहि 'शसोता सश्च नः पुंसि' ।१।४।४९। अनेन रत्वे, विकल्पेन रस्य)(पादेश पूर्वस्यानुस्वारानुनासिकाभ्यां नॄं)(पाहि,नॄँ)(पाहि,)(पादेशाभावे विसर्गे च नॄंःपाहि नॄँःपाहि इति भवति रादेशाभावे नॄन पाहीति पञ्च रूपाणि । रेफस्योपध्मानीये पक्षे विसर्गे पूर्वस्यानुस्वारानुनासिकाभ्यां चत्वारि रूपाणि एकपकाराणि ततः 'शिटः प्रथमद्वितीयस्य' ।१।३।३५। सूत्रात् शिटः परस्य पकारस्य द्वे रूपे इति द्वित्वे चत्वारि रूपाणि, नकारस्य रत्वाभावे एकमेव नव । अन्त्यस्यानुनासिकत्वेपि नवेत्यष्टादश रूपाणि—

(२) नॄन् पाहि-हिँ (४) नॄः पाहि-हिँ (६) नॄं)(पाहि, हिँ (८) नॄं)(पाहि-हिँ (१० नॄंः पाहि, हिँ (१२) नॄं)(प्पाहि-हिँ (१४) नॄं)(प्पाहि-हिँ (१६) नॄं)(प्पाहि-हिँ (१८) नॄंः प्पाहि-हिँ ।

द्विः कानः कानि सः । १ । ३ । ११ ।

'कानः' किमः शसन्तस्यानुकरणम्, द्विरुक्तस्य कानः कानि परे सः स्यात्, अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । कांस्कान्, काँस्कान् । द्विरिति किम् ? कान्कान् पश्यति ॥ ११ ॥

॥ द्वौ वारावस्य द्विः, अव्ययम् 'द्वित्रिचतुरः सुच्' ।२।२।११०।

अनेन सुच् 'अप्रयोगीत्' ।१।१।३७। सूत्रेण स् । सिः 'अव्ययस्य' ।३।२।७।'सो रुः' ।२।१।७२। 'रः पदान्ते०' ।१।३।५३। इति विसर्गः । कान् 'वीप्सायाम्' ।७।४।८०। इत्येन कान् इति द्विरुच्यते कान् कान् । 'षष्ठयान्त्यस्य' ।७।४।१०६। इत्यन्त्यस्यादेशो भवति । नन्वनुस्वारस्य पदत्वात् 'पदस्य' ।२।१।८९। इति लोपः स्यादिति चेन्न "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायात् अत्र लोपो न भवति अनुस्वारस्य सामर्थ्यप्रापितत्वेन गौणत्वात् । कान्कानित्यत्र एकः प्रश्नेऽन्यस्तु क्षेपे । ननु सकारस्य 'सो रुः' । ।२।१।७२। इति रुत्वं कथं न भवति इति चेदत्रोच्यते रस्याधिकारेणैव सिद्धे सविधानं रुत्वबाधनार्थम् ।

स्सटि समः । १ । ३ । १२ ।

समः स्सटि परे सः स्यात्, अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । संस्स्कर्त्ता, सँस्स्कर्त्ता । स्सटीति किम् ? संकृतिः ।

सकारेणोपलक्षितः सट् स्सट् तस्मिन्, समित्युपसर्ग एव ग्राह्यः न तु षम वैक्लव्ये क्विबन्तस्सम् 'संस्कृते भक्ष्ये' ।६।२।१४०। इति प्रयोगात् । संस्करोतीति संस्स्कर्ता 'णकतृचौ' ।५।१।४८। 'नामिनो०' ।४।३।१। इति गुणः, 'संपरेः कृगः स्सट्' ।४।४।९१। इति कृग आदिः स्सट् । तदनन्तरं 'स्सटि समः' ।१।३।१२। इत्यनेन मकारस्य सकारः पूर्वस्यानुस्वारानुनासिकौ च । अनुस्वारस्य व्यञ्जनत्वात्, 'धुटो धुटि स्वे वा' ।१।३।४८। इति सकारलोपे एकसकारं पक्षेदिसकारं संस्कर्ता, संस्स्कर्तेति रूपद्वयम् । संकृतिः- कृधातुः सम्पूर्वः । संस्क्रियादित्याशास्यमान इत्याशीर्विषये 'तिक्कृतौ नाम्नि' ।५।१।७१। अनेन तिक्प्रत्ययः । संस्करणं वा संकृति अत्र 'संपरेः कृगः०' ।४।४।९१। सूत्रेण स्सट् तु न भवति गर्गादिषु सकाररहितस्य पाठात्॥ 'गर्गादेर्यञ्' ।६।१।४२। सूत्रे गर्गादिगणः । सञ्चस्कारेत्यत्र समः सः कथं न भवति॥ व्यवधानात् । ननुतर्हि पूर्वमेव सकारः क्रियताम् ? तदपि न, यतः परत्वात् नित्यत्वात् धातुमात्राश्रयत्वेन, अन्तरङ्गत्वाच्च प्रथममेव णव् । ननु तर्हि सम्+कृग् इत्येतयोः व्यवधानात् स्सटः निवृत्तिर्भविष्यति'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभाव 'इति न्यायात्, नैवम् स्वाङ्गमव्यवधायि' इति न्यायेन आगमस्याव्यवधायकत्वात् । संचस्कार इत्यत्र पूर्वं स्सट् पश्चात् परोक्षाणव् सम् स्कृ स्कृ इति स्थिते "अघोषे

शिटः ।४।१।४५ इति शिटो लोपे पुनः स्सट् 'यं विधिं प्रत्युपदेशोनर्थक इति न्यायान्न भवति। अत्र किञ्चित्- ननु "स्थानीवावर्णो" ।७।४।१०८। न्यायात् स्थानिवद्भावात् संचस्कार इत्यत्र द्विरुक्ते व्यवधानाभावात् समः सकारो भविष्यतीति चेन्मैवं अवर्णविधौ स्थानिवद्भावनिषेधात्, न च नायं वर्णविधिः स्सडिति वर्णसमुदायाश्रयणादिति वाच्यं स्सट् इति सकारादिः स्सट्इति कृते वर्णविधित्वात्।

लुक् । १ । ३ । १३ ।

समः स्सटि परे लुक् स्यात् सस्कर्ता ॥

लुञ्चधातोः 'क्रुत्संपदादिभ्यः ।५।३।११४। इति क्विपि नलोपे च लुक्। ननु पूर्वसूत्रं 'स्सटि समो लुक् च' एतादृशं क्रियतां किं पृथगारम्भेन ? नचैवंकरणे लुक्पक्षेपि अनुस्वारानुनासिकयोरपि निवृत्तिरिति चेन्मैवमनुस्वारानुनासिकौ हि कार्यसन्नियोगशिष्टौ लुचोऽपि कार्यत्वात् तत्पक्षेऽ प्यनुस्वारानुनासिकौ स्यातामतस्तदभावार्थं पृथग्योगारम्भ। पृथक्सूत्रकरणादनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य' इति निवृत्तम।

तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ । १ । ३ । १४ ।

मोऽर्वागमस्य, पदान्तस्थस्य च मस्य, व्यञ्जने परे तस्यैव स्वौ, तावनुस्वारानुनासिकौ क्रमेण स्याताम्। चंक्रम्यते, चङ्क्रम्यते। संवम्यते, सँव्वम्यते। त्वं करोषि, त्वङ्करोषि कंवः, कँव्वः।

॥ तौ, मुश्च म् च मुम् तस्य। मुमयोरनुस्वारानुनासिकाभ्यां समसंख्यत्वेपि वचननिर्देशेन समत्वाभावान्न यथासङ्ख्यमन्वयः, ताविति द्विवचनम्, मुम इति चैकवचनम्। अत्र तच्छब्देनानुस्वारानुनासिकयोः परामर्शः। यद्यपि स्वौ इत्येवोक्तावपि विशेष्यरूपतयाऽधिकारतो बुद्धिस्थावनुस्वारानुनासिकौ

प्राप्नुतः तथापि तौग्रहणमवधारणार्थम् । अनुस्वारानुनासिकावेत भवतः न तु लुक् पूर्वस्यानुस्वारानुनासिकौ चेति । एतदभिप्रायेणैव तावनुस्वारानुनासिकावि युक्तम् । अन्यथा अनन्तरोक्ता लुग् अनुवर्तेत पूर्वस्य चेति ततश्च मुमो- र्लुग् भवति पूर्वस्य चानुस्वारः, चंक्रम्यते इत्यादौ पूर्वस्याकारादेः स्थानेऽनुनासिककरणे चङ्क्रम्यते इत्यनिष्टमापद्येत । म् ग्रहणेनैव सिद्धे मुग्रहणमपदान्तार्थमत एव मस्यैव पदान्तस्थस्येति विशेषणम् । स्वेत्यनुनासिकस्य विशेषणम्, नाऽनुस्वारस्यासम्भवात्, अनुनासिकस्तु स्वोऽस्वोपि भवत्यतः सम्भवित्वाद् व्यभिचारित्वाच्च तस्यैव विशेषणं स्वः। स्वावित्युभयोर्द्विवचनेन निर्देशेऽपि 'सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवदिति न्यायेनानुसिकस्यैव विशेषणम्, इदमेव द्विवचनमेतन्न्यायस्य ज्ञापकम् । ननु तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वात् सकारलुचोरेव ग्रहणं कथं न भवतीति चेत्सत्यं सकारलुचोः स्वत्वासंभवात् अनुनासिकस्य च सम्भवादनुनासिकस्यैव ग्रहणं द्विवचनबलेन तत्सन्नियोगशिष्टानुस्वारस्य च ग्रहणम् । क्रमू पादविक्षेपे भृशं पुनः पुनः वा क्रामति 'व्यञ्जनादेरेकस्वराद्० ।३।४।९। सूत्राद् यङ् । 'सन्यङश्च' ।४।१।३। अनेन द्विः, क्रक्रम् 'व्यञ्जनस्यानादेर्लुक्' ।४।१।४४। अनेन द्विरुक्तव्यञ्जने आद्यं व्यञ्जनं स्थाप्यते, शेषं सर्वं लुप्यते । 'कङश्चञ् । ।४।१।४६। अनेन कस्य चत्वम् । 'मुरतोऽनुनासिकस्य' ।४।१।५१। द्विरुक्तमध्ये मुरागमःतेत अनुस्वारानुनासिकौ भृशं पुनःपुनर्वा वमतीति । कम्-सुखं ज्ञानं जलं वाऽस्यास्तीति 'कशम्भ्यां०' ।७।२।१८। इत्यनेन वः । रंरम्यते इत्यादौ स्वग्रहणादनुस्वार एव भवति । स्वग्रहणाभावेऽनुनासिकानुस्वारविधानेत्र निमित्तप्रत्यासत्त्या णकारादिर्भवेत् । 'ऋवर्णटर्गरषाः मूर्धन्याः' ।
णकारादिवारणार्थं स्वविधानम् । न च रेफोष्मणां रेफोष्माणस्तु स्वा भवन्त्येव तदा रेफोष्माण एव कुर्यादिति वाच्यं तेषामनुनासिकत्वाभावात् ।

मनयवलपरे हे । ३ । ३ । १५ ।

मनयवलपरे हे पदान्तस्थस्य मस्यानुस्वारानुनासिकौ स्वौ क्रमात्स्याताम् । किं ह्मलयति, किम्ह्मलयति । किं ह्नुते, किह्नुते किंह्यः, किँय्ह्यः, किंह्वलयति, किँव्ह्वलयति, किंह्लादयते, किँल्ह्लादयते ।

॥ १५ ॥

॥ मश्च नश्च यश्च वश्च लश्च मनयवलाः । मनयवलाः परे यस्मात् हकारात् स मनयवलपरः तस्मिन् । हकारस्य स्वौ नास्तीति हकारव्यवहितमनयवलानामपेक्षया स्वोऽनुनासिको भवन् मकारादिरूपेण भवतीत्यर्थः ननु 'मनयवले हे' इत्युक्तावपि मपरेभ्यो हकारः तस्मिन् इत्याद्यर्थलाभे किं परग्रहणेनेति चेन्मैवं परग्रहणाभावे विनिगमकाभावेन एकतरपक्षपातिप्रमाणाभावेन हकारपरे योग इत्याद्यर्थलाभे किं नह्यति, किं याहि किं वहसि, किं लिह्यते इत्यादावेतत्सूत्रप्रवृत्तिः स्यात् न तु किं ह्मलयतीत्यादौ । न चाकारादिना व्यवधानादत्र न भविष्यतीति वाच्य 'येन नाव्यवधानं तेन०' इति न्यायाद् भविष्यति, न च प्रथमपक्षे किं ह्मलयतीत्यादौ सूत्रस्य चरितार्थत्वाद् व्यवधानाश्रयणं न युक्तमिति वाच्यं येन प्रतिपादकेन हकारपरे मकारादावित्येषसूत्रार्थः स्वीकृतस्तं प्रति पक्षान्तरस्याभावात् तस्माद् विपर्ययप्रतीतिनिराकरणार्थं परग्रहणं कर्तव्यमेव । न च विपर्ययप्रतीतौ हि वचनस्य वैयर्थ्यमेव स्यात्, 'तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ ।१।३।१४। इत्येव रूपद्वयस्य सिद्धत्वात्, सत्यम्-तर्हि नियमार्थमेतत् स्यात् ततो मकारादौ हकारपरे एव स्यात् नान्यत्र, ततश्च 'स्वं मन्यसे' इत्यादौ पूर्वेणापि न स्यादिति परग्रहणम् । मस्य पदान्ते वर्तमानस्येति व्याप्त्यर्थम् यावताऽपदान्तेऽपि म्वागमे पूर्वसूत्रोपात्तानुवृत्ते लकारस्य सानुनासिकत्वेऽङ्गीक्रियमाणे जंह्मलँयते, जम्ह्मलँयते, जव्ँह्वलँयते, जह्वलँयते 'इत्याद्यपि भवति । ह्नुङ् अपनयने ह्नुते, ह्य इति अव्ययम् ।

ह्वलह्मल चलने ह्वलति ह्मलति कश्चित्तमन्यः प्रयुङ्क्ते 'प्रयोक्तृव्यापारे णिग्' ।३।४।२०। ञ्णिति ।४।३।५०। वृद्धिः । 'ज्वलह्वलह्मल० ।४।३।२२। इति ह्रस्वः । ह्लादैङ् सुखे च ह्लादयते ।

सम्राट् । १ । ३ । १६ ।

समो मस्य राजौ क्विबन्तेऽनुस्वाराभावः स्यात् । सम्राट्, सम्राजौ । ॥ १६ ॥

॥ सम्-राजृग् दीप्तौ, सम्यग्राजते शोभते इति सम्राट्, क्विप् 'यजसृजमृजराजभ्राज० ।२।१।८७। इति षः, 'धुटस्तृतीयः' ।२।१।७६। इति ड् 'विरामे वा' ।१।३।५१। ट् । रेफस्य स्वत्वाभावादननुनासिकप्राप्तिरेव नास्ती-

स्याद्-अनुस्वाराभावः इति एतन्निपातनम् । एकवचनस्यातन्त्रत्वाद्विवचनादावपि ।

ङ्णोः कटावन्तौ शिटि नवा । १ । ३ । १७ ।

पदान्तस्थयोः ङणयोः शिटि परे यथासङ्ख्यं कटावन्तौ वा स्याताम् । प्राङ्क्छेते, प्राङ्क्शेते, प्राङ्शेते । सुगण्ट्छेते, सुगण्ट्शेते, सुगण्शेते ॥ १७ ॥

॥ ङ् च ण् च ङ्णौ तयोः कश्च टश्च कटौ । अत्रान्तशब्द आगमबोधकः, । प्राङ्क् शेते 'अञ्चू गतौ च' अञ्च् प्रपूर्वः । प्राञ्चतीति प्राङ् 'क्विप्' ।५।१।१४८। 'अञ्चोऽनर्चायाम्' । ।४।२।४६। सूत्रेण नस्य लोपः । 'अप्रयोगीत् ।१।१।३७। क्विप्लोपः । सिः । 'अचः' ।१।४।६९। सूत्रेण चकारात् प्राक् नोन्तो भवति । 'दीर्घङ्याब्०।१।४।४५ इति सिलोपः । 'पदस्य'।२।१।८९। इति चलोपः । 'युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः'।२।१।७१। सूत्रेण नकारस्य ङकारे प्राङ् इति । शेते । अत्र शीङ्क स्वप्ने वर्तमानाते 'शीङ एः शिति ।४।३।१०४। अनेन गुणः । गुणण् सङ्ख्याने 'चुरादिभ्यो णिच्' ।३।४।१७। 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ।७।४।४३। सुगणयतीति क्विप् सुगण् । कटयोविधानसामर्थ्यात् 'धुटस्तृतीयः ।२।१।७६। इति न प्रवर्तते । प्राङ्क् छोते इत्यत्र 'प्रथमादधुटि शश्छः ।१।३।४। इति शकारस्य छत्व भवति ।

''ङ्नः सः त्सोऽश्चः । १ । ३ । १८ ।

पदान्तस्थाभ्यां ङनाभ्यां परस्य, सस्य 'त्स' इति तादिः सो वा स्यात् । अश्चः चावयवश्चेत् शो न स्यात् । षङ्त्सीदन्ति, षट्सीदन्ति भवान्त्साधुः, भवान्साधुः । अश्च इति किम् ? षट्श्च्योतन्ति । ॥ १८ ॥

ङश्च नश्च ङ्न् तस्मात्, घृतादीनां द्रवद्रव्यत्वात् केवलानामान-

यनासम्भवात् यथा पात्रे आनीयते तथाऽत्र ङ्नोः केवलयोरुच्चारणासंभवादुच्चारणं स्वरेण सह कृतम् । स्चयुतृ. क्षरणे स्च्युनेर्दन्त्यसकारोपदेशत्वात् श्चवर्जनात् 'सकारोपदिष्ट कार्यं तदादेशस्य शकारस्यापीति न्यायं ज्ञापयति अन्यथा सत्वप्राप्तिरेव नास्तीति तद्वर्जनं व्यर्थं स्यात् । षष् जस् 'ङलिच्णः सङ्ख्याया लुप् ।१।४।५४। सूत्रेण जस्लोपः, 'घुटस्तृतीयः ।२।१।७६। सूत्रात् षस्य डः । सीदन्ति "श्रौनिकृवु०' ।४।२।१०८। इत्यनेन । सूत्रे ङ्न इति करणात् टत्वं न भवति "अघोषे प्रथमोऽशिटः' ।१।३।५०। सूत्रात् । पाणिनीये तु भवति । रुसादेशाभावे तु डस्य टो भवति । श्च्योतति-'सस्य शषौ ।१।३।६१। सूत्रात् शकारः । ननु 'रुस' इत्यत्र सकारविधानस्य निष्प्रयोजनत्वमिति चेत्सत्यं सस्य सविधानं तदवयवप्रतिपत्त्यर्थः । तदवयवप्रतिपत्तिश्च सकारानुवादं विनाऽशक्य प्रकारान्तरेण गौरवापत्तेश्च । 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। सूत्रात् डात्परस्य तकारस्य न टकारः 'पदान्ताट्टवर्गात्०' ।१।३।६३। इति निषेधात् ।

'नः शि ञ्च् । १ । ३ । १९ ।

पदान्तस्थस्य नस्य शे परे ञ्च् वा स्यात्, अश्चः । भवाञ्छूरः, भवाञ्च्शूरः । अश्च इत्येव ? भवाञ्श्च्योतति ॥ १९ ॥

॥ नः षष्ठी । अश्च इति पदं सप्तम्यन्ततया विपरिणम्यानुवर्तनीयम्, तच्च शीत्यस्य विशेषणम् । श्चघटकभिन्ने शकारे इत्यर्थः । ञ्चादेशविधानसामर्थ्यात् चस्य कत्वं 'पदस्य' ।२।१।८९। इति च न भवति । 'धुटो धुटि स्वे वा' ।१।३।४८। इति तु भवत्येव, तेन भवाञ्छूर इत्यपि भवति । भवान् शूरः 'प्रथमादधुटि शश्छः ।१।३।४। 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। सूत्रेण नस्य ञ् । राजा शेते इत्यत्र तु अन्यत्र लब्धावकाशयोः शास्त्रयोर्युगपत्प्राप्तौ परत्वात् 'नाम्नो नोऽनह्नः' ।२।१।९१। इत्यनेन न लोपो भवति ।

अतोऽति रोरुः । १ । ३ । २० ।

आत्परस्य पदान्तस्थस्य रोरति परे उर्नित्यं स्यात् । कोऽर्थः ॥२०॥

॥ अतः पञ्चमी । सूत्रेषु सामान्येन प्रथमं कार्यी, ततो निमित्तं ततः

कार्यमिति निर्देशक्रमः अत्र तु कार्यिणः पूर्वं निमित्तोपादानेन निर्देशातिक्रमः नवेत्यधिकारनिवृत्तिं सूचयति । किम् स्, किमः कादेशः सकारस्य 'सो रुः' ।२।१।७२। कर्+अर्थः 'रोर्यः ।१।३।२६। सूत्रं बाधित्वानेन रोरुत्वम्' रोर्यः' ।१।३।२६। इत्यस्यापवादत्वात् 'सर्वत्रापि विशेषेण सामान्यं बाध्यते 'ब्राह्मणकौडिन्यन्यायेन । क उ अर्थः 'अवर्णस्ये० ।१।२।६। सूत्रादोकारः 'एदोतः०' ।१।२।२७। इति अकारलोपः ननु। सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न्यायात् क+उ+अर्थ इति जाते 'अवर्णस्ये० ।१।२।६। सूत्रं नैव प्रवर्तेतेति चेन्न 'अतोऽति० ।१।३।२०। इति न्यायस्यात्र प्रवृत्तेः । नच क+उ+अर्थ इत्यत्र 'इवर्णादेः' ।१।२।२१। इति वकारः प्राप्नोति कथमोकार इति वाच्यमन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' । इति न्यायेनैकपदाश्रितत्वेनान्तरङ्गं कार्यं पूर्वं भवति इति कोऽर्थः इति सिद्धम् । 'अतोऽति' ।१।३।२०। इति निर्देशात् सानुबन्धस्य रोरेव ग्रहणम् तेन तरु अयनम् इत्यत्र न भवति 'एतत्सूत्रानुवृत्तरोः 'अवर्णभोभगोऽ०' ।१।३।२२। सूत्रे पदान्तेऽसम्भवात् सानुबन्धस्य रोर्ग्रहणम् । सानुबन्धग्रहणात् न निरनुबन्धस्य' इति न्यायात् प्रातर्+अत्र इत्यत्र न रस्य उकारः ।

घोषवति । १ । ३ । २१ ।

अतःपरस्य पदान्तस्थस्य रोर्घोषवति परे उः स्यात् । धर्मो जेता ।

॥ २१ ॥

॥ घोषोऽस्यास्तीति घोषवत् तस्मिन् अघोषापेक्षयाऽतिशायिघोषवत्त्वात् । अघोषे तु 'अनुदरा कन्येति न्यायात् घोषाभावः । निमित्तान्तस्योपादानात्पूर्वसूत्रात् 'अति' इति नानुवर्तते । ननु पूर्वसूत्र एव घोषग्रहणं कर्तव्यमर्थस्य समानत्वात् किं पृथग्योगेनेति चेत्सत्यं पृथग्योगो हि 'घोषवति' इत्यस्यैवोत्तरत्रानुवृत्त्यर्थमन्यथा एकयोगनिर्दिष्टत्वात् अतीत्यप्यनुवर्तेत । ननु धर्मो जेतेत्यादि स्थले 'अवर्णभोभगोघो०' ।१।३।२२। इति 'घोषवति' ।१।३।२१। इत्युभयप्राप्तौ लुगेव स्यादिति चेन्मैवं लुचः प्रवर्तने घोषवति ।१।३।२१। सूत्रं निरवकाशं स्यात् 'निरवकाशं सावकाशाद् बलवद् इति न्यायेनापरादप्युत्वमेव भवति । न च अवर्णग्रहणादकारं प्रति लोपस्यापि निरवकाशत्वमिति वाच्यमवर्ण ग्रहणस्योत्तरार्थत्वात् । जयती जेता 'णकतृचौ ।५।१।४८। सूत्रात् तृच् ।

अवर्णभोभगोऽघोर्लुगसन्धिः । १ । ३ । २२ ।

अवर्णाद् भोभगोअघोभ्यश्च परस्य पदान्तस्थस्य रोर्घोषवति परे लुक् स्यात्, स च न सन्धिहेतुः देवा यान्ति, भो यासि, भगो हस । अघो वद ॥ २२ ॥

॥ अवर्णश्च भोश्च भगोश्च अघोश्च तस्मात् 'अव्ययस्य' ।३।२।७। सूत्राद् ङसेर्लुक् । भोस् भगोस् अघोस् इति त्रयोऽपि सकारान्ता अव्ययाः सम्बोधनेऽर्थे । भो भगोअघोइति कृतसलोपानामनुकरणम् । अत्र सूत्रे अवर्ण इत्युक्तावप्याकार एव ग्राह्यः । ननु लुकोऽभावरूपत्वात् सन्धिरूप एव भवितुं नार्हतीति तत्प्रतिषेधवैयर्थ्यमितिचेन्न सन्धिशब्द उपचारात्सन्धिहेतुरित्यर्थकः । देवा यान्ति 'सो रुः ।२।१।७२। अनेन लुक् । हस हसने पञ्चमीहि । वद व्यक्तायां वाचि पञ्चमीहि । न चात्र लुगन्तरं कस्यापि सन्धेरप्राप्तेः असन्धिग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम् असन्धिग्रहणस्योत्तरार्थकत्वात् । न च 'स्वरे वा' इत्यत्रैव असन्धिग्रहणं क्रियतामितिवाच्यं लुक्सन्नियोगशिष्टत्वज्ञापनार्थमत्रोपादानं तेन यत्र लुगधिकारः तत्रैवासन्धिरित्यधिकारः । किञ्च 'असन्धिः स्वरे वा' इति सूत्रकरणे स्वरे परेऽसन्धिर्वा भवतीति संदेहः स्यात् तथा सति दण्ड अग्रमित्याद्यनिष्टरूपं जायेतेति ॥२२॥

व्योः । १ । ३ । २३ ।

अवर्णात्परयोः पदान्तस्थयोर्वयोर्घोषवति परे लुक् स्यात्, स चासन्धिः । वृक्षवृश्चमभ्यमञ्चाऽऽचक्षाणो वृक्षव्, अभ्यय्, वृक्ष याति अभ्य याति ॥ २३ ॥

व् च य् च व्यौ तयोः । ओव्रश्चौत् च्छेदने व्रस्च् । वृश्च्यते छिद्यते कुठारादिभिः स वृक्षः । 'संस्य शसौ' ।१।३।६१। इति स् 'ऋजिरिषि० (५६७) उणादिकिस्सप्रत्ययः 'ग्रहव्रश्चभ्रस्जप्रच्छ०' ।४।१।८४। सूत्राद् वृत् 'संयोगस्यादौ स्कोर्लुक्' ।२।१।८८। इति शकारलुक् । 'यजसृज०' ।२।१।८७। इति चकारस्य ककारः, 'नाम्यन्तस्थाकवर्गात्० ।२।३।१५। सकारस्य षकारः ।

ओव्रश्चौत् छेदने 'सस्य शषौ ।१।३।६१। वृक्षं वृश्चति 'मन्वन्क्वनिप्० ।५।१।१४७।'ग्रहव्रश्च०'।४।१।८४। इति य्वृत् । वृक्षवृश्चमाचष्टे इति वाक्ये'णिज्बहुल नाम्न:० ।३।१।४२। इति णिच्, त्र्यन्त्यस्वरादे: ।७।४।४३। अनेनान्त्यस्वरमादौ कृत्वा सर्वव्यञ्जनलोप: तत: वृक्षव् इति रूपम् । अव्ययमाचष्टे इति वाक्ये 'णिज्बहुल० ।३।४।४२। इति णिच् 'त्र्यन्त्यस्वरादे:'।७।४।४३। इत्यन्त्यस्वरादिलोय: अव्ययतीति 'क्विप्'।५।१।१४८। णिलोपे अव्यय् इति शब्द: । न च वृक्षव् करोतीत्यत्र पदान्तत्वं नास्ति णिलोपस्य 'स्वरस्य०' ।७।४।११० इति स्थानिवत्त्वादिति वाच्यं 'न सन्धि० ।७।४।१११। इति निषेध: । वृक्षवृश्चमाचष्टे इत्यत्र क्विप् प्रत्ययो न कार्य: परन्तु विच्, कथं ? क्विपि तु 'अनुनासिके च्छ्व: शूट्' ।४।१।१०८। इत्यूट् स्यात् । ननु अव्ययमाचष्टे इत्यव्यय् इत्यत्र, 'य्वो: प्वय्व्यञ्जने० ।४।४।१०८। सूत्रेण यस्य लोप: प्राप्नोतीतिचेत् सत्यं 'क्वौ ।४।४।११८। इति पृथक्सूत्रकरणेन ज्ञापितात् 'क्विपि व्यञ्जनकार्यमनित्यमिति न्यायात् यकारलोपो न भवति । विचि प्रत्यये तु 'स्वरस्य० ।७।४। ११०। इति स्थानिवत्त्वादेवाप्राप्ते: क्विपि तु 'न सन्धि०' ।७।४।१११। इति सूत्रे 'क्वि' इत्यनेन स्थानिवत्त्वनिषेध: ।।२३।।

स्वरे वा । १। ३। २४।

अवर्णभोभगोअघोभ्य: परयो: पदान्तस्थयोर्वययो: स्वरे परे लुग्वा स्यात्, स चासन्धि: पट इह, पटविह । वृक्षा इह वृक्षाविह । त आहु:, तयाहु:, । तस्मा इदम्, तस्मायिदम् । भो अत्र, भोयत्र । भगो अत्र, भगोयत्र । अघो अत्र, अघोयत्र ॥ २४ ॥

पटुशब्दो निपुणार्थक:, पटु+आमन्त्र्यसि: । 'ह्रस्वस्य गुण: ।१।४।४१। 'ओदौतोऽवाव्' ।१।२।२४। इति पटव् । वृक्षा इह 'आदौतोऽवाव् ।१।२।२४। इति आहु:-'ब्रूग्क् व्यक्तायां वाचि' वर्तमानान्ति 'ब्रूग: पञ्चानां पञ्चाहश्च' ।४।२।११८। सूत्रे पान्तिस्थाने उस् । ब्रूग: स्थाने आह् । ते आहु: 'एदैतोऽयाय् ।१।२।२३। तस्मै इदम्, भोस् अत्र इत्यादौ अत्र 'सो रु: ।२।१।७२। 'रोर्य:' ।१।३।२६। इति स्वरे वा' ।१।३।२४। इति यलोप: । पश्चादसन्धि: । त आहु इत्यत्र 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' । इति न्यायात् यस्यासिद्धत्वात् 'अत: स्यादौ ।१।४।१। सूत्राद् दीर्घो न भवति ।।२४।।

अस्पष्टावणत्त्विनुञि वा । १ । ३ । २५ ।

अवर्णभोभगोअघोभ्यः परयोः पदान्तस्थयोर्वयोरस्पृष्टावीषत्स्पृष्टतरौ वयौ स्वरे परे स्याताम्, अवर्णात्तु परयोर्व्योरुञ्वर्जे स्वरेऽस्पष्टौ वा स्याताम् । पटवुँ, असावुँ, कयुँ, देवायुँ, भोयँत्र, भगोयँत्र, अघोयँत्र, पटविह, पटविँह. असाविन्दुः असाविँन्दुः तयिह तयिँह, तस्मायिदम् तस्मायिँदम् ॥ २५ ॥

॥ न स्पष्टौ अस्पष्टौ रपशेर्णिजन्तात् क्तप्रत्यये 'णौ दान्तशान्त० ।४।४।७४। इति निपातनम् । भिन्नावयवत्वप्रतिपादनाय तुशब्दः । ईषत्स्पृष्टतरौ-उच्चारणे मन्दतरप्रयत्नौ । शिथिलस्थानकरणपरिस्पन्दावित्यर्थः । शिथिलाभ्यां स्थानकरणाभ्यामुच्चार्यमाणौ वकारयकारौ अस्पष्टाविति । अस्पष्टावित्येको योगः, अवर्णात्त्वनुञि वेत्यपरो योगः, प्रथमे योगे वेति न सम्बध्यते अत एव नित्यमस्पष्ट-विधानम् । सर्वमिदमवर्णपदोत्तर तुशब्दात्सूत्रितम् । पटो उञ्, अवादेशः । उत्तरयोगेनावर्णात्परयोः यवयोः उञ्वर्जस्वरे परे एव विकल्पतः अस्पष्टवययोर्विधानात् उञ्परे नित्यं तौ भवतः । असौ उ, 'अदसो दः सेस्तु डौ ।२।१।४३। इत्यदसो दस्य सः, कस् उ 'सो रुः ।२।१।७२। 'रोर्य' ।१।३।२६। अस्पष्टो यः, देवास् उ, भोस् अत्र इत्यादौ । पटो इह, अवादेशः, विकल्पेन अस्पष्टो वः, स्वरे वा ।१।३।२४। इति लोपो वा, पट इह, पक्षे पटविह एवमग्रेऽपि ॥२५॥

रोर्यः । १ । ३ । २६ ।

अवर्णभोभगोअघोभ्यः परस्य पदान्तस्थस्य रोः स्वरे परे यः स्यात् । कयास्ते, देवायास्ते, भोयत्र, भगोयत्र, अघोयत्र ॥ २६ ॥

॥ रोः षष्ठी, यः प्रथमा । रकारमात्रस्य यत्वविधाने पुनरत्रेत्यादावपि यत्वं प्रसज्येतेति रोर्ग्रहणम् । अत्रानन्तरोऽपि अवर्णादिति नानुवर्तते भो इत्यादिभ्यो यकारस्यास्पष्टयकारविधानात् इति व्यवहितोऽपि अवर्णभो-

भगोअघोभ्यः एवानुवर्तते । कस् आस्ते 'सो रुः।२।१।७२। अनेन यः । स्यादिविधौ रोरसत्त्वात् 'अतः आः स्यादौ० ।१।४।१। इति ये परे न दीर्घः । देवायासते 'आसिक् उपवेशने वर्तमानात्मनेपदमन्तेप्रत्ययः, 'अनतोऽन्तोदात्मने ।४।१।११४। सूत्रादन्तेर्नकारस्य लोपः । ननु तरोरयनं तर्वयनम् इत्यादावेव 'रोर्यः ।१।३।२६। इति प्राप्नोति नैवम् एवंकृते भोःप्रभृतिभ्यो यकारासम्भवात् 'स्वरे वा ।१।३। २१। इत्यादीनि सूत्राणि निरर्थकानि स्युः ॥२६॥

ह्रस्वान् ङणनो द्वे ।१।३।२७।

ह्रस्वात्परेषां पदान्तस्थानां ङणनां स्वरे परे द्वे रूपे स्याताम् । क्रुङ्ङास्ते, सुगण्णिह कुर्वन्नास्ते ॥ २७ ॥

॥ ह्रस्वात्, ङश्च णश्च नश्च ङणनं तस्य, द्वे+प्रथमा । द्वि प्रथमाद्विवचनम् औ । नपुंसकलिङ्गे 'औरीः ।१।४।५६। अनेन औस्थाने ई: । 'आ द्वेरः।२।१।४१। इत्यनेनान्तस्य अकारः । 'अवर्णस्ये० ।१।२।६। सूत्रादेकारः क्रुञ्चतीति क्रुङ् क्विप्, सि 'पदस्य' ।२।१।८९। इति चलुक् 'युजञ्चक्रुञ्चो० ।२।१।७१। इति नस्य ङकारे क्रुङ् आस्ते अनेन द्वित्वम् । सुष्ठु गणयतीति क्विपि सुगण्इह. कृषींत् विलेखने, कृषतीति कृषन् आस्ते, कृषन्नास्ते इत्यत्र बहिरङ्गस्य द्वित्वस्यासिद्धत्वात् 'रषृवर्णान्नो०' ।२।३।६३। सूत्रात् णत्वं न भवति । ननु 'उणादयः ।५।२।९३। सूत्रे 'अनाङ्माङो दीर्घाद् वाच्छः ।१।३। २८। इति सूत्रे द्वित्वं कथं न भवतीतिचेन्नैव 'उणादयः ।५।२।९३। इति स्वरूपनिर्देशात् 'अनाङ्माङो० इत्यत्र 'अन् स्वरे' ।३।२।१२९। इति अनादेशविधानबलान्न भवति ॥२७॥

अनाङ्माङो दीर्घाद्वा छः ।१।३।२८।

आङ्माङ्वर्जदीर्घात्पदान्तस्थात् परस्य छस्य द्वे रूपे वा स्याताम् । कन्याच्छत्रम्, कन्याछत्रम् । अनाङ्माङिति किम् ? आच्छाया, माच्छिदत् ॥ २८ ॥

॥ आङ् च माङ् च न आङ्माङ् अनाङ्माङ् तस्मात् कन्याया-श्छत्रं कन्याच्छत्रम् छस्य द्वित्वे कृते 'अघ षे प्रथमोऽशिटः ।१।३।५०। सूत्रेण एकछस्य चकारः। आ ईषत् छाया आच्छाया अत्र ईषदर्थे आङ् शब्दः अत्र 'स्वरेभ्यः' ।१।३।३०। इति नित्यं द्वे रूपे। माच्छिदत् 'छिदृ ंरी द्वैधीकरणे 'माङ्यद्यतनी ।५।४।३९। इति वचनाद्वर्तमानेऽप्यद्यतनीदि, ऋदिच्छ्वि।३।४। ६५॥ इति अङ् 'स्वरेभ्यः ।१।३।३०। इति प्रवर्तते। आङ् साहचर्याणाव्ययस्य माङो ग्रहणात् प्रमाच्छात्र, प्रमाछात्र इत्यत्र विकल्प एव। अत्र हि माधातु न त्वव्ययः। पदान्ते इति दीर्घस्य विशेषण न छस्य असंभवात्, पदान्ते हि-तस्य विकारेण भाव्यम्। शब्दत्रात् 'अनुना०'।४।१।१०८। इति ननु पर्युदासात् आङ् माङ्वर्जनादेव दीर्घात् इति लब्धे किमर्थं दीर्घादित्यनेने चेत्सत्यम् आङ् माङ् अव्ययमिति तदन्यस्याप्यव्ययात् दीर्घादित्यपि प्रसङ्गः स्यादिति ॥२८॥

प्लुताद्वा।१।३।२९।

पदान्तस्थाद् दीर्घात्प्लुतात् परस्य छस्य द्वे रूपे वा स्याताम्।

आगच्छ भो! इन्द्रभूते ३ च्छत्रमानय, पक्षे छत्रमानय ॥ २९ ॥

दीर्घस्तु द्विमात्रः, प्लुतस्तु त्रिमात्रः इति सामानाधिकरण्यासंभवात् मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादिवत् स्थानोपचारात् दीर्घस्थात्प्लुतादित्यर्थो बोध्यः अथवा दीर्घोऽस्यास्तीति स्थानित्वेनेत्रि अभ्रादिभ्यः ।७।२।४६। इत्यप्रत्यये दीर्घस्थानात्प्लुतादित्यर्थो बोध्यः। भो इन्द्रभूते, दूरादामन्त्र्यस्य०' ।७।४।९९। इति प्लुतः, छत्रम्–अनेन विकल्पेन छस्य द्वित्वम्। भूतपूर्वं दीर्घमाश्रित्य पूर्वसूत्रेणैव सिद्धाविद्र पृथक्सूत्रकरणं 'ह्रस्वदीर्घापदिष्टं कार्यं न प्लुतस्य' इति न्यायज्ञापनार्थम्।

एवमेव हे राज ३ न्निह, इत्यादौ परत्वान्नित्यत्वाच्च 'दूरादा०' ।७।४।९९। इति जकारोत्तरवर्त्यकारस्य प्लुतत्वे कृते 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' इति न्यायेन ह्रस्वोपचारान्नस्य 'ह्रस्वान्ङ्णना०'।१।३।२७। सूत्राद्द्वित्वमुक्तन्यायात्। तथा हे भो ३ भ्रात इत्यत्र अदीर्घाद्०।१।३।३२। सूत्रे दीर्घवर्जनेऽप्युक्तन्यायेन प्लु-तावर्जनाद् वा द्वित्वम्। परे तु 'ह्रस्वदीर्घापदिष्टं कार्यं न प्लुतस्य इति न्या-योऽनाश्रयणीयः तेषामाभिप्रायस्त्वित्थम् दीर्घो द्विमात्रः, प्लुतस्त्रिमात्रः, ह्रस्व

एकमात्र इति स्वाभाविक एव भेद अतः ह्रस्वादीर्घापदिष्टं कार्यं प्लुतस्य नैव भविष्यतीति। न च भूतपूर्वकन्यायेन भविष्यतीति वाच्यं भूतपूर्वकन्यायो हि शास्त्रप्रवृत्त्यभावे सत्य नष्टवारणायाश्रीयते न त्वनिष्टसंपादनार्थमिति अन्यथा रामानिह इत्यत्र 'शसोऽता० ।१।४।४९। इति जातस्य दीर्घस्य भूतपूर्वकन्यायेन ह्रस्वत्वात् 'ह्रस्वान्ङ्णो द्वे रूपे प्रसज्येयाताम् ।।२९।।

स्वरेभ्यः । १ । ३ । ३० ।

स्वरात्परस्य छस्य द्वे रुपे स्याताम् । इच्छति, गच्छति ।। ३० ।।

।। स्वरेभ्यः ।। द्वे छः इत्यनुवर्तते। बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्, तेन पदान्ते इति निवृत्तम्, इच्छति, पदान्तेऽपि भवति, तेन वृक्षच्छाया। इषत् इच्छायाम् 'गमिषद्यमश्छः ।४।२।१०६। इति छत्वेऽनेन द्वित्वे 'अघोषे प्रथमोऽशिटः' ।१।३।५०। इति प्रथमः ।।३०।।

र्हादर्हस्वरस्यानु नवा । १ । ३ । ३१ ।

स्वरात्पराभ्यां रहाभ्यां परस्य रहस्वरवर्जस्य वर्णस्य द्वे रुपे वा स्याताम्। अनु कार्यान्तरात्पश्चात् । अर्क्कः, अर्कः । ब्रह्म्म ब्रह्म । अर्हस्वरस्येति किम् ? पद्मह्रदः, अर्हः, करः । स्वरेभ्य इत्येव-अभ्र्यते । अन्विति किम् ? प्रोर्णुनाव ।। ३१ ।।

।। रश्च हश्च र्हः तस्मात् र्हात् । रश्च हश्च स्वरश्च र्हस्वरः । न विद्यन्ते र्हस्वरा यत्र वर्णे सोऽर्हस्वरः, तस्य । अर्च्यते स्तूयते इत्यर्कः, घञ् य कः अनेन सूत्रेण विकल्पेन कस्य द्वित्वम् । ब्रह्म-मस्य द्वित्वम् । पद्मश्चासौ ह्रदश्चेति । अत्र हकारपरो रकारः। अर्हेति रकारपरो हकारः। अर्हतीति अच् अर्हः, क्रियतेऽनेनेति करः, 'पुंनाम्नि' ।५।१।१३०। अत्र स्वरपरः रकारः। अभ्र्यते अत्र व्यञ्जनात्परो रेफः। प्रोर्णुनावेति-प्रोपसर्गात् ऊर्णु आच्छादने धातोः। परोक्षाणव् । ऊर नु इति कृत्वा पश्चात् स्वरादेर्द्वितीयः ।४।१।४। 'अयि रः ।४।१।६। 'णषमसत्परे० ।२।१।६। सूत्रात् णस्यासत्वात् नु इत्यस्य

द्विर्वचनम्, ननु, प्रथमनु इत्यस्य णत्वे कृते 'हर्दर्ह०' ।१।३।३१। सूत्रेण णस्य द्वित्वे 'ण्ण' विकल्पपक्षे तु द्वित्वाभाव: । 'नामिनोऽकलिहले०' ।४।३।५१। सूत्राद् वृद्धि: । अत्र अनु इत्यस्याभावे अन्तरङ्गत्वादनेन द्वित्वे कृते पश्चाद् बहिरङ्गं परोक्षानिमित्तं द्विर्वचनं स्यात्, ततश्च प्रोर्णुन्नावेत्य-निष्टं रूपं स्यात्, अत: प्रथमं प्रोर्णुनावेति प्रसाध्य ततोऽनेन णस्य द्वित्वम् । ननु 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभाव: इति न्यायात् द्वित्वं निवर्त्स्यति कृतमनुग्रहणेनेति चेन्मैवमयमेवानुग्रहणं 'निमित्ताभावे०' इति न्यायस्यानित्यतां दर्शयति । अथवा लोकप्रसिद्धैवास्यानित्यता-लोके कुम्भकारस्य विनाशेपि घटस्य दर्शनात् । ननु पद्मह्रद इत्यत्र रस्य-द्वित्वे कृते-ऽपि 'रो रे लुग्०' ।१।३।४१। इति लुचि पद्मह्रद इति भविष्यतीति न किञ्चि-चद् विनष्टमिति चेत्सत्यं यद्यत्र रवर्जनं न स्यात्तदोत्तरसूत्रेपि वर्जनाभावे अर्ह: इत्यत्रोत्तरेण द्वित्वे आर्र्ह: इत्यनिष्टं रूपं स्यात् । ननु कर इत्यत्र 'लुग-स्या०' ।२।१।११३। इत्यनेन रस्य लुग्भविष्यति किं स्वरवर्जनेनेति चेत्सत्यं चारु, दारु वारि इत्यादौ चारू दारू वारी इत्याद्यनिष्टं रूपं स्यात् । अर्च्यते स्तूयते इति अर्क: न्यङ्कूद्०' ।४।१।११२। सूत्रेण न्यङ्क्वादित्वात्ककार: । ।।३१।।

अदीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने ।१।३।३२।

अदीर्घात्स्वरात्परस्य रहस्वरवर्जस्य वर्णस्य विरामे असंयुक्तव्यञ्जने च परेऽनु द्वे रूपे वा स्याताम् । त्वक्क्, त्वक्, दद्ध्यत्र, दध्यत्र, गो ३ त्त्रात, गो ३ त्रात । अहस्वरस्येत्येव ? वर्म्रा, वह्र्यं, तितउ ॥ ३२ ॥

॥ न दीर्घ: अदीर्घ: तस्मात्, एकं च तद् व्यञ्जनं च, विरामश्च एकव्यञ्जनं च तस्मिन् । अदीर्घादिति पर्युदासादनुवृत्तस्य स्वरस्य विशेष-णम् । त्वक्क्किति-अनेन द्वित्वम्, पुनश्चानेन एकव्यञ्जने परे यावत्सम्भव: तावद्विधिरिति न्यायात् द्वित्वं न भवति किञ्चित्फलाभावात् अन्यथाऽन-वस्थादोषप्रसङ्गात् क्रियानुपरमप्रसङ्गादित्यर्थ: । अन्यत्र द्वित्वस्य चरितार्थ-त्वेपि 'व्यक्ति: पदार्थ:' इति न्यायेन अहस्वरमात्रस्य द्वित्वविधानसामर्थ्यात्

'पदस्य' ।२।१।८९। 'संयोगस्यादौ० ।२।१।८८। इति वा न प्रवर्तते । दद्ध्यत्रे-त्यत्रानेन धकारस्य द्वित्वे 'तृतीयस्तृतीय० ।१।३।४९। सूत्राद् धस्य दत्वम् । ननु धस्य द्वित्वे कृते 'स्वरस्य परे प्राग्विधौ ।७।४।११०। सूत्रेण स्थानिवद्-भावाद् धस्य द्वित्व न भविष्यतीति चेन्मैवम् 'न सन्धि० ।७।४।१११। सूत्रेण सन्धिविधौ स्थानिवत्त्वनिषेधः । ननु दद्ध्यत्रेत्यत्र यकारस्य पदान्तत्वात् 'पदस्य ।२।१।८९ इति लोपः प्राप्नोतीतिचेन्न 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न्यायेनान्तरङ्गे यकारलोपे कर्तव्ये बहिरङ्गस्य यकारस्यासिद्धत्वात् । न च बहिरङ्गस्य यकारस्यासिद्धत्वात् द्वित्वमेव न प्राप्नोति इति वाच्यं सन्धिग्रहणेनैव स्थानिवद्भावनिषेधसिद्धेऽपि द्विग्रहणस्यैतन्न्यायबाधनार्थत्वात् 'न्यायाः स्थविरयष्टिप्रायाः । अन्वित्यधिकारात् कत्वगत्वादिषु कृतेषु पश्चाद् द्वित्वं भवति अन्यथा प्रथममनेन विकल्पेन द्वित्वे 'चजः कगम् ।२।१।८६। इति कत्वे कृते पश्चात् धुटस्तृतीयः ।२।१।७६। इति तृतीये त्वच्ग् इति त्वक्क् इति अनिष्टरुपापत्तिः स्यात् । गो ३ त्रातेति, 'दूरादामन्त्र्य० ।७।४।९९। इति प्लुतः अनेन तस्य द्वित्वम् । वृङ्श् सम्भक्तौ व्रियते इति वया वर्योपसर्या० ।५।१।३२। अनेन यप्रत्ययः । वहीं प्रापणे उह्यतेऽनेनेति वह्यं शकटम् 'वह्यं करणे ।५।१।३४। सूत्रेण यप्रत्ययः । अत्र स्वरात् परो हकारः । तनूयी विस्तारे तनोतीति 'तनेर्डउः ।७४८। स च सन्वद् भवति । द्विर्वचनम् 'सन्यस्य' ।४।१।५९। सूत्रेण इत्वम् । अत्र स्वरात्परः उकारः तितउश्चालनिकेत्यर्थः । ॥३२॥

अञ्वर्गस्यान्तस्थातः । १ । ३ । ३३ ।

अन्तस्थातः परस्य जवर्जवर्गस्य अनु द्वे रुपे वा स्याताम् । उल्क्का, उल्का । अजिति किम् ? हल्मौ ।

॥ न ञ् अञ्, 'नञत् ।३।२।१२५। अञ् चासौ वर्गश्च अञ्वर्गःतस्य, अन्तस्थाया इति अन्तस्थातः 'आद्यादिभ्यः ।७।२।८४। इति तस् । 'ऐकार्थ्ये' ।३।२।८। इति पञ्चमीलुप् । उल्क्का, अत्र लकारात् परस्य ककारस्य द्वित्वम् दीप्त्यर्थकज्वलधातोः 'निष्क-तरु०' उणा० २६ इति निपातः । परमते ऽक्ष्ण-नस्य हल्सञ्ज्ञा, हल् चासौ मश्च हल्मौ, अत्र मस्य द्वित्वप्रतिषेधः ॥३३॥

ततोऽस्याः । १ । ३ । ३४ ।

ततोऽञ्वर्गात्परस्या अस्या अन्तस्थाया द्वे रूपे वा स्याताम् ।

दध्य्यत्र, दध्यत्र ॥ ३४ ॥

तस्मात् ततः, अस्याः षष्ठी । तच्छब्देनाञ्वर्गस्य परामर्शः, इदंशब्देन चान्तस्थाशब्दस्य । दध्येत्यत्रानेन सूत्रेण धकारात्परस्य यस्य द्वित्वम् तथा च धकारयकारयोर्द्वित्वविकल्पादेकधयकारात्मकमेकं रुपम् ? द्विध द्वियघटितमेकं रुपम् २ । द्विधैकयघटितमपरं रुपम् ३ एकधद्वियघटितं चान्यत् ४। इति सामान्यतश्चत्वारि रूपाणि । अस्याः । इदम् षष्ठीङस् 'आ द्वे रः ।२।१।४१। इति मस्य अः । 'आत्' ।२।४।१८। इति आप्, 'आपो ङितां यै यास् यास् याम्' ।१।४।१७। सूत्रात् ङस्स्थाने यास् । 'अनक्' ।२।१।३६। सूत्रेण यासः पूर्वं ङस् । 'डित्यन्त्यस्वरा० ।२।१।११४। इत्यन्त्यस्वरादिलोपः । ॥३४॥

शिटः प्रथमद्वितीयस्य । १ । ३ । ३५ ।

शिटः परयोः प्रथमद्वितीययोर्द्वे रूपे वा स्याताम् । त्वंक्करोषि । त्वं करोषि । त्वंख्खनसि, त्वं खनसि ॥ ३५ ॥

॥ शिटः पञ्चमी, प्रथमश्च द्वितीयश्च प्रथमद्वितीयं तस्य । 'अं अः ≍ क)(प शषसाः शिट् ।१।१।१३। सूत्रात् शिट्संज्ञा । त्वं करोषि- 'तौ मुमो० ।१।३।१४। सूत्रादनुस्वारः, अत्रानुस्वाररुपशिटः परस्य कस्य द्वित्वम् । त्वं क्खनसि- अत्र द्वित्वे 'अघोषे प्रथमोऽशिटः ।१।३।५०। इति खकारस्य ककारः ॥३५॥

ततः शिटः । १ । ३ । ३६ ।

ततः प्रथमद्वितीयाभ्यां परस्य शिटो द्वे रूपे वा स्याताम् ।

तच्श्शेते, तच्शेते ॥ ३६ ॥

॥ ताभ्यां ततः, शिटः षष्ठी । ततदेन प्रथमद्वितीययोः परामर्शः । तच्शेते, तद् सि 'अनतो लुप् ।१।४।५९। 'अघोषे प्रथमोऽशिटः ।१।३।५०। इति दस्य त्, 'तवर्गस्य श्चवर्ग० ।१।३।६०। इति तस्य च् ॥३६॥

न रात्स्वरे ।१।३।३७।

रात्परस्य शिटः स्वरे परे द्वे रूपे न स्याताम् । दर्शनम् । ॥ ३७ ॥

॥ न, रात् पञ्चमी ।दृश् प्रेक्षणे अतः करणे वाऽनटि दर्शनम् । 'हं।दर्हस्वरस्य० ।१।३।३१। इति द्वित्वे विकल्पे प्राप्ते निषेधः ॥३७॥

पुत्रस्याऽऽदिन्पुत्रादिन्याक्रोशे ।१।३।३८।

आदिनि पुत्रादिनि च परे पुत्रस्थस्य तस्य आक्रोशविषये द्वे रूपे न स्याताम् । पुत्रादिनी त्वमसि पापे, पुत्रपुत्रादिनी भव । आक्रोश इति किम् ? पुत्त्रादिनी शिशुमारी, पुत्रादिनीति वा । पुत्रपुत्रादिनी नागी, पुत्रपुत्रादिनीति वा ॥ ३८ ॥

आदिन् च पुत्रादिन् आदिन्पुत्रादिन्, तस्मिन्, 'अदक् भक्षणे' अद् । अभीक्ष्णं पुनः पुनो वा पुत्रं पुत्रपुत्रं वाऽत्तीति 'व्रताभीक्ष्ण्ये' ।५।१।१५७। सूत्रेण णिन् । 'ञ्णिति' ।४।३।५०। सूत्रात् वृद्धिः, 'स्त्रियां नृतोऽ ।२।४।१। सूत्रात् ङीः, सिः, पुत्रादिनी, पुत्रपुत्रादिनी । 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति न्यायेन स्त्रियामुदाहृतं प्रायेण तत्रैवाक्रोशसम्भवात् । अध्यारोपेण हि निन्दा आक्रोशः, तत्त्वाख्याने त्वसौ प्रतिषेधो नास्ति 'अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने' ।१।३।३२। इति विकल्पेन प्राप्तेऽनेन परत्वात् प्रतिषेधः । शिशुं पुत्रं मारयतीति शिशुमारी 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। 'गौरादिभ्यो मुख्यान्ङीः' ।२।४।१९। शिशुमारी मत्सीविशेष उच्यते । न गच्छतीति नगः 'नगादयः ।३।२।१२८। निपातनम् नगे भवा भवे ।६।३।१२३। इत्यण् 'ञ्णिति ।४।३।५०। 'जातेरयान्त०' ।२।४।५४। इति ङीः ॥३८॥

म्नां धुड्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते । १ । ३ । ३९ ।

अपदान्तस्थानां मनानां धुटि वर्गे परे निमित्तस्यैवान्त्योऽनु स्यात् गन्ता, शङ्किता, कम्पिता । धुडिति किम् ? आहन्महे । धुड्वर्ग इति किम् ? गम्यते । अपदान्त इति किम् ? भवान् करोति ॥ ३९ ॥

म् च न् च म्नः तेषाम्, धुट् चासौ वर्गश्च, तस्मिन्, अन्ते भवोऽन्त्यः 'दिगादिदेहांशाद्यः' ।६।३।१२४। सूत्राद् यः । गच्छतीति गन्ता 'आसन्न.' ।७।४।१२०। सूत्रेण मकारस्य पञ्चमो नकारः । तृच्, शकुङ् शङ्कायाम् शङ्किता, कपुङ, चलने कम्पिता 'स्ताद्य० ।४।४।३२। इतीट् 'आङो यमहन० ।३।३।८६। सूत्रेणात्मनेपदे । आहन्महे, अत्र मकारस्य वर्गत्वेपि धुट्त्वाभावान्न नकारस्य पञ्चमः मकारः । गम्यते इत्यत्र तु यकारस्य धुट्त्वेपि धुड्वर्गत्वाभावान्न मस्य स्थाने यस्यान्त्यो रः । 'वयः शिति' ।३।४।७०। म्नामिति बहुवचनं वर्गान्तरबाधनार्थं तेन कुर्वन्ति, कृषन्तीत्यादौ 'रषृवर्णान्नो० ।२।३।६३। इति णत्वं बाधित्वाऽनेन वर्गान्त्य एव भवति, शङ्कितेत्यादौ 'अदीर्घा० ।१।३।३२। इत्यादिभिर्द्वित्वादिकार्यान्तराणि न भवन्ति । धुड्वर्गे इत्यत्र वर्गग्रहणं व्यवस्थार्थम् वर्गग्रहणाभावे तु गन्तेत्यादौ तकारापेक्षया थकारस्यापि अन्त्यत्वात् 'गथ्ता' इत्याद्यनिष्टं स्यात् । अन्त्यित्यस्यानुवृत्तिस्तेन विपूर्वाद् अञ्ज्धातोर्तुमि व्यङ्क्तुमित्यादौ 'चजः कगम् ।२।१।८६। इति गत्वे कृते पश्चात् 'अघोषे प्रथमोऽशिटः ।१।३।५०। इति कत्वे कृतेऽनेन निमित्तस्यान्त्यो ङकार कृतः अन्यथा अन्तरङ्गत्वापूर्वं अकारे कृतेऽनिष्टापत्तिः स्यात् ॥३९॥

शिड्हेऽनुस्वारः । १ । ३ । ४० ।

अपदान्तस्थानां म्नां शिटि हे च परेऽनुस्वारोऽनु स्यात् । पुंसि, दंशः, बृंहणम् ॥ ४० ॥

॥ शिट् च हश्च शिड्हं तस्मिन्, 'धुटस्तृतीयः ।२।१।७६। सूत्रात् टस्य डत्वम् । पुम्स् इ, अत्रानेन सूत्रेण शिटि परे मकारस्यानुस्वारः, दंश

दशने दशनं दंशः, घञ् । बृहु शब्दे 'उदितः स्वरान्नोऽन्तः' ।४।४।९८। णत्वे च इति नोन्ते दृहुणम् । म्नामिति बहुवचनात् बृंहणमित्यत्र णत्वं दंश इत्यत्र 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। इति णत्वं च बाधित्वाऽनेनानुस्वार एव भवति । अन्वि-त्यधिकारात् पिण्ढि इत्यादौ पिष्धातोर्हो तस्य धित्वे षस्य डत्वे म्नां० ।१।३।३९। इति नस्य णे च शिडभावात् श्नानकारस्यानुस्वारो न भवति । अत्र सन्धिविधित्वात् श्नस्याकारलुचः स्थानिवद्भावादव्यवधानम् । ननु हृस्य शिट्संज्ञां कृत्वा 'शिट्यनुस्वारः' इत्येव सूत्र्यतामिति चेत्सत्यं यदि हृस्य शिट्संज्ञां कृत्वेह हग्रहणं न क्रियते तदा वह् धातोस्तप्रत्यये ऊढमाख्यत् औजढत् इत्यत्र 'अघोषे शिटः' ।४।१।४५। इति हलोपेऽनिष्टं रूपं स्यादिति । 'ऊढ' इत्यत्रोकारः 'ढस्तड्डे' ।१।३।४२। इति च दीर्घः ॥४०॥

'रो रे लुग्दीर्घश्चादिदुतः' । १ । ३ । ४१ ।

रस्य रे परेऽनु लुक् स्यात् अइउनाञ्च दीर्घः । पुना रात्रिः, अग्नी रथेन, पटू राजा । अनु इत्येव ? अहोरूपम् ॥ ४१ ॥

॥ रः षष्ठी, अच्च इच्च उच्च अदिदुत् तस्य ।. अत्रेकारात्परस्य रेफस्य रेफेऽपदान्ते सम्भवो नास्ति, अत इद्ग्रहणादपदान्त इति नानुवर्तते, भिन्नस्थानिभिन्ननिमित्तभणनाद् वा अपदान्ते इति नानुवर्तते । ननु रोरिति किं सानुबन्धस्य रोर्ग्रहणं, उत वा निरनुबन्धस्य । आद्ये पुना रमते इ यादि न सिध्येत्, द्वितीये चाग्नी रथेन इत्यादि न सिध्येदितिचेन्न र इति सामान्यनि-र्देशेन 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणमिति न्यायेनोभयोर्ग्रहणम्, अत एव वृत्तौ रस्येत्युक्तम् । 'सप्तम्याः पूर्वस्य' ।७।४।१०५। इति परिभाषया रे इत्यु-पश्लेषसप्तम्याश्रयणादव्यवहितपूर्वाणाम् अदिदुतां दीर्घो भवति । पुनर् + रात्रिः अनेनात्र रस्य लुक्, पूर्वस्य चाकारस्य दीर्घः निरनुबन्धरेफस्योदाहरणमिदम्, अग्नी रथेनेत्यादि तु रोरुदाहरणम् । अहो रूपमित्यत्र 'अह्नः' ।२।१।७४। इति रुत्वे कृते परत्वात् 'रो रे लुग्दीर्घ०' ।१।३।४१। इति रेफस्य लोपो दीर्घ-श्च 'लुग्दीर्घयोरेकनिमित्तत्वात् 'सर्वेभ्यो लोपो बलीयान्' इति वा प्राप्नोति परन्तु अन्वित्यधिकारात् अत्र पूर्वमेव रोः अतोऽति०' ।१।३।२०। इत्युत्वे कृते रेफाभावाल्लुग्दीर्घौ न भवतः अन्यथा अहा रूपमित्यनिष्टरूपं स्यात् ॥४१॥

'ढस्तड्ढे' । १ । ३ । ४२ ।

तन्निमित्ते ढे परे ढस्यानु लुक् स्यात्, दीर्घश्चादिदुतः । माढिः, लीढम्, गूढम् । तड्ढ इति किम् ? मधुलिड् ढौकते ।। ४२ ।।

।। ढः षष्ठी, तन्निमित्तो ढस्तड्ढः, तस्मिन् 'तवर्गस्य०' ।१।३।६० इति दस्य ढः । इदं सूत्रं पदान्ते 'धुटस्तृतीयः' ।२।१।७६। इत्यस्य, अपदान्ते तु 'तृतीयस्तृतीयचतुर्थे' ।१।३।४८ इत्यस्य बाधकम् ततोऽन्त्रित्यधिकारः एतयोः सूत्रयोर्विषयं मुक्त्वा ज्ञातव्यः, अत एव मधुलिड् ढौकते इत्यत्र पूर्वं तृतीयत्वाभावे सति न दृत्यङ्गविकलता । मह् पूजायाम् महनं माढिः 'स्त्रियां क्तिः' ।५।३।९१। 'हो धुट्पदान्ते' ।२।१।८२। इति हस्य ढः, 'अधश्चतुर्थात्त०' ।२।१।७९। इति क्तेस्तस्य धः, तवर्गस्य० ।१।३।६०। इति धस्य ढः, ततश्चानेन सूत्रेण ढलोपो दीर्घश्च । लिहींक् आस्वादने, गुहौग् संवरणे' लेहनं लीढम्, गूहनं गूढम् 'क्लीबे क्तः ।५।३।१२३। सूत्रेण क्तः । मधु लेढीति मधुलिट् 'क्विप्' ।५।१।१४८। सूत्रात् क्विप्, ततः सिः । अत्रोत्तरढकारस्य पूर्वढनिमित्तत्वाभावाल्लुग्न । अन्त्रित्य धिकारात् लेढा इत्यादौ गुणे कृते ढलोपोऽन्यथा प्रथममनेन ढलोपे दीर्घे च लीढा इत्याद्यनिष्टं स्यात् ।।४२।।

सहिवहेरोच्चावर्णस्य । १ । ३ । ४३ ।

सहिवह्योर्ढस्य तड्ढे परे ऽनु लुक् स्यात्, ओच्चावर्णस्य । सोढा, वोढा, उदवोढाम् ।। ४३ ।।

।। सहिश्च वहिश्च तस्य, 'षहि मर्षणे' षह् 'षः सोऽष्ट्यै०' ।२।३।९८। इति सह्, वहीं प्रापणे वह् । सहते इति सोढा । वहतीति वोढा । तृच्, 'हो धुट्पदान्ते' ।२।१।८२। इति हस्य ढः, 'अधश्चतुर्था० ।२।१।७९। इति तस्य धः, 'तवर्गस्य० ।१।३।६०। इति धस्य ढः, तत एतत्सूत्रं प्रवर्तते । उदवोढामिति वह, उत्पूर्वमद्यतनीताम्, सिजद्यतन्याम्' ।३।४।५३। इति सिच् 'व्यञ्जनानामनिटि ।४।३।४५। इति वृद्धिः, वाह्, धुड्ह्रस्वाल्लुग० ।४।३।७०। इति सिचो लुक् 'हो धुट्पदान्ते०' ।२।१।८२। अधश्चतुर्थात्त० ।२।१।७९। 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। ततो प्रकृतसूत्रेण ओत्वं ढलोपश्च ।।४३।।

उदः स्थास्तम्भः सः । १ । ३ । ४४ ।

उदः परयोः स्थास्तम्भोः सस्य लुक् स्यात्, उत्थाता, उत्तम्भिता ।
॥ ४४ ॥

॥ उदः पञ्चमी 'पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य ।७।४।१०४। इति परिभाषालभ्यमर्थमाह उदः परयोरिति । ष्ठां गतिनिवृत्तौ, षः सः 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः' इति न्यायेन स्था, उत्तिष्ठतीति तृच्, उद् स्थाता, सलुक्, स्तम्भु इति सौत्रो धातुः उत्तम्नातीति तृचि उत्तम्भिता । उद इति स्थास्तम्भविशेषणस्यैव ग्रहणम्, तेन ऊर्ध्वं स्थानमस्येति उत्स्थानः, अत्र न सलुक्, उदः स्थानस्य विशेषणत्वात् न तु तिष्ठतेः । ननु उदस्थादित्यत्र सकारलोपापत्तिः, न चाडागमेन व्यवधानमस्तीति वाच्य, तस्य स्थाधात्वङ्गत्वेन 'स्वाङ्गमव्यवधायी'- ति न्यायेनाव्यवधायकत्वादिति चेन्न उदस्थात्, उदस्तम्भ इत्यनयोः सिद्ध्यर्थम् आवृत्य उद इति पदं स्थास्तम्भः, सकारस्य च योज्यम् । ननु उदस्थादित्यादौ अडागमात्पूर्वं भविष्यतीति चेन्नान्वित्यधिकारात्, अडागमे च सति 'पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य' ।७।४।१०४। तच्चानन्तरस्यैवेति व्यवहितस्य न भवति ॥४४॥

'तदः सेः स्वरे पादार्था । १ । ३ । ४५ ।

तदः परस्य सेः स्वरे परे लुक् स्यात् । सा चेत्पादपूरणी स्यात् । सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः । पादार्थेति किम् ? स एष भरतो राजा ॥ ४५ ॥

॥ तदः पञ्चमी, पादाय इयं पादार्था । लुचो विशेषणम् । 'ङ्ऽर्थो वाच्यवत्' परलिङ्गप्रकरणम् श्लोक १ इति । तदित्यनेन तदादेशस्य सस्य ग्रहणम्, अन्यथा व्यञ्जनात्परस्य सेः 'दीर्घङ्याब्०' ।१।४।४५। इत्यनेन लुक्सिद्ध एव । 'पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य ।७।४।१०४। इति वर्तते । 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इति न्यायस्यानित्यत्वात् तद इत्यत्र एतन्न्यायस्याप्रवृत्तिः, अन्यथा अनुकरणभूतस्य तदः प्रकृतिवत्त्वाङ्गीकारे तस्मादिति भवेत् । सैष दाशरथी

रामः इत्यादौ सम् एष इति स्थिते 'सो रुः' ।२।१।७२। 'रोर्यः' ।१।३।२६ तस्य लुक् असन्धिश्च न भवति, अन्यथा स एष दाशरथी राम इति स्याद् एवञ्चाष्टवर्णात्मकत्वलक्षणपादस्य हानिः स्यात्, ततोऽनेन सूत्रेण सलोपः सन्धिश्च । दशरथस्यापत्यं दाशरथिः' अतः इञ्' ।६।१।३१। 'रो रे लुग्' ।१।३।४१ इति । स एष भरतो राजा इत्यत्र तु रुत्वयत्वलोपासन्धीनां प्रवृत्तावपि न पादहानिरिति न प्रकृतसूत्रं प्रवर्तते, । एव 'सोऽहं तथापि तवेत्यत्र भक्तामरस्तोत्रेऽपि भाव्यम् ॥४५॥

एतदश्च व्यञ्जनेऽनग्नञ्समासे । १ । ३ । ४६ ।

एतदस्तदश्च परस्य' सेर्व्यञ्जने परे लुक् स्यात्, अकि, नञ्समासे न । एष दत्ते, स लाति । अनग्नञ्समास इति किम् ? एषकःकृती, सको याति, अनेषो याति, असो लाति ॥ ४६ ॥

एतदः पञ्चमी, अक् च नञ् समासश्च अनग्नञ् समासः तस्मिन् । चशब्देन तदोऽनुकर्षः । कुत्सितोऽल्पोऽज्ञातो वा एष एषकः, एवं सकः । 'त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्० ।७।३।२९। इत्यनेनाऽन्तःपूर्वोऽक् । 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते, इति न्यायेन साकोऽपि प्राप्ते प्रतिषेधः ॥४६॥

व्यञ्जनात्पञ्चमान्तस्थायाः सरूपे वा । १ । ३ । ४७।

व्यञ्जनात्परस्य पञ्चमस्यान्तस्थायाश्च सरूपे वर्णे परे लुग् वा स्यात् । कुञ्चो ङ्ङौ, कुङ्ङौ, कुङ्ङ्ङौ । आदित्यो देवताऽस्य आदित्यः, आदित्य्यः । सरूप इति किम् ? वर्ण्यते ॥ ४७ ॥

व्यञ्जनात्, पञ्चमश्चान्तस्था च तस्याः, समाहारद्वन्द्वेऽपि सौत्रत्वान्नपुंसकत्वाभावः । समानं तुल्यं रूपं यस्य स सरूपः तस्मिन् । कुञ्चतीति कुङ्, ङ् च ङ् च ङ्ङौ, कुञ्चो ङ्ङौ कुङ्ङौ 'पदस्य'।२।१।८९। सूत्रात् चलोपः, 'युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः ।२।१।७१। सूत्रात् नस्य ङः, अनेन सूत्रेण

ङस्य लुग्वा । अदितेरयमादित्यः, आदित्यो देवताऽस्य 'अनिदम्यणपवादे०' ।६।१।१५। इति यप्रत्ययः, अलोपः, अनेनैकयलोपः । वर्णण् वर्णक्रियाविस्तार-गुणवचनेषु वर्ण्यते, अत्र पञ्चमस्य णस्य सरूपो यकारो नास्तीति णलुग्न भवति ॥४७॥

धुटो धुटि स्वे वा ।१।३।४८।

व्यञ्जनात्परस्य धुटो धुटि स्वे परे लुग्वा स्यात् । शिण्डि, शिण्ड्ढि स्व इति किम् ? तप्र्ता, दप्र्ता ॥ ४८ ॥

धुटः षष्ठी शिष्लृ प् विशेषणे, शिष् धातोः पञ्चम्यां हौ परे 'रुधां स्वराच्छ्नो०' ।३।४।८२। इति श्नाप्रत्यये 'श्नास्त्यो र्लुक्' ।४।२।९०। इत्यकारलोपे हुधुटो० ।४।२।८३। इति हे धिः, 'तृतीयस्तृतीय०' ।१।३।४९। 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। इति प्रत्ययधस्य ढत्वम् 'म्नां धुड्वर्गे०' ।१।३।३९। सूत्रात् णकारः, अनेन सूत्रेण विकल्पेन डकारलोपः । तृपौच् प्रीतौ तृचि प्रत्यये तप्र्ता-अत्र पकारस्य लोपो न भवति स्वाऽरत्वाभावात् ॥४८॥

तृतीयस्तृतीयचतुर्थे ।१।३।४९।

तृतीये चतुर्थे च परे धुटस्तृतीयः स्यात् मज्जति, दोग्धा ॥ ४९ ॥

तृतीयः तृतीयश्च चतुर्थश्च तस्मिन् । टुमस्जोंत् शुद्धौ, मस्ज्, वर्तमानेतिव्, 'तुदादेः शः ।३।४।८१। सूत्रात् शः 'शस्य शषौ' ।१।३।६१। इति सकारस्य शकारः, अनेन शकारस्यासन्नः तृतीयो जकारः । दुहीक् क्षरणे, श्वस्तन्यां ता 'लघारुपान्त्यस्य' ।४।३।४। इत्युपान्त्यगुणः, 'भ्वादेर्दादेर्घः' ।२।१।८३। इति हस्य घः, 'अधश्चतुर्थात्तथोर्धः' ।२।१।७९। इति तस्य धः, 'धुटस्तृतीयः ।२।१।७६। सूत्रेण तु पदान्ते तृतीयत्वं भवति। अनेन तु अपदान्ते, वर्तमानस्य तृतीयत्वं भवतीति विशेषः ॥४९॥

अघोषे प्रथमोऽशिटः ।१।३।५०।

अघोषे परे शिड्वर्जस्य धुटः प्रथमः स्यात् । वाक्पूता । अशिट इति किम् ? पयस्सु ॥५०॥

वाक्पूता- 'चजः कगम्' ।२।१।८१। इति चस्य कः 'धुटस्तृतीयः' ।२।१।७६। इति कस्य गकारः । अनेन प्रथमः कः, पूयते स्मेति पूता वाचा पूता वाक्पूता । पयस्सु, अत्र न षकारस्य प्रथमः शिड्रूपधुट्त्वात् । यद्यपि पयस्स्वित्यत्र 'शषसे शषसं वा' ।१।३।६। इति विधानबलादपि प्रथमता न स्यादिति किमशिट इत्युपादानेनेति चेन्न श्च्योततीत्यादौ शकारस्य चकारे परे प्रथमतापत्तिः स्यादिति शिड्वर्जनम् । एवं अस्ति, आस्ते इत्यादौ सकारस्यासन्न तकारः, विसर्गस्यापि कस्यादिरिति व्याख्यया 'अपञ्चमान्तःस्थो०' ।१।१।११। इति धुट्संज्ञया च 'अवर्णहकवर्गाः कण्ठ्याः इति विसर्गस्याऽऽसन्नः ककारः स्यात् । शकारस्याऽऽसन्नश्चकारः, षकारस्याऽऽसन्नः टकारः, सकारस्याऽऽसन्नः तकारः अस्ति ॥५०॥

'विरामे वा' । १ । ३ । ५१ ।

विरामस्थस्याऽशिटो धुटः प्रथमो वा स्यात् । वाक्, वाग् ॥५१॥

विरामे–अत्र वैषयिकमधिकरणम् । वक्तीति वाच् धुटस्तृतीयः । ।२।१।७६। 'चजः कगम्' ।२।१।८६। 'विरामे वा' ॥५१॥

न सन्धिः । १ । ३ । ५२ ।

उक्तो वक्ष्यमाणश्च सन्धिर्विरामे न स्यात् । दधि अत्र, तद् लुनाति । ॥५२॥

न, सन्धानं सन्धिः, कार्यिनिमित्तयोर्यदाऽतिशयितसान्निध्यं विवक्ष्यते तदैव सन्धि र्भवति, पदधातूपसर्गसमासानां नियमेनैकप्रयत्नोच्चार्यत्वान्नित्यममुदितत्वाच्च विरामाभावान्नित्यं सन्धिर्भवति, वाक्ये तु सन्धिः विवक्षाधीनः, एकप्रयत्नोच्चार्यत्वस्यानियमात् वक्तुरिच्छाधीनः । विरामविवक्षया न सन्धिः अविरामविवक्षया च सन्धिरित्यर्थः ।

संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु, सा विवक्षामपेक्षते ॥

रः पदान्ते विसर्गस्तयोः । १ । ३ । ५३ ।

पदान्तस्थस्य रस्य तयोर्विरामाघोषयोर्विसर्गः स्यात् । वृक्षः, स्वः, कः कुली । पदान्त इति किम् ? ईर्ते ॥ ५३ ॥

रः षष्ठी, पदान्ते विसर्गः, तयोः सप्तमी । तत्पदेन विरामाघोषयोः परामर्शो विरामविषयेऽघोषे वा परतः इत्यर्थः । र इत्यनेन 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्येनेति न्यायात् रोःरेफस्य च ग्रहणम् । वृक्ष इति विरामविषये रोरुदाहरणम् स्व इति विरामविषये रेफस्योदाहरणम् । कः कुलीत्यघोषे परे रोरुदाहरणम् । ईरिक् गतिकम्पनयोः, वर्तमानाते, 'अत्र रेफस्यापदान्तत्वात् न विसर्गः । विरामाघोषयोरिति- विरामविषये अघोषे च परत इत्यर्थः । अर्थवशादेकैव सप्तमी द्विधा भिद्यते, एका सप्तमी वैषयिकेऽधिकरणे, अपरा औपश्लेषिकेऽधिकरणे । यदा स्वभावोऽपि बुद्ध्युल्लिखिताकारेण गृह्यमाणो वस्तुरूपतां प्राप्नोति तदोपश्लेषसम्भवे विरामे परतः इत्यप्यर्थो भवति । ननु नृपतेरपत्यं 'अनिदमण्य० ।६।१।१५। इति ञ्ये अत्र प्रकृतसूत्रेण विसर्गः कथं न भवतीति चेत्सत्यम् 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न्यायेनान्तरङ्गे विसर्गे कर्तव्ये प्रत्ययाश्रितत्वेन बहुस्थानाश्रितत्वेन च बहिरङ्गस्यारादेशस्यासिद्धत्वात् विसर्गो न भवति एव 'रः कख०' ।१।३।५। इति ≍क)(पावपि न भवतः । अन्वित्यधिकारात् गीः, धूः, सजूःषु, आशीःषु इत्यादिषु पूर्वं दीर्घत्वं पश्चाद्विसर्गः अन्यथा पूर्वं विसर्गे कृते इकारभावात् 'पदान्ते' ।२।१।६४। इति दीर्घो न स्यात् ॥५३॥

ख्यागि । १ । ३ । ५४ ।

पदान्तस्थस्य रस्य ख्यागि परे विसर्ग एव स्यात् । कः ख्यातः, नमः ख्यात्रे ॥ ५४ ॥

ख्यागि—पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थमिदम्, तेन जिह्वामूलीयो न

भवति, ख्याग्येव विसर्गनियमात् 'ख्याङ् प्रकथने १०७१ इत्यस्मिन् जिह्वा-मूलीयोऽपि । 'चक्षो वाचि० ।४।४।४। सूत्रात् चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि ११२२ धातोः ख्यांगादेशः ॥५४॥

शिट्यघोषात् । १ । ३ । ५५ ।

अघोषात्परे शिटि परतः पदान्तस्थस्य रस्य विसर्ग एव स्यात् । पुरुषः त्सरुकः, सर्प्पिः प्साति, वासःक्षौमम्, अद्भिःप्सातम् ॥५५॥

शिटि, अघोषात् । अघोषादिति शिटो विशेषणम्, न तु रेफस्य, अघोषात्परस्य पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्यासम्भवात् । अत एवोक्तमघोषात्परे शिटीति । अघोषात्परे शिटि इदमपि नियमार्थं तेन त्सरौ कुशलः त्सरुकः 'कोऽश्मादेः ।६।३।९७। इति कप्रत्ययः, पुरुषः त्सरुकः इत्यत्र 'चटते सद्वितीये' ।१।३।७। इति सत्वं न भवति, सर्पिः प्सातीत्यत्र 'वेसुसोऽपेक्षायाम्' ।२।३।११। इति षत्वं न भवति, वासः क्षौमम्, अद्भिः प्सातम् इत्यत्र च 'रः कखपफयोः ।१।३।५। इति ≍क)(पौ न भवतः ॥५५॥

व्यत्यये लुग्वा । १ । ३ । ५६ ।

शिटः परोऽघोष इति व्यत्ययस्तस्मिन्सति पदान्तस्थस्य रस्य लुग्वा स्यात् । चक्षुः श्च्योतति, चक्षुश्श्च्योतति, चक्षुःश्च्योतति ॥५६॥

व्यत्यये लुग् वा ॥ व्यत्ययः– वैपरीत्यम्, कथितनिमित्तयोः पूर्वपर-भावविपर्ययो व्यत्यय इत्यर्थः । शिटः परोऽघोष इति पूर्वसूत्रे तु अघोषात्परे शिटीत्युक्तम् । चक्षुस् श्च्योततीत्यादौ 'सो रुः' ।२।१।७२। इति कृतस्य रोरनेन लोपः, पक्षे तु 'शषसे शषसं वा ।१।३।६। इति सस्य शः, पक्षे विसर्गः ॥५६॥

अरोः सुपि रः । १ । ३ । ५७ ।

रोरन्यस्य रस्य सुपि परे र एव स्यात् । गीर्षु, धूर्षु, अरोरिति

किम् ? पयस्सु ॥५७॥

न रुः अरुः तस्य, सुपि, रःप्रथमा । नियमार्थत्वेन कार्यान्तरबाधनार्थमिदं सूत्रम् तेन गीर्षु धूर्षु इत्यत्र 'रः पदान्ते०' ।१।३।५३। इति विसर्गे प्राप्तेऽनेन रकार एव भवति । अत्र 'अरोरिति रुवर्जनं 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्येन' इति न्याय सूचयति यतः 'रः पदान्ते०' ।१।३।५३। इत्यत्र रशब्दात् उभयस्य प्राप्तौ सत्यामेव प्रतिषेधः सार्थकः स्यात् । ननु 'पयस्सु' इत्यत्र 'सो रुः' ।२।१।७२। इति कृते 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।११। सूत्रेण रकारस्यान्तस्थत्वात्तत्र: षकारः कथं न भवतीति चेत्सत्यम् 'रः पदान्ते०' ।१।३।५३। इत्यस्य नित्यत्वात् 'परान्नित्यम्' इति न्यायेन बाधनात् ॥५७॥

वाहर्पत्यादयः । १ । ३ । ५८ ।

अहर्पत्यादयो यथायोगमकृतविसर्गाः कृतोत्वाभावाश्च वा स्युः । अहर्पतिः, अहः पतिः । गीर्पतिः, गीःपति । प्रचेता राजन्, प्रचेतो राजन् ॥५८॥

वाहर्पत्येति निपातनात् पदान्ताधिकारो निवृत्तस्तेनोत्तरसूत्रे पदान्ताधिकारो न याति । तेन रूषोरभित्यादि सिद्धम् अहर्पतिरादिर्येषां ते अहर्पत्यादयः । अह्नां पतिः अहर्पतिः 'रो लुप्यरि' ।२।१।७५। सूत्रेण नस्य रः । गिरां पतिः गीर्पतिः, उभयत्र विसर्गप्राप्तौ वा निपातितः । प्रकृष्ट चेता यस्य राज्ञः=प्रचेता 'रो रे लुग्दीर्घ०' ।१।३।४१। इत्यत्रोत्वाभावो निपातितः । विशेषज्ञापनाय सम्बोधने उदाहृतम् सम्बोधनादन्यत्र समास एवोदाहार्यः समासभिन्नस्थले तु 'अभ्वादेरत्वसः०' ।१।४।९०। सूत्रेण दीर्घत्वे विशेषाभावात् बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । आकृतिः-सादृश्यं तत्प्रधानो गणः समुदायः आकृतिगणः, यद्वा आकृतिशब्दः जातिवाची सा च समस्तव्यक्तिव्याप्ता । यः प्रचुरशब्दविषयं व्याप्नोति स गणः जातिसादृश्यादाकृतिगणः ॥५८॥

शिट्याद्यस्य द्वितीयो वा । १ । ३ । ५९ ।

प्रथमस्य शिटि परे द्वितीयो वा स्यात् । क्षीरम्, क्षीरम्। अप्सराः, अप्सराः ॥५९॥

शिटि, आद्यस्य, द्वितीयः वा । क्षीरमित्यत्र वर्गादिभूतस्य ककारस्य शिट्परत्वाद् वा खकारः, एवं अप्सरा इत्यत्रापि । 'अत्राद्यत्वं वर्गपञ्चकस्य प्रथमाक्षरापेक्षम्, तदपेक्ष च द्वितीयत्वम् ॥५९॥

तवर्गस्य श्चवर्गष्टवर्गाभ्यां योगे चटवर्गौ

। १ । ३ । ६० ।

तवर्गस्य श्चवर्गाभ्यां षटवर्गाभ्यां च योगे यथासङ्ख्यं चवर्गटवर्गौ स्याताम् । तच्शेते, भवाञ्शेते, तच्चारु, तज्जकारेण, पेष्टा, पूष्णः, तट्टकारः, तण्णकारेण, ईट्टे ॥६०॥

तवर्गस्य, श् च चवर्गश्च श्चवर्गम्, ष् च टवर्गश्च ष्टवर्गम् । श्चवर्गं च ष्टवर्गं च श्चष्टवर्गौ, ताभ्यां योगे चवर्गश्च टवर्गश्च चटवर्गौ । समुदायद्वयापेक्षया यथासङ्ख्यार्थं तृतीयाद्विवचनम् । योगग्रहणं विना सहार्थतृतीयायाम् 'अवर्ण० ।१।२।६। सूत्रवत् श्चवर्गादेरपि स्थानित्वाशङ्का स्यात् इति स्थानित्वाशङ्कानिरासार्थं पूर्वापरभावानियमार्थं च योगग्रहणम् । पञ्चम्यानिर्दिष्टे परस्य'।७।४।१०४। सूत्रात् परस्यैव तवर्गस्य स्थानित्वं स्यात् न तु पूर्वस्य तवर्गस्येति योगग्रहणम् । योगोऽत्र पूर्वतः परतो वा तत्र परत इत्यस्योदाहरणं तत् शेते,भावाञ्शेते,तच्चारु,तज्जकारेण,तट्टकारः, तण्णकारेण,पूर्वत इत्यस्योदाहरणं पेष्टा,पूष्णः,ईट्टे । ननु तवर्गेण वर्गसमुदायस्याभिधानात् एकैकस्य स्थानित्वाभावात् तत् शेते इत्यादिषु तकारस्य चकारो न स्यात् अत्रोत्तरम्-समुदायैकदेशस्यापि समुदायात्मकत्वात् तकाररूपतवर्गस्यानेन चकारो भवति-यथा ग्रामे वसति, गृहे वसति देवदत्तो न ग्रामं गृहं वा व्याप्य वसति परन्तु तदेकदेश एव वसति, स एवैकदेशो ग्रामं गृहं चाच्यते तद्वदत्रापि । ननु तच्शेते इत्यत्र 'चजः कगम्' ।२।१।८६। इति कत्वं कथं न भवतीति चेत्सत्यम् 'उभयाश्रितत्वेन बहिरङ्गश्चकारः अन्तरङ्गे ककारेऽसिद्ध इति । भवान् शेते इत्यत्र नस्य ञः, तत् चारु अत्र तस्य चः, तद्जकारेण

अत्र दकारस्य जकारः। पेष् टा अत्र तस्य टः, पूष्णः अत्र नस्य णः तट्टकारः अत्र तकारस्य टकारः, तण्णकारेण अत्र नकारस्य णकारः, ईट्टे अत्र तकारस्य टकारः ॥६०॥

सस्य शषौ । १ । ३ । ६१ ।

सस्य श्चवर्गष्टवर्गाभ्यां योगे यथासङ्ख्यं शषौ स्याताम् । चवर्गेण-श्च्योतति, वृश्चति, षेण, दोष्षु । टवर्गेण-पापट्षि ॥६१॥

सस्य, शश्च षश्च शषौ। श्च्योततीत्यत्र धातोरादिभूतः सकारो ज्ञेयः। स् च्योतति, श्+च्योतति=श्च्योतति। वृस्+चति=वृश्+चति=वृश्चति। अत्र सकारचवर्गयोर्योगः। दोष्+सु=दोष्+षु=अनेन दोसः सः षः। दोसः सकारस्य पदान्तत्वात् 'नाम्य०' ।२।३।१५। इति षकाराप्राप्तिः, दोष्षु=हस्तेष्वित्यर्थः, अत्र सकारषकारयोर्योगः। अट पट गतौ, कुटिलं पटसि पापट्+सि=पापट्षि अभीक्ष्णं गच्छतीत्यर्थः। अत्र सकारटवर्गयोर्योगः। ननु सकारापदिष्टं कार्यं शकारस्यापि इति न्यायात् वृश्चतीत्यत्र षत्वं कथं न भवतीति चेत्सत्यं 'नाम्यन्ता०' ।२।३।१५। सूत्रे पाठकाले यो सकारस्तस्य कृतत्वादिति ॥६१॥

न शात् । १ । ३ । ६२ ।

शात्परस्य तवर्गस्य चवर्गो न स्यात् । अश्नाति, प्रश्नः ॥ ६२ ॥

न, शात् ॥ अनन्तरोऽपि 'सस्य' इति असम्भवान्नानुवर्तते परं तवर्गस्येत्यवर्तते। अश्नाति अशण् भोजने वर्तमानातिः 'क्र्यादेः' ।३।४।७९। सूत्रात् श्नाप्रत्ययः। १३४७ प्रछंत् ज्ञीप्सायाम् 'यजिस्वपि० ।५।३।८५। सूत्रान्नप्रत्यये 'अनुनासिके०' ।४।१।१०८। सूत्रात् शत्वे च प्रश्न इति ॥६२॥

पदान्ताट्टवर्गादनाम्नगरीनवतेः । १ । ३ । ६३ ।

पदान्ताट्टवर्गात्परस्य नाम्नगरीनवतिवर्जस्य तवर्गस्य सस्य च

टवर्गौ न स्याताम् । षट्तयं,षण्नयाः, षट्सु । अनाम्नगरीनवते-रिति । किम् ? षण्णाम्, षण्णगरी, षण्णवतिः ॥ ६३ ॥

पदान्तात् ॥ षड् अवयवा यस्य तत् षट्तयम्, 'अवयवात्त०' ।७।१।१५१। सूत्रात् तयट् । षष् तयम् 'धुटस्तृतीयः ।२।१।७६। सूत्रात् षस्य डत्वम् 'अघोषे प्रथमो०' ।१।३।५०। सूत्रात् टकारः 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। सूत्रात् तस्य टत्वे प्राप्तेऽनेन प्रतिषेधः । षट् च ते नयाश्च षण्नयाः, षष् नया, धुट-स्तृतीयः ।२।१।७६। इति षस्य डः । 'तृतीयस्य पञ्चमे' ।१।३।१। सूत्रात् णकारः 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। सूत्राण्णत्वं प्राप्तमनेन निषिद्धम् । षट्स्विति-षष्शब्दात् सुप्रत्ययः, षस्य डत्वं प्रथमश्च 'सस्य शषौ' ।१।३।६१। इति षत्व निषिद्धा । नामिति आमादेशभूतो नाम् गृह्यते । षष्+आम् 'संख्यानां र्णाम् प्राप्तिरनेन ।१।४।३३। सूत्रादामो नाम् षष्+नाम्, 'नामो वर्जनात्'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। इति णत्वमेवम् षण्णां नगरीणां समाहारः द्विगोः०' ।२।४।२२। सूत्रात्-ङ्यां षण्णगरी षड्भिरधिका नवतिः, षण्णवतिः । 'प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव इति न्यायात् नामन्निति अन्नन्तस्य घञन्तस्य च नमतेः प्रतिषेधो भवत्येव ॥६३॥

षि तवर्गस्य । १ । ३ । ६४ ।

पदान्तस्थस्य तवर्गस्य षे परे टवर्गो न स्यात् । तीर्थकृत्षोडशः शान्तिः ॥६४।

॥ षि ॥ तीर्थं करोतीति क्विपि 'ह्रस्वात्तः०'।४।४।११३। सूत्रात्ता-गमे च तीर्थकृत् । षड्भिरधिका दश षोडश,षोडशानां पूरणः षोडशः 'एकादश षोडश० ।३।२।९१। 'संख्यापूरणे डट्' ।७।१।१५५। 'अत्र 'तवर्गस्य०'।१।३।६० सूत्रात्तवर्गस्य टकारे प्राप्तेऽनेन निषेधः ॥६४॥

लि लौ । १ । ३ । ६५ ।

पदान्तस्थस्य तवर्गस्य ले परे लौ स्याताम् । तल्लुनम् भवांल्लुनाति ॥६५॥

॥ लि ॥ लश्च लश्च लौ'स्यादा०'।३।१।११९। इत्येकलकारस्य लोपः। लकारद्वयोश्च्यानुनासिकाननुनासिको लौ। तत् लूनम्। अनेन सूत्रेण तकारस्य निरनुनासिको लः। भवान् लुनाति,अत्र च नकारस्य सानुनासिको लकारः। ननु 'आसन्नः' ।७।४।१२०। इत्यनेनैव सिद्धे द्विवचनमनर्थकमिति चेन्न द्विवचनमन्यत्रानुनासिकस्यापि अननुनासिक आदेशो भवतीति ज्ञापनार्थं तेन "वाष्टनः आः स्यादौ ।१।४।८२। इत्यनेनानुनासिकस्याप्यननुनासिक आदेशः" सिद्धः। प्रायिकं चैतत् तेन समानानां तेन दीर्घः" ।१।२।१। इति सूत्रेणासन्न एव दीर्घः सिद्धः। निरनुनासिकस्य सानुनासिक इति विपरीतनियमस्तु 'हृदयस्य हृल्लास०' ।३।२।४४। इति सूत्रे हृल्लासेति निर्देशान्न भवति ॥६५॥

॥ इति प्रथमाध्याये तृतीय पादः ॥

※ प्रकाश की किरणे ※

आप मरकर कहां जायेगें ?
मरण का महोत्सव होता है।
मरण का दिन यानी **मंगलदिन**।
क्योंकि ?
जगत को छोड़ने का दिन और उसी कारण
ही अपूर्व दिन।
मरना यानी पेढी, घर, पैसा, रिश्तेदार और
इस शरीर को भी छोड़कर जाना।
यह सब मृत्यु से स्वाभाविक छूटता है।

प. पू. व्याख्यान-वाचस्पति आचार्यदेव
श्रीविजय रामचन्द्रसूरिश्वरजी महाराजा

अथ चतुर्थः पादः ॥

अत आः स्यादौ जस्भ्याम्ये ।१।४।१।

स्यादौ जसि भ्यामि ये च परेऽकारस्य आः स्यात् । देवाः, आभ्याम्, सुखाय । स्यादा- विति किम् ? बाणान् जस्यनीति विवप्- बाणजः ।१।

॥ अतः षष्ठी, आः सिनादिर्यस्य स तस्मिन्, जस् च भ्यां च यश्च तस्मिन् । देवेत्यस्य नामत्वे 'अधातुविभक्ति०' ।१।१।२७। इत्यनेन नामत्वे 'नाम्नः प्रथमैक०' ।२।२।३१। सूत्रात् देवशब्दाज्जसि 'समानानां तेन दीर्घः' ।१।२।१। इति दीर्घं बाधित्वा 'लुगस्या०' ।२।१।११३। इति प्रथमाकारस्य लुक्प्राप्तौ अनेनाऽऽकारः । इदम् + भ्याम् 'अनक्' ।२।१।३६। सूत्रेणाकारा- देशे प्रकृतसूत्रेणात्वे च । अथवाऽननीति 'क्वचिद्' ।५।१।१४७। इति डेऽ प्रकृतेः रूपम् । सुखायेति-सुख + ङे इति स्थिते 'ङेङस्यो०' ।१।४।६। इति येऽनेनाकारे च । न च 'सन्निपात-लक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' इति न्यायेन यादेशोऽकारस्य विघाताय न प्रभवेदिति वाच्यं यग्रहणवैयर्थ्यापत्तेः । यादेशस्य 'स्थानीवा.' ।७।४।१०९। इति परिभाषया स्यानित्वं ज्ञेयम् । बाणज इति – अत्र जसः (जसूच् मोक्षणे १२२३) इत्यस्य सम्बन्धित्वात्स्या- दित्वाभावान्नाकारः । ननु 'प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव' इति न्यायेन स्यादि- ग्रहणाभावेऽपि जसादिप्रत्ययस्यैव प्राप्त्या बाणज इत्यादौ जस्प्रत्ययाभावा- न्नाऽऽकारः प्राप्नोति, तत्र जस्भ्यां प्रत्ययौ स्यादावेव वर्तेते तावत्र जस्भ्यां- साहचर्याद् यप्रत्ययोऽपि स्यादेरेव गृहीष्यति । तेन यने साधुः 'तत्र साधौ ।७।१।१५। इति यप्रत्यये वन्य इत्यत्रापि 'अवर्णवर्णस्य' ।७।४।६८ इति बाधि- त्वाऽऽकारो न स्यात् स्यादित्वाभावात् । तथापि अधिकारार्थं स्यादावित्युक्तं तेन शुचिशब्दात् स्त्रीलिङ्गे ङीप्रत्यये कृते 'ङित्यदिति' ।१।४।२३। सूत्रेण नैकारः ङीप्रत्ययस्य स्यादित्वाभावात् ।१।

भिस ऐस् ।१।४।२।

आत्परस्य स्यादेर्भिस ऐस् स्यात् । देवैः । ऐस्करणाद् अतिजरसैः ।२।

आत्परस्येति – "अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः" इति न्यायेन षष्ठ्यन्तमनुवर्तमानमपि 'अतः' इति पद पञ्चम्यन्तत्वेन परिणमति । एसादेशेनैव सिद्धे ऐस्करणम् 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' इति न्यायस्यानित्यताज्ञापनार्थं तेनातिजरसैरित्यपि सिद्धम् । अन्ये तु अतिजरैरित्येवेच्छन्ति ॥ न च एसादेशकरणे 'लुगस्या०' ।२।१।११३ इति प्रवर्ततेति वाच्यं विधानसामर्थ्यात् अन्यथा देवैरित्यभिष्टं स्यात्तदा 'इस्' इति कुर्यात् । एकदेशविकृतमनन्यवदिति न्यायात् कृतस्वोऽपि जराशब्द एवेति । 'जराया । जरस् वा ।२।१।३। इति सूत्रेण अतिजरसैरित्यत्रापि जरसादेशः सिध्यति ॥२॥

इदमदसोऽक्येव ।१।४।३।

इदमदसोरक्येव सति आत्परस्य भिस ऐस् स्यात् । इमकैः, अमुकैः । अक्येवेति । किम् ? एभिः, अमीभिः ॥३॥

पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थमिदम् । एवकारस्त्विष्टावधारणार्थः । तेन अकि इदमदसोरेवेति नियमाभावे यकैः सर्वकैः इत्यपि सिद्धम् । इमकैः – 'आ-द्वेरः' ।२।१।४१। 'लुगस्यादेत्यपदे' ।२।१।११३, 'स्यादिसर्वादेः०' ।७।३।२९ 'दो मः स्यादौ' ।२।१।३९। 'मोऽवर्णस्य ।२।१।४५। अमुकैः – पूर्ववत् विशेषस्तु 'मादुवर्णोऽनु' ।२।१।४६। इति । एभिः – 'अनक्' ।२।१।३६ 'एद्बहुस्भोसि' ।१।४।४। अमीभिः – 'आ द्वेरः' ।२।१।४१। 'मोऽवर्णस्य' ।२।१।४५। एद्बहुस्भोसि ।१।४।४। 'बहुष्वेरीः' ।२।१।४९। इति ॥३॥

एद्बहुस्भोसि ।१।४।४।

बह्वर्थे स्यादौ सादौ भादौ ओसि च परे अत एत् स्यात् । एषु, एभिः, देवयोः ॥४॥

एषु– 'अनक्' ।२।१।३६। 'एद्बहुस्भोसि ।१।४।४। 'नाम्यन्तस्था०' २।३।१५। देवयोः – अनेन एकारः 'एदैतोऽयाय् ।१।२।२३। ।।इत्यय् ।।४।।

टाङसोरिनस्यो ।१।४।५।

आत्परयोष्टाङसोर्यथासङ्ख्यं इनस्यौ स्याताम् । तेन । तस्य ।।५।।

अतिजरसा, अतिजरस इत्यत्र परत्वात् अर्थात् 'रामेण, रामस्य' इत्यादौ– 'टाङसोः० । १।४।५ इत्यस्य जरसौ इत्यादौ 'जरायाः जरस् वा ।२।१।३। इत्यस्य द्वयोरपि चरितार्थत्वात् स्पर्द्धे सति कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वाच्च प्रागेव जरसादेशः पश्चादकारान्तत्वाभावादेतत्सूत्रप्रवृत्त्यभावः । अन्ये तु प्रागेवेनादेशं 'सन्निपातलक्षणो:० । न्यायस्यानित्यत्वाश्रयणात् पश्चाज्जरसादेशं चेच्छन्तोऽतिजरसिनेत्यपि मन्यन्ते ।।५।।

ङेङस्योर्यातौ ।१।४।६।

आत्परस्य ङे ङसेश्च यथासंख्यं य आत्च स्याताम् । देवाय । देवात् ।।६।।

न च 'अत्' इत्येव कुर्यात्तथापि देवादित्यादिरुपसिद्धिः स्यादिति वाच्यं न च 'लुगस्यादे० ।२।१।११३ इति प्राप्नोतीति वाच्यम् 'अत्' इति विधानसामर्थ्याद् लुगभावात् अन्यथा 'त्' इत्येव कुर्यादिति । केचित्तु 'सन्निपातलक्षण०' न्यायस्यानित्यत्वाश्रयणात् अतिजरसादित्यपि मन्यन्ते तन्मतसङ्ग्रहार्थं दीर्घकरणम्, दीर्घकरणाच्च स्वमतेऽपि सम्मतम् ।।६।।

सर्वादेः स्मैस्मातौ ।१।४।७।

सर्वादेरवन्तस्य सम्बन्धिनोर्ङेङस्योर्यथासङ्ख्यं स्मैस्मातौ स्याताम् । सर्वस्मै, सर्वस्मात् । सर्व विश्व उभ उभयट् अन्य अन्यतर इतर डतर डतम त्व त्वत् नेम । समासिमौ सर्वार्थौ । पूर्वपरावर-

अन्तरम्बहिर्योगोपसंव्यानयोपुरि । त्यद् स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् । दक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् । तद् यद् अदस् इदम् एतद् एक द्वि युष्मद् अस्मद् भवतु किम् इत्यसंज्ञायां सर्वादिः ॥७॥

सर्वं आदिर्यस्य स सर्वादिस्तस्य, अत्र तद्गुणसविज्ञानबहुव्रीहिः। तस्यान्यपदार्थस्य गुणा: उपलक्षणानि क्रियान्वयित्वेन यस्मिन् स तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः, तद्भिन्नः तिरोहितावयवभेदः समुदायोऽतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः । अत्र तद्गुणसविज्ञानबहुव्रीहिः कार्यं अन्यथा सर्वशब्दस्य सर्वादित्वं न स्यात् । आदिशब्दो व्यवस्थावाची तेन गणपाठव्यवस्थिताः सर्व विश्व इत्यादयो गृह्यन्ते । स्याद्यधिकारान्नाम्नः आक्षेपेण 'विशेषणमन्तः ।७।४।११३। इति तदन्तविधेर्लाभात् 'न सर्वादिः' ।१।४।१२। इति द्वन्द्वे निषेधाद् वा 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' इति न्यायस्यानुपस्थितेः परमसर्वस्मै इत्यादयो भवन्ति । सर्वस्मै इत्यादिसिद्धिस्तु 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति न्यायेन भवति । ननु सर्वस्य वृद्धिस्थानेकार्थवाचकत्वेन बहुवचनमेव स्यान्न त्वेकवचनमिति चेन्न यदाऽनुद्भूतावयवभेदस्तदैकवचनं भविष्यति यदा तु समुदायद्वित्वादिविवक्षा तदा द्विवचनादि । उद्भूतावयवविवक्षायां तु बहुवचनमेव सर्वे पटा इति । 'यत्तत्किमन्यात्' ।७।३।५३। इत्यादिसूत्रविहितडतरग्रहणेनैव सिद्धेऽन्यतरग्रहणमन्यतमस्य सर्वादित्वनिषेधार्थम् । एके त्वाहुः नायं डतरप्रत्ययान्तोऽन्यतरशब्दः किन्तु अव्युत्पन्नस्तरोत्तरपदः तरबन्तो वा तन्मते डतमान्तस्याप्यन्यशब्दस्य सर्वादित्वम् अन्यतमस्मै अन्यतमस्मात् । प्रकृतिग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तानामपि ग्रहणम्' इति न्यायेन प्रकृतिग्रहणेनैव डतरडतमप्रत्ययान्तानामपि ग्रहणे लब्धे पृथगुपादानमन्यस्वार्थिकप्रत्ययान्तानामग्रहणार्थम् 'पञ्चतोऽन्यादे०' ।१।४।५८। इति सूत्रविहितान्यादि–लक्षणदार्थं च । **सर्वेत्यादि–** सर्वशब्दसाहचर्यात्समस्तार्थस्य विश्वशब्दस्य ग्रहण न तु जगदर्थस्य, त्वशब्दोऽन्यार्थः, त्वच्छब्दः समुच्चयवाचकः, । नेमशब्दोऽर्धार्थः, सर्वार्थसमसिमयोर्ग्रहणात्समाय देशायेत्यादौ न भवति, अविषमायेत्यर्थः । **पूर्वेत्यादि-** स्वाभिधेयापेक्षोऽवधिनियमो व्यवस्था तस्यां गम्यमानायाम् अवधिर्मर्यादा तस्य नियमोऽवश्यंभावः, स्वपदग्राह्याः पूर्वादिशब्दास्तेषामभिधेयोऽर्थः दिग्देशकालस्वभावोऽर्थः । **बहिरित्यादि–** बहिर्भावेन बाह्येन वा योगे उपसंव्याने उपसंवीयमाने चार्थे वर्तमानोऽन्तरशब्दः, न चेद् बहिर्योगेऽपि पुरि वर्तते, अन्तरस्मै गृहाय नगरबाह्याय चाण्डालादिगृहायेत्यर्थः, चाण्डालादि-

गृहयुक्ताय वा नगराभ्यन्तरगृहायेत्यर्थः, अन्तरस्मै पटाय, पटचतुष्टये तृतीयाय चतुर्थाय वेत्यर्थः, प्रथमद्वितीययोर्बहियोगेनैव सिद्धत्वात्, पुरि तु न भवति- अन्तरायै पुरे कुप्यति चाण्डादिपुयै इत्यर्थः. बहिर्योगोपसंव्यानादेरन्यत्र तु न भवति-अयमनयोर्ग्रामयोरन्तरात्तापस आयातः मध्यादित्यर्थः । त्यत्तदच्छब्दौ पूर्वोक्तपरामर्शकौ, यच्छब्द उद्देश्यपरामर्शकः, 'अदस्' व्यवहितनिर्देशे 'एतद्' प्रत्यक्षसमीपे, 'एक' एकत्वसंख्यायाम्, 'द्वि' द्वित्वे, 'युष्मत्' प्रत्यक्षवचनः, अस्मद् प्रत्यात्मवचनः, भवतु परोक्षवचनः, किं प्रश्ने क्षपे च । न चोभद्विशब्दयो र्नित्यद्वित्वविषयत्वाद् युष्मदस्मद्भवत्वादीनामदन्तत्वाभावात्स्मायाद्यादेशाभावे सर्वादिगणे एषां पाठो व्यर्थ इति वाच्यम्' सर्वादिः सर्वाः । २।२।११९, त्यदादिः ।३।१।१२०। विशेषण० ।३।१।१५०। सर्वादयो० ।३।२।६१। 'सर्वादि० ।३।१।१२२। अवृद्धाद्वेनवा ।६।१।११०। इत्यादिसूत्रेभ्यः सर्वविभक्त्येकशेष-पूर्वनिपातपुंवद्भाव-डद्यागम-आयनिञादिप्रयोजनत्वात् । दुसंज्ञा च 'त्यदादिः ६।१।६। सूत्रेण भवति । सर्वादेरिति षष्ठीनिर्देशेन तत्सम्बन्धिविज्ञानात् प्रियसर्वायेत्यादौ बहुव्रीहिसमासे न भवति । अथवा सर्वमादीयते गृह्यतेऽनेनेत्यन्वर्थाश्रयणात्सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वादीनि । संज्ञोपसर्जनयोस्तु विशेषेऽवस्थानात्सर्वादिसंज्ञा न भवति ।।७।।

ङे स्मिन् ।१।४।८।

सर्वादेरदन्तस्य ङेः स्मिन् स्यात् । सर्वस्मिन् ।।८।।

सर्वादित्वाभावे कस्यचिन्नाम्नि तु 'सर्वे' भवति, अत्र सर्वो कस्यचिन्नाम ।।८।।

जस इः ।१।४।९।

सर्वादेरदन्तस्य जस इः स्यात्, सर्वे ।।९।।

अत्र 'इ' इत्येकवर्णादेशोपि 'प्रत्ययस्य' ।७।४।१०८। इति सर्वस्य स्थाने भवति । 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति न्यायात् प्राप्तेऽपि 'सर्वाणि कुलानि' इत्यत्र तु परत्वान्नपुंसके शिरेव भवति. 'नपुंसकस्य

शि: । १।४।५५ सूत्रात् ॥९॥

नेमार्द्धप्रथमचरमतयायाल्पकतिपयस्य वा
।१।४।१०।

नेमादीनि नामानि तयायौ प्रत्ययौ तेषामदन्तानां जस इर्वा स्यात् । नेमे नेमाः । अर्द्धे, अर्द्धाः । प्रथमे, प्रथमाः । चरमे, चरमा, । द्वितये, द्वितयाः । त्रये, त्रयाः । अल्पे, अल्पाः । कतिपये, कतिपयाः ॥१०॥

नेमेत्यादि– समाहारद्वन्द्व एषः । 'तयि रक्षणे च', अयि गतौ' आभ्यामचि तयायौ शब्दावपि भवतः परं व्याख्यातो विशेषार्थप्रतिपत्तिः' इति न्यायात् अत्र तयायौ प्रत्ययौ ग्राह्यौ पश्चात् 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः । ।७।४।११५।' विशेषणमन्तः ।७।४।११३। इति तदन्तप्रतिपत्तिः । द्वावययवौ येषां ते द्वितये 'अवयवात्तयट्' ।७।१।१५१ इति तयट् 'द्वित्रिभ्या०' ।७।१।१५२। इत्ययट् । तयट्साहचर्यात् साहचर्यात्सदृशस्यैव ग्रहणम्' इति न्यायात् 'अय' इति तद्धितस्य ग्रहणं न तु 'गय–हृदय०' उणा ३७० । इति विहितस्य । नेमस्य 'जस इः' ।१।४।९। इत्यनेन प्राप्तौ, अर्द्धादीनामप्राप्तौ विकल्पः । उभयट्-शब्दस्य त्वयट्प्रत्ययरहितस्याखण्डस्य सर्वादौ पाठात् पूर्वेण नित्यमेवेत्व भवति–उभये । स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणात् अर्धका इत्यत्र न भवति । व्यवस्थितविभाषाविज्ञानाद् अर्धादीनामपि संज्ञायां न भवति–अर्धा नाम केचित् । व्यवस्थितं मर्यादानतिक्रान्तं प्रयोगजातं विशेषेण भाषते या सा व्यवस्थितविभाषा । नामेत्यदन्तमव्ययम्, नाम नाम्ना संज्ञया वेति नामशब्द-स्यार्थः ॥१०॥

द्वन्द्वे वा ।१।४।११।

द्वन्द्वसमासस्थस्यादन्तस्य सर्वादेर्जस इर्वा स्यात् । पूर्वोत्तरे । पूर्वोत्तराः ॥११॥

उत्तरेण निषेधे प्रतिप्रसवार्थोऽयं योगः ॥११॥

न सर्वादिः ।१।४।१२।

द्वन्द्वे सर्वादिः सर्वादिर्न स्यात् । पूर्वापराय । पूर्वापरात् । पूर्वावरे । कतरकतमानाम् । कतरकतमकाः ॥१२॥

'सर्वादिः० ।१।४।७। इति पूर्वसूत्रादनुवृत्तस्य सर्वादेरित्यस्यात्र अर्थवशाद् विभक्ति-वि-परिणमनादाह– सर्वादिः सर्वादिर्न स्यादिति । कतरकतमानाम्–सर्वादित्वाभावात् 'अवर्णस्याम: साम' ।१।४।१५। इति न भवति । कतरकतमकाः – अत्र सर्वादित्वनिषेधादक्प्रत्ययाभावे कप्प्रत्यये सति स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणाद् 'द्वन्द्वे वा ।१।४।११। इति जस इर्न भवति । 'सर्वादेय स्यादौ' ३।२।६१ इति पुंवद्भावस्तु यथासंभव भवत्येव, तत्र भूतपूर्वस्यापि स्यादेर्ग्रहणात् ॥१२॥

तृतीयान्तात्पूर्वावरं योगे ।१।४।१३।

तृतीयान्तात्परौ पूर्वावरौ योगे सम्बन्धे सति सर्वादी न स्याताम् । मासेन पूर्वाय, मासपूर्वाय । दिनेनावराय, दिनावराय । दिनेनावराः, दिनावराः । तृतीयान्तादिति किम् ? पूर्वस्मै मासेन ॥१३॥

मासपूर्वायेत्यत्र तृतीयान्तात्परत्वं कथमिति चेत्सत्यम्-योगः सम्बन्धो द्वेधा एकार्थीभावो व्यपेक्षा च 'ऊनार्थ० ।३।१।६७। इति समासे 'ऐकार्थ्ये' ।३।२।८। इति विभक्तेर्लुपि 'लुप्यय्वृल्लेनत्' ।७।४।११२ इत्यनेन पूर्वकार्यनिषेधादत्र निषेधा भावात्'स्थानीवा० ।७ ४।१०९। इत्यनेन स्थानिवद्भावात्तृतीयान्तात्परत्वम् । ननु योगग्रहणं निरर्थकं भाति तृतीयान्तादित्यनेनैव सिद्धत्वात् न च 'यास्यति चैत्रो मासेन, पूर्वस्मै दीयतां कम्बल:' इत्यत्र सर्वादित्वनिषेधः स्यादिति वाच्यं 'समर्थः पदविधिः ।७।४।१२०। न्यायेन न निषेधः इति चेत्सत्यम् अपरे तृतीयान्तेन योगमात्रे निषेधमिच्छन्ति तन्मतसङ्ग्रहार्थं योगग्रहणं तन्मते पूर्वदिग्योगलक्षणां पञ्चमीमाश्रित्य 'पूर्वाय मासेन' इत्यपि भवति

॥१३॥

तीयं ङित्कार्ये वा ।१।१४।

तीयान्तं नाम ङे-ङसि-ङस्-ङीनां कार्ये सर्वादी न स्यातास् । द्विती-यस्मै, द्वितीयाय । द्वितीयस्यै द्वितीयायै । ङित्कार्य इति किम् ? द्वितीयकाय ॥१४॥

'प्रत्यय: प्रकृत्यादेः ।७।४।११५। इति प्रकृतेराक्षेपात्तीयस्य विशेषणात् 'विशेषणमन्त: ।७।४।११३। इत्यन्तलाभे तीयान्तमिति । द्वितीयस्यै– 'सर्वादेर्डस्पूर्वाः ।१।४।१८। द्वितीयकाय- ङित्कार्य एव सर्वादित्वादक् न भवति । कप्रत्ययान्तस्य सर्वादित्वं तु डतरडतमग्रहणेनैव निषिद्धम् ॥१४॥

अवर्णस्यामः साम् ।१।४।१५।

अवर्णान्तस्य सर्वादेरामः साम् स्यात् । सर्वेषाम् । विश्वासाम् ॥१५॥

'विशेषणमन्त: ।७।४।११३। इति परिभाषाप्रवर्तनादाह्– **अवर्णान्तस्येति** । परस्त्रा० ।३।२।१। इति आम: सामादेशे कर्तव्ये तदा प्रक्रियालाघवात्त्र्व सामादेश उच्येत आमादेशं कृत्वा सामादेशकरणे प्रयोजनाभावात्, परोक्षादेशस्तु आम् धातविधीयमान: सर्वादेर्न संभवति 'कर्तुः क्विप्० ।३।४।२५। सूत्रेन क्विबन्तस्य सर्वादस्तु सभवेऽपि स्यादेरित्यधिकारान्निरासे पारिशेषात् षष्ठीबहुवचनस्यैवामो ग्रहणम् । **सर्वेषाम्**– सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' इति न्यायस्यानित्यवात् 'एद् बहुस्भोसि ।१।४।४। इत्येत्वं सिद्धम् । **विश्वासाम्**– विश्वशब्दादापि अनेन सामादेश: ॥१५॥

नवभ्यः पूर्वेभ्यः इस्मात्स्मिन्वा ।१।४।१६।

पूर्वादिभ्यो नवभ्यो ये इस्मात्स्मिनौ यथास्थानमुक्तास्ते वा स्युः ।

पूर्वे, पूर्वाः । पूर्वस्मात्, पूर्वात् पूर्वस्मिन्, पूर्वे । इत्यादि । नवभ्य इति किम् ? त्ये ।१६।

नवभ्य इत्यत्र 'एद्बहुस्भोसि' ।१।४।४। इति कथं न प्रवर्तते इति चेत्सत्यं 'णषमसत्परे०।२।१।६०। इति सूत्रादसदधिकारात् 'नाम्नो नोऽनह्नः। ।२।१।९१। इति नलोपस्यासत्त्वात् । 'पूर्वेभ्य ' इति बहुवचनं पूर्वादिग्रहणार्थम् । पूर्व-पर-अपर-दक्षिण, उत्तर, अपर-अधर-स्व-अन्तर इति सर्वादिगणपठिताः नव पूर्वादयः । त्ये इति-त्यद् 'आ द्वेरः' ।२।१।४१। 'लुगस्या०' ।२।१।११३। 'जस इः' ।१।४।९। अवर्णस्य० ।१।२।६। इत्येत्वम् ॥१६॥

आपो ङितां यै-यास्-यास्-याम् ।१।४।१७।

आबन्तस्य ङितां ङेङसिङस्ङीनां यथासंख्य यै यास् यास् यामः स्युः । खट्वायै । खट्वायाः । खट्वायाः खट्वायाम् ।१७।

पूर्वसूत्रेषु सर्वादेरव्यभिचारेऽपि उत्तरसूत्रे सर्वादिग्रहणादिह सामान्यमवगम्यते । आसम्बन्धि विज्ञानात् 'बहुखट्वाय पुरुषाय' इत्यत्र न भवति ॥१७॥

सर्वादेर्डस्पूर्वाः ।१।४।१८।

सर्वादेराबन्तस्य ङिताम् यै-यास्-यास्-यामस्ते डस्पूर्वाः स्युः । सर्वस्यै, सर्वस्याः, सर्वस्याः, सर्वस्याम् ।१८।

'डित्यन्त्यस्वरादेः ।२।१।११४। इत्यन्त्यस्वरादिलोपे 'सर्वस्यै इत्यादि ॥१८॥

टौस्येत् ।१।४।१९।

आबन्तस्य टौसोः परयोरेकारः स्यात् । बहुराजया, बहुराजयोः

।१९।

तकारोऽसन्देहार्थोऽन्यथा तकारमन्तरेण एरित्युच्यमाने एकार आदेशो भवत्यथवा टौसोः परयोरिकारस्य पूर्वं आदेशा इति सन्देहः स्यात् ॥१९॥

औता ।१।४।२०।

आबन्तस्य औता सहैकारः स्यात् । माले स्तः पश्य वा ।२०।

आबन्तस्य औता सह – एकस्या अपि षष्ठ्या । अर्थवशाद् द्विधा भेदात् आबन्तस्य औता सह एकारः स्यादिति भावः । पूर्वं षष्ठ्याः सम्बन्धितया भेदः पश्चात् स्थानितया । नन्वेकस्या अपि षष्ठ्या द्विधा भेदः कथमिति चेत्तथ्यमेकारस्याऽऽदेशत्वात्स्थानमन्तरेणासम्भवात्प्रत्यासत्तेराबन्तस्यैव स्थानित्वम् । स्तः पश्य वा – क्रियापदद्वयम् प्रथमाद्वितीयाद्विवचनयोरभिव्यक्त्यर्थः ॥२०॥

इदुतोऽस्त्रेरीदूत् ।१।४।२१।

स्त्रेरन्यस्येदन्तस्योदन्तस्य च औता सह यथासंख्यम् ईदूतौ स्याताम् । मुनी, साधू । अस्त्रेरिति किम् ? अतिस्त्रियौ नरौ ।२१।

स्त्रीवर्जनात् षष्ठी न तत्सम्बन्धिनी । इदमेव स्त्रीवर्जनं ज्ञापकं यत्परेणापि 'स्त्रियाः' ।२।१।५४। सूत्रेण इयादेशेन ईत्कार्यं न बाध्यते तेन अतिस्त्रयः, अतिस्त्रये, अतिस्त्रेः २, अतिस्त्रौ अतिस्त्रीणाम् इत्यादि सिद्धम् ॥२१॥

जस्येदोत् ।१।४।२२।

इदुदन्तयोर्जसि परे यथासंख्यमेदोतौ स्याताम् । मुनयः । साधवः

।२२।

'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' इति न्यायात् 'आसन्नः ।७।४।१२०। इति वेकारस्यैकारः, उकारस्यौकारः ।।२२।।

ङित्यदिति ।१।४।२३।

अदिति ङिति स्यादौ परे इदुदन्तयोर्यथासंख्यमेदोतौ स्याताम् । अतिस्त्रये । साधवे । अतिस्त्रेः साधोरागतं स्वं वा । अदितीति किम् ? बुद्ध्याः, धेन्वाः । स्यादावित्येव-शुची स्त्री ।२३।

ननु दायाद्यादेशानां स्त्रीत्वविशिष्टेकारोकारापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वम् इकारोकारमात्रापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात्पूर्वमेव एदोतौ आदेशौ पश्चादिदुन्तत्वाभावात् वर्णविधित्वाच्च स्थानित्वाभावात्, न च तदन्तादेशविधानादवर्णविधित्वम्, अप्रधानेऽपि वर्णविधि-प्रतिषेधात्, एवं तर्हि निरवकाशत्वाद् पूर्वमेवदायाद्यादेशाः अतः अदितीति वर्जनम् । न च 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' इति न्यायाद् इदुत्सन्निपातेन जायमानत्वात्तद्विघाताय न प्रभवेदिति वाच्यं तथा सति यत्वमपि न स्याद् अतः एतदेव 'अदिति' इति वर्जनं ज्ञापयति वर्णविधावयं न्यायो नोपतिष्ठते इति तेन दायाद्यादेशेषु कृतेषु एदोतौ न भवतः यत्वं तु भवत्येव । **आगतं स्वं वेति** – पञ्चमीषष्ठ्येकवचनाभिव्यक्त्यर्थमेतदुपादानम् । **बुद्ध्याः** 'स्त्रियां ङितां वा दै० ।१।४।२८। इति ।।२३।।

टः पुंसि ना ।१।४।२४।

इदुदन्तात्परस्याः पुंविषयायाष्टाया ना स्यात् । अतिस्त्रिणा, अमुना । पुंसीति किम् ? बुद्ध्याः ।२४।

अमुनेति – ननु 'मादुवर्णोऽनु ।२।१।४७। इत्युत्वं तु 'अनु' इति वचनात्पश्चाद् भविष्यतीति उदन्तत्वाभावात्कथं नादेशः 'टाङसोरिनस्यौ ।

।१।४।५। इतीनादेशेन भाव्यमिति चेन्न 'प्रागिनात्' ।२।१।४८। इति वचनात्पूर्वमेवो.वं पश्चान्नादेश इति ॥२४॥

ङिडौ ।१।४।२५

इदुदन्तात्परो ङिडौ: स्यात् । मुनौ । धेनौ । अदिदित्येव । बुद्ध्याम् ।२५।

ङिडौ रित्यभेदनिर्देशश्चतुर्थ्येकवचनशङ्कानिरासार्थः । डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः ॥२५॥

केवलसखिपतरोः ।१।४।२६

केवलसखिपतिभ्यामिदन्ताभ्यां परो ङिरौः स्यात् । सख्यौ । पत्यौ । इत इत्येव-सखायमिच्छति । सख्यि, पत्यि । केवलेति किम् ? प्रियसखौ, नरपतौ ।२६।

केवलग्रहणेन 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' इति न्यायस्यानित्यता ज्ञापिताऽन्यथा केवलग्रहणं व्यर्थं स्यात् । **सख्यि**—नन्वत्र 'स्थानीवा० ।७।४।१०९। इति न्यायात् क्विपः स्थानित्वे सति 'य्वोः प्वय्० ।४।४।१२१। इति यलोपः कस्मान्न भवति ? 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इत्यन्तरङ्गे क्विबाश्रिते कार्ये कर्तव्ये बहिरङ्गस्य यत्वस्यासिद्धत्वात् ॥१२६॥

न ना ङिदेत् ।१।४।२७

केवलसखिपतेर्यष्टाया ना ङिति परे एच्चोक्तः स न स्यात् । सख्या । पत्या । सख्ये । पत्ये । सख्युः, पत्युः आगतम् स्वम् वा । सख्यौ पत्यौ । ङिदिति किम् ? पतयः ।२७।

सखिपतेर्नी-ङिदेता सह न यथासंख्यं 'खि-ति-खी-ती०' ।१।४।३६।
इति सूत्रे खिग्रहणात् 'सख्युरित ०' ।१ ४।८३। इति निर्देशाद् वा ।।२७।।

स्त्रिया ङितां वा दै दास् दास् दाम् १।४।२८

स्त्रीलिङ्गादिदुदन्तात्परेषां ङितां ङे ङसिङस्ङीनां यथासंख्यं दैदास् दास्दामो वा स्युः । बुद्ध्यै बुद्धये । बुद्ध्याः, बुद्धेः आगतम् स्वम् वा । बुद्ध्याम्, बुद्धौ । धेन्वै, धेनवे । धेन्वाः, धेनोः, धेन्वाम् धेनौ । प्रियबुद्ध्यै, प्रियबुद्धये पुंसे स्त्रियै वा ।२८।

'पत्युर्नः' ।२।४।४८ इति निर्देशात् सखि-पती नानुवर्तेते । 'स्त्रिया' इति विशेषणस्य विशेष्यसापेक्षत्वात्सखिपतिभ्यां परेषां ङितां 'खितिखीतीय०' ।१।४।३६। इति विशेषविधिभिराघ्रातत्वात्, दित्करणस्य तु प्रयोजनवत्त्वात् सामान्यमिदुदन्तत्वमधिक्रियते इत्याह - इदुदन्तादिति । अत्र षष्ठ्यभावात् इदुदन्तसम्बन्धिनामसम्बन्धिनां ङितां ग्रहणात् प्रियबुद्ध्यै इत्यादयः सिध्यन्ति ।।२८।।

स्त्रीदूतः ।१।४।२९।

नित्यं स्त्रीलिङ्गादीदूदन्ताच्च परेषां स्यादेर्ङितां यथासङ्ख्यं दै-दास्-दास्-दामो वा स्युः । नद्यै । नद्याः । नद्याः । नद्याम् । कुर्वै । कुर्वाः, कुर्वाः, कुर्वाम् । अतिलक्ष्म्यै पुंसे स्त्रियै वा । स्त्रीति किम् ? ग्रामण्ये । खलप्वे पुंसे स्त्रियै ।२९।

कुर्वै - कुरोरपत्यं स्त्री 'दुनादि० ।६।१।११८। इति विहितस्य ञ्यस्य 'कुरोर्वा ।६।१।१२२। इति लुपि 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातित्वादूङ् । **ग्रामण्ये** - ग्रामणखलपूप्रभृतिशब्दानां क्रियाशब्दत्वात् त्रिलिङ्गत्वात् स्त्रियामपि वर्तमानत्वान्नित्यत्वस्त्रीविषयो नास्तीत्यादेशाभावः । स्त्रिया इत्यनुवर्तमानेऽपि पुनः स्त्रीग्रहणं नित्यस्त्रीत्वार्थम् ।।२९।।

वेयुवोऽस्त्रियाः ।१।४।३०।

इयुवस्थानिनौ यौ स्त्रीदूतौ तदन्तात् स्त्रीवर्जात्परेषां स्यादेङिताम् यथासंख्यं दै-दास्-दास्-दामो वा स्युः। श्रियै, श्रिये। श्रियाः, श्रियः २। श्रियाम् श्रियि। अतिश्रियै, अतिश्रिये पुंसे स्त्रियै वा। भ्रुवै भ्रुवे। भ्रुवाः भ्रुवः। भ्रुवाः भ्रुवः। भ्रुवाम् भ्रुवि। अतिभ्रुवै, अतिभ्रुवे पुंसे स्त्रियै वा। इयुव इति किम्? आध्यै। अस्त्रिया इति किम्? स्त्रियै।३०।

ननु स्त्रियै इत्यत्र असत्यपि अनेन विकल्पे कथं पूर्वेण नित्यमादेशः भविष्यति? यतः परत्वादियुवादिभावादीदन्तत्वाभावादप्रवृत्तिरेव भविष्यतीति चेन्मैवम् अस्त्रिया इति निर्देशात् परादपि इयुव-यत्वादिकार्यात्प्रागेव स्त्रीदूदाश्रितं कार्यं भवति तेन स्त्रियै, स्त्रीणाम्, भ्रूणाम्, आध्यै' इत्यादि सिद्धम् ॥३०॥

आमो नाम्वा ।१।४।३१।

इयुवोः स्थानिभ्यां स्त्रीदूदन्ताभ्यां परस्य आमो नाम्वा स्यात्। न तु स्त्रियाः। श्रीणाम्, श्रियाम्। भ्रूणाम्, भ्रुवाम्। अतिश्रीणाम्, अतिश्रियाम्। अतिभ्रूणाम्, अतिभ्रुवाम् नृणां स्त्रीणां वा। इयुव इत्येव-प्रध्नीनाम्।३१।

ङस्थानस्य दामः सानुबन्धत्वात् 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य' इति न्यायेन निषेधात्, अपरस्य चासम्भवात् स्याद्यधिकाराच्च षष्ठीबहुवचनस्यैवामो ग्रहणम्। प्रध्यायति इत्येवं शीलः प्रध्नीः तासां प्रध्नीनाम्। स्त्रीशब्दात्तूत्तरेण नित्यमेवादेशः ॥३१॥

ह्रस्वापश्च ।१।४।३२।

ह्रस्वान्तादाबन्तात् स्त्रीदूदन्ताच्च परस्यामो नाम् स्यात् । देवानाम्, मालानाम्, स्त्रीणाम्, वधूनाम् ।३२।

चकारेण 'स्त्रीदूत:' इत्यनुकृष्यते । चानुकृष्टत्वात् 'चानुकृष्टं नानुवर्तते' इति न्यायान्नोत्तरत्रानुवर्तते । देवानाम् – 'सन्निपातलक्षणो विधि०' इति न्यायस्यानित्यत्वात् 'दीर्घो नाम्य०' ।१।४।४७। इति दीर्घ । ननु स्त्रीशब्दात् ङित्प्रत्ययस्य 'स्त्रीदूत:' ।१।४।२९। इत्यामादेशे सत्यनेन सूत्रेण नामादेश: कथं न भवतीति चेत्सत्यं 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य' इति न्यायान्न भवति । स्त्रीशब्दवर्जितयोरियुवादेशसम्बन्धिनो: स्त्रीदूतो: पूर्वेण विकल्प एव ॥३२॥

संख्यानां र्ष्णाम् ।१।४।३३।

रषनान्तानाम् संख्यायाचिनामामो नाम् स्यात् । चतुर्णाम् । षण्णाम् । पञ्चानाम् । अष्टानाम् ।३३।

र् च ष् च न् च र्ष्णं तेषां र्ष्णाम् 'रषृवर्णान्नो०' ।२।३।६३। इति न णत्वं भिन्नपदत्वात्, 'वोत्तरपदान्त०' ।२।३।७५। इत्यपि न, षस्य पूर्वपदस्थत्वाभावात् मध्यमपदस्थत्वात्, न च रस्य पूर्वपदस्थत्वात् णत्वं भविष्यतीति वाच्यं 'पदेऽन्तरेऽनाङ्०' ।२।३।९३। इति निषेधात्, परन्तु 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। इति णत्वम् । ननु सङ्ख्या एकत्वादिरर्थ:' र्ष्णामिति च शब्दनिर्देश: कथं तर्हि शब्दार्थयो: सामानाधिकरण्य सङ्गच्छते इति चेत्सत्यमुपचारात्सङ्ख्याशब्देन सङ्ख्यार्था: शब्दा एव च्यन्ते । यद्वा सङ्ख्यायते आभिरिति 'करणाधारे' ।५।३।१२९। इति परमप्यनटं बाधित्वा 'उपसर्गादात:' ।५।३।११०। इत्यङि सङ्ख्याशब्देन सङ्ख्यार्था: शब्दा एवाच्यन्ते । षष्ठ्यास्तत्सम्बन्धिविज्ञानात्प्रियचतुरां प्रियषषां, प्रियपञ्चामित्यादौ न भवति । चतुर्णाम् - 'ह्रादर्ह०' ।१।३।३१। इति णस्य द्वित्वम्, षण्णाम् – 'नाम सिदय्व्यञ्जने' ।१।१।२१। इति पदत्वात् 'धुटस्तृतीय:' ।२।१।७६। इति षस्य डकार:, 'पदान्ताट्टवर्गाद०' ।१।३।६३। इति प्रतिषेधाभावात् 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। इति णत्वं डकारस्य 'प्रत्यये' ।१।३।२। इति णत्वं च । पञ्चानाम् 'दीर्घो नाम्यति०' ।१।४।४७। इति दीर्घ:,'नाम्नो नो०हन:' ।२।१।९१। इति नलोपः ।

षरवर्जनेन ज्ञापितं नकारव्यवधानेऽपि दीर्घो भवति, अन्यवर्णेन तु व्यवधाना-सम्भव एव। बहुवचनं व्याप्त्यर्थम् तेन भूतपूर्वनान्ताया अपि अष्टानाम्, परमाष्टामित्यत्र परत्वात् पूर्वमेव 'वाष्टनः०' ।१।४।५२ इत्यादेशेऽपि अष्टानां परमाष्टामित्यत्र नामादेशो भवति। ननु भूतपूर्वकस्तद्वदु० इति न्यायादेव सेत्स्यतीति किं बहुवचनाश्रयणेनेति चेत्सत्य बहुवचनमस्य न्यायस्यानित्यताज्ञापकम् ॥३३॥

त्रेस्त्रयः ।१।४।३४।

आम सम्बन्धिनस्त्रेस्त्रयः स्यात् । त्रयाणाम्, परमत्रयाणाम् ।३४।

आमः सम्बन्धिविज्ञानात् प्रियत्रीणामित्यत्र न भवति। स्त्रियां तु परत्वात् 'त्रिचतुर०।२।१।१। इति 'तिसृ' आदेशो भवति यथा तिसृणाम् ॥३४॥

एदोद्भ्यां ङसिङसो रः ।१।४।३५।

एदोद्भ्यां परयोः प्रत्येकं ङसिङसोः रः स्यात् । मुनेः, मुने, धेनोः, धेनोः, गोः, गोः, द्योः, द्योः ।३५।

वचनभेदः यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थः। तकारः स्वरूपपरि-ग्रहार्थस्तेन लाक्षणि-कयोरप्येदोतोः ग्रहणात् मुनेः इत्यादि सिद्धम् । रकारे अकार उच्चारणार्थः ॥३५॥

खितिखीतीय उर् ।१।४।३६।

खिति-खीतीसम्बन्धिनो यत्परयोङसिङसोरुर् स्यात् । सख्युः । सख्युः । पत्युः, पत्युः । सखायं पतिं चेच्छतः सख्युः २

षत्युः २ । य इति किम् ? अतिसखेः, अधिपतेः ।३६।

सख्युः – इवर्णादेर० ।१।२।२१। इति यत्वम् । सखाय पतिं वेच्छतीति 'अमाव्ययात् क्यन् च ।३।४।२३। इति क्यनि दीर्घश्च्वियङ्० ।४।३।१०८। इति दीर्घत्वे सखीयतीति क्विपि 'क्विबन्ता धातुत्वं नोज्झन्ति शब्दत्वं च प्रतिपद्यन्ते' इति न्यायात् 'योऽनेकस्वरस्य' ।२।१।५६। इति यत्वे च। अतिसखेरित्यादि – सखायमतिक्रान्तो य सोऽतिसखा 'ऋदुशन०' ।१।४।८४। सूत्रान्निष्पन्नः, अधिकं पति अधिपतिः। 'न ना ङिदेत्' ।१।४।२६। इत्यत्र केवलसखिपतिशब्दयोरेत्व-निषेधादत्र न निषेधः ॥३६॥

ऋतो डुर् ।१।४।३७।

ऋतः परयोः ङसिङसोर्डुर् । स्यात् । पितुः पितुः ।३७।

'ऋकारापदिष्टं कार्यं लृकारस्य' इति न्यायात् लृकारादपि परयोः ङसिङसोर्डुर्-आप्लृ इत्येतस्मात् षष्ठ्याम् आपुल् 'ऋफिडादीनां डश्लः ।२।३।१०४। इति लत्वम् ।।३७।।

तृ-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षतृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्त्रो घुट्याचार् ।१।४।३८।

तृच्तृन्नन्तस्य स्वस्रादीनां च ऋतो घुटि परे आर् स्यात् । कर्तारम्, कर्तारौ, कर्तारः । स्वसारम्, नप्तारम्, नेष्टारम्, त्वष्टारम्, क्षत्तारम्, होतारम्, पोतारम्, प्रशास्तारम् । घुटीति किम् ? कर्तृकुलं पश्य ।३८।

ननु :तृ"""""प्रशास्त्रः इत्यत्र नागमेन भाव्यमिति चेत् 'सूत्रत्वात् नागमो न भवति'। यद्वा सूत्रे प्रशास्तॄणाम् प्रशास्तृः तस्येति ऋकारोपादानाद् वा न भवति । 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्येन' इति न्यायाद् 'णकतृचौ' ।५।१।४८। इति 'तृन्शीलधर्म०' ।५।२।२७। इति तृच्तृनोर्ग्रहणादाह – तृच्तृन्नन्तस्येति । तृशब्दस्यार्थवतो ग्रहणेन प्रत्ययग्रहणान्न, स्वस्रादीनामव्युत्प-

न्तानां संज्ञाशब्दानां तृशब्दस्य ग्रहणं न भवतीति तेषां पृथगुपादानम् इदमेव च ज्ञापकम् 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणं भवति' इति, उणादीनामपि व्युत्पत्तिपक्षे तु तृग्रहणेनैव सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं नियमार्थम्, तेनान्येषामौणादिकानां न भवति पितरौ, भ्रातरौ, मातरौ, जामातरौ । तृच्तृन्प्रत्ययान्तस्य स्वस्रादीनां च सम्बन्धिनः ऋकारस्य स्थाने तत्सम्बन्धिन्यसम्बन्धिनि वा घुटि परे आर्, भवतीति सूत्रार्थस्तेनातिकर्तारमित्याद्यपि भवति । नन्वत्र शौ घुटि निमित्ते कथं नोदाहृतम् । न च शौ घुटि 'स्वराच्छौ ।१।४।६५। इति नागमेन व्यवधानान्न प्राप्नोतीति वाच्यं 'स्वाङ्गमव्यवधायि' इति न्यायाद् व्यवधानं न भविष्यतीति चेत्सत्यमवयवेनावयवयवस्थ ऋल्लक्षणस्य व्यवधानं भवतीति न प्रदर्शितम् ॥३८॥

अर्डौ च ।१।४।३९।

ऋतो ङौ घुटि च परे अर् स्यात् । नरि । नरम् ।३९।

'चकारो यस्मात्परस्तत्सजातीयमेव समुच्चिनोति' इति न्यायाच्चकारो ङिसजातीयं प्रत्यासत्तेरनन्तरोक्तं निमित्तमेव समुच्चिनोत्यत आह ङौ घुटि चेति । ननु कर्तृणि कुले, कर्तॄणि कुलानि' इत्यत्र घटि शौ परे अर भवति नवेति चेन्न भवति 'नरि, कुण्डानीत्यभयोः सावकाशत्वेन परत्वान्नागम एव भवति, तस्मिन् सति व्यवधानान्न भवति ॥३९॥

मातुर्मातः पुत्रेऽर्हे सिनाऽऽमन्त्र्ये ।१।४।४०।

मातुरामन्त्र्ये पुत्रे वर्तमानस्य सिना सह मातः स्यात् । अर्हे प्रशंसायाम् । हे गार्गीमात । पुत्र इति किम् ? हे मातः, हे गार्गीमातृके वत्से । अर्हे इति किम् ? अरे गार्गीमातृकः ।४०।

सामर्थ्याद् बहुव्रीहिसमासे भवत्यन्यथा मातृशब्दस्य पुत्रे वर्तमानत्वाभावात् । बहुव्रीहौ तु 'ऋन्नित्य० ।७।३।२७१। इति कच्प्राप्तः परन्तु विशेषविहितत्वादपवादत्वादयं प्रवर्तते । गार्गीमात-श्लाघ्यया मात्रा पुत्रः श्लाघ्यते

गर्गस्यापत्यं वृद्धं स्त्री 'गर्गादिर्यञ् ।६।१।४२। 'वृद्धिः स्वरेष्वा० ७।४।१। अव-र्णेवर्णस्य ।७।४।६८। 'यञो डायन् च वा ।२।४।६७। 'अस्य ङ्यां लुक् ।२।४। ८६ 'व्यञ्जनात्तद्धितस्य' ।२।४।८८। इति । अरे गार्गीमातृक-अज्ञातपितृक-त्वेनानेकपितृकत्वेन वा विगुणः पुत्रो निन्द्यते इति ॥४०॥

ह्रस्वस्य गुणः ।१।४।४१।

आमन्त्र्यार्थवृत्ते ह्रस्वान्तस्य सिना सह गुणः स्यात् । हे पितः । हे मुने ।४१।

ह्रस्वान्तस्य-अधिकृतस्य नाम्नो विशेषणत्वेन तदन्तविधिः । 'श्रुतानुमितयोः श्रौतो विधिर्बलीयान् 'इति न्यायाच्छ्रुतस्य ह्रस्वस्यैव गुणो भवति न त्वनुमितस्य ह्रस्वान्तस्य ॥४१॥

एदापः ।१।४।४२।

आमन्त्र्यार्थवृत्तेरावन्तस्य सिना सहैकारः स्यात् । हे माले । हे बहुराजे ।४२।

बहवो राजानो यस्यां सा 'ताभ्यां वाप् डित् ।२।४।१५। इति डापि बहुराजा तत्सम्बोधने बहुराजे । आश्चासावाप् चेति आकारप्रश्लेषात् हे प्रियखट्व । इत्यत्र 'गोश्चान्ते० ।२।४।८६। इति ह्रस्वत्वे 'एकदेशविकृत०' इति न्यायात्प्राप्तोऽप्येकारादेशो न भवति ॥४२॥

नित्यदिद्द्विस्वराम्बार्थस्य ह्रस्वः ।१।४।४३।

नित्यं दिद् दास्दास्—दामादेशा येभ्यस्तेषां द्विस्वराम्बार्थानां चाबन्तानामामन्त्र्यवृत्तीनां सिना सह ह्रस्वः स्यात् । हे स्त्रि । हे लक्ष्मि । हे श्वश्रु । हे वधु । हे अम्ब । हे अक्क । नित्यदिदिति किम् ? हे

हूहूः । द्विस्वरेति किम् । हे अम्बाडे । आप इत्येव । हे मातः ।४३।

पृषोदरादित्वात् जहातेरूप्रत्यये द्विर्वचनादौ च हूहूः ॥४३॥

अदेतः स्यमोर्लुक् ।१।४।४४।

अदन्तादेदन्ताच्च आमन्त्र्यवृत्तेः परस्य सेरमश्च लुक् स्यात् । हे देव । उपकुम्भ । हे अतिहे ।४४।

स्यादेशत्वेनैवामोऽपि लुचि सिद्धायां पृथग्वचनमन्यस्याऽऽदेशस्य लुगभावार्थम् । तेन 'पञ्चतोऽन्यादे०' ।१।४।५८। इत्यादेशे सति हे कतरद् इत्यादौ लुग् न भवति । कुम्भस्य समीपम् उपकुम्भम् 'अमव्ययीभावस्यातो०' ।३।२।२। इत्यम्, अनेन लोपः । हिनोतीति विचि हेः हेयमतिक्रान्तः अतिहेः तत्सम्बोधने अतिहे ॥४४॥

दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्सेः ।१।४।४५।

दीर्घङ्याबन्ताभ्यां व्यञ्जनाच्च परस्य सेर्लुक् स्यात् । नदी । माला । राजा । दीर्घेति किम् ? निष्कौशाम्बिः । अतिखट्वः ।४५।

व्यञ्जनाच्च 'विशेषणमन्तः' ।७।४।११३। सूत्रात् व्यञ्जनान्ताच्चेति भावः । 'पदस्य' ।२।१।८९। इति सिद्धे व्यञ्जनग्रहणं 'राजा' इत्यादौ सिलोपार्थम् अन्यथा 'नाम्नो नोऽनह्नः' ।२।१।९१। इति परकार्ये कर्तव्ये 'पदस्य' ।२।१।८९। इत्यस्यासत्त्वात् पूर्वं नलोपे संयोगान्तत्वाभावात् 'पदस्य' ।२।१।८९। इत्यस्याप्रवृत्तेः सेर्लोपो न स्यात् ॥४५॥

समानादमोऽतः ।१।४।४६।

समानात्परस्यामोऽस्य लुक् स्यात् । देवम् । मालाम् । मुनिम् । नदीम् । साधुम् । वधूम् ।४६।

देवमित्यत्र 'लुगस्यादेत्य० ।२।१।११२। इत्यनेन लुग् सिद्धः, परन्तु 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्त.' इति न्यायेनात्रापि सूत्रं प्रवर्तते, एवं मालामित्यत्रपि 'समानानां तेन दीर्घ ।१।२।१। इति सिद्धेऽपि अनेन लुक्सिद्धः । पितरम् इत्यादिषु विशेषविधानात्प्रथममेवार् ।।४६।।

दीर्घो नाम्यतिसृचतसृषः ।१।४।४७।

तिसृचतसृषकारान्तवर्जस्य समानस्य नामि परे दीर्घः स्यात् । वनानाम् मुनीनाम् । साधूनाम । पितॄणाम् । अतिसृचतसृषः इति किम् ? तिसृणाम् । चतसृणाम् । षण्णाम् । चतुर्णाम् ।४७।

वनानाम् – 'सन्निपातलक्षणो विधि०' इति न्यायस्यानित्यत्वाद्दीर्घत्वम् । ननु षकार – रेफाभ्यां व्यवधानादेव न भविष्यति किं षवर्जनेन ? अष् इतिप्रतिषेधेन नकारेण व्यवहितेऽपि नामि दीर्घो ज्ञाप्यते तेन पञ्चानामिति सिद्धम् ।।४७।।

नुर्वा ।१।४।४८।

नुः समानस्य नामि परे दीर्घो वा स्यात् । नृणाम्, नॄणाम् ।४८।

नृ + डुर् = नुः ।।४८।।

शसोऽता सश्च नः पुंसि ।१।४।४९।

शसोऽता सह पूर्वसमानस्य दीर्घः स्यात् । तत्सन्नियोगे च पुंसि शसः सो नः । देवान्, मुनीन् । वातप्रमीन् । साधून् । हूहून् ।

ष्त्रि न । पुंसीति किम् ? शाला: ४९।

पूर्वसमानस्य- 'गौणमुख्ययो:०' इति न्यायात् 'मुनीन्' इत्यादौ मुख्यस्थानिन एव आसन्नो दीर्घः ईकारः न त्वाकारः । 'नान्वाचीयमाननिवृत्तौ प्रधानस्य' इति न्यायात्, बुद्धी: इत्यादौ गौणस्य नस्य निवृत्तावपि मुख्यं न निवर्तते । 'सन्नियोगशिष्टानामेकापाये०' इति न्यायाद् 'एतान्गा: पश्य' इत्यत्र दार्घत्वस्या- भावे नकारस्याप्यभावः । 'आ अम्शसोऽता: ।१।४।७५। इत्याकारः । वातप्रमीन् – वातं प्रमीमते 'वातात्प्रमः कित्' उणा: ७१३ इति ईप्रत्यये, वातप्रमी: वेगवान् मृगः इत्यर्थ. ॥४९॥

संख्यासायवेरह्नस्याहन् ङौ वा ।१।४।५०।

संख्यावाचिभ्यः सायविभ्यां च परस्याह्नस्य ङौ परेऽहन्वा स्यात् । द्व्यहनि, द्व्यह्नि, द्व्यह्ने । सायाहनि, सायाह्नि, सायाह्ने । व्यहनि, व्यह्नि, व्यह्ने ।५०।

द्वयोरह्नोर्भवः 'भवे' ।६।३।१२३। इत्यण्विषये' संख्या समाहारे० ।३।१।९९। इति द्विगुसमास: 'सर्वांश०' ।७।३।११८। इत्यट् अह्नादेशश्च, 'द्विगोरनपत्ये ६।१।२४। इत्यणो लोपः, ङावनेन विकल्पेन अहन्नादेशे ईङौ वा ।२।१।१०९। इति विकल्पेनाकारलोपे द्व्यहनि, द्व्यह्नि,द्व्यह्ने इति सिद्धाः । सायाहनीत्यादि-सायम् अह्नः 'सायाह्नादयः ।३।१।५३। इति समासः 'सर्वांश ।७।३।११८। इत्यह्नादेशः शेषं पूर्ववत् अत एव निर्देशात् सायंशब्दस्य मकारलोपः सायेत्यकारान्तो वा । व्यहनि - प्रात्यवपरि० ।३।१।४७। इति समासः ॥५०॥

निय आम् ।१।४।५१।

नियः परस्य ङेराम् स्यात् । नियाम् । ग्रामण्याम् ।५१।

ङौ इति 'अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणामः' इति न्यायेन षष्ठ्यन्तस्यैव

परिणम्यानुवर्ततेऽत आह ङ रामिति । ननु ग्रामण्यामित्यत्र 'नी' नास्ति किन्तु 'णी' इत्यमो न प्राप्तिः, सत्यम् 'णषमसत्परे' ।२।१।६०। इति स्यादिविधौ णत्वमसद् भवति । ननु 'एकदेशविकृत०' इति न्यायेन नपुंसकेपि प्राप्तिरिति चेन्न 'निय ई' नी इतीकारप्रश्लेषात् नपुंसके 'निनि, ग्रामणिनि इत्येव भवति 'अनाम्स्वरे०' ।१।४।६४। इति नोऽन्तः । नियामित्यत्र 'धातोरिवर्णो० ।२।१।५०। इतीय् ग्रामण्यामित्यत्र तु 'क्विब्वृत्तेर० ।२।१।५८। इति यत्वम् । नीशब्दस्यामो नामादेशस्तु 'आमो नाम्वा' ।१।४।३१। इति सूत्रेण । ग्रामणीशब्दस्यामो नामादेशस्तु 'ह्रस्वापश्च' ।१।४।३२। इति सूत्रेण तत्र नित्यस्त्रीदूतोरधिकृतत्वान्न भवति ॥५१॥

वाष्टन आः स्यादौ ।१।४।५२।

अष्टनः स्यादौ परे आ वा स्यात् । अष्टाभिः, अष्टभिः । प्रियाष्टाः प्रियाष्टा ।५२।

ननु स्याद्यधिकारे सत्यपि स्यादिग्रहणं कथम् ? पूर्वसूत्राद् ङ्ग्नुवृत्तिर्मा भूदिति स्यादिग्रहणम् । 'षष्ठ्याऽन्त्यस्य ।७।४।१०६। इत्यन्त्यस्यादेशः अष्टन्शब्दसम्बन्धिन्यसम्बन्धिनि वा स्यादौ परे इत्यर्थः । तेन प्रिया अष्टौ यस्य स प्रियाष्टाः । आत्वाभावपक्षे तु 'नि दीर्घः ।१।४।८५। इति दीर्घत्वं, "दीर्घङ्याब्" ।१।४।४५। इति सिलोपः "नाम्नो नोऽनह्नः" ।२।१।९१। इति नलोपश्च ॥५२॥

अष्ट औजस्शसोः ।१।४।५३।

अष्टनः कृतात्वस्य जस्शसोरौः स्यात् । अष्टौ । अष्टौ ।५३।

आत्वाभावपक्षे 'डतिष्णः० ।१।४।५४। इति जस्शसोर्लुपि "नाम्नो नोऽनह्नः" ।२।१।९१। इति नलुकि अष्ट २ इति रूपं भवति ॥५३॥

डतिष्णः संख्याया लुप् ।१।४।५४।

इति षनान्तानाम् संख्यानां जस्शसोर्लुप् स्यात् । कति । कति । षट् । षट् । पञ्च । पञ्च ।५४।

ष्ण इत्यत्र "तवर्गस्य० ।१।३।६०। इति णः । षड्–षष्शब्दात् जस्शसोर्लुपि पदत्वात् 'धुटस्तृतीयः ।२।१।७६। इति डत्वं, 'विरामे वा' ।१।३।५१। इति टत्वम् ।।५४।।

नपुंसकस्य शिः ।१।४।५५।

नपुंसकस्य जस्शसोः शिः स्यात् । कुण्डानि । पयांसि ।५५।

नपुंसकस्येति– स्त्री च पुमान् च इति स्त्रीपुंसौ 'स्त्रियाः पुंसो०' ।७।३।९६। इति समासान्तः । न स्त्रीपुंसौ नखादित्वात् 'नखादयः ।३।२।१२८। इति नञोऽद्भावः, पृषोदरादित्वात् स्त्रीपुंसशब्दस्य पुंसक आदेशः । कुण्डानि- कुण्डशब्दाज्जस्शसोः स्थाने शिः, 'स्वराच्छौ ।१।४।६५। 'नि दीर्घः' ।१।४।८५। पयांसि– पयस्शब्दात् जस्शसोः स्थाने शिरादेशः 'धुटां प्राक्' ।१।४।६६। 'न्स्महतोः ।१।४।८६ इति ।।५५।।

औरीः ।१।४।५६।

नपुंसकस्य औरीः स्यात् । कुण्डे । पयसी ।५६।

आदेशादेशिनोरभेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः अन्यथा 'षष्ठ्याऽन्त्यस्य' ।७।४।१०६। इति न्यायाद् अन्त्यस्य स्यात् । अ औ इति प्रकृतौ 'ऐदौत्सन्ध्यक्षरैः ।१।२।१२। इत्यनेन औकारो निष्पन्नः ।।५६।।

अतः स्यमोऽम् ।१।४।५७।

अवन्तस्य नपुंसकस्य स्यमोरम् स्यात् । कुण्डम् । हे कुण्ड ।५७।

नन्वादेशमध्येऽमोऽकारोच्चारणं कथम् ? समानादमोऽतः ।१।४।

४६। इति लोपे विशेषाभावात् न। चामोऽकारोच्चारणं सर्वादेशार्थमिति वाच्यं 'प्रत्ययस्य' ।७।४।१०८। इत्येव सिद्धत्वादिति चेत्सत्यममोऽकारोच्चारणं जस्मादेशार्थं तेन। जरामतिक्रान्तं कुलम् अतिजरसमिति सिद्धम्। हे कुण्ड- "अदेतः स्यमोर्लुक् ।१।४।४४। इत्यमो लुक् ।।५७।।

पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः ।१।४।५८।

पञ्चपरिमाणस्य नपुंसकस्यान्यादेः स्यमोर्दः स्यात्। एकतरवर्जम्। अन्यत्। अन्यतरत्। इतरत्। कतरत्। कतमत्। अनेकतरस्येति किम्? एकतरम् ।५८।

पञ्च सङ्ख्या परिमाणमस्य "पञ्चद्दशद्वर्गे वा ।६।४।१७५। इति डत्प्रत्ययः। सर्वाद्यन्तर्गतान्यादयः पञ्च "अन्य अन्यतर, इतर, डतर डतम इति। अस्मिन् तिस्रः प्रकृतयः, द्वौ प्रत्ययौ 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः ।७।४।११५। इति प्रत्ययग्रहणेन तदन्तविज्ञानाद् कतरकतमादेर्ग्रहणं भवति। द इत्यत्र अकार उच्चारणार्थः ।।५८।।

अनतो लुप् ।१।४।५९।

अनकारान्तस्य नपुंसकस्य स्यमोर्लुप् स्यात्। कर्तृ। पयः ।५९।

अत्र 'कर्तृ' इति स्वरान्तस्य स्यमोर्लुपः उदाहरणं 'पयः' इति व्यञ्जनान्तस्य स्यमोर्लुप उदाहरणम्। ननु 'अनतः' इति कथं? न च 'अनतः' इत्यस्याभावे 'कुण्डम्' इत्यत्रापि लोपः स्यादिति वाच्यम् 'अतः स्यमोऽम्' ।१।४।५७। इति बाधकादिति चेत्सत्यम् 'अनतः' इत्यस्याभावे पूर्वसूत्राद् 'अन्यादेरित्यनुवर्तेत। ननु अन्यादेः' इत्यस्याभीष्टौ पूर्वसूत्रेणैकयोगमेव कुर्यात् इति चेन्नैवं पूर्वमेकतरवर्जितस्यात्र तु एकतरस्यापीति पृथग्योगस्य साफल्यात्। हे कर्तृ इत्यत्र परत्वात् प्रथम सेर्लोपे 'ह्रस्वस्य गुणः ।१।४।४१। इति गुणः कस्मान्न भवतीति चेत्सत्यम् लुक्मकृत्वा लुप्करणं स्यमोः 'स्थानी० ।७।४।१०९। सूत्रात्, स्थानिवद्भावेन यत्कार्यं तस्य 'लुप्यय्वृ० ।७।४।११२। इति प्रतिषेधार्थं तेन यत्, ननु इत्यत्र 'आ द्वेरः' ।२।१।४१। इति त्यदाद्यत्वं न भवति ।।५९।।

जरसो वा ।१।४।६०।

जरसन्तस्य नपुंसकस्य स्यमोर्लुग्वा स्यात् । अतिजरः । अतिजर-सम् ।६०।

अतिजरसम्– 'जराया जरस् वा ।२।१।३। सूत्रेण "एकदेशविकृत-मनन्यवद्' इति न्यायेन जरसादेशः ॥६०॥

नामिनो लुग्वा ।१।४।६१।

नाम्यन्तस्य नपुंसकस्य स्यमोर्लुग्वा स्यात् । हे वारे । हे वारि । प्रियतिसृ । प्रियत्रि कुलम् ।६१।

हे वारे– 'अनतो लुप् ।१।४।५९। इति लुपैव सिद्धे लुग्वचनं स्था-निवद्भावार्थं तेन पक्षे लुप्यय्वृ०'।७।४।१२२। इति स्थानिवद्भावानिषेधे ह्रस्व-स्य गुणः ।१।४।४। इति गुणः 'त्रिचतुरस्तिसृ० ।२।१।१। इति तिस्रादेशश्च भवति । प्रियतिसृ कुलमित्यत्र सेः स्थानित्वेपि ऋदुशनस्०'।१।४।८४। इत्यत्र घुटः सेर्ग्रहणाद् अत्र 'पुंस्त्रियोः स्यमौजस् ।१।१।२९। इति नपुंसकस्य घुट्-त्वाभावात् डाः न भवति । समासघटकीभूतस्य त्रिशब्दस्य "भूतपूर्वकस्तद्वदु-पचारः" इति न्यायेन स्त्रियां वर्तमानत्वात् तिस्रादेशः, 'परतः स्त्री०' ।३।२। ४९। इति पुंवद्भावः ॥६१॥

वान्यतः पुमांष्टादौ स्वरे ।१।४।६२।

अन्यतो विशेष्यवशान्नपुंसको नाम्यन्तष्टादौ स्वरे परे पुंवद्भावः स्यात् । ग्रामण्या ग्रामणिना कुलेन । कर्त्रोः कर्तृणोः कुलयोः । अन्यत इति किम् ? पीलुने फलाय । टादाविति किम् ? शुचिनी कुले । नपुंसक इत्येव-कल्याण्यै स्त्रियै ।६२।

नामिन इति नपुंसकस्य विशेषणं तथा 'अन्यत' इत्यपि 'अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः' इति न्यायेन प्रथमान्ततयाऽनुवर्तते नाम्यन्त इति पुंवद्वेति- 'परार्थे प्रयुज्यमानः शब्दो वतं विनाऽपि वदर्थं गमयति' इति न्यायेन परार्थे नपुंसके प्रयुज्यमानः पुमान्शब्दः। यथा पुंसि "अनाम्स्वरे०" ।१।४.६४। इति क्लीबे' ।२।४।९७। इति नागमह्रस्वौ न भवतस्तथात्रापि न भवतः इत्यर्थः। ग्रामण्या- ग्रामणीशब्दात् पुंवद्भावान्नागमह्रस्वाभावे 'क्विब्वृत्ते०' ।२।१।५८। इति यत्वम्। पुंवद्भावाभावपक्षे तु ह्रस्वत्वं नागमश्च। ननु 'ग्रामणिना' इत्यत्र पूर्वं 'क्विब्वृत्ते सुधियस्तौ ।२।१।५८। इति यत्वं कथं न भवतीति चेत्सत्यम् इदुतोऽस्त्रेरीदूत् ।१।४।२१। इत्यत्र स्त्रीवर्जनेन परमपि इयुव्-यत्वादिकार्यम् इदुदाश्रितेन बाध्यते इति ज्ञापितत्वात् यद्वा 'आदेशादागमः' इति न्यायाद् यत्वं बाधित्वा नागमः। अन्यत इति-द्विधा लिङ्गव्यवस्था केषांचिच्छब्दानां स्वत एव लिङ्गम् यथा दधिमध्वादिजातिशब्दानाम्, केषांचिदन्यतो विशेष्यात् यथा गुणक्रियाद्रव्यसम्बन्धनिमित्तानां पट्वादिशब्दानाम् पटुः पुमान्, पट्वी स्त्री, पटु कुलमिति एषां स्वतो लिङ्गं नास्ति परन्तु विशेष्यवशादेव। पीलुशब्दस्य जातिशब्दत्वान्न विशेष्यवशान्नपुंसकत्वमिति पुंवद्भावो न भवति पीलुर्वृक्षः पीलो फलम् "प्राण्यौ० ।६।२।३१। इत्यण् 'फले' ।६।२।५८। इत्यण्लोपः ॥६२॥

दध्यस्थिसक्थ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् ।१।४।६३।

एषां नपुंसकानां नाम्यन्तानामन्तस्य टादौ स्वरे परे अन् स्यात्। दध्ना। अतिदध्ना। अस्थ्ना। अत्यस्थ्ना। सक्थ्ना। अतिसक्थ्ना। अक्ष्णा। अत्यक्ष्णा ।६३।

'दध्यस्थिसक्थ्यक्ष्णः' इत्यन्तस्य स्थानिनो विशेषणमतः सामान्यं परत्वमात्रविज्ञानात्तत्सम्बन्धिन्यसम्बन्धिनि वा टादौ स्वरे परेऽनादेशभावात् अतिदध्नेत्यादि सिद्धम्। नपुंसकार्थविशिष्टैर्दध्यादिभिः स्याद्याक्षिप्तं नाम विशिष्यते तेन दध्याद्यन्तस्य नाम्नोऽन् भवति केवलस्य तु व्यपदेशिवद्भावात्। 'श्रुतानुमितयोः श्रौतो विधिर्बलीयान्' इति न्यायेन श्रुतत्वात् 'नपुंसकस्य' इत्यनेन दध्यादय एव विशिष्यन्ते तेन तदन्तानामनपुंसकेऽपि वर्त-

मान'नां ग्रहणं भवति। तेन दधिमतिक्रान्तस्तेनातिदध्ना, अनोऽस्य ।२।१।१०८। इत्यल्लोपः। "दध्ना अतिदध्ना" इत्यादौ परमपि नागममनादेशो बाधते ॥६३॥

अनाम्स्वरे नोन्तः ।१।४।६४।

नाम्यन्तस्य नपुंसकस्यामृवर्जे स्यादौ स्वरे परे नोऽन्तः स्यात् । वारिणी । वारिणः । कर्तृणी । कर्तृणः । प्रियतिसृणः । अनामिति किम् ? वारीणाम् । स्वर इति किम् ? हे वारे । स्यादावित्येव-तौम्बुरं चूर्णम् ।६४।

अनाम् चासौ स्वरश्च अनाम्स्वरः तस्मिन् । अथाम्वर्जनात् पर्युदासात्स्वरे लब्धे स्वरग्रहणं टादावित्यधिकारनिवृत्त्यर्थम् ।

प्रियतिसृणः– अत्र परत्वात्तिस्रादेशे सति नोऽन्तः । ननु पूर्वं नागमेऽपि 'स्वाङ्गमव्यवधायि' इति न्यायेन तिस्रादेशः स्यादिति चेत्सत्यम् अवयवेनावयवस्य व्यवधानं भवति न त्ववयवेन अवयविनः यथा देवदत्तस्य श्मश्रु न दृष्टं हस्तेन व्यवहितत्वात्, न तु कोऽपीत्थं वदति 'देवदत्तो न दृष्टः हस्तेन व्यवहितत्वात् तथावदत्रापि तिस्रादेशस्त्रिशब्दस्यावयवस्य कर्तव्यः न तु प्रियत्रिशब्दस्यावयविनोऽन्तः व्यवधानात्तिस्रादेशो न स्यादिति । **वारीणाम्** – नागमाभावोऽत्र । 'दीर्घो नाम्यति० ।१।४।४७। इति दीर्घः । **तौम्बुरं चूर्णम्**– तुम्बुरुणो वृक्षस्य विकारः 'प्राण्यौषधि० ।६।२।३१। इत्यण् तस्य लुप् विकारे पुनरण्, अथवा तुम्बुरुणो वृक्षस्य विकारश्चूर्णम् एतस्मिन्नणि वा 'अस्वयम्भुवोऽव् ७।४।७०। इति पुंस्त्रयोः सावकाशत्वात् नपुंसके विशेषविधानादिद प्राप्नोतीति स्यादावित्यधिकारान्निवृत्तम् ।६४।

स्वराच्छौ ।१।४।६५।

शौ परे स्वरान्तान्नपुंसकात्परो नोन्तः स्यात् । कुण्डानि । स्वरादिति किम् ? चत्वारि ।६५।

आकारान्तस्य तु नपुंसके ह्रस्वविधानात्स्थिति रेव नास्तीति 'अतः इत्येव सिद्धे स्वरग्रहणमुत्तरार्थम् । कुण्डानि - 'अनाम्स्वरे० ।१।४।६४। इति शौ नागमः । चत्वारि–चतुर् शब्दाच्छौ 'वाः शेषे' ।१।४।८२। इति वादेशः ॥६५॥

धुटां प्राक् ।१।४।६६।

स्वरात्परा या धुड्जातिस्तदन्तस्य नपुंसकस्य शौ परे धुड्भ्य एव प्राग् नोऽन्तः स्यात् । पयांसि । अतिजरांसि । काष्टतङि्क्ष । स्वरादित्येव—गोमन्ति ।६६।

धुटामिति-प्रागित्यनेन सम्बन्धाभावात् 'प्रभृत्यन्यार्थ० ।२।२।७५। इति न पञ्चमी । **धुड्भ्य एव प्रागिति** - प्रागित्यस्य दिक्शब्दत्वात्तद्योगे पञ्चमीविज्ञानादन्यस्यासम्भवात् धुट एव विज्ञायते । **पयांसि**– पयस् 'नपुंसकस्य शिः ।१।४।५५। इति जसः शिरादेशोऽनेन नागमः 'न्स्महतोः ।१।४।८६। इति दीर्घत्वम् 'शिड्हेऽनुस्वारः । ।१।३।४०। इत्यनुस्वारः । **अतिजरांसि** - अतिक्रान्ता जरा यैस्तानि जराया जरस् वा ।२।१।३। सूत्राद् 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति न्यायेन जरसादेशः, शिः, अनेन नोन्तः, 'न्स्महतोः ।१।४।८६। इति दीर्घः । **धुटामिति बहुवचनं जातिपरिग्रहार्थं तेन काष्टतङि्क्ष** – अत्र क् ष् इति अनेकधुट्सद्भावेऽपि जातिपरिग्रहान्नोन्तः, 'म्नां धुड्वर्गे० ।१।३।३९। इति ङकारः । ननु बहुवचनोपादानाभावेपि 'वर्णग्रहणे जातिग्रहणमिति न्यायात्सेत्स्यतीति बहुवचनोपादानं व्यर्थमिति चेत्सत्यं जातिव्यक्तिपक्षाभ्यां शास्त्रं प्रवर्तते तत्र व्यक्तिपक्षा-श्रयणेन प्राप्तस्यैकधुट्ग्रहणस्य बाधनायात्र जातिपक्ष एव आश्रयितव्य इति ज्ञापनार्थम् । **गोमन्ति** – गावः सन्ति येषु तानि गोमन्ति कुलानि 'तदस्या० । ७ । २ । २१ । इति मतुः, 'ऋदुदितः ।१।४।७०। इति परत्वान्नागमः पश्चात् 'गोमन्त् इ' इति स्थिते स्वरात्परत्वाभावान्न 'न्त' न भवति, तकारस्तु न स्वरात्परः यस्तु स्वरात्परः स न धुट् इति अनेन नोन्तो न भवति ॥६६॥

लों वा ।१।४।६७।

रलाभ्यां परा या धुट्जातिस्तदन्तस्य नपुंसकस्य शौ परे धुड्भ्य एव प्राक् नोन्तो वा स्यात् । बहूर्न्जि, बहूर्जि । सुवल्ङ्गि, सुवल्गि । लं इति किम् ? काष्टतङ्क्षि । धुटामित्येव—सुफुल्लि ।६७।

बहूर्न्जि—ऊर्जयन्तीति 'दिद्युद्ददृज्ज० ।५।२।८३। इति भ्राजादित्वात्क्विप् 'म्ना धुड्वर्गे० ।१।३।३९। इति ञकार: । सुवल्ङ्गि – सुष्ठु वल्गन्तीति । काष्टतङ्क्षि-अत्र तु पूर्वेण नित्यमेव । सुफुल्लि - सुष्ठु फुल्लन्तीति क्विप् ।।६७।।

धुटि ।१।४।६८।

निमित्तविशेषोपादानं विना आपादपरिसमाप्तेर्यत्कार्यं वक्ष्यते तद् धुटि वेदितव्यम् ।६८।

अधिकारसूत्रमिदम् । आपादपरि-समाप्ते: – पादपरिसमाप्तिं यावदित्यर्थ: ।।६८।।

अच: ।१।४।६९।

अञ्चतेर्धातोः धुडन्तस्य धुटः प्राक् नोन्तो धुटि स्यात् । प्राङ् । अतिप्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चि कुलानि ।६९।

धुटीति – तत्सम्बन्धिन्यसम्बन्धिनि वा धुटि परे इत्यर्थ: । प्राञ्चतीति क्विपि 'अञ्चोऽनर्चायाम्' ।४।२।४६। इति नलोपे 'दीर्घङ्याब्० ।१।४।४५। इति सिलोपेऽनेन नागमे 'पदस्य' ।२।१।८९। इति चलोपे 'युजञ्चक्रुञ्चो० ।२।१।७१। इति ङकारे च प्राङिति । स्याद्याक्षिप्तस्य नाम्नोऽच इति विशेषणाद् विशेषणे च तदन्तविधेर्भावात्समासेऽपि प्राप्तेराह - अतिप्राङ् इति प्राञ्चमतिक्रान्त: अतिप्राङ् । 'युज्जोऽसमासे ।१।४।७१। इति-सूत्रे 'असमासे' इति वर्जनादत्र प्रकरणे तदन्त-विधिर्ज्ञापितः, अन्यथा 'ग्रहणवता नाम्ना

न तदन्तविधि रिति निषेधः स्यात् ॥६९॥

ऋदुदितः ।१।४।७०।

ऋदुदितो धुडन्तस्य धुटि परे धुटः प्राक् स्वरात्परो नोन्तः स्यात् । कुर्वन् । विद्वान् । गोमान् । धुटीत्येव–गोमता ।७०।

'उदितः स्वरान्नोन्तः ।४।४।९८। इति सूत्रेणैव धात्वधिकारादुदितो धातोर्नोन्तस्य सिद्धत्वात् 'उदितः' इति कथनम् अस्वादेः परिग्रहार्थम् तत्साहचर्यात् ऋदितोऽपि अस्वादेरेवेति सूत्रमिदं स्वादिव्युदासार्थं विज्ञेयम् तेन सम्राट् इत्यादौ न भवति । करोतीति विग्रहे 'शत्रानशा० ।१।२।२०। इति शतरि 'कृग्तनादेः ।१।४।८३। इत्युप्रत्यये 'नामिनो गुणो० ।४।३।१। इति गुणे 'अतः शित्युत् ।४।२।८९। इत्युत्वम्' इवर्णादेः ।१।२।२१। इति वत्वेऽनेन नागमे 'दःघंङ्याब० ।१।४।४५। इति सिलोपे पदस्य' ।२।१।८९। इति तलोपे 'र्हादहस्वरस्या०' ।१।३।३१। इति वस्य द्वित्वे च कुर्वन्निति । वेत्तीति 'वा वेत्तेः क्वसुः ।५।२।२२। इति क्वसौ 'न्स्महतोः' ।१।४।८६। इति दीर्घत्वे च विद्वान् ॥७०॥

युजोऽसमासे ।१।४।७१।

युज् स्पी योगे इत्यस्यासमासे धुडन्तस्य धुटः प्राक् नोन्तः स्यात् । । युङ् । युञ्जौ । युञ्जि कुलानि । बहुयुङ् । असमास इति किम् ? अश्वयुक् । युज इति किम् ? युजिञ्च् समाधौ-युजमापन्ना मुनयः ।७१।

स्याद्याक्षिप्तस्य नाम्नो युज इति विशेषणात् तस्मिन्सति तदन्तविधेर्भावात् समासेऽपि प्राप्तिरिति असमासग्रहणम्. इदमेव ज्ञापयति अत्र प्रकरणे तदन्तविधिरस्तीति । युनक्तीति क्विपि, सिलोपेऽनेन नागमे 'पदस्य' ।२।१।८९। इति संयोगान्तलोपे 'युजञ्चक्रुञ्चो० ।२।१।७१। इति ङकारे च

युङिति । ईषदपरिसमाप्तौ युङ् 'नाम्नः प्राग्बहुर्वा ।७।३।१२। इति बहुप्रत्यये च बहुयुङ् । अश्वान् युनक्ती ति क्विपि 'ङस्युक्तं कृता ।३।१।४९। इति समासे च अश्वयुक् । ऋकारानुबन्धनिर्देशात् युजच् समाधौ इत्यस्य न भवति युजमापन्ना मुनयःसमाधिं प्राप्ता इत्यर्थः 'कुत्संपदा० ।५।३।११४। इति क्विप् ॥७१॥

अनडुहः सौ ।१।४।७२।

अनडुहो धुडन्तस्य धुटः प्राक् सौ परे नोऽन्तः स्यात् । अनड्-वान् । प्रियानड्वान् ।७२।

'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति न्यायेन 'अनडुही' इत्यत्रापि प्राप्तिरस्ति तथापि धुडन्तत्वाभावान्न भवति । ननु 'अनड्वान्' इत्यत्र 'स्रंस्-ध्वंस्-क्वस्स० ।२।१।६८। सूत्रेण दकारः कथं न भवति ? सत्यम्-प्राप्नोति परं नकारविधानसामर्थ्यान्न भवति । अनः शकटं वहतीति 'अनसो वहेः' उणा० १००६ इति क्विपि सस्य डकारे 'यजादिवचेः० ।४।१।७९। इति य्वृति सौ तल्लुचि 'वाः शेषे ।१।४।८२। इति वाऽऽदेशेऽनेन नागमे 'पदस्य ।२।१।८९। इति संयोगान्तलोपे चानड्वान् । प्रिया अनड्वाहो यस्य स प्रियानड्वान् 'पुमनडुन्नौ० ।७।३।१७३। सूत्रादेकत्वे कच्प्रसङ्गाद् बहुत्वेऽर्थे विग्रहः कृतः ॥७२॥

पुंसोः पुमन्स् ।१।४।७३।

पुंसोः पुमन्स् धुटि स्यात् । पुमान् । पुमांसौ । पुमांसः । प्रिय-पुमान् । प्रियपुमांसि ।७३।

पुंसोरुदित्त्वात् प्रियपुंसितरा, प्रियपुंस्तरा, प्रियपुंसीत्यादौ प्रियाः पुमांसो यस्या इति आधातूदृदितः ।२।४।२। इति ङी, सैव प्रकृष्टा 'द्वयोर्वि-भज्ये० ।७।३।६। इति तरप्यपि च 'ऋदुदितस्तरम० ।३।२।६३। इति ह्रस्वत्वं पुंवद्विकल्पश्च भवति । ननु 'पातेर्डुम्सुः । उणा० १००२ । इत्युदनुबन्धकर-

करणादेव ङोर्ह्रस्वत्वं पुंवद्विकल्पश्च भविष्यति किमत्रोदनुबन्धपठनेनेति चेत् सत्यमत्रोदनुबन्धपठनमव्युत्पत्तिपक्षार्थम्, यथा 'भातेर्डवतुः' उणा० ८८६ इत्यनुबन्धोऽस्त्येव तथापि पुनः सर्वादौ उदनुबन्धपठनमव्युत्पत्तिपक्षार्थं तथात्रापि । प्रियपुमानिति–बहुत्वेन विग्रहः कार्योऽन्यथा पुमनडुन्नौ० ।७।३।१७३। इति कच् स्यात् ॥७३॥

ओत औः ।१।४।७४।

ओतो घुटि परे औः स्यात् । गौः । गावौ । द्यौः । द्यावौ । प्रियद्यावौ । ओत इति किम् ? चित्रगुः ।७४।

चित्रगुः – अत्र परत्वात्पूर्वं 'गोश्चान्ते० ।२।४।९६। इति ह्रस्वत्वे पश्चादोकाराभावादौर्न भवति, वर्णविधित्वाच्च स्थानिवद्भावो नास्ति । ननु हे चित्रगो ! इत्यत्र चित्रगुशब्दस्य सम्बोधने ओकारे सत्यपि 'उभयस्थाननिष्पन्नोऽन्यतरव्यपदेशभाग्' इति न्यायेन सेर्व्यपदेशे सति प्राप्नोति परं कथं न भवतीति चेत्सत्यं यदौकारव्यपदेशस्तदा सेरभावान्न भवति । यदा सेर्व्यपदेशः तदा लाक्षणिकत्वात् 'लक्षण प्रतिपदोक्तयोः० इति न्यायान्न भवति ॥७४॥

आ अम्शसोऽता ।१।४।७५।

ओतोऽम्शसोरता सह आः स्यात् । गाः, गावौ । द्याः, द्यावौ । प्रियद्यावौ । ओत इति किम् ? चित्रगुः ।७५।

नन्वत्र 'अता' इति कथं ? एतस्माद्दतेऽपि समानानां तेन०' १।२।१। इति दीर्घत्वे कृते सर्वं सेत्स्यतीति चेत्सत्यम् 'अता' इत्यस्याभावे पुल्लिङ्गे 'शसोऽता०' ।१।४।४९। इति स्त्रीलिङ्गे 'लुगातोऽनापः ।२।१।१०७। इत्यनयोः प्रवर्तनात् 'गान्, गः 'इत्याद्यनिष्टं स्यात् । 'अता' इति कृते तु 'सन्नियोगशिष्टानामेकापाये०' इति सन्नियोगशिष्टत्वादेकस्याकारस्याभावे 'शसोऽता० ।१।४।४९। इति नकारो न भवति । एवं स्त्रीलिङ्गे 'लुगातोऽनापः

२।१।१०७। इत्यपि न भवति ॥७५॥

पथिन्मथिनृभुक्षः सौ ।१।४।७६।

एषां नान्तानामन्तस्य सौ परे आः स्यात् । पन्थाः । हे पन्थाः । मन्थाः । हे मन्थाः । ऋभुक्षाः । हे ऋभुक्षाः । नान्तनिर्देशादिह न स्यात्- पन्थानमैच्छत् पथीः ।७६।

'धुटि' इति अनुवर्तनात् 'सौ' इति श्लिष्टनिर्देशेऽपि सुप् न गृह्यते । पन्था इति – पथिन्शब्दस्थनकारस्याकारादेशः 'लि लौ ।१।३।६५। इत्यत्र द्विवचनेन ज्ञापितत्वात्सानुनासिकस्यापि स्थाने निरनुनासिक एवादेशो भवति । 'एः' ।१।४।४७। इत्कार-स्याकारः, 'समानानां तेन० ।१।२।१। इति दीर्घ, 'थो न्थ्' ।१।४।७८। इति न्थादेशः । पन्थानमैच्छत् पथीः–'अमाव्यया-त्क्यन् च ।३।४।२३। इति क्यनि नलोपे 'दीर्घश्च्वि०' ।४।३।१०८। इति दीर्घत्वे 'अतः ।४।३।८२। इत्यल्लोपे 'य्वोः व्यञ्जने०' ।४।४।१०१। इति यलोपे च । ननु 'पन्थानमैच्छत्' इति क्यनि दीर्घत्वे कर्तव्ये 'नाम्नो नोऽनह्नः ।२।१।९१। इति नलोपोऽसन्नाथ भवतीति चेत्सत्यम् - षष्ठमसत्परे० ।२।१।६। इति सूत्रात् 'असत्परे' इत्यधिकारस्य 'रहसः ।२।१।९०। इत्यतः प्रागेव भावात् अयं तु पर इति ॥७६॥

एः ।१।४।७७।

पथादीनां नान्तानामितो घुटि परे आ स्यात् । पन्थाः । पन्थानौ । पन्थानः । पन्थानम् । सुपन्थानि कुलानि । मन्थाः । ऋभुक्षाः । नान्तनिर्देशादिह न स्यात् । पथ्यौ । पथ्यः ।७७।

पथ्यादीनामकारस्यासम्भवादाह-इतः इकारस्येत्यर्थः । सुपन्थानि– शोभनः पन्था येषु तानि "पूजास्वतेः" प्राक्टात्" ।७।३।७२। इति समासान्तनिषेधः ॥७७॥

थो न्थ् ।१।४।७८।

पथिन्मथिनोर्नान्तयोस्थस्य घुटि परे न्थ् स्यात् । तथैवोदाहृतम् ।७८।

न्थ् इत्यनेकवर्णत्वात् 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ।७।४।१०७। इति सर्वस्य प्राप्तौ स्थानिविशेषार्थम्, ऋभुक्षिनिवृत्त्यर्थं च 'थ' इति स्थानिन उपदानम् । ॥७८॥

इन् ङीस्वरे लुक् ।१।४।७९।

पथ्यादीनां नान्तानां ङ्यामघुट् स्वरादौ च स्यादौ परे इन् लुक् स्यात् । सुपथी स्त्री कुले वा । पथः । सुमथी स्त्री कुले वा । मथः अनृभुक्षी सेना कुले वा । ऋभुक्षः ।७९।

अघुट्स्वरादौ चेति– ङीसाहचर्यात् 'अघुटि' इति विशेषणं ज्ञेयम् । स्याद्यधिकारस्तु अस्त्येव । ङीग्रहणवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च ङ्यामपि । निमित्तविशेषानुपादाने 'घुटि' इत्यधिकारः अत्र तु 'स्वर' इति निमित्तविशेषोपादानात् घुटि तु पथ्यादीनामिनो विशेषविध्याक्रान्तत्वात् अघुट्स्वर इति निश्चीयते । इन् लुक् चेति **अभेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः** । अन्यथा "षष्ठ्यान्त्यस्य ७।४।१०६ इति परिभाषा प्रवर्तेत । अनियमे नियमकारिणी परिभाषा,

उक्तं च-एकदेशे स्थिता, शास्त्रभवने याति दीपताम् ।
परितो व्यापृतां भाषां, परिभाषां प्रचक्षते ॥

सुपथीत्यादि–शोभनः पन्थाः यस्या ययोर्वा 'ऋक्पूःपथ्य'० ।७।३।७६। इति समासान्तः 'पूजास्वतेः० ।७।३।७२। इति प्रतिषेधात् न भवति । 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि' इत्यव्युत्पत्तिपक्षाश्रयणे इन्नन्तत्वाभावात् 'इनः कच् ।७।३।१७०। इत्यपि न भवति । व्युत्पत्तिपक्षे 'सुभ्र्वादिभ्यः ।७।३।१८२ इति निषेधान्न भवति । नान्तत्वात् 'स्त्रियां नृतो० ।२।४।१। इति ङीप्रत्ययः, कुलविशेषणत्वे 'औरीः ।१।४।५६। इतीकारेवाऽनेनेनो लुक् एवं सुमथीत्यादावपि ज्ञेयम्, न विद्यते ऋभुक्षाः इन्द्रो यस्याः ययोर्वा ।७९।

वोशनसो नश्चामन्त्र्ये सौ ।१।४।८०।

आमन्त्र्यवृत्तेरुशनसो न-लुकौ सौ परे वा स्याताम् । हे उशनन्, हे उशन, हे उशनः । आमन्त्र्य इति किम् ? उशना ।८०।

उशनन् इत्यादि– प्रकृतसूत्रेण वा नलोपयोः कृतयोः 'दीर्घङ्याब्० ।१।४।४५। इति 'अदेतः स्यमोर्लुक् ।१।४।४४। इति लुकि तदभावपक्षे सिलोपरुत्वादौ च त्रैरूप्यं सिद्धम् । "सर्वेभ्यो लोपो बलीयान्' इति न्यायाश्रयणे तु सेर्लुचि स्थानिवद्भावेन वा नलुकोः कृतयोः हे उशन हे उशन हे उशनः इति त्रैरूप्यम् । उशना– आमन्त्र्याभावे तु 'ऋदु० ।१।४।८४। सूत्रेण सेर्डाः ॥८०॥

उतोऽनडुच्चतुरो वा ।१।४।८१।

आमन्त्र्यार्थवृत्त्योरनडुच्चतुरोरुतः सौ परे वः स्यात् । हे अनड्वन् हे प्रियचत्वः । हे अतिचत्वः ।८१।

'वाः शेषे' ।१।४।८२। इत्युत्तरसूत्रे शेषग्रहणादामन्त्र्यसिरेवानुवर्तते न तु निमित्तविशेषोपादानाभावाद् 'घुटि' इति । 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति न्यायेन स्त्रीलिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणे प्राप्तेऽपि हे अनडुहि । इत्यत्र "गौरादिभ्यः मुख्यान्ङीः ।२।४।१९। इति गौरादिनिपातनात् वत्वाभावः एवमुत्तरसूत्रेऽपि । हे अनड्वन्नित्यादि–'अनडुहः सौ ।१।४।७२। इति नोऽन्तः, 'प्रियः ।३।१।१५७। इति पूर्वनिपातः, अन्यत्र तु 'विशेषण–सर्वादिसङ्ख्यं० ।३।१।१५०। इति चतुःशब्दस्य पूर्वनिपातो भवति । चतुःशब्दस्यार्थप्रधानत्वादेकस्यामन्त्रणासम्भवे समासे उपसर्जनीभूतः उदाहृतः ॥८१॥

वाः शेषे ।१।४।८२।

आमन्त्र्यविहितात्सेरन्यो घुट्शेषस्त-स्मिन्परे अनडुच्चतुरोरुतो वाः स्यात् । अनड्वान् । अनड्वाहौ । प्रियचत्वाः । प्रियचत्वारौ । शेष इति किम् ? हे अनड्वन् । हे प्रियचत्वः ।८२।

इह शेषे घुटि वादेशविधानात् पूर्वत्रामन्त्र्ये सौविति सम्बध्यते।
॥८२॥

सख्युरितोऽशावैत् ।१।४।८३।

सख्युरिदन्तस्य शिवर्जे शेष घुटि परे ऐत् स्यात। सखायौ। सखायः सखायम्। इति इति किम? सख्यौ सिख्यौ। अशाविति किम्? अतिसखीनि। शेष इत्येव। हे सखे।८३।

ननु कृतम् 'इतः' इति ग्रहणेन तदन्तरेणापि सखिशब्दनिर्देशात् सखीशब्दस्य ङीप्रत्ययान्तस्य सखीशब्दस्य क्यन्क्विबन्तस्य चोभयोरपि प्राप्त्यभावादिति चेत् अत्रोच्यते इदमेव व्यर्थ सत् 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति 'एकदेशविकृतमनन्यवदिति न्यायौ सूचयति। न च 'स्पर्द्ध' ।७।४।११९। इति परत्वात्पूर्वमेकारादेशे पश्चात् 'क्लिबे' ।२।४।९२। इति ह्रस्वत्वे ततो नागमे दीर्घत्वे च न कश्चिद्दोष इति किमर्थं शिवर्जनमिति वाच्यम् 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न्यायात् घुड्निमित्तैकारस्य बहिरङ्गत्वात् ह्रस्वत्वे कर्तव्येऽसिद्धत्वात्। ननु कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् 'परान्नित्यम्' इत्यथवा 'आदेशादागमः' इति न्यायात्पूर्वं नागमः पश्चाद् व्यवधानादैकारो न भविष्यतीति किं शिवर्जनेनेति चेत्सत्यं 'स्वाङ्गमव्यवधायि' इति प्रकृतिभक्तत्वेनाव्यवधायकत्वादैकारोऽपि नित्य इति द्वयोर्नित्ययोः परत्वादैकारः स्यादिति शिवर्जनम् ॥८३॥

ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्डाः ।१।४।८४।

ऋदन्तादुशनसादेः सख्युरितश्च परस्य शेषस्य सेर्डाः स्यात्। पिता, अतिपिता। कर्ता। उशना। पुरुदंशा। अनेहा। सखा।८४।

ऋदन्तादित्यादि– ऋकारान्तस्य 'अर्ङो च' ।१।४।३९। इत्यरि प्राप्ते 'तृस्वसृ०' ।१।४।३८। इत्यारि च प्राप्ते शेषाणामुशनसादिशब्दानां "दीर्घङ्याब्०" ।१।४।३५। इति सिलोपे, अभ्वादेरत्वसः सौ ।१।४।९०। इति दीर्घत्वे प्राप्ते 'सो रुः ।२।१।७२। इति रुत्वे च प्राप्ते 'डा' आदेशः ॥८४॥

नि दीर्घः ।१।४।८५।

शेषे घुटि परे यो नस्तस्मिन्परे स्वरस्य दीर्घः स्यात् । राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । वनानि । कर्तॄणि । शेष इत्येव । हे राजन् ।८५।

राजेति – स्यादिविधौ कर्तव्ये न - लोपस्यासत्वात्पूर्वं 'नाम्नो नोनह्नः' ।२।१।९१। इति न प्रवर्तते । 'स्वरस्य ह्रस्वदीर्घप्लुताः' इति न्यायादाह स्वरस्येति ॥८५॥

न्स्महतोः ।१।४।८६।

न्सन्तस्य महतश्च स्वरस्य शेषे घुटि परे दीर्घः स्यात् । श्रेयान् । श्रेयांसौ । महान् । महान्तौ ।८६।

अपरे तु अत्र औणादिको 'द्रुहिवृहि०' । उणा० '८८४ । इत्यनेन कतृप्रत्ययान्तो व्युत्पन्नोऽव्युत्पन्नो वा महच्छब्दो ग्राह्यः, यस्तु शत्रानशा० ।५।२।२०। इति शत्रन्तस्तस्य महन्नित्येव, न त्वनेन दीर्घः 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः०' इति न्यायात् लाक्षणिकस्य शतृप्रत्ययान्तस्य ग्रहणं न भवति इत्याहुः ॥८६॥

इन्हपूषार्यम्णः शिस्योः ।१।४।८७।

इन्नन्तस्य हनादेश्च स्वरस्य शिस्योरेव परयोर्दीर्घः स्यात् । दण्डीनि । स्रग्वीणि । दण्डी । स्रग्वी । भ्रूणहानि । भ्रूणहा । बहुपूषाणि । पूषा । स्वर्यमाणि । अर्यमा । शिस्योरेवेति किम् ? दण्डिनौ, वृत्रहणौ, पूषणौ । अर्यमणौ ।८७।

'नि दीर्घः ।१।४।८। इति सिद्धे नियमार्थं वचनम्–एषां शि-स्योरेव

यथा स्यात् नान्यत्र दण्डिनौ, दण्डिनः, दण्डिनमित्यादौ । एषामेव शिस्योरिनि विपरीतनियमस्तु न कार्यः वंश्यज्यायो० ।६।१।३। इत्यत्र युवेति 'पराणि कानां० ।३।३।२०। इत्यत्र पराणीति निर्देशात् । 'अनिनस्मिन्ग्रहणान्यर्थवताऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति' इति न्यायाद् दण्डोऽ स्यास्तीति 'अतोऽनेकस्वरात्' ।७।२।६। इति सार्थके इनि दण्डी, तपोऽस्यास्तीति' अस्तपोमायामेधा० ।७।२।४७। इति विनि तपस्वी, उभयत्रापि 'इन्हन्पूषा० ।१।४।८७। इति दीर्घः । स्रग्वीनि - 'अस्तपोमाया० ।७।२।४७। इति विन् । भ्रूणहानि – इत्युदाहरणं हन्तेः केवलस्य क्विबन्तस्य दर्शनाभावात् । बहुपूषाणि – स्वप्रधानायां वृत्तौ शेरभावात् उपसर्जनभूतमुदाहृतम् एवं स्वर्यमाणि । वृत्रहणौ – सञ्ज्ञायां 'पूर्वपदस्थान्ना० ।२।३।६४। इत्यनेनासंज्ञायां तु 'कवर्गैकस्वरवति' ।२।३।७६। इति णत्वम् ॥८७॥

अपः ।१।४।८८।

अपः स्वरस्य शेषे घुटि परे दीर्घः स्यात् । आपः । स्वापौ ।८८।

अप्शब्दस्य बह्वर्थवाचित्वादेकवचनद्विवचनासम्भवे बहुवचनमुदाहृतम् । **स्वापौ** – शोभना आपो ययोस्तौ स्वापौ ॥८८॥

नि वा १।४।८९।

अपः स्वरस्य नागमे सति घुटि परे दीर्घो वा स्यात् । स्वाम्पि । स्वाम्पि । बह्वाम्पि । बह्वम्पि ।८९।

बह्वाम्पि – 'नपुंसकस्य शिः ।१।४।५५। समासान्तागमसञ्ज्ञाज्ञापकगणनञ्निर्दिष्टान्यनित्यानि' इति समासान्तविधेरनित्यत्वात् ऋक्पूःपथ्यपो०' ।७।३।७६। इति समासान्तो न भवति ॥८९॥ 'धुटां प्राक्' ।१।४।६६। इति नागमः, 'म्नां धुड्वर्गे० ।१।३।३९। इति मकारोऽनेन पक्षे दीर्घत्वम् ॥८९॥

अभ्वादेरत्वसः सौ ।१।४।९०।

अत्वन्तस्यासन्तस्य च भ्वादिवर्जस्य शेषे सौ परे दीर्घः स्यात् । भवान् । यवमान् । अप्सराः । गोमन्तं स्थूलशिरसं वेच्छन् गोमान् स्थूलशिराः । अभ्वादेरिति किम् पिण्डग्रः ।९०।

'अत्वः' इत्युकारानुबन्धनिर्देशाद् ऋदितः पचन् चरनित्यत्र न दीर्घः । **भवान्** – भातेर्डवतुः । उणा० ८८६ इति डवतुः 'स्वाङ्गमव्यवधायि' इति न्यायेन 'ऋदुदितः ।१।४।७०। इति नागमे सत्यप्यव्यवधानाद् दीर्घो भवत्येव नकारेण व्यवधानात् 'नि दीर्घः ।१।४।८४। इत्यप्राप्तम् । अप्सरस्शब्दः सर्ववचनान्त केचिद् बहुवचनान्तमेव मन्यन्ते । अधातोः इत्यकृत्वा 'अभ्वादेः' इति करणं भ्वादीनामेव व्युदासार्थं तेन गोमन्तमिच्छतीति क्यनि क्विपि **गोमानित्यादि सिद्धम्** । **पिण्डग्रः** - पिण्ड ग्रसते इति । ननु 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इति न्यायेनैव न भविष्यतीति किमभ्वादेरिति वर्जनेनेति चेत्सत्यम्- इदमेव' अभ्वादेः' इति भ्वादिवर्जनम् 'अनिनस्मिन्ग्रहणा० इति न्यायं ज्ञापयति तेन **खरणसेव** नासिकाऽस्य 'खरखुराद्नासिकाया: नस् ।७।३।१६०। इति खरणाः इत्यत्रापि अनेन दीर्घः सिद्धः ।९०।

क्रुशस्तुनस्तृच् पुंसि ।१।४।९१।

क्रुशो यस्तुन् तस्य शेषे घुटि परे तृच् स्यात् पुंसि । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । पुंसीति किम् ? कृश-क्रोष्टूनि वनानि ।९१।

लाघवार्थं **'क्रोष्टोः क्रोष्टृ पुंसि' इत्यकृत्वा तृज्वचनं** तृस्वस्रादिसूत्रेणाऽऽरर्थम् । प्रत्ययस्य' ।७।४।१०८। इति सर्वस्याऽऽदेशः । पुंसि इति – पुल्लिङ्गविषये इत्यर्थः । समासेऽपि यदि पुल्लिङ्गविषय एव तदैव भवति तेन कृशाः क्रोष्टारः येष्विति 'कृशक्रोष्टूनि वनानि' इत्यत्र न भवति ॥९१॥

टादौ स्वरे वा ।१।४।९२।

टादौ स्वरादौ परे क्रुशस्तुनस्तृज् वा स्यात् पुंसि । क्रोष्टा ।

क्रोष्टुना । क्रोष्ट्रोः क्रोष्ट्वोः ।९२।

क्रोष्टूनामित्यत्र तु नित्यत्वात् पूर्वं नामादेशे स्वराभावान्न भवति। **यद्यपि तृच्प्रत्ययान्तः शृगालवाची स्यात् तथापि प्रयोगनियमो दुर्विज्ञान इति आदेशः** कृतः । अयं भावः – 'णकतृचौ ।५।१।४८। इति तृच्प्रत्यये एवमुणादितुन्प्रत्यये साध्यसिद्धिर्भविष्यतीत्यलं तृजादेश-विधानेन। तुन्प्रत्ययान्तस्य रुढ्या शृगालवाचित्वं तृजादेशविधानाभावे तु तृच्प्रत्ययान्तस्य क्रियाशब्दत्वाद्विशेषस्य वाचकः स्यादिति वाच्यं भीरु रमणीत्यादिशब्दाः यद्यपि क्रियाशब्दास्तथापि नारीवाचका भवन्ति तथाऽपि तृच्प्रत्ययान्तस्य रुढ्या शृगाल – वाचित्वं स्यादिति चेन्मैवं तृजादेशविधानाभावे क्रोष्टृभ्याम्, क्रोष्टृभिः, क्रोष्टृषु इत्यादि क्रोष्टृशब्दस्य शृगालवाचित्वे पूर्वेण शेषे घुट्येव तृच् अनेन टादौ स्वरादौ प्रत्यये एव तृच् अन्यत्र तुन्नेव । तुनः स्थानप्रवृत्तेन तृचा ज्ञाप्यते यत्र तुनस्तृचादेशविधानं तत्रैव शृगालवाचित्वम् तेन शृगालवाचित्वे सति क्रोष्टृभ्यामित्यादिर्न भवति । क्रियाशब्दस्य तु सर्वथा तृच्प्रत्ययो भवत्येव ।।९२।।

स्त्रियाम् ।१।४।९३।

ऋशः परस्य तुनः स्त्रीवृत्तेस्तृच् स्यात् । निर्निमित्त एव । क्रोष्ट्री । क्रोष्ट्र्यौ । क्रोष्ट्रीभ्याम् । पञ्चक्रोष्टृभी रथैः ।९३।

'ऋुशस्तुनस्तृच् पुंसि स्त्रियां च' इत्येकयोगाकरणात् 'घुटि' इति नानुवर्तते । न चैकयोगकरणे 'स्त्रियाम्' इत्यस्योत्तर–सूत्रेऽनुवृत्तिर्न स्यादिति वाच्यम् असमस्तनिर्देशात्स्यादेव अन्यथा 'पुंस्त्रियोः' इति कुर्यात् । **पञ्चक्रोष्टृभी रथैरिति** – 'सो रुः ।२।१।७२। 'रो रे लुग्दी०' ।१।३।४१। इति पञ्चभिः क्रोष्टृभिः क्रीताः पञ्चक्रोष्टारस्तैः 'मूल्यैः क्रीते' ।६।४।१५०। इतीकण् 'अनाम्न्यद्विः०' ।६।४।१।१। इतीकण्लुपि ङ्यादेर्गौणस्या० ।२।४।९५। इति ई निवृत्तावपि निर्निमित्तत्वादेशस्य निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः' इति न्यायेन निवृत्तिर्न भवति । निर्निमित्तादेशविधानादेव क्यङ्मानिपित्तद्धिते' ।३।२।५०। इति पुंवद्भावो न भवत्यन्यथा पुंवद्भावे हि आदेशोनिवर्तेत । ननु 'घुटि' इति नानुवर्तते परं 'स्यादौ' इत्यस्यानुवृत्ति-

रपि न भवर्त ति चेन्सत्यम् 'स्यादौ' इत्यस्यानुवृत्तौ हि क्रोष्टी भंकिरस्व क्रोष्टीभवित्तर्गशौ नि न सिध्यति। 'लु अन्तरङ्गं भ्यः'इति न्यायात्पूर्वमेव ऐका-र्थ्ये।३।२।८। इति विभक्तोलु पि 'लुप्यवृल्लेनत् ।७।१।११२। इति स्थानिव-द्भावनिषेधादादेशा भावात् । यद्वा 'त्रिचतु स्ति० ।२।१।१। इत्यत्र 'स्यादौ' इति भणनात् ॥९३॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

प्रश्न-(१) क्रिश्चियन, मिशनरी खोलकर प्रतिवर्ष नयेक्रिश्चियन बनाते हैं तो नये जैन बनाने के लिये वैसा करने की क्या जरुरत नहीं है ?

उत्तर- क्रिश्चियन,नये क्रिश्चियन बनाने के लिये माया, प्रपंच, झूठ आदि अनेक पाप करते है। लोगों को भ्रमित कर ईसाई बनाते है। ऐसे ऐसे प्रचार करते है जिसका वर्णन नहीं हो सकता। पाप करके बनाये हुए नये लोग अपने माता पिता को भी भूल जाते हैं। धर्म में जोड़ने हेतु क्या पाप करने की छूट है? विषय कषाय के रागी बने हुए क्या धर्म करते है ? धर्म तो समझा समझाकर देने का है इस कार्य को तो हम करते ही हैं।

श्रीअरिहंत परमात्मा भी संसार कैसा है धर्म कैसा है मोक्ष कैसा हैं यह समझाते हैं । यदि लांच रिश्वत से धर्म दिया जाता होता तो अरिहंत परमात्मा में ताकत नहीं थी वैसा था क्या ? इन्द्रादि देवता जिनके सेवक थे। मनुष्य कितने हैं ? जबकि इन्द्रादि देव तो असंख्य हैं। जो भगवान के पीछे पीछे घूमते है, यदि इन्द्रादिदेवों को कहा होता कि हरेक को लाख लाख रुपये देकर धर्मी बना दो तो क्या अशक्य था ? धर्म तो समझाकर ही दिया जाता हैं ।

॥ अथ द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः ॥

त्रिचतुरस्तिसृ-चतसृ स्यादौ ।२।१।१।

स्त्रियामिति वर्तते, स्यादौ परे स्त्रीवृत्त्योस्त्रिचतुरोर्यथासंख्यं तिसृ चतसृ इत्येतौ स्याताम् । तिस्रः चतस्रः । तिसृषु, चतसृषु । प्रियतिस्रा, प्रिय-चतस्रा ना । प्रियतिसृ कुलम्, प्रियत्रि कुलम् । स्यादाविति किम् ? प्रियत्रिकः, प्रियचतुष्कः ।१।

त्रयश्च चत्वारश्च त्रिचतुर्, तस्य । तिसा च चतसा च तिसृचतसृ । सिरादिर्यस्य तस्मिन् । तिस्रः, चतस्रः – अत्र जसि 'अनेकवर्णः सर्वस्य ।७।४।१०७। सूत्रात् त्रिचतुरोः तिसृचतस्रादेशौ, ततः 'अड्‌ढा च ।१।४।३९। सूत्रादर्प्राप्तौ, 'ऋतोरः स्वरेऽनि ।२।१।२। सूत्राद् रः । शसि तु 'शसोऽता सश्च० ।१।४।४९। सूत्राद् दीर्घे प्राप्ते 'ऋतो रः० ।२।१।२। सूत्राद् रः । प्रियास्तिस्रश्चतस्रो वा यस्य पुरुषस्य कुलस्य वा 'लुबन्तरङ्गेभ्यः' इति न्यायेन पूर्वं विभक्तिलोपे ततः समासाद् या विभक्तिस्तस्यां परतः 'निर्दिश्यमानस्यैवादेशा भवन्तीति न्यायेन तिस्रादेशः, पूर्वस्य 'परतः स्त्री० ।३।२।४९। सूत्रात् पुंवद्भावः, जहत्स्वार्थ - वृत्तिपक्षे 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः' इति न्यायेन स्त्रियां वर्तमानता। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इति न्यायादन्तरङ्गे कचि कर्तव्ये विभक्तिनिमित्तकत्वेन बहिरङ्गत्वात् तिसृचतस्रादेशस्यासिद्धत्वान्न 'ऋन्नित्य० ।७।३।७१। सूत्रान्न ऋदन्तलक्षणः कच् 'ऋदु० ।१।४।८४। सूत्रेण सेर्डाः, क्ल बे 'नामिनो लुग्वा ।१।४।६१। सूत्रात् सेर्लुचि तस्य च स्थानिवद्भावात् तिस्रादेशः, 'अनतः० ।१।४।५९। सूत्रात् लुपि स्थानिवद्भावाभावान्न तिस्रादेशः । प्रियास्तिस्रश्चतस्रो वा यस्यासौ प्रियत्रिकः, प्रियचतुष्कः, 'शेषाद् वा ।७।३।१७५। सूत्रात् कच् तेन व्यवहितत्वान्न आदेशः । अत्रेदमवधेयम् – 'त्रिचतुरः' इत्यनेन स्याद्याक्षिप्तं नाम विशिष्यते तेन तदन्तविधिः, केवलयोस्तु 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति न्यायात् भवति । इदं सूत्रं तत्सम्बन्धिन्य-

सम्बन्धिनि वा स्यादौ परे प्रवर्तते एवमग्रेऽपि । स्त्रियामिति श्रुतत्वात् 'त्रिचतुरः' इत्यस्यैव विशेषणम् अन्यथाऽन्यसम्बन्धिनि अपि स्यादौ परे समुदायस्य स्त्रियां वर्तमानत्वाभावादादेशो न स्यात् ॥१॥

ऋतो रः स्वरेऽनि ।२।१।२

तिसृचतसृस्थस्य ऋतः स्वरादौ स्यादौ परे रः स्यात् । अनि, नविषयादन्यत्र । तिस्रः, चतस्र, प्रियतिस्रौ, प्रियचतस्रौ । स्वर इति किम् ? तिसृभिः, चतसृभिः । अनीति किम् ? तिसृणाम्, चतसृणाम् ।२।

'शसोऽता० ।१।४।४९। 'अङौ च ।२।४।३९। 'ऋतो डुर् ।१।४।३७। इति प्राप्तानां समानदीर्घत्वाडुरामपवादः । ननु 'ऋतः' इति कथनेन किम् ? तदभावेपि 'षष्ठ्यान्त्यस्य ।७।४।१०६। इति न्यायात् साध्यसिद्धिर्भविष्यतीति चेन्मैवम् 'ऋतः' इति कथनाभावे पूर्वसूत्रात्कार्यितया प्रतिपन्नस्य 'त्रिचतुरः' इत्यस्यानुवृत्तौ पूर्वसूत्रस्यापवादः स्यात् । 'ऋत' इति कथने तु त्रिचतुर्मध्ये ऋकाराभावाद् 'तिसृचतसृ' इत्यादेशयोः सम्बन्धः । अनीति नकारः प्रत्ययरूप आगमरूपश्च ग्राह्यः । सामान्यनिर्देशेन आगमविषयस्यापि वर्जनं वेदितव्यं तेन 'प्रियतिसृणि' इत्यादावपि रत्वं न भवति । इदमेव 'अनि' इति नकारमात्रस्य वर्जनम् 'आगमात्सर्वादेशः' इति न्यायं ज्ञापयति । यद्ययं न्यायो न स्यात्तदा स्वरादौ स्यादौ परे 'अ देशादागमः' इति न्यायेन पूर्वं नागमस्यैव भवनात्तद् व्यवधाने च तिस्राद्यादेशाभवनात् रकारादेशप्राप्तिरेव नास्तीति । तिस्र इत्यादौ विधानसामर्थ्यान्न षत्वम् । तिसृणामिति – दीर्घो नाम्य० ।१।४।४ । सूत्रे तिसृचतसृवर्जनान्न दोघः ॥२॥

जराया जरस् वा ।२।१।३।

स्वरादौ स्यादौ परे जराया जरस्वा स्यात् । जरसौ । जरसः । जरे जराः । अतिजरसौ अतिजरौ । अतिजरसम्, अतिजरम् कुलम् ।३।

अतिजरसाविति – 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति न्यायेन अतिजरसावित्यादौ जरशब्दस्यापि जरसादेशः। अतिजरसमित्यादौ 'अतः स्यमोम्' ।१।४।५७। इत्यम्भावः, 'जरसो वा' ।१।४।६०। इति विकल्पवचनाद् 'अतिजरसम्' इत्यत्र विभक्तेर्लुब्नाभवत्। शौ तु 'स्पर्द्धे' ।७।४।११९। इति परत्वाज्जरसादेशः, पश्चान्नागमः। ननु पूर्वं नागमेऽपि सनागमस्यादेशे 'घुटां प्राक्' ।१।४।६६। इति पुनर्नागमे अतिजरांसि, अतिजराणि इति रूपद्वयसिद्धौ किं परत्वचिन्तयेति चेन्नैव पूर्वं नागमे 'स्वाङ्गमव्यवधायि' इति न्यायेन प्रकृतेरेवाव्यवधायको नागमः। अवयवस्य तु जरशब्दस्य व्यवधायकत्वादादेशो न स्यात्। स्त्रियां तु 'गोश्चान्ते ह्रस्वो०' ।२।४।९६। इति ह्रस्वत्वे 'आप्' ।२।४।१८। इत्यापि आपा व्यवधानाज्जरसादेशाभावे 'अतिजरया' इत्याद्येव भवति ॥३॥

अपोद्भे ।२।१।४।

भादौ स्यादौ परे अपो अद् स्यात्। अद्भिः। स्वद्भ्याम्। भ इति किम्। अप्सु ।४।

भ इत्यत्राकार उच्चारणार्थः। अप्शब्दस्य केवलस्य बह्वर्थविषयत्वाद्बहुवचनेनोदाहृतम् अद्भिरिति। स्वद्भ्यामिति – बहुव्रीहिसमासे तु एकत्वद्वित्वबहुत्वसम्भवे द्विवचनमुदाहृतम्। 'पूजास्वतेः प्राक् टात्' ।७।३।७२। इति कच्निषेधः 'निर्दिश्यमान-स्यैवादेशा भवन्ति' इति न्यायादप एवादेशः ॥४॥

आ रायो व्यञ्जने ।२।१।५।

व्यञ्जनादौ स्यादौ परे रैशब्दस्य आः स्यात्। राः। रासु। अतिराभ्याम् कुलाभ्याम्। व्यञ्जन इति किम्। रायः ।५।

'भि' इत्येव सिद्धे व्यञ्जनग्रहणमुत्तरार्थम् ननु तर्हि सन्देहार्थमुत्तरसूत्र एव क्रियतामिति चेत्सत्यं केचित् रायमतिक्रान्तानि यानि तेषां

'क्लीबे' ।२।४।९७। इति ह्रस्वत्वे 'सन्निपातलक्षण:०' इति न्यायस्यानित्यता-माश्रित्य 'अतिराणाम्' इत्यपीच्छन्ति तन्मतसङ्ग्रहार्थमिहार्थमपि तेन स्वमतेपि सम्मतम् । षष्ठ्यान्त्यस्य' ।७।४।१०६। इति न्यायाद् रैशब्दान्तस्यादेशो भवति । एकदेशविकृतमनन्यवद्' इति न्यायाताह अतिराभ्यामिति । रायमतिक्रान्तानि यानि तेषामतिरोणामित्यत्र '्ह्रस्वापश्च' ।१।४।३२। इत्यामो नामादेशे 'सन्निपातलक्षण:' इति न्यायेन 'आ राया व्यञ्जने ।२।१।५। इति सूत्रं न प्रवर्तते । ननु तर्हि 'दीर्घो नाम्यतिसृ०' ।१।४।४७। इत्यपि न प्रवर्ततेति चेन्मैवं तदाऽस्य न्यायस्यानित्यत्वाद् भवत्येव 'न्याया: स्थविरयष्टिप्राया: १४०' इति । अयं भाव: यथा स्थविरो गमनागमनकालेषु कार्यवशादेव यष्टिमवलम्बते नान्यथा तथा शिष्टप्रयोगसिद्ध्यर्थमेव न्यायानामाश्रयणं तदभावे तु न्यायानामनाश्रयणमेव ।।५।।

युष्मदस्मदो: २।१।६।

व्यञ्जनादौ स्यादौ परे युष्मदस्मदोरा: स्यात् । त्वाम् । माम् । अतित्वाम् । अतिमाम् । युष्मासु । अस्मासु ।६।

अविवक्षितार्थयोर्युष्मदस्मदोरेतावनुकरणे इति 'त्यदादि:' ।३।१।१२०। इत्येकशेष: 'टाङ्यासि०' ।२।१।७। इत्यादिना युष्मदस्मदो: कार्यं यत्वादि च न भवत: । ननु 'व्यञ्जने' इत्यस्यानुवृत्त्यभावेऽप्यनेनाऽऽत्वे कृते 'लुगातोऽनाप:' ।२।१।१०७। इत्याकारलोपे सर्वं सेत्स्यतीति किं व्यञ्जन इत्यस्यानुवृत्त्येति चेत्सत्यं सूत्रस्य व्यक्त्या प्रवर्तनादात्वे कृते लुबादिकं न प्रवर्तते-व्यञ्जनग्रहणम् तथा च व्यञ्जनग्रहणाभावे युष्मभ्यं युष्मभ्यमित्यादावनेनाऽऽत्वमेव स्यात् न तु 'मोर्वा ।२।१।९। इति विकल्पेन मकारलोप: । त्वामित्यादि – युष्मद् 'अमौ म:' ।२।१।१६। इत्यम्प्रत्ययस्य मादेशे 'त्वमौ प्रत्ययोत्तर०' ।२।१।१२। इति मान्तावयवस्य त्वादेशे त्व अद् म् इति स्थिते 'लुगस्यादेत्य०' ।२।१।११३। इत्यकारलोपेऽनेनाऽऽत्वे दीर्घत्वे च त्वामिति सिद्ध: एवमन्येऽपि । व्यञ्जने इत्येव – युष्मभ्यम् अस्मभ्यम् । नन्वन्तरोक्तस्थले 'लुगस्या–देत्यपदे ।२।१।११३। इत्यकारलोपे 'मोर्वा' ।२।१।९। इति कथं लुगेति चेत्सत्यं स्वरस्य स्थानिवद्भावात् । न च तर्हि युष्मयते: क्विपि युष्मशब्दस्तस्माद्भ्यसोऽभ्यमादेशे 'मोर्वा' ।२।१।९ इति न प्रवर्तेत स्वरस्य स्था-

निवद्भावादिति वाच्यं प्रत्यासत्तिन्यायेन यस्मिन् प्रत्यये लुग्भवति तस्मिन्नेव प्रत्यये यत्कार्यमुक्तं तदा स्थानिवद्भावात्तन्न भवति अत्र तु 'अन्त्यस्वरादेः' ।७।४।४३। इति सूत्रेण णिचि लुक्, कार्यं त्वभ्यमि प्रत्यय इति स्थानिवद्भावाभावात् । मोर्वा' ।२।१।९। इति सूत्रस्यानवकाशत्वाद्वा स्थानिवत्त्वाभावात् । युष्मयतेरस्मयतेश्च सिद्धिस्त्वोदृशी युवां युष्मान् वाऽऽचष्टे, आवामस्मान्वाऽऽचष्ट इति त्वां मां वाऽऽचष्ट इति तु न कार्यं तथा सति णिचि त्वमौ०' ।२।१।११। इति त्वमौ स्याताम् । युष्मयतेरस्मयतेश्च क्विपि युष्म् अष्म् अनयोरमौभ्यांसु परत्वात्त्व-माद्यादेशे कृते पश्चादात्वं त्वां, मां, युवां, आवां; युवाभ्याम् आवाभ्याम् । अयं भावः - 'स्पर्द्धे' ।७।४।११९। इति परत्वात् पूर्वं त्वमाद्या-देश 'परान्नित्यम्' इत्यपि न शब्दान्तरप्राप्त्याऽनित्यत्वात्, प्रथममात्वे तु मन्तत्वाभावात्त्वमादयो न स्युः । णिजवावयोवस्थादि बहुवचनं विवक्षितौ गौणमभवदिति त्वमादयो भवन्त्येव ॥६॥

टाङ्योसि यः ।२।१।७।

टाङ्योस्सु परेषु युष्मदस्मदोर्यः स्यात् । त्वया । मया । अतियुवया । अत्यावया । त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः । टाङ्योसीति किम् । त्वत् । मत् ।७।

ओश्च ओश्च - ओसौ 'स्यादावसङ्ख्येयः' ।३।१।११९। इत्येकशेषः टाश्च ङिश्च ओसौ च इति कार्यमन्यथा ङिसाहचर्यात्सप्तम्या एव ओसौ ग्रहणं स्यात् । नन्वोस्ग्रहणाभावेपि 'शेषे लुक्' ।२।१।८। इति दलोपे 'एद्बहुस्भोसि' ।१।४।४४। इत्येत्वे युवयोरित्यादि सिध्येदिति चेत्सत्यं ओस्ग्रहणाभावे णिच्यन्त्यस्वरादिलोपे 'मन्तस्य युवावौ०' ।२।१।१७। इति युवाऽऽवादेशे 'शेषे लुक्' ।२।१।८। इत्यल्लोपे 'युव्योः' इत्यादि न सिध्येदित्योस्ग्रहणम् । त्वदिति 'अत्राङसेश्चाद्' ।२।१।१९। इति ङसिप्रत्ययस्यादादेश एवं मदित्यत्रापि ॥७॥

शेषे लुक् ।२।१।८।

यस्मिन्नाद्यौ कृतौ ततोऽन्यः शेषः तस्मिन् स्यादौ परे

युष्मदस्मदोर्लुक् स्यात् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् । अतित्वत् । अतिमत् । शेष इति किम् । त्वयि । मयि ।८।

शेषग्रहणाभावे 'टाङ्यो सि' इत्यनुवर्तेत । न च यदि 'टाङ्यो सि' इत्यस्यानुवृत्तिरभिप्रेता स्यात्तदा 'टाङ्य सि यलुकौ' इत्येकयोग एव कुर्यादिति वाच्यमुत्तरार्थं लुक्' इति पृथक्करणं कर्तव्यमेवान्यथा 'टाङ्योसि यलुकौ' इत्युत्तरसूत्रेऽनुवर्तेतेति । ननु युष्मदस्मदोरन्तस्य शेषे स्यादावनेन लोपे 'नन्ता सङ्ख्या०' [अलिङ्ग १] 'आप्' ।२।४।१८। इत्याप् न भवति। ननु केवलयोर्युष्मदस्मदोरलिङ्गत्वभणनात् बहुव्रीहौ तत्पुरुषे चान्यपदार्थादिप्रधानत्वेन युष्मदस्मदोस्स्त्रीलिङ्गत्वे सत्याप् कथ न भवतीति चेत्सत्य 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्त तद्विघातस्य' इति न्यायेनाव्यवधानलक्षणो दलोपविधिरभ्यम्प्रत्ययस्याव्यवधानभङ्गे निमित्त न भवतीत्याप् न भवति । ननु तर्हि केवलयोरपि युष्मदस्मदोरनेन न्यायेनैवाप् न भविष्यतीति किं लिङ्गानुशासनेऽलिङ्गतया पाठेने त चेत्सत्यं 'न्यायाः स्थविरयष्टिप्रायाः' इति न्यायेन न्यायप्रवृत्ति न विश्वसनीया । **युष्मभ्यमिति** – परत्वात् विशेषविहितत्वेन प्रकृष्टत्वादित्यर्थः न तु 'स्पर्द्धे' ।७।४।११९। इति परत्वम् 'अभ्यभ्यसः' ।२।२।१८। इत्यभ्यमादेशेनेव दकारलोपे 'लुगस्यादेत्य०' ।२।१।११३। इत्यल्लोपे च सिद्धम् । त्वयीति - 'टाङ्योसि यः' ।२।१।७। इति यत्वम् ॥८॥

मोर्वा २।१।९।

शेषे स्यादौ परे युष्मदस्मदोर्मोलुग् वा स्यात् । युवाम् युष्मान्वा आवाम् अस्मान्वा आचक्षाणेभ्यो णिचि क्विपि च लुकि च । युष्मभ्यम् । युषभ्यम् । अस्मभ्यम् । असभ्यम् ।९।

शेषे इत्यादि – शेषे स्वसम्बन्धिन्यन्यसम्बन्धिनि वा स्यादौ परे युष्मदस्मदोर्मकारान्तयोः मकारस्य लुग्वा भवतीत्यर्थः । **युवामित्यादि** – युवां युष्मान्वाऽऽचष्ट आवामस्मान्वाऽऽचष्ट इति णिचि क्विपि च युष्म् अस्म् इति मान्तत्वम् न तु त्वां मां वाऽऽचष्ट इति तथा सति णिचि 'त्वमौ०

।२।१।११। इति त्वमौ स्यातामिति । ननु युवामावां वाऽऽचष्टे इति वाक्ये 'णिजबहुलं०' ।३।४।४२। इति णिचि क्विपि स्यादौ परे युवाऽऽदेशौ कथं न भवत इति चेत्सत्य यदा युष्मदस्मदौ द्वित्वे तदा न स्यादिः, यदा तु स्यादिस्तदा न द्वित्वे इति युवाऽऽवादेशौ न भवतः । टाङ्यसि नित्यत्वात् त्वमाद्यादेशेभ्यः पूर्वमेव 'टाङ्योसि'० ।२।१।७। इति मस्य यत्वे युष्या, अस्या, युष्यि, अस्यि, युष्योः, अस्योः । यदि पूर्वं मकारस्य पश्चादकारस्याथवा पूर्वं युष्मित्यादि-प्रकृतेः पश्चात्त्वेत्यादिप्रकृतेः प्राप्त्या यत्वस्यानित्यत्वमित्याश्रीयते तदा परत्वात्पूर्वं त्वमाद्यादेशेऽकारस्य यत्वे त्व्या, म्या, त्व्यि, म्यि, युव्योः, आव्योः । यदि 'सकृद्गते । स्पर्द्धे यद्बाधितं०' इति न्याय आश्रीयते तदा त्वेन, मेन, युवयोः, आवयोः, त्वे, मे अत्राचष्टेरेव प्राधान्याद्युष्मदोः सञ्ज्ञोपसंजनीभूतयोः सर्वादित्वस्यानिष्टत्वात्सर्वादिसम्बन्धित्वाभावाद् 'ङे स्मिन्' ।१।४।८। इति स्मिन्नादेशो न भवति । यदि 'विवक्षयं प्रकृतिरेवाह' इति न्यायस्याश्रयणं तदा सर्वादिसम्बन्धित्वात्स्मिन्नादेशो भवत्येव । सन्निपात । लक्षणन्यायस्यानित्यताश्रयणेन त्वास्मिन् मास्मिन्नित्यपि । अत्रेदं चिन्त्यते-प्रथमपक्ष एव ग्रन्थकारस्याभिमतत्वं सूचित तत्र यदि शब्दानुपादानात् शेषेषु सर्वत्र यदिशब्दप्रयोगेण ग्रन्थकारस्यानभिमतत्व चितमनन्तरोक्तस्मिन्नादेशे तु 'सर्वादेः स्मैस्मातौ' ।१।४।७। इत्यस्य बृहद्वृत्तौ 'द्वियुष्मद्भवत्वस्मदः स्मायादयो न भवन्तीति सर्वविभक्त्यादयः प्रयोजनम्' इत्युक्तत्वात्सुतरामनभिमतत्वम् । सिजसङ्ङस् प्रत्यये तु परत्वात्त्वमहमाद्यादेशा एव भवन्ति । अनेन प्रक्रियागौरवं परिहृतमन्यथाऽनेन मकारलोपेऽपि सिप्रत्ययादिना सहादेशे सर्वेऽपि प्रयोगास्सिध्येरन्निति ॥९॥

मन्तस्य युवावौ द्व्योः २।१।१०।

द्व्यर्थवृत्त्योर्युष्मदस्मदोर्मन्तावयवस्य स्यादौ परे यथासंख्यं युव आव इत्येतौ स्याताम् । युवाम् । आवाम् । अतियुवाम् । अत्यावाम् । अतियुवासु । अत्यावासु । मन्तस्येतिकिम् । युवयोः । आवयोरित्यत्र दस्य यत्वम् यथा स्यात् । स्यादावित्येव । युवयोःपुत्रो युष्मत्पुत्रः ।१०।

पर इति-तत्सम्बन्धिन्यन्यसम्बन्धिनि वेत्यर्थः द्वयोरिति-द्रव्यवाचित्वात् अयं युष्मदस्मदर्थमेव विशिनष्टि स्यादिविशेषणत्वे तु स्यादेगुणाभिधायित्वात् 'द्वित्वे०' ।२।१।२२। इतिवद्भावप्रत्ययान्तेन निर्दिश्येत । युवाऽऽवादेशयोरकारान्तत्वेन युष्मदस्मद्भ्यां णिचि क्विपि तल्लोपे च 'युव्योः आव्योः' इत्यादि सिद्धम् । अतिक्रान्तौ युवामावां वा अतियुवाम् अत्यावाम् । अतिक्रान्तं युवामावां अतियुवां अत्यावाम् । अतिक्रान्तौ युवामावां वा अतियुवाम् अत्यावां पश्य एवं अतियुवान् अत्यावान् अतियुवया, अत्यावया, अतियुवाभ्याम्, अत्यावाभ्याम्, अतियुवाभिः अत्यावाभिः, अतियुवाभ्याम्, अत्यावाभ्याम्, अतियुवभ्यम्, अत्यावभ्यम्, अतियुवत्, अत्यावत्, अतियुवाभ्याम् अत्यावाभ्याम्, अतियुवत्, अत्यावदागतम्, अतियुवयोः अत्यावयोः, अतियुवाकम् अत्यावाकं स्वम्, अतियुवयि अत्यावयि, अतियुवयोः अत्यावयोः अतियुवासु अत्यावासु । सिजस्ङेङस्प्रत्यये तु परत्वात्त्वमहमादयः एव-अतित्वम् इत्यादि । द्वयोरित्यस्य युष्मदस्मद विशेषणत्वेन युष्मानस्मानतिक्रान्तौ-अतियुष्माम् अत्यस्माम् २ अतियुष्माभ्याम् अत्यस्माभ्याम् ३ अतियुष्मयोः अत्यस्मयोः २ अत्र समास एव द्वित्व व शब्देर्थे वर्तते न तु युष्मदस्मदौ इति युवावौ न भवतः । मन्तस्येति भणनात् युवकाभ्याम् आवकाभ्यामित्यत्राकश्रुतिः । दस्य यत्त्वमिति - 'टाङ्यो सि०' ।-।१।७। इति सूत्रेण । युष्मत्पुत्र इति - 'लुबन्तरङ्गेभ्यः' इति न्यायात् पूर्वं विभक्तेर्लोपे 'लुप्यय्वृल्लेनत्' ।७।४।११२। इति स्थानिवद्भावनिषेधात्स्यादिपरत्वाभावाद् आदेशो न भवति ॥१०॥

त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन् ।२।१।११।

स्यादौ प्रत्ययोत्तरपदयोश्च परयोरेकार्थवृत्त्योर्युष्मदस्मदोर्मान्तावयवस्य यथासंख्यं त्व म इत्येतौ स्याताम् । त्वाम् । माम् । अतित्वाम् । अतिमाम् । अतित्वासु । अतिमासु । त्वदीयः । मदीयः । त्वत्पुत्रः । मत्पुत्रः । प्रत्ययोत्तरपदे चेति किम् । अधियुष्मद् । अध्यस्मद् । एकस्मिन्निति किम् । युष्माकम् । अस्माकम् ।११।

प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति – ननु स्यादावित्येव सिद्धे प्रत्ययोत्तरपदग्रहणमनर्थकम् न च त्वदीयः, त्वत्पुत्रः इत्यादौ परत्वान्नित्यत्वाद्वा 'ऐकार्थ्ये० ।३।२।८। इति विभक्तेर्लोपः स्याद् लोपे च कृते 'प्रत्ययलोपेपि प्रत्ययलक्षणं कार्यं विज्ञायते इति न्यायेन स्थानिवद्भावस्य निषेधासार्थकमिति वाच्यं 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न्यायान्नित्यादप्यन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात् विभक्तिमाश्रित्य वर्तमानयोस्त्वमादेशयोः कर्तव्ययोः प्रकृतिप्रत्ययपूर्वोत्तरपदाश्रितत्वादैकार्थ्यस्य बहिरङ्गत्वात्तदाश्रितलोपस्यापि बहिरङ्गत्वाद् बहिरङ्गस्य कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यस्यापि लोपस्यासिद्धत्वादिति चेत्सत्यमिदमेव प्रत्ययोत्तरपदग्रहणं व्यर्थं सत् 'लुबन्तरङ्गेभ्यः' इति न्यायं ज्ञापयति तेन तद्, यद् इत्यादावन्तरङ्गत्यदाद्यत्वादिकार्यात्पूर्वमेव विभक्तेर्लोपे स्थानिवद्भावनिषेधात्त्यदाद्यत्वादि न भवति। प्रत्ययग्रहणेनैव सिद्धे स्यादावित्युत्तरार्थमनुवर्तते। **एकार्थवृत्योरिति** – एकार्थवृत्तित्वेन युष्मदस्मदोर्विशेषणादिह न भवति अतिक्रान्तं युष्मान् अस्मान्वा अतियुष्माम् अत्यस्माम्। **अतित्वामित्यादि** – त्वां मां वाऽतिक्रान्ताम् इति कार्यमन्यथा युष्मदस्मदोरेकार्थवृत्तित्वाभावान्नादेशौ स्याताम्। त्वमादेशयोरकारान्तत्वेन युष्मदस्मद्भ्यां णिचि क्विपि तल्लोपे च 'टाङ्यो सि यः' ।२।१।७। इति यत्वे 'त्विय म्यि' इत्यादि सिद्धम्। **त्वदीय इत्यादि** – तवायं ममायमिति 'दोरीयः ।६।३।३२। इतीयप्रत्ययः। **त्वत्पुत्र इति** - तव पुत्रः इति तत्पुरुषो बहुव्रीहिर्वा अत्र नवीनं किञ्चित्प्रस्तुयते - त्वां मां वाऽऽचष्ट इति त्वदयति मदयतीत्यत्र 'पराश्रित्यम्' ५२ इति न्यायात् 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ।७।४।४३। इति सूत्रेणान्त्यस्वरादिलोपात्प्रागेव त्वमादेशौ। पश्चादपि 'लोपात्स्वरादेशः' इति न्यायात् 'लुगस्यादेत्यपदे' २।१।११३। इति प्रवर्तते न त्वन्त्यस्वरादिलोपः तत्पश्चादपि 'नैकस्वरस्य' ।७।४।४४। इति निषेधादन्त्यस्वरादिलोपो न भवति। अधातुत्वाच्च 'ञ्णिति' ।४।३।५०। इति वृद्धिरपि न भवति। **अधियुष्मदित्यादि** – त्वय्यधि, मय्यधि इति 'विभक्तिसमीप०' ।३।१।३९। इति समासः 'प्रथमोक्तं प्राक्' ।३।१।१४८। इति अधिशब्दस्य पूर्वनिपातः 'अनतो लुप्' ।३।२।६। इति सेर्लोपे 'लुप्यय्वृल्लेनत्' ।७।४।११२। इति स्थानिवत्त्वनिषेधात्त्वमादेशौ न भवतः मन्तस्येत्यनुवृत्तेस्त्वकं करोऽस्य त्वकत्कर्तृकः इत्यत्राकृश्रुति-भवति।' ।।११।।

त्वमहं सिना प्राक्चाकः ।२।१।१२।

सिना सह युष्मदस्मदोर्यथासंख्यं त्वमहमौ स्याताम् । तौ चाप्रसङ्गेऽकः प्रागेव । त्वम् । अहम् । अतित्वम् । अत्यहम् । प्राक्चाक इति किम् । त्वकम् । अहकम् ।१२।

सिनेति – ननु साविति कृतेपि "दीर्घङ्याब्०' ।१।४।४५। इति सेर्लुकि सर्वेऽपि प्रयोगास्सिद्धेरन्निति । न च साविति कृते 'युष्मदस्मदः' ।२।१।६। इति मकारस्यात्त्व स्यादिति वाच्यमादेशविधानसामर्थ्यान्न स्यादिति चेत्सत्य 'युष्मदस्मदोः ।२।१।६। इत्यस्य प्रवृत्त्यभावेऽस्य सेः शेषत्वात् 'मावर्ण ।२।१।९। इति वाल्पः स्यात्पक्षे च सूत्रस्य चरितार्थता स्यादिति । अतिक्रान्तस्त्वां युवां युष्मान् इति अतित्वमेवमत्यहमिति । 'प्राप्यवारि० ।३।१।४५१। इति समासः । त्वमयुवावादेशानां त्वां मां युवां आवामित्यादौ सावकाशत्वात् त्वमहमादेशयोः अतिक्रान्तो युष्मानस्मान् वा अतित्वमत्यहमित्यत्र सावकाशत्वात् अतिक्रान्तो युवाम् 'अतिक्रान्त आवामतित्वमत्यहमित्यत्र 'स्पर्द्धे' ।७।४।११९। 'इति परत्वात् 'त्वमौ०' ।२।१।११। 'मन्तस्य युवावौ०' ।२।१।१। इति त्वमयुवावादेशान्बाधित्वा त्व-महमादेशा एव भवन्ति । सिलुपि त्व पुत्रोऽस्य त्वत्पुत्र इत्यादौ न भवति । **प्राक्चाक इति**– 'प्राक्चाकः' इति वचनात्तु अन्तरङ्गमप्यकं बाधित्वा पूर्वं त्वमहमादेशौ 'प्राक्चाकः' इति वचनाभावे निरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात् 'युष्मदस्मदो०' ।७।३।३०। इति कुत्सिताद्यर्थे पूर्वमकि 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति न्यायेन साकोऽप्यादेशस्यात्तदाऽकश्रुतिर्न स्यात् । अत्रेदं चिन्त्यते – 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति न्यायस्य ज्ञापक तु 'प्राक्चाकः' इति वचनं तथाहि युष्मदस्मदोरकसहितयोरादेशवारणार्थं 'प्राक्चाकः' इति भणितम् तत्तु अकि सति अकसहितयोर्युष्मदस्मदोरकरहितयोर्युष्मदस्मदिभिन्नत्वेन ग्रहणात्स्वत एवाकसहितयुष्मदस्मदस्त्वमहमादेशावप्राप्ताविति व्यर्थं 'प्राक्चाकः'इति वचनम् । व्यर्थं सन्न्यायमिमं ज्ञापयति । न्याये ज्ञापिते चाकसहितयोरादेशवारणार्थं प्राक्चाकः' इति कथनं सार्थकमेव । ननु 'अहंकारः 'अह्-प्रत्ययग्राह्य आत्मा' इत्यादौ सेर्लुपि उत्तरपदे परे 'त्वमौ०' ।२।१।११। इति मादेशेन भाव्यमिति चेत्सत्यं 'ऊर्णाहं–शुभमो युस्'।७।२।१७। इति वचनादन्य एवाहं शब्दः इति न दोषः । पाणिन्यादयस्तु त्वां मां वाऽऽचष्ट इति-णौ त्वमादेशे वृद्धौ क्विपि मन्तयोरेव त्वाऽऽहादेशविधानात् सौ त्वाम् माम् इति धातोरेव वृद्धिरिति मते त्वम् मम् इत्येव च भवतीति मन्यन्ते ते हि 'तुभ्य-

मह्यौ ङयि०' । पा० ।७।२।९५। 'यूय वयौ जसि०' । पा० ।७।२।९३। 'त्वा ऽहौ सौ०' । पा० ।७।२।९४। इति सूत्रेभ्यः विभक्तिरहितस्य प्रकृतिमात्रस्यादेशानिच्छन्ति एवं ङे जस् सीना 'ङे प्रथमयोरम्' पा० । ।७।१।२८। इत्यमादेशम्, ङसस्तु 'युष्मदस्मद्भ्यां ङस ऽश्' [पा० ।७।१।२७। इत्यकारं चेच्छन्ति । स्वमते तु त्वमहमित्येव भवति ॥१२॥

यूयं वयं जसा ।२।१।१३।

जसा सह युष्मदस्मदोर्यथासंख्यं यूयम्वयमौ स्याताम् । यूयम् । वयम् । प्रियवूयम् । प्रियवयम् । प्राक्चाक इत्येव । यूयकम् । वयकम् ।१३।

प्रिययूयमित्यादि– प्रियस्त्वं येषां प्रियौ युवां येषामित्यादि-वाक्ये एकत्व द्वित्व विशिष्टयोर्युष्मदस्मदोर्वर्तमानत्वात् 'त्वमौ०' ।२।१।११। इति 'मन्तस्य युवावौ०' ।२।१।१०। इति च त्वमाद्यादेशानन्यत्र सावकाशान्बाधित्वा यूयं वयमित्यत्र सावकाशौ यूयंवयमादेशावेव परत्वाद्भवतः । यूयकमित्यादौ 'युष्मदस्मदोः०' ।७।३।३०। इति कुत्सिताद्यर्थेऽक् एवमुत्तरत्रापि ॥१३॥

तुभ्यं मह्यं ङया ।२।१।१४।

ङया सह युष्मदस्मदोर्यथासंख्यं तुभ्यम्मह्यमौ स्याताम् । तुभ्यम् । मह्यम् । प्रियतुभ्यम् । प्रियमह्यम् । प्राक्त्वाक इत्येव । तुभ्यकम् । मह्यकम् ।१४।

प्रियतुभ्यमित्यादि– प्रियस्त्वं प्रियौ युवां प्रिया यूयं वा यस्य तस्मै प्रियतुभ्यमेवं प्रियमह्यमित्यपि । प्रियस्त्वं प्रियौ युवां यस्येत्यादिवाक्ये पूर्ववत्परत्वात्तुभ्यंमह्यमादेशावेव भवतः एवमुत्तरसूत्रेपि ॥१४॥

तव मम ङसा ।२।१।१५।

ङसा सह युष्मदस्मदोर्यथासंख्यं तवममौ स्याताम् । तव । मम । प्रियतव । प्रियमम । प्राक्चाक इत्येव । तवक । ममक ।१५।

ननु कथं तवता ममता, तवायितम् ममायितम् ? इति चेत्सत्यम् एतानि स्याद्यन्तप्रतिरूपकाणि अव्ययानि ततः शब्दान्तरत्वात्सिद्धम् ॥१५॥

अमौ मः ।२।१।१६।

युष्मदस्मद्भ्याम् परयोरम् औ इत्येतयोर्म इति स्यात् । त्वाम् । माम् । अतित्वाम् । अतिमाम् । युवाम् । आवाम् । अतियुवाम् । अत्यावाम् ।१६।

युष्मदस्मद्भ्यामिति विभक्ति-विपरिणामेन युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तते परयोरिति तत्सम्बन्धिनोरन्यसम्बन्धिनोर्वेत्यर्थं एवमग्रेऽपि । अम् औ इत्येतयोरिति– औश्च औश्च आवौ "स्यादावसङ्ख्येय:" ।३।१।११९। इत्येकशेषः सूत्रे विशेषनिर्देशाभावात्प्रथमाद्वितीयाद्विवचनयोरुभयोरपि ग्रहणम् पश्चात् अम् च आवौ च अमौ तस्य "अमौ" इति षष्ठ्येकवचनस्य सौत्रत्वाल्लोपः । एकशेषाभावे तु अम्साहचर्याद् द्वितीयाया एव औप्रत्ययस्य ग्रहणं स्यात् युष्मच्छब्दादम्प्रत्यये त्वादेशे "शेषे लुक् ।२।१।८। इति दस्य लुकि "समानादमोतः" ।१।४।४६। इत्यमोऽकारलुकि "युष्मदस्मदोः" ।२।१।६। इत्यत्वे च त्वामित्यादि सेत्स्यतीति कृतमम्ग्रहणेनेति चेत्सत्यं "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इति न्यायादन्तरङ्गे आत्वे कर्तव्ये बहिरङ्गस्य "समानादमोतः ।१।४।४६। इत्यकारलोपस्यासिद्धत्वात् "युष्मदस्मदोः" ।२।१।६। इत्यत्वं न स्यादिति । म इति– अकार उच्चारणार्थः अकारमन्तरेण व्यञ्जनोच्चारणमसुकरमिति । 'म्' इत्येकवर्णादेशत्वेऽपि "प्रत्ययस्य" ।७।४।१०८। इति न्यायादमः सर्वस्यापि भवति तेन व्यञ्जनादित्वात् "युष्मदस्मदोः" ।२।१।६। इत्याकारः सिध्यति ॥१६॥

शसो नः ।२।१।१७।

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य शसो न इति स्यात् । युष्मान् । अस्मान् ।

प्रियत्वान् । प्रियमान् ।१७।

न इति अकार उच्चारणार्थः । युष्मानित्यादि– एका 'शेषे' ।२।१।८। इति लुकः प्राप्तिः द्वितीया त्वनेन सूत्रेण नादेशप्राप्तिः नकारे कृते शेषत्वाभावाल्लोपस्याभवनात् लोपोऽनित्यः नादेशस्तु कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यः इति नादेश एव पूर्वं भवति । ननु 'शस ता सश्च नः०' ।१।४।४९। इत्यनेनैव सिद्धत्वान्नादेशविधानमतिरिच्यत इति चेन्मैव "अलिङ्गे युष्मदस्मदी" इति अलिङ्गभणनात्पुंस्त्वाभावान्नकारो न स्याद् बहुव्रीह्यादौ अभ्युपगमे वा लिङ्गस्य स्त्रीनपुंसकार्थम् तेन प्रियत्वान् ब्राह्मणीः प्रियत्वान् कुलानीत्यपि सिद्धम् ॥१७॥

अभ्यम् भ्यसः ।२।१।१८।

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य चतुर्थीभ्यसोऽभ्यं स्यात् । युष्मभ्यम् अस्मभ्यम् । अतियवभ्यम् । अत्यावभ्यम् ।१८।

कार्यिणः पूर्वं निर्देशे प्राप्ते कार्यस्य पूर्वमुपादानं प्रत्यासत्तिसूचनार्थं तेन पाठापेक्षया प्रत्यासन्नस्य चतुर्थीभ्यस एवादेशः । 'भ्यसोऽभ्यम्' इति कार्यिणः पूर्वं निर्देशे व्यञ्जनादिरिति सन्देहः स्यादित्यरुचेराह- यद्वा-"ङसेश्चाद्" ।२।१।१९। इत्यत्र चकारो भ्यसोऽनुकर्षणार्थः तत्र च ङसिसाहचर्यात् पञ्चमीभ्यस एव ग्रहणमिति पारिशेष्यादत्र चतुर्थीभ्यस एवादेश इत्याह– चतुर्थीभ्यस इति– ननु "भ्यम्" इति व्यञ्जनादिरेवादेशः क्रियतां 'लुगस्या०' ।२।१।११३। इत्यल्लोपस्याप्रसङ्गे प्रक्रियालाघवं स्यादिति चेन्न व्यञ्जनाद्यादेशकरणे तु 'युष्मदस्मदोः' ।२।१।६। इत्यात्त्वप्रसङ्गः स्यात् णिचि च युष्मभ्यमस्मभ्यमिति न सिध्येदित्यकारादिरादेशः कृतः ॥१८॥

ङसेश्चाद् ।२।१।१९।

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसेः पञ्चमीभ्यसश्च अद् इति स्यात् । त्वद् । मद् । अतियुवद् । युष्मद् । अस्माद् । अतित्वद् । अतिमद् ।१९।

"साहचर्यात्सदृशस्यैव ग्रहणम्" इति न्यायादाह—पञ्चमीभ्यस इति चकारेण भ्यसोनुकर्षणेऽपि भ्यसो ङसेश्चैकवचनान्तनिर्देशेन द्विवचनान्तनिर्दिष्टाभ्यां युष्मदस्मद्भ्यां सह वचनवैषम्यान्न यथासङ्ख्यम्। ननु "साहचर्यात्सदृशस्यैव "६३" ग्रहणम्' इति न्यायात्सदृशस्य पञ्चमीभ्यसो ग्रहणं भवति परन्तु पूर्वसूत्रे पञ्चमीभ्यसो ग्रहणादभ्यमादेशः कथं न भवति न च पञ्चमीभ्यस अदेशेनापि सिद्धत्वादिति वाच्यं पूर्वसूत्रस्य व्यर्थतया प्रवर्तनात्पञ्चमीभ्यस प्रत्ययस्यम देशस्य चरितार्थत्वेन पञ्चमीभ्यस प्रत्ययस्यमादेशस्यानर्थक्यं स्यादिति। न च पूर्वसूत्रे पञ्चमी भ्यसोऽग्रहणमिति वाच्यमत्रानुवृत्तिरेव न स्यात् "नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति' इति नहि चतुर्थीभ्यस् अनुवर्तनात्पञ्चमीभ्यस् भवत्यतः पूर्वसूत्रे पञ्चमीभ्यसपि ग्राह्य इति तस्याप्यभ्यमादेशेन भाव्यमिति चेन्न। पूर्वसूत्र जातौ प्रवृत्त जातिश्च सकललक्ष्ये प्रवृत्ता सती प्रवृत्तैवेत्यपवादेनादेशेन बाधितत्वादभ्यमादेशो न भवतीति। अतित्ववितित्वा युवा युष्मान्वाऽतिक्रान्तादित्यर्थः ॥१९॥

आम आकम् ।२।१।२०।

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य आम आकं स्यात्। युष्माकम्। अस्माकम् अतियुवाकम्। अत्यावाकम्। युष्मानस्मान् वाऽऽचक्षाणानां युष्माकम्। अस्माकम्।२०।

ननु 'आमः कमिति कृते "युष्मदस्मदोः" ।२।१।६। इत्यात्वे सर्वं सिध्यतीति किं"आकम्"इत्यत्राकारकरणेनेति चेत् सत्यम् आकारकरणं ण्यन्तार्थं तेन युष्मानस्मान्वाऽऽचक्षाणानां णिचि क्विपि च युष्माकमस्माकमित्यादि सिद्धम्। युवामावां वातिकान्तानामतियुवाकमित्यादि ॥२०॥

पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वस्नसौ बहुत्वे ।२।१।२१।

बहुत्वविषयया समविभक्त्या सह पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्यथासंख्यं वस्नसौ वा स्याताम्। तत्वैवपदं युष्मदस्मादो चैकस्मिन् वाक्ये स्तः। अन्वादेशे नित्यं विधानादिह विकल्पः। एवमुत्तरसूत्र-

अयेपि । धर्म्मो वो रक्षतु । धर्मो नो रक्षतु । धर्म्मो युष्मान् रक्षतु । धर्म्मोऽस्मान् रक्षतु । एवं चतुर्थीषष्ठीभ्यामपि । पदादिति किम् । युष्मान् पातु । युग्विभक्त्येतिकिम् । तीर्थे यूयं यात । एकवाक्य इति किम् । अतियुष्मान् पश्य ओदनं पचत युष्माकं भविष्यति ।२१।

पद्यते गम्यते कर्तृकर्मादिविशिष्टोऽर्थोऽनेनेति पदं स्याद्यन्तम् । युग्विभक्तिर्विषमविभक्ति: द्वितीयाचतुर्थीरूपा । अन्वादेश इत्यादि- "नित्यमन्वादेशे" ।२।१।३१। इति सूत्रेणान्वादेशे नित्यं विधानादिह विकल्प: । **धर्मो वो रक्षत्वित्यादि–** "शसो न:" ।२।१।१७। "शेषे लुक्" ।२।१।८। इत्यादीनि सूत्राणि बाधित्वा नित्यत्वादनवकाशत्वाच्च वस्नसादय एव भवन्ति । **अतियुष्मानिति–** 'एकवाक्य' इति सावधारणं वचनं तेन एकवाक्य एव सति वस्नसौ अत्र तु एकपदेऽपीति न भवत: । एककर्तृकं तद्वाक्यं चेति 'पूर्वकालैक०" ।३।१।९७। इति समास: । स्याद्यधिकारे विभक्तिग्रहणं युवस्यादिवचननिवृत्त्यर्थं तेन ज्ञाने युवां तिष्ठत: शील आवां तिष्ठाव: इत्यत्रोत्तरसूत्रेण वाम्नावादेशौ न भवत: । ननु 'समर्थ: पदविधि:" ।७।४।१२२। इति न्यायेन वाक्यान्तरस्थात्पदात्परयोर्युष्मदस्मदो: सामर्थ्याभावादेव वस्नसादयो न स्युरिति किमेकवाक्यग्रहणेनेति चेदत्रस्थं युक्तयुक्तादपि पदादसमर्थत्वान्न प्राप्नुवन्ति-इति स्म न: पिता कथयति, इति व: श्रेयसी ब्रवीमि, इति मे शालीनां ते ओदनं दास्यामि । अत्र हि युष्मदस्मदी पित्रादिभिर्युक्ते न तु पित्रादिभियुक्तै: स्मादिभिरिति वस्नसादयो न स्युरिति पारम्पर्येणापि युक्तादेकवाक्यस्थात् पदात्परयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नसादयस्स्युरित्येकवाक्यग्रहणमर्थवत् ।।२१।।

द्वित्वे वाम्नौ ।२।१।२२।

पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्द्वित्वविषयया युग्विभक्त्या सह यथासंख्यं वाम्नौ इत्येतौ वा स्याताम् । एकवाक्ये । धर्म्मो वां पातु । धर्म्मो युवां पातु । धर्म्मो नौ पातु । धर्म्म आवां पातु । एवं । चतुर्थीषष्ठीभ्यामपि ।२२।

द्वित्व इति भावप्रत्ययान्तेन सङ्ख्या निर्दिश्यते सङ्ख्यायां च विभक्तिर्वर्तते‌ऽतो द्वित्व इति विभक्तेरेव विशेषणं न तु युष्मदस्मदोस्तयोः द्रव्यवृत्तित्वादत आह– **द्वित्वविषययेति**– ॥२२॥

ङेङसा ते मे ।२।१।२३।

ङेङस्भ्यां सह पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्यथासंख्यं ते मे इत्येतौ वा स्याताम् । एकवाक्ये । धर्मस्तेदीयते धर्म्मस्तुभ्यं दीयते । धर्म्मो मे दीयते । धर्म्मो मह्यं दीयते । धर्म्मस्ते स्वम् । धर्म्मस्तव स्वम् । धर्म्मो मे स्वम् । धर्म्मो मम स्वम् ॥२३।

तेमे इति लुप्तद्विवचनान्तं पदम् एवमुत्तरसूत्रेऽपि । ङे ङसेत्येकवचनं स्थानिभ्याम देशाभ्यां च यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थम् ॥२३॥

अमा त्वामा ।२।१।२४।

अमा सह पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्यथासंख्यं त्वामा इत्येतौ वा स्याताम् । एकवाक्ये । धर्म्मस्त्वा पातु । धर्म्मस्त्वां पातु । धर्म्मो मा पातु । धर्म्मो मां पातु ।२४।

यद्यपि "अम्" अनेकप्रकारोऽस्ति तथाहि एकः "अतः स्यमोम्" ।१।४।५७। इति, द्वितीयः "अमव्ययीभावस्यातो०" ।३।२।३। इति तृतीयः आख्यातविभक्तेः "अम्व् अम्" इति तथापि युष्मदस्मद्भ्यामन्यस्यासंभवाद् द्वितीयैकवचनमेव गृह्यते ॥२४॥

असदिवामन्त्र्यं पूर्वम् ।२।१।२५।

आमन्त्र्यार्थं पदं युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वमसदिव स्यात् । जना युष्मान् पातु धर्म्मः । साधू युवां पातु धर्म्मः । साधो त्वां पातु तपः । पूर्वमिति किम् । मयैतत्सर्वमाख्यातं युष्माकं मुनिपुङ्गवाः ।२५।

आमन्त्र्यते यः स्वेन धर्मेण प्रसिद्धो धर्मान्तरसम्बन्धं प्रत्यभिमुखीक्रियते स आमन्त्र्यः यथा देवदत्त। देवदत्तत्वेन प्रसिद्धं धर्मान्तरसम्बन्धं प्रत्यभिमुखीक्रियते यथा देवदत्तो पठ भुङ्क्ष्वेति । अर्थे कार्यासम्भवादुपचारादामन्त्र्याभिधायि पदं विज्ञायत इति । **असदिव**— अविद्यमानमिव, सति तस्मिन् यत्कार्यं तन्न भवति असति यत्तद्भवतीत्यर्थः । इवकरणाभावे प्रयोगनिवृत्तिः स्यात् । इवकरणात्तन्निमित्तककार्याभाव एव न तु प्रयोगाभावः । 'ननु' "नित्यमन्वादेशे" ।२।१।३१। इत्यत्र नित्यग्रहणादिह विकल्पः कथं न भवतीति चेत्सत्यम् "अन्वादेशे नित्य विधानादिति" इति भणनात् यत्रैव वस्नसादिविधानं तत्रैव विकल्पो न तु निषेध इति विकल्पो न भवति । अथवा यद्यत्र सूत्रे विकल्पः स्यात्तदा किमेतत्सूत्रकरणेन "पदाद्युग्विभक्त्यैक०" ।२।१।२१। इत्यनेनैव वस्नसादीनां विकल्पस्य सिद्धत्वात् । जना ! युष्मान्पातु धर्मः इत्यादावामन्त्र्यस्यासत्वाद्वस्नसादयो न भवन्ति । **युष्माकमित्यादि**— मुनिपुङ्गवा इति परस्य पदस्यासद्वत्त्वे नियतपरिमाणमात्राक्षरपिण्डलक्षणपादस्याभावात् पादादित्वाभावात् "पादाद्योः" ।२।१।२८। इति पादादिलक्षणप्रतिषेधाभावाद् जायेतेति- **'मुनिपुङ्गवा इति**- 'सिंहाद्यैः पूजायाम्' ।३।१।८९। इति समासः । ननु चैत्र ! धर्मो वो थो रक्षतु, चैत्र ! धर्मो नोथो रक्षतु इत्यादौ प्रत्यासत्तं व्यवहितस्यासत्त्वादामन्त्र्यशब्दस्याव्यवहितपूर्वत्वाभावादसत्त्वाभावात् 'सपूर्वात्प्र०' ।२।१।३२। इति विकल्पप्रसङ्ग इति चेन्न मथुराया: पूर्वं पाटलिपुत्रमित्यादौ व्यवहितेपि पूर्वशब्दस्य वृत्तेः व्यवहितस्यापि चैत्रशब्दस्याविद्यमानवद्भावात् चैत्र ! धर्मो वोथो रक्षतु, चैत्र! धर्मो नोथो रक्षतु" इत्यादौ "सपूर्वात्प्रथ०" ।२।१।३२। इति विकल्पो न भवति । अयं भावः-यद्यव्यवहितस्यैव पूर्वस्यासद्वद्भावोऽभिप्रेतस्स्यात्तदा पूर्वग्रहणमकृत्वा "असदिवामन्त्र्याद्" इत्येव क्रियेत, पूर्वस्यासद्वद्भावे वस्नसाद्यभावः हेतु स तु इत्थमपि कृते सिध्यति एवमेतदानुगुण्येन उत्तरसूत्रमपि 'जस्विशेष्याद्' इत्येव क्रियेतेति ॥२५॥

जस्विशेष्यं वामन्त्र्ये ।२।१।२६।

युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वं जसन्तमामन्त्रार्थं विशेष्यवाच्यामन्त्र्ये पदे ऽर्थात् तद्विशेषणे परेऽसदिव वा स्यात् । जिनाः शरण्या युष्मान् शरणं प्रपद्ये । जिनाः शरण्या वः शरणं प्रपद्ये । जिना शरण्या अस्मान् रक्षत । जिनाः शरण्या नो रक्षत । जसिति किम् । साधो सुविहित वोथो शरणं प्रपद्ये । साधो सुविहित नोथो रक्ष । विशेष्यमिति किम् । शरण्याः साधवो युष्मान् शरणम् प्रपद्ये । आमन्त्र्य इति किम् । आचार्या युष्मान् शरण्याः शरणं प्रपद्ये । अर्थात् तद्विशेषणभूत इति किम् । आचार्या उपाध्याया युष्मान् शरणं प्रपद्ये ।२६।

तच्छब्दस्य सर्वयोगात् समुदायोपि तद् इत्यादि कृत्वा कर्मधारय-करणाद् नैकशेषः तच्चातच्च तत्तदौ द्वन्द्वे 'न सर्वादिः'।१।४।१२। इति निषेधात् 'आ द्वेरः' ।२।१।४१। इत्यस्याप्रवृत्तिः । तदतद्विषयं विशेष्य तस्य व्यवच्छेदकं विशेषणम् यथा नीलमुत्पलं नीलं रक्तं च ते विषयेऽस्य तदतद्विषयमुत्पल तद्विषयं तस्य व्यवच्छेदकं भेदान्तराद् व्यावर्तकं नीलमिति विशेषणम् । विशेष्यस्य विशेषणाकाङ्क्षिणः एकवाक्योपात्तत्वेन सामर्थ्यात् सन्निहितत्वात् 'विशेष्यत्वनिमित्तमेव 'आमन्त्र्य' इति विशेषणं विज्ञायते इत्याह तद्विशेषण इति । पूर्वेण व्यवहितस्याप्यसद्वद् भावात् पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पः । जिना इति व्यावर्त्यं विशेष्यम्. शरण्या इति व्यावर्तकत्वेन विशेषणम् तदित्थम् रागादिजयजिना रागादिजयस्च क्षयोपशमभेदाद्द्विधा तत्रोपशमरूपे जये कदाचित्पुनप्रादुर्भावात्कदाचिद्शरण्यत्वमपि शरण्यम् इति व्यवर्तकम् साधो ! सुविहित ! वो थो इत्यादि – अत्र 'असद्विवामन्त्रयं०' २।१।२५। इति द्वयोरपि पदयो २ सद्वत्त्वे प्राप्ते 'नान्यत्' ।२।१।२७। इति 'साधो' इत्यस्यासद्वत्वनिषेधात् 'नित्यमन्वादेशे' २।१।३१। इति नित्यं वस्नसौ । शरण्या इत्यादि अत्र द्वयोरपि पदयोः 'असदिवा०' ।२।१।२५। इति सूत्रेणासद्वद्भावः । आचार्या युष्मानित्यादि - अत्रामन्त्र्यविशेषणस्य व्यवहितत्वात्परत्वाभावादसद्वद्भाव विकल्पो न भवति । आचार्या उपाध्याया इत्यादि – भिन्ना-

धिकरणयोः पदयोर्न पूर्वं विशेष्यम-परं विशेषणमित्यसद्वद्भाव विकल्पो न भवति ॥२६॥

नान्यत् ।२।१।२७।

युष्मदस्मद्भ्याम् पूर्वं जसन्तादन्यदामन्त्र्यं विशेष्यमामन्त्र्ये तद्विशेषणे परेऽसदिव न स्यात् । साधो सुविहित त्वा शरणम् प्रपद्ये । साधो सुविहित मा रक्ष ।२७।

जस् विशेष्यमित्यस्य प्रधानतया अन्यदिति सम्बध्यत इत्याह — जसन्तादन्यदिति । साधो सुविहितेत्यादि - अत्र सुविहित ! इत्यस्य 'असदिवामन्त्र्ये'।२।१।२५। इत्यसत्वेऽपि 'साधो' इत्यस्या सद्वत्वनिषेधात्तदाश्रितौ त्वामादेशौ । ननु आमन्त्र्य पदं अभिमुखीभवेति क्रियान्तरमध्याहार्यं वाक्यान्तरत्वादेवादेशाभाव सिद्धः किमनेनेति चेत्सत्यं अत एवाऽऽरम्भाद् वाक्यभेदो नाश्रीयते तेन साधो ! सुविहितेत्यादावेकवाक्यत्वादादेशाः सिद्धाः ॥२७॥

पादाद्योः ।२१।२८।

नियतपरिमाणमात्राक्षरपिण्डः पादः । पश्चात् परयोः पादस्यादिस्थयो युष्मदस्मदो-र्वस्नसादिर्न स्यात् । वीरो विश्वेश्वरो देवो युष्माकं कुलदेवता ॥ स एवनाथो भगवानस्माकं पापनाशनः ॥१॥ पादाद्योरिति किम् । पान्तु वो देशनाकाले, जैनेन्द्रा दशनांशवः । भवकूपपतज्जन्तु—जातोद्धरणरज्जवः ॥२॥ ।२८।

मात्राश्च अक्षराणि च मात्राक्षराणि नियतपरिमाणानि च तानि मात्राक्षराणि नियतपरिमाणमात्राक्षराणि । पादाद्योरिति द्विवचनं युष्मदस्मदोरभिसम्बन्धार्थम्, 'पादादौ' इति ह्युच्यमाने आमन्त्र्याभिसम्बन्धः स्यात् तदा

जिनेश त्वां नमस्कृत्य, यन्नरो मुक्तिमिच्छति ।
अतो नरसुराधीशस्तुत्यस्तोत्रं त्वमर्हसि ॥

इत्यत्रामन्त्र्यस्य: सत्त्वात्त्वादेश: स्यादिति द्विवचनोपादानम् । पापनाशन इति पापं नाशयतीति 'रम्यादिभ्य: कर्तरि' ।४।३।१२६। इत्यनट्प्रत्यय देशनाकाल इति–देशनं देशमुत करोतीति 'णिज्बहुलं' ।३।४।४२। इति णिच् देशयत इति देशना 'णिवेत्त्यास०' ।५।३।१११। इत्यनप्रत्यय: । जिनेन्द्राणामिमे जैनेन्द्रा: 'तस्येदम्' ।६ ३।१६०। इत्यणप्रत्यय: । देशनाकाले-उपदेशसमये भव: संसार: स एव कूप: तत्र पतत् यत् जन्तुजातम् – जन्तुनिचय: तस्य उद्धरणे रज्जव: रज्जुसन्निभा: जैनेन्द्रा जिनेन्द्राणामिमे दशनांशव: दन्तकिरणा: व: युष्मान् पान्तु रक्षन्तु इति श्लोकार्थ: ॥२८॥

चाहहवैवयोगे ।२।१।२९।

एभियोंगे पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नसादिर्न स्यात् । ज्ञानं युष्मांश्च रक्षतु । एवं अहहवाएवैरप्युदाहार्यम् । योग इति किम् । ज्ञानञ्च शीलञ्च ते स्वम् ।२९।

ज्ञानञ्चेत्यादि – अत्र चेन ज्ञानशीलयोर्योग: न तु युष्मदस्मदोरिति युष्मदस्मदोर्योगाभावादत्र न प्रतिषेध: । ननु 'गौणात् समया०' ।२।२।३२। इत्यादिवत् 'चाहहवेव:' इत्येव सिद्धे योगग्रहणमिति चेत्सत्यं योगग्रहणं साक्षाद्योगप्रतिपत्त्यर्थं तेनार्थात्प्रकरणाद्वा चादिषु गम्यमानेषु न भवति । अहशब्द उ्थार्थे । हशब्दो वाक्यालङ्कारे स्पष्टार्थे हे इत्यर्थे वा ज्ञातव्य: 'वा एव' इत्येतौ तु स्पष्टावेव ॥२९॥

दृश्यर्थैश्चिन्तायाम् ।२।१।३०।

दृशिना समानार्थैश्चिन्तार्थैर्धातुभिर्योगे युष्मदस्मदोर्वस्नसादिर्न स्यात् । जनो युष्मान् सन्दृश्यागत: । जनोऽस्मान् सन्दृश्यागत: । जनो युवां समीक्ष्यागत: । जन आवां समीक्ष्यागत: । जनस्त्वाम-

पेक्षते । जनो मामवेक्षते । सर्वत्र मनसा चिन्तनं दृश्यर्थानामर्थः । दृश्यर्थैरिति किम् । जनो वो मन्यते । चिन्तायामिति किम् । जनो वः पश्यति ।३०।

दृशिना समानार्था दृश्यर्थाः । अयं भावः-अत्र 'इकिश्तिपौ धातुनिर्देशे' ।५।३।१३८। इति सूत्रेण स्वरूपेऽर्थे वा किः यदा स्वरूपे तदा दृशेरर्थो दर्शनमालोचनं येषान्ते: व्यधिकरणबहुव्रीहिप्रसङ्गस्य प्रायेणानिष्टत्वाद्, यदार्थे किस्तदा दृशिरर्थो येषान्ते: । जनो युष्मानित्यादि सर्वत्रावयेसन्दृश्येत्यादौ मनोवृत्तिरूपा चिन्ता दृश्यर्थः इत्यादेशप्रतिषेधः । आगत इति-आगच्छति स्मेति । 'गत्यर्थक०' ।५।१।११। इति क्तप्रत्ययः, यभिरमि०' ।४।२।५५। इत्यन्त्यस्य लुक् । जनो वो मन्यत इति - नायं दृश्यर्थः, दृश्यर्थो नाम चक्षुःसाधने विज्ञाने वर्ततेतो न निषेध इति । जनो वः पश्यतीति — चक्षुषा पश्यतीति - अयं भावः - चिन्तायामिति विषयसप्तमीयम् विषयार्थश्चानन्यत्र भावः अतश्चक्षुषा यत्र दर्शनं तत्र निषेधाभाव दादेश इति ।।३०।।

नित्यमन्वादेशे ।२।१।३१।

किञ्चिद्विधातुं कथितस्य पुनरन्यद्विधातुं कथनमन्वादेशः । तस्मिन् विषये पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नसादिर्नित्यं स्यात् । यूयं विनीतास्तद्वो गुरवो मानयन्ति । वयं विनीतास्तन्नो गुरवो मानयन्ति । धनवांस्त्वमथो त्वा लोको मानयति । धनवानहमथो मा लोको मानयति ।३१।

ननु निषेधाधिकारे कथमिदं विधानसूत्रमिति चेत्सत्यं नित्यनिषेधाधिकारे यन्नित्यग्रहणं तदेव बोधयति इदं विधानसूत्रमिति । न च नित्यग्रहणाभावे 'पदाद्युग्वि०' ।२।१।२१। सूत्रे कथं विकल्प इति वाच्यं तदा तत्रैव 'नवा' इति कुर्यादिति । किञ्चिदित्यादि - पुनः शब्दोपादानात्तस्यैव यदि भवेत्तदैवान्वादेशः अन्यस्य कथने तु पुनश्शब्दार्थो न घटत इति तेन यद्यन्यस्य कथनं तदा नान्वादेशः तेन जिनदत्तमध्यापय एवं च गुरुदत्तमित्यत्र तस्यैव

जिनदत्तस्य पुनः कथनाभावादन्वादेशाभावात् 'त्यदामेतदे०' ।२।१।१३३। इत्येनदादेशो न भवति । अनु पश्चात्कथनमन्वादेशः कथितानुकथनमिति यावत् । यूयं विनीता इति – अन्वादेशदर्शनार्थं वाक्यमिदं दर्शितं न तूत्तरपदसम्बद्धमिदम् तेन 'तद्' इत्यस्य सपूर्वपदत्वाभावादुत्तरेण न विकल्पः । तदित्यय तस्मादित्यर्थे ॥३१॥

सपूर्वात् प्रथमान्ताद्वा ।२।१।३२।

विद्यमानपूर्वपदात् प्रथमान्तात् पदात् परयोर्युष्मदस्मदोरन्वादेशे वस्नसादिर्वा स्यात् । यूयं विनीतास्तद्गुरवो वो मानयन्ति । तद्गुरवो युष्मान् मानयन्ति । वयं विनीतास्तद्गुरवो नो मानयन्ति । तद्गुरवोऽस्मान् मानयन्ति । युवां सुशीलौ तज्ज्ञानं युवाभ्यां दीयते । आवां सुशीलौ तज्ज्ञानं नौ दीयते तज्ज्ञानमावाभ्यां दीयते ।३२।

पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पार्थमिदम् । सह पूर्वेण वर्तते स सपूर्वः । तस्मात्सपूर्वात् 'सहस्तेन' ।३।१।२४। इति समासः, यद्वा सहशब्दो विद्यमानवचनः०, पूर्वशब्दो व्यवस्थार्थः सह विद्यमानं पूर्वं यस्मात् स सपूर्वः तस्मात् 'एकार्थं चानेकं च ।३।१।२२। इति समासः 'सहस्य सोऽन्यार्थे ।३।२।१४३। इति सभावः । प्रथमान्ताद्वेति – 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' ।४।११५। इत्यन्तस्य लाभेऽप्यन्तग्रहणं न्यायानुवादकम् । गम्येऽप्यन्वादेशे भवति यथा ग्रामे कम्बलो वः स्वमथो, ग्रामे कम्बलो युष्माकं स्वमथो इत्यादि इत्यत्र 'यूयं धनवन्तः' इत्यादि साक्षात्पदोपादानाभावः केवलम् 'अथो' इति द्योतकमात्रोपादानमेवेत्यत्र गम्य एवान्वादेशः ॥३२॥

त्यदामेनदेतदो द्वितीयाटौस्यवृत्यन्ते ।२।१।३३।

त्यदादीनामेतदो द्वितीयायां टाओसि च परेऽन्वादेशे एनद्

स्यात् । ननु वृत्यन्ते । उद्दिष्टमेतदध्ययनमथो एनदनुजानीत । एतकं साधुमावश्यकमध्यापय अथो एनमेव सूत्राणि । अत्र साकः । एतेन रात्रिरधीता अथो एनेनाहरप्यधीतम् । एतयोः शोभनं शीलमथो एनयोर्महती कीर्त्तिः । त्यदामिति किम् । संज्ञायामेतदं संगृहाण अथो एतदमध्यापय । अवृत्यन्त इति किम् । अथो परमैतम् पश्य ।३३।

स्यश्च त्यदश्चेति त्यदः 'त्यदादि.' ।३।१।१२०। इत्येकशेषः,'आद्वेरः' ।२।१।४१। इति तु सूत्रस्यात्र भवति शब्दार्थयोर्भेदविवक्षायां निरर्थकत्वेन त्यदद्वित्वाभावाद्वा । त्यदामिति बहुवचनेन त्यदादीनां ग्रहणं ज्ञायते । साक इति – अत्राक्सहितस्यैतद एनदादेश इत्यर्थः । एतेन रात्रिरधीतेति - अविवक्षितकर्मण इङ्क् अध्ययने ११०४ इङ् धातोः रात्रि–लक्षणस्याधारस्य 'कालाध्व०' ।२।२।२३। इति कालस्य कर्मत्वे क्तप्रत्यये कर्मण उक्तत्वाद्रात्रिशब्दे प्रथमा । अथवोपचाराद्रात्रिसहचरितमध्ययनमपि रात्रिशब्देनोच्यतेऽत्त साऽधीतेति ॥३३॥

इदमः ।२।१।३४।

त्यदादेरिदमो द्वितीयाटौसि परेऽन्वादेश एनद् स्यात् । अवृत्यन्ते । उद्दिष्टमिदमध्ययनमथो एनदनुजानीत । अनेन रात्रिरधीता अथो एनेनाहरप्यधीतम् । अनयोः शोभनं शीलं अथो एनयोर्महती कीर्त्तिः ।३४।

'टौस्यनः ।२।१।३७। इति 'दो मः' ।२।१।३९। इति च प्राप्तेऽयमपवादः । योगविभाग उत्तरार्थः अन्यथा 'त्यदामेनदिदमोः द्वितीयाटौस्यवृत्यन्ते' इत्येकयोगे क्रियमाणे उभयोरप्युत्तरत्रानुवृत्तिस्स्यात् । अत्रापि स अक-आदेशो भवति ॥३४॥

अद्व्यञ्जने ।२।१।३५।

त्यदादेरिदमो व्यञ्जनादौ स्यादौ परेऽन्वादेशे अः स्यात् । अथैत्य-न्ते । इमकाभ्यां शैक्षकाभ्यां रात्रिरधीता । अथो आभ्याम-हरस्य-धीतम् । इमकेषु अथो एषु । अनगिति वक्ष्यमाणादिह साको-पि विधिः ।३५।

तकार उच्चारणार्थोऽन्यथा 'सो रुः' ।२।१।७२। 'अत इति०' ।१।३।२०। इत्यादि कृते 'ओ' इत्यनिष्ट रूपं स्यात् । इदमिति-कार्यी निमित्तं कार्यमिति निर्देशक्रमे प्राप्ते कार्यस्य पूर्वमुपादानात् यद्वातरसूत्रे 'अनक्' ।२।१।३६। इति प्रथमान्तविशेषणोपादाणाद्वा । इदमः इति षष्ठ्यन्तमपि सर्वादेशार्थं प्रथमान्ततयेह विपरिणम्यते । अन्वादेशे सौ अयमाद्यादेशः साव-काशः विभक्त्यन्तरे त्वन्वादेशेऽद्यादेशः सावकाशः अन्वादेशे सौ तु परत्वाद-यमाद्यादेशः-अयोऽयं शीलवान् । शैक्षकाभ्यामिति – शिक्षि विद्योपदाने शिक्षते इति 'णकतृचौ' ५।१।४८। इति णकः ततः स्वार्थे 'प्रज्ञादिभ्योण्' ।७।२।१२५। इत्यण् यद्वा-शिक्षणं शिक्षा 'क्तेटो गुरोर्व्यञ्जनात्' ५।३।१०६। इत्यप्रत्ययः ततः शिक्षा वित्तोऽधीयाते वा 'पदक्रमशिक्षा०' ।६।२।१२६। इत्यकः ततः शिक्षकावेव शैक्षको प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेण् यद्वा – शिक्षायां भवौ 'शिक्षादेश्चाण्' ।६।३।१४८। इत्यण् ततो 'यावादिभ्यः कः' ७।३।१५। इति स्वार्थे कः ।।३५।।

अनक् ।२।१।३६।

त्यदादेर्व्यञ्जनादौ स्यादौ परेऽकवर्जं इदम् अः स्यात् । आभ्याम् । आभिः । एषु । आसु । अनगिति किम् । इमकाभ्याम् । त्यदामि-त्येव । अतीदंभ्याम् ।३६।

पृथग्योगारम्भाद् 'अन्वादेशे' इति निवृत्तमन्यथा साकोऽनकोऽप्य-न्वादेशे पूर्वसूत्रेणैवादेशस्य सिद्धत्वात्सूत्रारम्भवैयर्थ्यं स्यात् । अन्वादेशनि-

वृत्तौ तत्सम्बद्धं 'अवृत्त्यन्त' इत्यपि निवृत्तम् । 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यत इति न्यायेन साकोऽपि प्राप्तिरतः प्रतिषेधः । अभेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः । आभ्यामिति पुंल्लिङ्गे अतः आः०' ।१।४।१। इति स्त्रीलिङ्गे 'आत्' ।२।४।१८। इत्याप् - आभिरिति 'आत्' ।२।४।१८। इत्याप् । एष्विति - 'एद्बहु०' ।१।४।४। इत्येकारः । आस्विति - 'आत्' ।२।४।१८। इत्याप् । त्यदादिसम्बन्धिविज्ञानात् अतिदंभ्यामित्यत्र न भवत्येवमुत्तरसूत्रेष्वपि । इह तु भवति पराभ्याम्, परमैभिः परमेभ्यः इत्यत्र 'पूर्वं पूर्वोत्तरपदयोः कार्यं कार्यं पश्चात्सन्धिकार्यम्' इति न्यायेन पूर्वमुत्तरपदस्य कार्ये कृते पश्चात्सन्धिकार्यं कृतमन्यथा स्याद्युत्पत्तिसापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वात्परादप्यदादेशात्पूर्वमेवान्तरङ्गत्वात् 'अवर्णस्ये०' ।१।२।२६। इत्येकारः स्यात् । पश्चाददरूपाभावादादेशाभावः स्यादिति । किञ्च 'उभयस्थाननिष्पन्नोऽन्यतरव्यपदेशभाक्' इति न्यायादुभयस्थाननिष्पन्नस्यैकारस्य यद दशब्दसम्बन्धिता तदा परमैभिः'इत्यत्र पूर्वस्य व्यञ्जनान्ततायाम् 'एकदेशविकृत०' इति न्यायाद्यदादेशः स्यात्तदा परम + अ + भिस् एद्बहुस्भासि' ।१।४।४। इत्येकारे परमेभिरित्याद्यनिष्टं स्यादिति । यदेकारस्य परमशब्दसम्बन्धिता तदा दम्भावस्यादादेशे परमयेभिरित्याद्यनिष्टं स्यादिति । अयं न्यायः 'आतो नेन्द्रवरुणस्य' ।७।४।२९। इत्यत्र ज्ञापयिष्यते ॥३६॥

टौस्यनः ।२।१।३७।

त्यदां टायामोसि च परेऽनक इदमोऽनः स्यात् । अनेन । अनया । अनयोः २ । त्यदामित्येव । प्रियेदमा । अनक इत्येव । इमकेन ।३७।

अनेनेति - 'टाङसोरिन०' ।१।४।५। इतीना - देशः । अनयेति - 'टौस्येत्' ।१।४।१९। इत्येत्वम् । अनयोरित्यादि - 'एद्बहुस्भोसि ।१।४।४। इति । स्त्रियां त्वनादेशादापि 'टौस्येत् ।१।४।१९। इति ॥३७॥

अयमियम् पुंस्त्रियोः सौ ।२।१।३८।

त्यदां सौ परे इदमः पुंस्त्रियोर्यथासंख्यमयमियमौ स्याताम् । अयं ना । इयं स्त्री । त्यदामित्येव । अतीद ना स्त्री वा ।३८।

अयमियमिति– लुप्तप्रथमाद्विवचनान्तमपदम् । अनेकवर्णत्वात्सर्वस्यादेशः "आ द्वेरः" ।२।१।४१। इति मस्यात्वं तु विधानसामर्थ्यान्न भवति । "दीर्घङ्याब्०" ।१।४।४५। इति सिलोपः । पुंस्त्रियोरिति– ननु नपुंसके तु नित्यत्वात्प्रथमं सेर्लुपि स्थानिवद्भावनिषेधादिदमित्यस्यैव भवनात्पुंस्त्रियोरेवादेशो भविष्यतीति किमर्थं पुंस्त्रियोरिति कथनेनेति चेत्सत्यम् । पुंस्त्रियोरिति कथनाभावेऽनियमेन द्वयोरपि लिङ्गयोर्द्वयोरप्यादेशभवनात्पुंसि इयम् स्त्रियामयमिति भवनादनिष्टापत्तिस्स्यादिति । "अपेक्षातोऽधिकारः" '१२' इति न्यायेन "अनक्" इत्यस्यात्र सम्बन्धाभावात् साकोऽप्यादेशः । केषाञ्चिन्मते अकारान्त आदेशः, सेः स्थाने म् । अन्ये तु उभयोर्नित्यत्वात्परत्वाभावादपवादत्वादयमिति चादेशे कृते पश्चादकि, सेरभावात्पुनरादेशाभावे अयकमियकमितिच्छन्ति ॥३८॥

दो मः स्यादौ ।२।१।३९।

त्यदां स्यादौ परे इदमो दो मः स्यात् । इमौ । परमेमौ । इमकाभ्याम् । त्यदामित्येव प्रियेदमौ ।३९।

स्याद्यधिकारेण स्यादिग्रहणेन स्यादिरेवानुवर्तते न किञ्चित्तद्विशेषणमित्याह– स्यादौ पर इति ॥३९॥

किमः कस्तसादौ च ।२।१।४०

त्यदां स्यादौ तसादौ च प्रत्यये परे किमः कः स्यात् । कः । साकोपि । कः । कदा । कर्हि । तसादौ चेति किम् । किं पश्य, किन्तराम् । त्यदामित्येव । प्रियकिमौ ।४०।

न चेदं सूत्रमनर्थकम् उत्तरसूत्रे "आ द्वेरः तसादौ चेसस्य" इति

क्रियमाणे सर्वं सेत्स्यतीति वाच्यं तथा सति साकस्यानिष्टं रूपं स्यात् ककः ककौ इष्यते तु साकोऽप्यनेनादेशे कः काविति। ननु "तसादौ" इति किमर्थं तसि तु "इतोऽतः कुतः" ।७।२।९०। इति निपातनं वक्ष्यत इति चेत्सत्यमुत्तरार्थमिदम् अथवा थमन्तार्थं तसादिग्रहणमन्यथा निरवधिकं स्यात्। कदेत्यादि- कस्मिन् काले इति कदा। अत्र "किंयत्तत्सर्वै०" ।७।२।९५। इति दाप्रत्ययः. कस्मिन्ननद्यतने काल इति "अनद्यतने र्हिः" ।७।२।१०१। र्हिप्रत्ययश्च। तसादौ चेत्यत्र चकारः समुच्चयार्थोऽत "आ द्वेरः" ।२।१।४१। इत्यत्र स्यादावित्यस्यानुवृत्तिरन्यथा चानुकृष्टत्वात् "चानुकृष्टं नानुवर्तते" इति न्यायादुत्तरत्रानुवृत्तिः स्यादिति। तसादावित्यत्रादिशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वात् थवमसाना एव तसादयो ग्राह्यास्तेन कितरामित्यादौ तदुत्तरेषु न भवति। कोऽनयोः प्रकृष्टः कितरः "द्वयोर्विभज्ये च तरप्" ।७।३।६। इति तरपि "किंत्याद्येऽव्ययाद०" ।७।३।८। इत्यामि च कितरामिति सिद्धम् ॥४०॥

आद्वेरः ।२।१।४१।

द्विशब्दमभिव्याप्यत्यदां स्यादौ तसादौ च परे अः स्यात्। स्यः। स्यौ। द्वौ। ततः। त्यदामित्येव। अतितदौ ।४१।

"आङावधौ ।२।२।७०। इत्यवधौ पञ्चमी अवधिश्चाभिव्याप्तिरत आह द्विशब्दमभिव्याप्य इति। स्य इति- अनेनान्त्यस्याकारः "लुगस्यादेत्यपदे०" ।२।१।११३। इति पूर्वस्य लुक् "तः सौ सः" ।२।१।४२। इति तस्य सत्वम्। द्वाविच्छति "अमाव्ययात्क्यन्" ।३।४।२४। इति क्यनि क्विपि क्विपः लोपे त्यदादिसम्बन्धिस्याद्यभावात् द्वीरित्येव भवति न त्वनेनेकारस्यात्वम्। एकः इत्यत्रान्त्यस्याकार-करणे न किञ्चित्फलं तथापि "पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः" १३४ इति न्यायेनात्वस्याप्यत्र भवति ॥४१॥

तः सौ सः ।२।१।४२।

आद्वेस्त्यदां सौ परे तः सः स्यात्। स्यः। स्या। सः। सा। एषा त्यदामित्येव। प्रियत्यत् ।४२।

नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति न्यायेन प्राप्तावपि 'भवती' इत्यत्र तस्य सत्व 'आ द्वेः' इति वचनान्न भवति। नपुंसके तु सेरभावात्पुंल्लिङ्गे तु सेः स्थानित्वेन सत्वे कृतेऽपि "पदस्य" ।२।१।८९। इति सलोपे विशेषाभावः ॥४२॥

अदसो दः सेस्तु डौ ।२।१।४३।

त्यदां सौ परे अदसो दः सः स्यात्। सेस्तु डौ। असौ। असकौ। हे असौ। हे असकौ। त्यदामित्येव। अत्यदाः।४३।

असाविति– प्रक्रियालाघवार्थं "आद्वेरः" ।२।१।४१। इति न प्रवर्तते किन्तु 'डित्यन्त्यस्वरादेः' ।२।१।११४। इत्येव प्रवर्तते। हे असौ, हे असकौ इति "अदेतः स्यमोर्लुक्" ।१।४।४४। इत्यत्र स्यादेशत्वेनैवामोऽपि लोपे सिद्धे यदम्ग्रहणं तदन्यस्य स्यादेशस्याग्रहणार्थत्वात्तेनात्र "तदादेशास्तद्वद्भवन्ति' इति न्यायेन सेः स्थानित्वेपि "डौ" इत्यस्य लोपो न भवति। डित्करणमन्त्य-स्वरादिलोपार्थम् तेन "औता" ।२।४।२०। "एदापः" ।१।४।४२। 'दीर्घङ्याब्-व्यञ्जनात्सेः' ।१।४।४५। "अस्यायत्तत्क्षिपका०" ।२।४।१११। इति कार्याणि न भवन्ति अन्यथा सेस्त्वौरिति क्रियेत। एतानि कार्याणि स्त्रियां प्राप्नुवन्ति। अयं भावः-अदस्शब्दात्सावनेन औकारे "आ द्वेरः" ।२।१।४१। इत्यत्त्वे "आत्" ।२।४।१८। इत्यापि औव्यपदेशे "औता" ।१।४।२०। इति सिव्यपदेशे तु आमन्त्र्ये "एदापः" ।१।४।४२। इति अनामन्त्र्ये "दीर्घङ्य ब्०" ।१।४।४५। इति अकि तु "अस्यायत्तत्क्षि०" ।२।४।१११। इति प्राप्नुवन्ति। **अत्यदा** इति "अम्बारे०" ।१।४।९०। इति दीर्घः ॥४३॥

असुको वाकि ।२।१।४४।

त्यदां सौ परे अदसोऽकि सत्यसुको वा स्यात्। असुकः। असकौ। हे असुक। हे असकौ।४४।

अनेन दस्य सः सात्परस्याकारस्योकारः सेस्तु डौत्वाभावो वा निपा-

त्यन्ते । असुकः इति– परत्वान्नित्यत्वच्च "अभ्वादे०" ।१।४।९०। इति बाधित्वा "आ द्वेरः" ।२।१।४२। "लुगस्या०" ।२।१।११३। इत्यल्लोपः "सो रुः" ।२।१।७२। इति सस्य रुः । हे असुक । इत्यत्र "अदेतः स्यमोर्लुक्" ।१।४।४४। इति सिलुक् ।।४४।।

मोऽवर्णस्य ।२।१।४५।

अवर्णान्तस्य त्यदामदसो दो मः स्यात् । अमू नरौ स्त्रियौ कुले वा अमी । अमूदृशः । अवर्णस्येति किम् । अदः कुलम् ।४५।

"अवर्णस्य" इत्यदसो विशेषणं तेन तदन्तविधिः । **अमू नराविति** अदस्+औ "आ द्वेरः" ।२।१।४१। "लुगस्यादेत्यदद्वे" ।२।१।११३। 'मोवर्णस्य' ।२।१।४५। "ऐदौत्सन्ध्यक्षरे" ।१।२।१२। "मादुवर्णोनु" ।२।१।४७। आसन्नत्वाद्द्वि मात्रिकस्यौकारस्य द्विमात्रिक ऊकारः । एव स्त्रियामपि नपुंसके तु "औरीः" ।१।४।५६। "अवर्णस्य०" ।१।२।६। शेष पूर्ववत् । **अमीत्यत्र**–त्यदाद्यत्वम् मत्वम् 'जस इः' ।१।४।९। इतीत्वम् "अवर्णस्ये०" ।१।२।६। इत्यैत्वम् 'बहुष्वेरीः' ।२।१।४९। इतीत्वं च । **अमूदृश इति** असाविव दृश्यत इति त्यदाद्यन्यसमाना०" ।५।१।१५२। इति टक् स्याद्यभावात्त्यदाद्यत्वाभावे "अन्यत्यदादेराः ।३।२।१५२ इत्याकारः पश्चादवर्णान्तत्वान्मकारादेशः । **अदः कुलमिति**–"अनतो लुप्" ।१।४।५९। इति सेर्लुपि स्थानिवद्भावनिषेधात् त्यद द्यत्वाभावेऽवर्णान्तत्वाभावान्मकारादेशो न भवति । नच अदः कुलमिच्छतीत्य स्मन्वाक्ये अदस्शब्दात् नपुंसकादमो लुपि "सो रुः" ।२।१।७२। इति रुत्वे "रोर्यः" ।१।३।२६। इति यत्वे "स्वरे वा" ।१।३।२४। इति यलोपेऽवर्णान्तत्वान्मत्व स्यादिति वाच्यं पदान्तरापेक्षत्वेन बहिरङ्गस्य यलोपस्य तदनपेक्षत्वेनान्तरङ्गे मत्वविधौ कर्तव्ये "असिद्धं बहिरङ्ग०" इति लोपस्यासिद्धत्वान्मत्वाभावः ।।४५।

वाद्रौ ।२।१।४६।

अदसोऽद्रावन्ते सति दोर्म्वा स्यात् । अदमुयङ्, अमुद्र्यङ्, अमुमुयङ्,

अदद्रयङ् ।४६।

वाऽद्राविति 'सर्वादि-विष्वग्देवा०' ।३।१।१२२। इति अद्र्यन्तस्यादस इकारान्तत्वादवर्णान्तत्व-भावादप्राप्ते ऽयमारम्भः । द्वावत्र दकारौ अतोविकल्पे सति चातुरूप्यं भवति । चत्वारि रूपाण्येव 'भेषजादिभ्यः' ।७।२।१६४। इति स्वार्थे टच ण अथवा चतुर्णां रूपाणां भावः "पतिराजान्त०" ।७।१।३०। इत्यनेन टचणि वेदं सिद्धम् तदाह—

परतः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति पूर्वतः ।
उभयोः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति नोभयोः ॥

अदमुयङ्ङित्यादि— 'समुदाये प्रवृत्ता शब्दा अवयवेपि वर्तन्ते इति मात्राशब्दोऽधमात्रायामपि । इति अदमुयङ्ङित्यादावर्धमात्रिकस्यापि रस्य स्थाने एकमात्रिकः उकारादेशः सिद्धः अत्र वा वाशब्दो व्यवस्थितविभाषार्थः न तु विकल्पार्थः । यदि विकल्पार्थः स्यात्तदा प्रथममेव प्रयोगद्वयं स्यात् तावतैव विकल्पस्य चरितार्थत्वात् । साधनिका तित्थम्-अदोञ्चतीति क्विप् "सर्वादिविष्वग्देवाड्ड्रिः" ३।२।१२२। इति अद्र्यागमः, अञ्चोऽनर्चायाम्' ।४।२।४६। इति नलोपः 'अत्रः' ।१।४।६९। इति नागमः, पदस्येत्यन्तलोपः 'युजञ्चक्रु०' ।२।१।७१। इति नः ङ्, अनेन परस्य पूर्वस्य उभयोश्च क्रमणे मकारे चातुरूप्यमिदम् । आगमस्यावयवत्वात्तद्ग्रहणेन ग्रहणाददसोऽद्रेश्च दो मो भवति । न च दः इत्येकवचनान्तत्वादेकस्यैव दस्य मकारः प्राप्नोतीति वाच्यं दत्वजात्याश्रयणात् ॥४६॥

मादुवर्णोऽनु ।२।१।४७।

अदसो मः परस्य वर्णस्य उवर्णः स्यात् । अनु पश्चात्कार्यान्तिरेभ्यः अमुम् । अमू । अमुमुयङ् । अन्विति किम् । अमुष्मै । अमुष्मिन् ।४७।

ननु पञ्चम्या निर्देशाद् 'उवर्णः' प्रत्ययः कथं न भवतीति चेत्सत्यं अदो मुमी' ।१।२।३५इति सूत्रनिर्देशाद् वर्णमात्रस्य स्थानित्वं प्राप्तमिति आसन्नत्वाद् मात्रिकस्य स्थाने मात्रिकः, द्विमात्रस्य द्विमात्रः, त्रिमात्रस्य त्रिमात्रः आदेशो भवति । प्लुतोदाहरणं तु अमू ३ इति 'प्रश्ने च प्रतिपदम्' ।७।४।९८। इति प्लुतः ।

अमुम्,अमू इति– अदम्शब्दादम् औकारश्च 'आ द्वेरः' ।२।१।४१' 'लुगस्यादे०' ।२।१।११३। 'मोवर्णस्य' ।२।१।४५। 'समानादमोऽतः' ।१।४।४६। 'ऐदौत्स०' ।१।२।१२। 'मादुवर्णोऽनु' ।२।१।४७। कार्यस्य विधेयतया प्राधान्यात् अनुशब्दस्य पश्चादर्थस्य तद्विशेषणत्वं स्वसजातीयकार्यान्तरापेक्षयैव पश्चादित्याह– अनु पश्चात्कार्यान्तरेभ्य इति। अनुना सह कार्यान्तरेभ्यः इत्यस्य पूर्वं सम्बन्धः तस्य च पश्चादर्थत्वात् 'प्रभृत्यन्यार्थः' ।२।२।७५। इति दिग्योगलक्षणा पञ्चमी पश्चादित्यनेन पूर्वं सम्बन्धे तु 'रिरिष्टात्०' ।२।२।८२। इति षष्ठी स्यात्, पश्चादित्यखण्डमव्ययं वा। अमुष्मै इत्यादि अन्वित्यस्यानुपादाने परत्वा न्नित्यत्वाद्वा पूर्वमुकारादेशेऽदन्तत्वाभावात् स्मैस्मिन्नादेशो न स्यातामिति। नन्वत्र 'अन्वित्यनुपादाने 'प्राग्निनात्' ।२।१।४८। इत्युत्तरसूत्रस्य नियमार्थता स्यान्नियमश्चेत्थमिनादेशादेव प्रागुवर्णोऽन्येन तु पश्चादेवेति किमन्वित्यस्योपादानेनेति चेत्सत्यमेवमपि नियमः स्यात् इनादेशः प्रत्ययादेशोऽतो ऽन्यस्मात्प्रत्ययादेशात् पश्चादेवोवर्णः प्रकृत्यादेशात्तु पूर्वमेव भवेदिति अमुया अमुयोरित्यादौ पूर्वमेवोत्वे आबन्तत्वविरहेण 'टौस्येत्' ।१।४।१९। इत्यस्याप्रवर्तने अमुया अमुयोरित्यादिर्न सिध्येदिति। ननु 'अमुष्मै' इत्यत्र 'ङित्यदिति' ।१।४।२३। इत्योत्वं कथं न भवतीति चेत्सत्यम् 'अदिति' इत्यत्र पर्युदासनञ् तेन साक्षात्स्वरादिर्जनात् पर्युदासस्य सदृशग्राहित्वात् साक्षात्स्वरादिप्रत्यये एवैकारौकाराविति, अत्र तु स्थानित्वेन स्वरादित्वात्साक्षात्स्वरादित्वाभावान्न भवति कश्चित्। तथाऽदितीति विषयसप्तम्यां दकारादेरुत्पद्यते यस्तद्विषयत्वेनादत्र मकारः तदादेशत्वेन दकार एव। अत एव 'ददस्' इत्यत्र ऐदिति न कृतमिति ॥४७॥

प्राग्निनात् ।२।१।४८।

अदसो मः परस्य वर्णस्येनादेशात् प्राक् उवर्णः स्यात्। अमुना। इनाविति किम्। अमुया ।४८।

अन्वित्यस्यापवादोऽयम्। इनादित्यत्र प्राक्शब्दस्य दिक्शब्दत्वात् 'प्रभृत्यन्यार्थ०' ।२।२।७५। इति पञ्चमी। अदश्शब्दाट्टाप्रत्यये त्यदाद्यत्वे मत्वे उत्वे च 'टः पुंसि ना' ।१।४।२४। इति नादेशे नपुंसके तु 'अनाम्स्वरे०' ।२।४।८। इति नागमे च अमुनेति। त्यदाद्यत्वे आपि अदन्तत्वाभावादिना-

देशाभावात् 'टौस्येत्' ।१।४।१९। इत्येत्वे पश्चादुत्वेन च अमुयेति ॥४८॥

बहुष्वेरीः ।२।१।४९।

बहुवर्थवृत्तेरदसो मः परस्य एत ईः स्यात् । अमी । अमीषु । एरिति किम् । अमूः स्त्रियः । मादित्येव । अमुके ॥४९॥

सम्भवे व्यभिचारे०' ११४ इति न्यायाद् 'बहुषु' इत्यदसो विशेषणं न तु मादित्यस्येत्याह – **बहुवर्थवृत्तेरिति–अमीति** - अदम् + जस्, त्यदाद्यत्वादि, 'जस इः' ।१।४।९। 'अवर्णस्ये०' ।१।४।६। इत्येत्वमनेनेत्वम् । **अमीष्विति** - 'एद् बहुस्भोसि' ।१।४।४। इत्येत्वमनेनेत्वम् । **अमूः स्त्रिय इति**- अदश्शब्दाज्जसि त्यदाद्यत्वादौ 'अत: आः०' ।१।४।१। इत्याकारे 'मादुवर्णोनु' २।१।४७। इत्याकारस्योकारे 'सो रुः' ।२।१।७२। इति रुत्वम् 'रः पदान्ते विसर्गस्तयोः' ।१।३।५३। इति विसर्गः । **अमुक इति** - अत्र 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन०' इति न्यायेन ग्रहणे-प्युकारेण व्यवधानादीत्वं न भवति ॥४९॥

धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे प्रत्यये ।२।१।५०।

धातोरिवर्णोवर्णयोः स्वरादौ प्रत्यये परे यथासंख्यमियुवौ स्याताम् । नियौ । लुवौ । अधीयते । लुलुवुः । प्रत्यये इति किम् । न्यर्थः । न्वर्थः । नयनम् । नायकः । इत्यादौ परत्वाद् गुणवृद्धी ॥५०॥

युवर्णस्येति कर्तव्ये यदिवर्णोवर्णस्येति कृतं तद् 'विचित्रा सूत्रकृतिः' इति दर्शनार्थम् । ननु 'प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्' इति न्यायेन प्रत्ययस्यैव भविष्यति किं 'प्रत्यये' इत्येनेनेति चेत् सत्यं 'न्यायाः स्थविर यष्टिप्रायाः' इति न्यायानां प्रवृत्तिरविश्वसनीया इति । नियौ लुवा - विति 'क्विबन्तानां धातुत्वं नोज्झन्ति शब्दत्वं च प्रतिपद्यन्त' इति न्यायादत्रापीयुवौ भवतः । ननु क्विबन्तानां शब्दत्वस्य प्राधान्याद् धातुत्वस्य गौणत्वात् गौणमुख्यः०' २२ इतिन्यायेन मुख्यस्यैव धातोः इयुवौ प्राप्नुतः इति चेत्सत्यं 'स्यादौ वः' ।२।१।५७। इति सूत्रस्यैतदपवादत्वाद् गौणस्यापीयुवादेशौ

भवतः । स्यर्थ इति – नियोऽर्थः" षष्ठीसमासः । नियौ लुवावित्यादावस्य विधेः सावकाशत्वात् करणं कारक इत्यादौ तु गुणवृद्धयोः सावकाशत्वात् नयन नायक इत्यादावुभयप्राप्तौ परत्वाद्गुणवृद्धी । अधीयत इति अधिपूर्वात् 'इङ्क् अध्ययने' इति धातोः वर्तमानाया अन्तेप्रत्यये 'अनतोऽन्तं दात्मने' ।४।२।११४। इत्यद.देशोनेनेयादेशश्च । स्त्र मिच्छतीति क्यनि क्विपि यत्र क्विबन्तः स्त्रीशब्दस्तत्रानेनैवयादेशो भवति न तु 'स्त्रियाः ।२।१।५४। इत्यनेन तेन क्विबन्तस्य धातोः 'वाम्शसि' ।२।१।५५। इति विकल्पो बाध्यते नाम्नस्तु भवत्येव ॥५०॥

इणः ।२।१।५१।

इणो धातोः स्वरादौ प्रत्यये परे इय् स्यात् । यापवादः । ईययुः ।

ईयुः ।५१।

अत्र व्यभिचाराभावेपि 'धातो' इत्युत्तरार्थमनुवर्तते । 'योऽनेकस्वरस्य' ।२।१।५६। इति विहितयत्वापवादः । यन्ति, यन्तु इत्यत्र तु 'हि्वणोरप्विति व्यौ' ।४।३।१५। इति यत्वं परत्वाद्भवति - ननु द्वयोर्विध्योरन्यत्र सावकाशत्वाभावादिति चेन्न परत्वादित्यस्य विशेषविहितत्वेन प्रकृष्टत्वादित्यर्थः । **ईयतुरिति**–द्वित्वे कृते 'वार्णात्प्राकृतं बलवत्' इति न्यायेन पूर्वमियादेशस्तदनन्तरं दीर्घः । अस्यापवादत्वादेतद्विषयकसर्वशास्त्रबाधे प्राप्ते 'पूर्वपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्' इति न्यायेन यत्वस्यैव बाधो भवति न तु गुणवृद्धयोस्तेन अयनम्, आयक इत्यादौ परत्वाद्गुणवृद्धी एव भवतः ॥५१॥

संयोगात् ।२।१।५२।

धातोरिवर्णोवर्णयोः संयोगात्परयोः स्वरादौ प्रत्यये परे इयुवौ स्याताम् । यवक्रियौ । कटप्रुवौ । शिश्रियुः ।५२।

धातुसम्बन्धिनः इवर्णस्योवर्णस्य च धातुसम्बन्धिन एव संयोगा-

ह्परयोः स्वरादौ प्रत्यये परे यथासङ्ख्यमियुवौ स्यातामित्यर्थः । तेन उन्न्यौ, उन्न्यः, सकृल्ल्वौ सकृल्ल्वः इत्यत्र धातुसम्बन्धिसंयोगाभावादियुवौ न भवतः । एनावियुवौ - 'क्विवृत्तेसुधियः०' ।२।१।५८। 'योऽनेकस्वरस्य' ।२।१।५८। इति विहितयोः य्वोरपवादाविति बोध्यम् । यवक्रियाविस्थावि – यवान्क्रीणाते इति कटेन प्रवेत इति । दिद्युद्दृज्ज०' ।५।२।८३। इति क्विप् ।

भ्रूश्नोः ।२।१।५३।

भ्रूश्नोरुवर्णस्य संयोगात् परस्य स्वरादौ प्रत्यये परे उव् स्यात् । भ्रुवौ । आप्नुवन्ति । संयोगादित्येव । चिन्वन्ति ।५३।

संयोगात्परस्येति विशेषणं श्नोर्न तु भ्रूशब्दस्याव्यभिचारात् । कथन्विवबन्तस्य तु धातुत्वात् 'धातोरिवर्णोवर्ण०' ।२।१।५०। इत्यादिनैवोवादेशः । आप्नुवन्तीति - आप्लृंट् व्याप्तौ 'स्वादेः' ।३।४।७०। इति श्नुप्रत्ययः ।।५३।।

स्त्रियाः ।२।१।५४।

स्त्रिया इवर्णस्य स्वरादौ प्रत्यये परे इय् स्यात् । स्त्रियौ । अतिस्त्रियौ ।५४।

स्त्रिया इति – स्त्रियात्रित्यादि-स्त्यायतेः सूतेर्वा स्त्री' (उणा० ४५०) इति निपातनाद् त्रट् । स्त्रियामतिक्रान्ताविति 'गोश्चान्ते०' ।२।४।९६। इति ह्रस्वत्वे एकदेशविकृतस्यानन्यत्वादत्रापि भवति 'इदुतोऽ – स्त्रेरीदूत' ।१।४।२१। स्त्रीशब्दवर्जनात् परेणापि यादेशनेत्कार्यं न बाध्यते' इत्यस्य ज्ञापितत्वात् अतिस्त्रयः, अतिस्त्रिणा, अतिस्त्रये, अतिस्त्रेः २, अतिस्त्रौ इत्यत्रेयादेशो न भवति । 'स्त्रियाम्' इत्यत्र 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य' इति न्यायात् नाम्न भवति । 'वेयुवो०' ।१।४।३०। इत्यत्र 'अस्त्रियाः' इति निर्देशात् परादपि इयुवयत्वादिकार्यात्प्रागेव स्त्रीदूदाश्रितं कार्यं भवतीत्यस्य ज्ञापितत्वात् स्त्रीणामित्यत्र तु प्रागेव नाम् । 'वेयुवो०' ।१।४।३०। इत्यत्र

'अस्त्रियाः' इति निर्देशात् अथवा स्वरादिप्रत्ययेन प्रकृतेराक्षेपाद् स्त्रियाः इति तस्य विशेषणात्तदन्तविधिः। तर्हि शस्त्रीशब्दस्यापि स्त्र्यन्तत्वादियादेशः प्राप्नोतीति न च वाच्यम् शस्त्रीशब्दघटकस्त्रीशब्दस्य त्वनर्थकत्वान्न भवति। पृथग्योगः उत्तरार्थः। अयं भावः उत्तरत्र स्त्रीशब्दस्यैव केवलस्यानुवृत्तिः स्यादित्येवमर्थः ॥५४॥

वाम्शसि ।२।१।५५।

स्त्रिया इवर्णस्याम्शसोः परयोरिय् वा स्यात्। स्त्रियं स्त्रीम्। स्त्रियः, स्त्रीः ।५५।

अत्र तुल्यायामपि संहितायां षष्ठीबहुवचनत्वेन नाम्विषयत्वेन स्वरादित्वाभावात् शस्साहचर्याच्च द्वितीयैकवचनस्यैव ग्रहणम्। स्त्रीशब्दस्य सङ्ख्यैकार्थत्वाभावाद् 'सङ्ख्यैकार्थाद्वीप्सायां शस्' ।७।२।१५१। इति तद्धितशसोनुत्पत्तौ सङ्ख्यैकार्थत्वयोगादुत्पत्तौ वा स्वरादित्वाभावात् – द्वितीयाया शस एव ग्रहणम्। यन्नाद्यन्तस्य धातुरूपस्य भवति परन्तु 'धातोरिवर्णो' ।२।१।५०। इत्यनेनैवेयादेशः यतः 'स्त्रियाः ।२।१।५४। इत्यत आरभ्य धातोरेव स्त्रीशब्दस्य ग्रहणं स एवानुवर्तते 'नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवतीति 'अनुवर्तमानस्यान्यथात्वं न भवति ॥५५॥

योऽनेकस्वरस्य ।२।१।५६।

अनेकस्वरस्य धातोरिवर्णस्य स्वरादौ प्रत्यये परे यः स्यात्। निन्युः। निन्युः। पतिमिच्छति पत्यि ।५६।

'इवर्णस्येति' 'आसन्नः ।७।४।१२०। इति परिभाषयेवर्णस्यैव यादेशो भवतीत्यत्र इवर्णस्येति। 'विशेषातिदिष्टः प्रकृताधिकारं न बाधते' इति न्यायाद् इयबाधकमिदम्। न तु धातोरितः धातोरित्यनुवर्तते। पत्यीति-पतीयतीति क्विपि पती: सप्तम्यां पत्यि ॥५६॥

स्यादौ वः ।२।१।५७।

अनेकस्वरस्य धातोरुवर्णस्य स्वरादौ स्यादौ परे वः स्यात् । वसुमिच्छन्तौ वस्वौ । स्यादाविति किम् । लुलुवुः ।५७।

वसुमिच्छन्तौ - देवमग्निं राजानं वेत्यर्थः द्रव्यवृत्तेस्तु नपुंसकत्वात् । यवोः 'य्वय्०' ४।४।१२१। इति यलुक् ।।५७।।

क्विब्वृत्तेरसुधियस्तौ ।२।१।५८।

क्विबन्तेनैव या वृत्तिः समासस्तस्याः सुधीशब्दादन्यस्याः सम्बन्धिनो धातोरिवर्णोवर्णस्य स्वरादौ स्यादौ परे तौ य व इत्येतौ स्याताम् । उन्न्यौ । ग्रामण्यौ । सुल्वः । खलप्वः । क्विबिति किम् । परमौ नियौ परम-नियौ । वृत्तेरिति किम् । नियौ कुलस्य । असुधिय इति किम् सुधियः ।५८।

क्विबन्तेनैवेति - नन्वत्राधारणं कुतो लब्धमिति चेत् सत्यम् वृत्तिस्थधातोः केवलस्यासम्भवाद्वृत्तिग्रहणेनैव क्विपि लब्धे क्विब्ग्रहणमवधारणार्थम्, उन्न्याविस्यादि-उन्नयतः ग्रामं नयति, सुलुनन्ति खल पुनन्ति इति, क्विप 'गतिकारकङस्युक्तानाम्०' इति न्यायेन स्याद्युत्पत्तेः प्रागेव समासः । परमनियाविति - अत्र स्याद्यन्तेन समासः न तु क्विबन्तेनेति न भवति । असुधिय इति किमिति - सुष्ठु ध्यायति दधाति वा सुधीः 'दिद्युद्दृज्जग०' ।५।२।८३। इति क्विप् सुपूर्वस्यैव वर्जनादिह प्रध्यौ, आध्यौ, उद्ध्यौ ।।५८।।

दन्पुनर्वर्षाकारैर्भुवः ।२।१।५९।

दृन्नादिभिः सह या क्विब्वृत्तिस्तत्सम्बन्धिन एव भुवो धातोरुवर्णस्य

स्वरादौ स्याधौ परे वः स्यात् । दृन्भ्वौ । पुनर्भ्वौ । वर्षाभ्वः । कारभ्वः । दृनादिभिरिति किम् । प्रतिभुवौ ।५९।

दृन्भ्वावित्यादि 'दृहु वृद्धौ 'उदितः स्वरा०' ।४।४।९८। इति नागमे क्विपि 'पदस्य' ।२।१।८९। इत्यन्तलोपे 'दृन्' इति । दृन् हिंसन् भवतीति दृन्भूः, दृन्भ्वौ सविषः कीटविशेषः । 'धातवो-ऽनेकार्थाः' इति न्यायादनेकार्थत्वादत्र हिंसा गम्यते । पुनर्भ्वौ, पुनरूढे स्त्रियौ । वर्षन्तीत्यचि वर्षाः तासु भवन्तीति वर्षाभ्वः । वर्षाभूः औषधि-विशेषः दर्दुरश्च । कारभ्व इति - क्रियत इति कारः राजलभ्यो भागः कारे कारेण वा भवन्तीति कारभ्वः । प्रतिभुवाविति – पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम् एतैरेव भुवो नान्यैरिति । एतैः भुव एव नान्यस्य धातोरिति नियमः अस्वयम्भुवोव्' ।७।४।७०। इति सूत्रनिर्देशान्न भवति अन्यथा अन्य-धातोरेव वत्वप्रतिषेधात् भुवस्तु प्रतिषेधाभावाद्वत्वं स्यादिति ।।५९।।

णषमसत्परे स्यादिविधौ च ।२।१।६०।

इतः सूत्रादारभ्य यत्परं कार्यं विधास्यते तस्मिन् स्याद्यधिकार-विहिते च पूर्वस्मिन्नपि कर्त्तव्ये णत्वं षत्वं चासदसिद्धं स्यात् । एतत्सूत्रनिर्दिष्टयोश्च णषयोः परे षे णोऽसन् । पूष्णः । तक्ष्णः । पिपठीः । अर्वाणौ । सर्पींषि । असत्पर इत्यधिकारो रात्स इति यावत् । स्यादिविधौ चेति तु नोम्यादिभ्य इति ।६०।

पूर्वस्मिन्निति – परस्य स्यादिविधेरभावात्सम्भवे वा परग्रहणेनैव सिद्धत्वादाह - पूर्वस्मिन्निति–णत्वं षत्वं चेति । णो विधेयत्वेन एष्वस्तीति 'अभ्रादिभ्यः' ।७।२।४६। इत्यप्रत्यये णशब्देन णत्वविधायक–सूत्राण्युच्यन्ते एवं षशब्देनापि षत्वविधायकसूत्राणि णषशब्देन णषविधायकशास्त्रयोरभिधा-नेपि शास्त्रस्य कार्यसम्पादनाय प्रवृत्तत्वात् कार्यस्यैव प्राधान्यं दर्शयति । असद्विधौ पक्षद्वयम् कार्यासिद्धत्वपक्षः शास्त्रासिद्धत्वपक्षश्च तत्र शास्त्रस्यैवासत्त्वं युक्तं कार्यासिद्धत्वाश्रयणे हि यथा देवदत्तस्य हन्तरि हते न देवदत्तस्य पुनः प्रादु-

भावो भवति तथा पूष्ण: इत्यत्रासिद्धत्वमापादितेपि नकारप्रादुर्भावाभावा-न्नान्तप्रकृतेरभावात् 'अल्लोपोऽनः' ।२।१।१०८। इत्यकारलोपो न स्यात् । शास्त्रा-सिद्धत्वपक्षाश्रयणे तु अकारलोपे शास्त्रे कर्तव्ये णत्वशास्त्रस्यैवासिद्धत्वाद-कारलोपशास्त्रमेव पूर्वं प्रवर्तते न णत्वशास्त्रमिति पूष्ण इत्यादिरूपसिद्धि-र्निराबाधा । **पूष्ण इत्यादि** - पूष्ण तक्ष्ण इत्यत्र णत्वस्यासिद्धत्वादनोऽकार-लोपो भवति । पिपठीषतीति क्विपि पिपठीः अत्र षत्वासत्त्वात् सो रुर्भ-वति । पठितुमिच्छतीति 'तुमर्हादि०' ।३।४।२१। इति सनि 'स्याद्यशितः०' ।४।४।३२। इतीटि 'सन्यङश्च' ।४।१।३। इति द्विर्वचने 'व्यञ्जनस्या०' ।४।१।४४। इत्यनादिलोपे 'सन्यस्य' ।४।१।५९। इतीत्वे 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति षत्वे क्विपि 'अतः' ।४।३।८२। इत्यलोपे 'अप्रयोगीत्' ।१।१।३७। इति क्विब्लोपे 'दीर्घङ्याब्०' ।१।४।४५। इति सिलोपे षत्वस्यासत्त्वात् 'सो रुः' ।२।१।७२। इति रुत्वे 'पदान्ते' ।२।१।६४। इति दीर्घत्वे 'रः पदान्ते०' ।१।३।५३। इति विसर्गे च पिपठीरिति । स्यादिविधौ च अर्वाणौ सर्पींषि इत्यत्र णत्वषत्वयोरसिद्धत्वात् 'नि दीर्घः' ।१।४।८५। 'न्स्म-हतोः' ।१।४।८६। इत्युपान्त्यदीर्घत्वं सिद्धम् । **एतत्सूत्रनिर्दिष्टयोरित्यादि** - प्रनष्ट इत्यत्र 'यजसृज०' ।२।१।८७। इति षत्वे कर्तव्ये णत्वस्यासिद्धत्वात् षत्वे कृते च 'एकदेशविकृत०' इति प्राप्तमपि 'नशः शः' ।२।३।७८। इति णत्वं शः' इति व्यावृत्त्या न भवति । सप्तकपादोक्तक्रमेण 'षणः' इत्युच्य-माने 'उपसर्गात्० ।२।३।३९। इति षत्वस्य णत्वे कर्तव्ये सत्त्वात् 'रषृवर्णान्०' ।२।३।६३। इति षकारात् विधीयमानं णत्वं अभिषुणोतीत्यादौ न स्यात् ॥६०॥

क्तादेशोऽषि ।२।१।६१।

केनोपलक्षितस्य तस्यादेशः षादन्यस्मिन् परे पूर्वस्मिंश्च स्यादि-विधावसन् स्यात् । क्षामिमान् । लून्युः । अषीति किम् । वृक्णः ।
।६१।

केनोपलक्षितस्येति व्युत्पत्त्याश्रयणात् क्तक्तवतुक्तिक्तवानां ग्रहणं सिद्धम् । **पर इति**– परत्वमेतत्सूत्रापेक्षया न तु क्तादेशविधायकसूत्रापेक्षयाऽ-न्यथा 'यजसृज०'।२।१।८७। इति सूत्रात्परत्वाभावात्'अपि'इति व्यर्थं स्यात् ।

क्षामिमानिति– क्षामस्यापत्यम् 'अत इञ्' ।६।१।३१। इतीञि क्षामिः, ततो 'तदस्या०' ।७।२।१। इति मतुः । यद्वा- क्षामोऽस्यास्तीति 'अतोऽनेकस्वरात्' '७।२।६। इतीनि क्षामी ततः क्षाम्यस्यास्तीति क्षामिमान् 'क्षेशुचिरच०' ।४।२।७८। इति मकारादेशस्यासत्वात् 'मावर्णा०' ।२।१।९४।इति वत्वं न भवति । लूय्युरिति– लूनमिच्छतीति क्यन् 'क्यनि' ।४।३।११२। इतीकारः, क्विप् ततो ङस् 'क्विति वोर्लोप्य उर्' ।१।४।३६। इत्युरादेशे 'योऽनेकस्वरस्य' ।२।१।५६। इति यत्वे लूय्युरिति यद्वा लवनं लूनिस्तामिच्छतीति क्यनि क्विपि ङसि लूय्युः । वृक्ण इति– अत्र ओव्रश्चौत् छेदने १३८१ इति धातोः क्तप्रत्ययः 'सस्य शषौ' ।१।३।६१। इति शस्य षः, ग्र 'ग्रहव्रश्च०' । ।१।८४। इति वृश्च्, 'सूयत्याद्यो दितः' ।४।२।७०। इति तस्य नः । वृश्च्+न इति स्थितौ अषि ति वचना – सकारादेशस्य नकारस्यासत्वाभावाद्धुट्परत्वाभावाद् 'यजसृज०' ।२।१।८७। इते षत्वं न भवति 'च जः कगम्' ।२।१।८६। इति कत्वे कर्तव्ये तु नस्यासत्वाद्धुट्परत्वात् कत्वं भवति ॥६१॥

षढोः कस्सि ।२।१।६२।

से परे षढोः कः स्यात् । पेक्ष्यति । लेक्ष्यति ।६२।

'पिष्लृंप् संचूर्णने, लिहींक् आस्वादने– अतः भविष्यन्त्याः स्यतौ 'एकस्वरा०' ४।४।५६। इतीड्निषेधे 'लघोरुपान्त्यस्य' ।४।३।४। इति गुणे, 'हो धुटपदान्ते' ।२।१।८२। इति ढत्वेऽनेन कत्वे 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति षत्वे च पेक्ष्यति, लेक्ष्यति । 'असदारे' इत्यधिकारात् निघाक्ष्यतीत्यत्र ढकारादेशस्य नित्यस्यापि कस्य परेऽसत्वात् 'गडदबादे०' ।२।१।७७। इति चतुर्थान्तलक्षणः आदेश्चतुर्थस्सिद्धः । शस्त्रासिद्धत्वपक्षे तु परे शास्त्रे कर्तव्ये ककारशास्त्रस्यैव सिद्धत्वात्पूर्वं 'गडदबादेः' ।२।१।७७। इत्येव प्रवर्तते । कश्चच्छासेरपि सौ विकल्पेन ककारमिच्छति तन्मते शाक्षि, शाश्चि ॥६२॥

भ्वादेर्नामिनो दीर्घो र्वोर्व्यञ्जने ।२।१।६३।

भ्वादेर्धातोर्यौ र्वौ तयोः परयोस्तस्यैव नामिनो दीर्घः स्यात्

व्यञ्जने । हूर्च्छा । आस्तीर्णम् । दीव्यति । भ्वादेरिति किम् । कुर्कुरीयति, दीव्यति ।६३।

हुर्छा कौटिल्ये 'भिदद्यः' ।५।३।१०८। इत्यङि आप्यनेन दीर्घत्वे 'हांर्हं०' ।१।३।३१। इति द्वित्वे 'अघोषे प्रथमो०' ।१।३।५०। इत प्रथमे चकारे च हूर्च्छेति स्तृ॰ग् श-आच्छादने ।१५२१। आङ्पूर्वात् स्तृणातेः 'ऋतां क्ङितीर्' ।४।४।११६। इतारादेशे 'रदादमूर्च्छ०' ।४।२।६९। क्तस्य नत्वेऽनेन द घत्वे णत्वे च आस्तीर्णमिति कुर्कुरमिच्छतीति क्यनि कुर्कुरीयति दिवूच् क्रीडा-जयेच्छा-पणि द्युति-स्तुति-गतिषु ११४४ दिवमिच्छतीति-दिव्यति ।।६३।।

पदान्ते ।२।१।६४।

पदान्तस्थयोर्भ्वादेर्वोः परयोर्भ्वादेर्नामिनो दीर्घः स्यात् । गीः । गीर्थः । पदान्त इति किम् । गिरः । लुवः ।३४।

गीरिति-गिरतेः क्विप् 'ऋतां क्ङितीर्' ।४।४।११६। इतीरादेशः सिः, तल्लुक् दीर्घत्वं च । गिरर्थः इति बहुव्रीहिस्तत्पुरुषो वा ।।६४।।

न यि तद्धिते ।२।१।६५।

यादौ तद्धिते परे यौ वौ तयोः परयोर्नामिनो दीर्घो न स्यात् । धुर्यः । योति किम् । गीर्वत् । तद्धित इति किम् । गीर्यति । गीर्यते ।६५।

'धुरो यैयण्' ।७।१।३। इति ये धुर्यः । गीरिव 'स्यादेरिवे ।७।१।५१ इति वति'पदान्ते'।२।१।६४। इति दीर्घत्वे च गीर्वदिति । 'अमाव्ययात्०' ।३।४। २३। इति क्यनि-गीर्यति । 'क्यङ्' ।३।४।२६। इति क्यङि गीर्यते । ननु पुर्यो किर्योरित्यत्र कथं न भवतीति चेत्सत्यम्'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' '२०' इति न्यायाद् बहिरङ्गलक्षणस्य यत्वस्यान्तरङ्गे दीर्घत्वे कर्तव्येऽसिद्धत्वान्न भवति ।।६५।।

कुरुच्छुरः ।२।१।६६।

कुरुच्छुरोर्नामिनो रे परे दीर्घो न स्यात् । कुर्यात् । छुर्यात् । कुर्विस्त्युकारः किम् । कुरत् शब्दे - कूर्यात् ।६६।

कुर्यादिति - डुकृंग् करणे ८८८ इति धातोः सप्तमीयात्प्रत्ययः, 'कृगतनादेरुः' ।३।४।८३। 'नामिनो०' ।४।३।१। 'अतः शित्युत्' ।४।२।८९। इत्युकारः, 'कृगो यि च' ।४।२।८८। इत्युकारलोपः 'भ्वादे०' ।२।१।६३। इति दीर्घत्वे प्राप्तेऽनेन निषेधः ॥६६॥

मो नो म्वोश्च ।२।१।६७।

मन्तस्य धातोरन्तस्य पदान्तस्थस्य म्वोश्चपरयोर्नः स्यात् । प्रशान् । प्रशान्भ्याम् । जङ्गन्मि । जङ्गन्वः ।६७।

प्रशानिति - ननु 'नाम्नो नोऽनह्नः' ।२।१।९१। इति नलोपः स्यादिति न च विधान सामर्थ्यान्न स्यादिति वाच्यं म्वयोः परयोर्विधानस्य चरितार्थत्वादिति चेत्सत्यं नकारस्यसत्त्वान्नलोपो न भवति । अत्र प्रशाम्यतीति क्विपि 'अहन्पञ्चमस्य०' ।४।१।१०७। इति दीर्घत्वम् । जङ्गन्मीति-कुटिलं गच्छामीति 'गत्यर्थात्कुटिले ।३।४।११। इति यङि द्वित्वे ऽनादिव्यञ्जनलोपे 'गहोर्जः' ।४।१।४०। इति जकारे 'मुरतो०' ।४।१।५१। इति म्वागमे 'तौ मुमो०' ।१।३।१४। इति वर्गान्ते 'बहुलं लुप्' ।३।४।१४। इति यङो लुपि वर्तमानासिप्रत्ययेऽनेन नकारे च सिद्धम् ॥६७॥

स्रंस्ध्वंस्क्वस्सनडुहो दः ।२।१।६८।

स्रंसूध्वंसोः क्वस्प्रत्ययान्तस्य च सन्तस्य अनडुहश्च पदान्तस्थस्य दः स्यात् । उखास्रद् । पर्णध्वद् । विद्वत् कुलम् । स्वनडुद् । क्वस्सिति द्विव सकारपाठादिह माभूत्-विद्वान् ।६८।

९५३ स्रंसूङ् अवस्रंसने उखया स्रंसत इति क्विपि उखास्रदिति। पर्णानि ध्वंसत इति क्विपि पर्णध्वदिति 'नो व्यञ्जनस्या०' ।४।२।४५। इति विरामे वा' ।१।३।५१। इति प्रथमत्वे उखास्रत् इत्यपि भवति। विद्वानिति – अत्र 'ऋदुदितः' ।२।४।७०। इति नागमे सकारस्य 'पदस्य' ।२।१।८९। इति लोपे सकारस्याभाव द्विसकारपाठात्सकारान्तस्य ग्रहणादिह न भवति। ननु तकारे कृतेपि 'धुटस्तृतीयः' ।२।१।७६। इति दकारो भविष्यतीति चेन्मैवं तकारे कृते 'धुटस्तृतीयः' ।२।१।७६। इति परकार्ये कर्तव्येऽसत्त्वात् दकारो न स्यादिति दकारकरणम् अनड्वानित्यत्र तु 'अनडुहः सौ' ।१।४।७२। इति नकारविधानसामर्थ्यात् नकारस्य दकारो न भवति। अनडुह्-शब्दे हो धुट्०' ।२।१।८२। इति ढत्वस्य प्राप्तिः शेषेषु रुत्वस्य प्राप्तात्वयम् 'येन नाप्राप्ते०' इति न्यायात्' रुत्वढत्वयोः बाधकः न तु 'पदस्य' ।२।१।८९। इति संयोगान्तलोपस्य तस्य क्लीबे विद्वत् कुलमित्यादिष्वप्राप्तौ पुंस्त्वे विद्वानित्यादौ प्राप्तौ च प्राप्ताप्राप्तत्वात् ॥६८॥

ऋत्विज्दिश्दृश्स्पृश्स्रज्दधृषुष्णिहो गः ।२।१।६९।

एषां पदान्तस्थानां गः स्यात्। ऋत्विग्। दिग्। दृग्। अन्यादृग्। घृतस्पृग्। स्रग्। दधृग्। उष्णिग्।६९।

ऋतुम् ऋतौ ऋतवे ऋतुना हेतुभूतेन वा यजते स ऋत्विग् 'यजादिवचेः' ।४।१।७९। इति यवृत्। दिश्यत इति दिग्, पश्यति दर्शनं वा दृग् अन्य एव दृश्यत इति 'त्यदाद्यन्य०' ।५।१।१५२। इति क्विपि 'अन्यतदादेशः' ।३।२।१५२। इत्यात्वे अन्यादृगिति। घृतं स्पृशतीति घृतस्पृग्, सृज्यत इति 'क्रुधसंपदादिभ्यः' ।५।१।१४४। इति क्विपि अत एव निर्देशात् ऋतो रत्वे च। सृ गतौ' इत्यस्य वा सरति मस्तकादिकमिति 'ऋधिप्रथि०' (उणा ८७४) इति बहुवचनात् कजि च स्रगिति। ञिधृषाद् प्रागल्भ्ये धृष्णोतीति दधृष् अत एव निपातनाद् दित्वम्। ऊर्ध्वं स्निह्यति नह्यति वा अत एव निर्देशात् उदो दकारस्य लोपः सस्य षत्वं च। नहे-र्नकारस्य च ष्णिरादेशे उष्णिग् ॥६९॥

नशो वा ।२।१।७०।

नशः पदान्ते ग् वा स्यात् । जीवनग् । जीवनड् ।७०।

जीवतीति जीवः जीवस्य नशनं 'क्यादिभ्यो वा' ।५।३।११५। इति क्विपि अनेन गत्वे जीवनगिति - 'यजसृज०' ।२।१।८७। इति षत्वे 'धुटस्तृतीयः' ।२।१।७६। इति तृतीयत्वे जीवनडिति ॥७०॥

युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः ।२।१।७१।

एषां नस्य पदान्ते ङ् स्यात् । युङ् । प्राङ् । कुङ् ।७१।

युजृं पी योगे युनक्तीति क्विपि 'युजः०' ।१।४।७०। नागमेऽनेन नस्य ङत्वे युङिति । अञ्चू गतौ च अञ्चतीति क्विपि अनर्चायाम् 'अञ्चोऽनर्चायाम्' ।४।२।४६। इति नलोपे 'अचः' ।१।४।६९। इति नागमे अर्चायां तु नलोपाभावे प्राङिति । कुञ्चेस्तत एव निर्देशान्नलोपाभावो कुङिति । ननु न इति किमर्थं 'षष्ठ्यान्त्यस्य' ।७।४।१०६। इति सर्वेषामन्तस्य नस्यैव भविष्यतीति चेत्सत्यम् 'न' इत्यनुपादाने 'युजिच् समाधौ' इत्यस्यापि पदान्ते युङिति रूपं स्याद् ॥७१॥

सो रुः ।२।१।७२।

पदान्ते सो रुः स्यात् । आशीः । वायुः ।७२।

'आङः' ।४।४।१२०। इतीरादेशे आशीः इति । उकारः 'अरोः सुपि रः' ।१।३।५७। इत्यत्र विशेषणार्थः ॥७२॥

सजुषः ।२।१।७३।

पदान्ते सजुषो रुः स्यात् । सजूः । सजूर्वत् ।७३।

सह जुषत इति क्विपि अत एव निर्देशात् सहस्य सभावे स 'ससजुषो रुः' ।८।२।६६। इत्यत्र पदान्तेऽनुवृत्तेरधिकारात् दत्वे पश्च द्विसर्गे च सजूः रिति । सजूरिव – 'स्यादेरिवे' ।७।१।५२। इति वृति सजूरिवेति ॥७३॥

अह्नः ।२।१।७४।

अह्नः पदान्तरुः स्यात् । हे दीर्घाहो निदाघ । दीर्घाहा निदाघः ।७४।

हे दीर्घाहो निदाघः इति– अत्र शेषघुट्परत्वाभावान्न 'नि दीर्घः' ।१।४।८५। इति दीर्घः । दीर्घाहा निदाघः इत्यत्र तु सत्वस्यासत्त्वात् 'नि दीर्घः' ।१।४।८५। इति नान्तलक्षणो दीर्घो भवति । कश्चित्तु दत्वं नेच्छति तन्मते दीर्घाहो निदाघः । अहन् शत्रुमित्यत्र तु रत्वं पदस्य लाक्षणिकत्वान्न भवति । अयं भावः 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि' इति न्यायेन प्रतिपदोक्तस्य सम्भवाल्लाक्षणिको न गृह्यते । व्युत्पत्तिपक्षस्त्विह नाश्रितः ॥७४॥

रो लुप्यरि ।२।१।७५।

अरेफे परे पदान्ते अह्नो लुपि सत्यां रः स्यात् । अहरधीते । अहर्वत्ते । लुपीति किम् । हे दीर्घाहोऽत्र । अरीति किम् । अहोरूपम् ।७५।

लुपि सत्यामिति – विभक्तिलुपि सत्यामित्यर्थः अह्नः इत्येव सिद्धे अहन्शब्दस्य रेफादस्मिन्परे 'अतोऽति रोरुः' ।१।३।२०। इत्यादिना उत्वं मा भूदिति । पूर्वसूत्रस्यापवादोऽयम् । अहरधीत इति – 'कालाध्व०' ।२।२।४२। इति द्वितीया 'अनतो लुप्' ।१।४।५९। इति लुप्, रविधानात् 'अतोऽति रो०' ।१।३।२०। इति उत्वं न भवति । हे दीर्घाहोऽत्रेति – यद्यप्यत्र 'ऐकार्थ्ये' ।३।२।८। इति विभक्तिलुबस्ति परन्त्वत्र यदपेक्षया लुप् तदपेक्षयैव यदि पदत्वं तदा रो भवतीति प्रत्यासत्तिव्याख्यानादत्र न भवति । अत्र तु वाक्यविभक्त्यपेक्षया लुप् साक्षाद्विभक्त्यपेक्षया तु पदत्वमिति रो न भवति । न च

माश्यविभ- चरेऽयापि पदत्वमस्तीति वाच्यं 'वृत्त्यन्तोऽसषे' ।१।१।२५। इति प्रतिषेधात् । अहोरूपमिति - अह् न रूपम् इति समासे अह रूपम् प्रकृष्ट-महः स्त देश्च प्रशस्ते रूपप्' ।७।३।१२। इति रूपपि वा ।।७५।।

धुटस्तृतीयः ।२।१।७६।

पदान्ते धुटां तृतीयः स्यात् । वाग् । वाग्भिः अज्भिः ।७६।

ब्रूते वनीति वा 'दिद्युद्ददृद्' ।५।२।८३। इति क्विपि दीर्घत्वे सिलुकि "चजःकगम्' ।२।१।८६। इति कत्वेऽनेन तृतीयत्वे वागिति । अज्भिरिति – सञ्ज्ञाशब्दत्वात् 'चजः कगम्' ।२।१।८६। इति न प्रवर्तते, तस्य प्रवर्तने तु विवक्षितसञ्ज्ञाप्रतीतिर्न स्यात् । केचित्तु विसर्ग–जिह्वामूलीययोरलाक्षणिकत्वेऽस्तृत एत्र गत्वमिच्छन्ति तन्मते सुपूर्वाद् दुःखयतेर्दुःखयतेर्वा क्विपि 'कस्यादिः' कादिरित्यावृत्तिव्याख्यानात् एव जिह्वामूलीयस्य 'अं अः' ।१।१।१६। इति साहचर्यात् ≍ क इत्यस्यापि व्यञ्जनत्वे, व्यञ्जनेनैरन्तर्यं संयोग इति 'पदस्य' ।२।१।८९। इति संयोगान्तलोपे सुदुग्, सुदुग्भ्यामित्यादि सिद्धम् । कण्ठ्यत्वाच्च स्थान्यासन्नो गकारो भवति । न च)(प इत्यनेन साहचर्यात् ≍ क इत्यस्य व्यञ्जनत्वाभाव इति वाच्यमन्यथा 'अं अः०' ।१।१।१६। इति सूत्रे)(प ≍ क इति कुर्यादिति । कश्चरति,कष्ट कते, कस्तरतीत्यादौ तु रुत्वस्य परेऽसत्त्वान्न प्राप्नोति मातश्चरतीत्यादौ त्वादेशविधानसामर्थ्यान्न भवति । अन्यथा शषसान् विहाय सकारमेव विदध्यात्तावतैव 'सस्य शषौ' ।१।३।६१। इति कृते शषौ सेत्स्यत इति । 'षट्कतिकतिपयात् थट्' इति थटि 'षष्ठः' इत्यत्र तु 'षष्ठो०' ।२।२।१०८। इति निर्देशात्तृतीयत्वं न भवति ।।७६।

गडदबादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्यादेश्चतुर्थः स्ध्वोश्चप्रत्यये ।२।१।७७।

गडदबादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्य धातुरूपशब्दावयवस्यादेश्चतुर्थः स्यात् । पदान्ते सादौ ध्वादौ च प्रत्यये । पर्णघुट् । तुण्डिभमाच-

क्षाणः तुण्डिप् । एवं गर्द्धप् । धर्मभुत् । निघोक्ष्यते । न्यघूढ्वम् । धोक्ष्यते । अधुग्ध्वम् । भोत्स्यते । अभुद्ध्वम् । गडदबादेरिति किम् । अजञ्जप् । एकस्वरस्येति किम् । दामलिट् ।७७।

धातुरूपशब्दावयवस्येति— अत्र समासद्वयं पर्णघुडित्यादिसिद्धयर्थ धातुरूपशब्दस्यासावयवश्चेति धातुरूपशब्दावयवो गुह् अव-वा अवयव्यपेक्षयाभिधीयते इति पर्णगुह् अवयवी । तुण्डिब् इत्यादिसिद्धयर्थं तु धातुरूपशब्दस्यावयव. इति षष्ठीसमासः धातुरूपशब्दः तुण्डिभ् तस्यावयवः डिभ् इत्यादि । यद्वा धातुरूपस्यावयवः इति षष्ठीसमासस्तदा तुण्डिब् इत्यादि 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति न्यायानपेक्षया सिध्यति । पणघुडित्यादीनि तु न्यायापेक्षया सिध्यन्ति रूपशब्दस्तु भ्वाद्यभ्वादिधातुमात्रपरिग्रहार्थः । धातुरूपशब्दावयवो गुहौग् संवरणे गुह् पर्णानि गूहतीति क्विप् इत प्रथमत्व च **पर्णघुट्** ।'हो धुट्पदान्ते' ।२।१।८२। इति ढत्वेऽनेनादिगस्य घकारे 'विरामे वा' ।१।३।५१। तुडुङ् तोडने 'उदितः स्वरान्नोन्तः' ।४।४।९८। इति नागमे 'किलिपिलि०' उणा. ६०८। इति इप्रत्यये तुण्डिः सास्यास्तीति 'वलिवटितुण्डेर्भः' ।७।२।१६। इति भेच तुण्डिपिति गर्दभमाचष्टे इति णौ क्विप्यनेनादिचतुर्थत्वे 'ह्रादर्हस्वरस्या०' ।१।३।३१। इति धस्य द्वित्वे 'तृतीयस्तृतीय०' ।१।३।४९। इति तृतीयत्वे च गर्द्धप् । बुधिच् ज्ञाने धर्मं बुध्यते इति क्विपि धर्मभुत् । गुहधातोः स्यतेप्रत्यये उपान्त्यगुणे 'हो धुट्पदान्ते' ।२।१।८२। इति ढत्वे अनेनादिगस्य घत्वे 'षढोः कस्सि' ।२।१।६२। इति कत्वे षत्वे च निघोक्ष्यते । गुह् धातोरद्यतनीध्वमि प्रत्यये 'हशिटो नाम्यु०' ।३।४।५५। इति सकि 'दुहदिह०' ।४।३। ४। इति लुचि 'अड्धातो०' ।४।४।२९। इत्यडागमे 'हो धुट्पदान्ते' ।२।१।८२। इति ढत्वेऽनेनादिचतुर्थत्वे 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। इति धस्य ढत्वे 'ढस्तड्ढे०' ।१।३।४। इति ढलोपे दीर्घत्वे च न्यघूढ्वम् । **अधुग्ध्वम्** दुह् + ध्वम् । अडागमः सक् सक्लोपश्च 'भ्वादेरादेर्घः' ।२।१।८३। इति हस्य घः, अनेन दस्य धः । **भोत्स्यते**- बुध्+स्यते 'अघोषे प्रथमोऽशिटः' ।१।३।५०। अभुद्ध्वम्-बुध् + ध्वम् । अट् 'सिजद्यतन्याम्' ।३।४।५३। इति सिच् सो धि वा ।४।३।७२। इति सिज्लोपः । **अजञ्जप्**— जभैङ् गात्रविनामे गर्हितं जम्भते 'गृलुप०' ।३।४।१२। इति यङ्, 'बहुलं लुप्' ।२।४।१४। इति लुप्, द्वित्वम्, अनादिव्यञ्जनलोपः 'जपजभ०' ।४।१।५२। इति म्वागमः 'व्यञ्जनाद्दे०' ४।३।७८। इति दिवो लुप्, अडागमः । **दामलिट्**— दामलिहमि - च्छतीति 'अमाव्ययात् क्यन् च ३-४-२३ क्यन् क्विप् अलोपः यलोपः सिद्धच । ननु 'प्रत्ययाप्रत्यययोः०' इति

न्यायेनैव प्रत्ययग्रहणे लब्धे प्रत्ययग्रहणमतिरिच्यत इति चेन्न- डुधाञ् धारणे च ११३९ धाधातोः बसि 'हवः शिति ।४।१।१२। इति द्वित्वे पूर्वस्य ह्रस्वत्वे 'द्वितीयतुर्ययोः०' ।४।१।४२। इति दत्वे 'श्नस्त्वातः' ।४।२।९६। इत्याकारलोपे 'अघोषाद्वि०' ।१।३।८२। इति धस्य द्वित्वे दध्ध्वः इति स्थिते प्रकृतिप्रत्ययोभयस्थानजन्यत्वेन 'उभयस्थाननिष्पन्नो०' १०६ इति प्रत्ययव्यपदेशे आदेश-चतुर्थः स्यात् । प्रत्ययग्रहणे तु प्रत्ययग्रहणसामर्थ्यात् न्यायनिरपेक्षो यः प्रत्ययस्तस्मिन्परे एव स्यादिति नास्ति दोषः । वस्तुतस्तु ध्वस्योभयस्थाननिष्पन्नत्वं नास्ति नह्ययं प्रकृत्यवयवस्य प्रत्ययस्य च आदिश्यत इति परन्तु प्रकृत्यवयवस्य प्रत्ययस्य च मेलनेन प्रतीयते इति प्रधाने व्यपदेशा भवन्ति मल्लग्रामादिवदिति लोकप्रसिद्धन्यायादत्र प्रत्ययभागप्राधान्यात् प्रत्ययव्यपदेशे आदेश्चतुर्थत्वं न स्यादित्येवमर्थं प्रत्ययग्रहणम् । अबुद्ध अबुद्धाः इत्यत्र तु ते थामि च अटि 'सजस्तन्याम्' ।३।४।५३। इति सिचि 'धुड्ह्रस्वाल्लु०' ।४।३।७०। इति सिज्लुकि वर्णविधित्वेन, वर्णे सकाररूपे परतो विधिः, स्थानिवद्भावनिषेधान्न भवति । ननु सिच्लुकः पूर्वमेव चतुर्थत्वं कथं न भवतीति चेत्सत्यं सिच्लोपरूपे परकार्ये कर्तव्ये चतुर्थत्वस्यासदधिकारविहितत्वेनासत्त्वान्न भवति ।।७९।।

धागस्तथोश्च ।२।१।७८।

धागश्चतुर्थान्तस्य धादेरादेर्दस्य तथोः स्ध्वोश्च प्रत्यययोः परयोश्चतुर्थः स्यात् । धत्तः । धत्थः । धत्से । धद्ध्वे । तथोश्चेति किम् । दध्वः । चतुर्थान्तस्येत्येव । दधाति ।७८।

धाधातोः 'हवः शिति' ।४।१।१२। इति द्वित्वे, 'ह्रस्वः' ।४।१।३ । इति द्वित्वे, पूर्वस्य ह्रस्वत्वे, 'द्वितीयतुर्ययोः०' ।४।१।४२। इति दकारे 'श्नश्चातः' ।४।२।९६। इत्यालोपेऽनेन धत्र 'अघोषेप्रथमोऽशिटः' ।१।३।५०। इति तकारे 'तृतीयस्तृतीय०' ।१।३।४९। इति दकारे च धत्तः इत्यादि । अत्रासद्विधित्वाद् 'न सन्धिङ०' ।७।४।१११। इति असद्विधौ स्थानिवद्भावनिषेधात्, अत एव वचनाद्वा आल्लोपस्य स्वरादेशत्वात् स्थानिवद्भावो न भवति । ननु चकारकरणं कथं स्ध्वोः प्रत्यययोः परयोः पूर्वेणैव सिद्धत्वादिति, चेत्सत्यं यङ्लुपि 'क्रियाव्यतिहारे०' ।३।३।२३। इत्यात्मनेपदे से व्यतिधत्से इति स्यात् चका-

रकरणे तु

तिवा शव'नुबन्धेन, निर्दिष्टं यग्दणेन च।
एकस्व'निमित्तं च, पञ्चैतानि न यङ्लुपि ॥१८॥

इति न्यायाद् व्यतिदात्से इत्येव न त्वादेश्चतुर्थः । धाग इत्यत्र गकारोपादानात् ट्धें पाने इति धयतेः यङ्लुपि दात्तः दात्थ इति चतुर्थो न भवति एवं दधादेरप्यनुबन्धनिर्देशात् यङ्लुपि दात्त दात्थ इति चतुर्थो न भवति । भृशं पुनः पुनर्वा धयति दधाति वा व्यञ्जनादे रेकस्वराद् भृशाऽऽभं क्ष्ण्ये यङ् वा ३-४-७ इति यङि तल्लुपि द्वित्वादौ 'आगुणा०' ।४।२।४८। इत्यात्वे तसि थसि 'श्नश्चातः ।४।२।९६। इत्याकारलोपे च दात्तः दात्थः ॥७८॥

अधश्चतुर्थात् तथोर्धः ।२।१।७९।

चतुर्थात्परयोर्धारूपवर्जाद्धातोर्विहितयोस्तथोर्धः स्यात् । अबुध । अबुधाः । अलब्ध । अलब्धाः । अध इति किम् । धत्तः । धत्थः । विहितविशेषणं किम् । ज्ञानभुत्त्वम् ।७९।

पूर्वसूत्रे निमित्तत्वेनोपादानादिह तथोरित्यस्य पुनरुपादानं स्थानित्वार्थम् । ननु 'गडदबादेः'० ।२।१।७७। इति सूत्रात् 'चतुर्थान्तस्य' इत्यनुवृत्तेस्तस्य 'अर्थवशाद्विभक्ति०' '१३' इति न्यायेन पञ्चम्यन्तत्वेनपरिणामे सर्वं सिध्यतीतिचेत्सत्यमिदं सुखार्थमन्यथा क्लिष्टप्रतिपत्तिः स्यात् । दुहिंक् क्षरणे दुहधातोः अद्यतनीतप्रत्यये थासि च 'हशिटो०' ।३।४।५५। इति सकि 'दुहदिह०' ।४।३।७४। इति तस्य लुकि 'भ्वादेर्दादेर्घः' ।२।१।८३। इति घत्वेऽनेन धत्वे तृतीयस्तृतीय०'।१।३।४९। इति तृतीयत्वे अबुध अबुधाः । डुलभिष् प्राप्तौ ७८६ लभधातोः ते थासि च सिचो 'धुड्ह्रस्वाल्लु०' ।४।३।७०। इति लुपि अनेन प्रत्ययतथोः धत्वे तृतीयत्वे च अलब्ध अलब्धाः । अध इति वर्जनात् यङ्लुबन्तधयतेरपि न भवति-दात्तः दात्थः । केचित्तु यङ्लुबन्तस्यापीच्छन्ति-दाद्धः, दाद्धः । ज्ञानभुत्त्वमिति– बुधिच् ज्ञाने ज्ञानं बुध्यत इति ज्ञानभुत् तस्य भावः 'भावे त्वतल्' ।७।१।५५। इति त्वे ज्ञानभुत्त्वमत्र नाम्नो विहितस्तवप्रत्ययः न तु धातोः 'क्विबन्ता धातु०' १०५ इति न्यायाश्रयणेऽपि 'अधः' इति वर्जनात्ययुं दुमाच्छुद्धधानां रेव ग्रहणान्न भवति ॥७९॥

नाम्यन्तात् परोक्षाद्यतन्याशिषो धो ढः ।२।१।८०।

रान्तान्नाम्यन्ताश्च धातोः परासां परोक्षाद्यतन्याशिषां धो ढः स्यात्। तुष्टुढ्वे। अतोढ्वम् । । चेषीढ्वम् । तीर्षीढ्वम् । नाम्यन्तादिति किम् । अपग्ध्वम् । आसिध्वम् ।८०।

आक्षिप्तधातोर्नामीति विशेषणात्तदन्तविधेर्लभिष्यन्तग्रहणं सुखार्थम् । ष्टुञ्क् स्तुतौ ११२४ स्तुधातोः परोक्षाया ध्वेप्रत्यये द्वित्वे 'अघोषे शिटः' ।४।१।४५। इत्याद्यसलोपे षत्वे 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। इति टत्वे 'इन्ध्य० ।४।३।२१। इति कित्त्वाद् गुणाभावेऽनेन धस्य ढत्वे च तुष्टुढ्वे । तुष्टुढ्वे इत्यस्य अतोढ्वम् तीर्षीढ्वमित्येतयोः पश्चादुपादाने प्राप्ते पूर्वमुपादानमापाततः । तॄ प्लवनतरणयोः तॄधातोरद्यतन्यां ध्वमि 'ऋवर्णात्' ।४।३।३६ इति सिचः कित्त्वाद् 'ॠतां क्ङितीर्' ।४।४।११६। इतीरादेशे 'भ्वादे०' ।२।१। ६३। इति दीर्घत्वे 'सो धि वा' ।४।३।७२। इति सिचो लुचि अनेन ढत्वे अतीढ्वम् । परत्वात्पूर्वमेवेरादेशे 'नाम्यन्ता'दित्यनेनैव न सिध्यतीति रग्रहणम् तीर्षीढ्वमिति-तॄधातोराशिषि रूपम् । अदिढ्वमिति-'इश्च स्थादः' ।४।३।४१ इत्यनेन इत्वं सिचः कित्त्वं च । ननु तत्र इत्वविधानादेव गुणो न भविष्यति किं कित्करणेनेति चेत्सत्यं इत्वविधानस्य 'अदित' इत्यादौ 'धुड्ह्रस्वाल्लुगनिटः०' ।४।३।७०। इति सूत्रेण सिचलोपे चरितार्थत्वाद्गुणः स्यादिति गुणबाधकं कित्करणम् । चेषीढ्वमिति-चिञ्ट् चयने १२९० चिधातोराशिषि सीध्वमि रूपम् । अपग्ध्वमिति- डुपचींष् पाके ८९२ पच्धातोः ध्वमि 'चजः कगम्' ।२।१।८६। इति कत्वं 'धुटस्तृतीयः' ।२।१।७६। इति गत्वम् । आसिध्वमिति- आसिक् उपवेशने ११११९ इत्यस्मादद्यतन्या ध्वमि सिचि इटि 'सो धि वा' ।४।३।७२। इति सिच्लुकि च सिद्धम् । अत्र इटः प्रत्ययावयवत्वात् धात्ववयवत्वाभावात् नाम्यन्तधातोरभावान्न भवति ॥८०॥

हान्तस्थाञ्जीड्भ्यां वा ।२।१।८१।

हान्तस्थायाश्च पराञ्जेरिटश्च परासां परोक्षाद्यतन्याशिषां धो ढ् वा स्यात् । अग्राहिढ्वम् । अग्राहिध्वम् । ग्राहिषीढ्वम्, ग्राहिषी-

ध्वम् । अनायिढ्वम् । अनायिध्वम् । नायिषीढ्वम् नायिषीध्वम् अकारिढ्वम् अकारिध्वम् । अलाविढ्वम् । अलाविध्वम् । जगृहिढ्वे । जगृहिध्वे । आयिढ्वम् । आयिध्वम् । हान्तस्थादिति किम् । घानिषीध्वम् । आसिषीध्वम् ।८१।

वचनभेदो यथासङ्ख्याभावार्थः । ञिटः स्वतन्त्रत्वादिटस्तु प्रत्ययावयवत्वेन प्रत्ययस्वाद्धातोर्नाम्यन्तत्वाभावात्पूर्वेणाप्राप्ते विभाषेयम् । अग्राहिढ्वमिति– अत्र'स्वरग्रह०' ।३।४।६९। इति विहितो ञिट्, 'ञ्णिति'।४।३।५०। इति वृद्धिः,'सो धि वा',४।३।७२। इति सिचो लुक् अनेन वा ढत्वम् । ग्राहिषीढ्वम्– पूर्ववत् ञिट् आशिषः सीध्वम् । एवम् अकारिढ्वमित्यादिपरोक्षायां ञिन संभवतीति नोदाहृतः । ग्रहीश् उपादाने १५१, जगृहिढ्वे इत्यादि इटः परस्य दाहरणम् । आयिढ्वमिति- 'अयि गतौ' अद्यतन्या ध्वम्प्रत्ययेः सिचि, "स्ताद्य०' ।४।४।३२। इतीटि 'सो धि वा' ।४।३।७२। इति सिज्लुकि 'स्वरादेस्त यु०' ।४।४।३१। इति वृद्धौ च सिद्धम् । घानिषीध्वमिति– हनक् हिंसागत्याः ११०० हन्तेः, आशिषः सीध्वम् 'स्वरग्रह०' ।३।४।६९। इति ञिट् 'ञिगवि०' ।४।३।१०१। इति घनादेशः 'ञ्णिति' ।४।३।५०। इति वृद्धिः । आसिषीध्वम्-अत्र आसिक् उपवेशने आस् धातोः ११११ आशिषः सीध्वम्प्रत्ययः 'स्ताद्य०' ।४।३।३२। इतीट् च । 'एकानुबन्धग्रहणे न', ३३ द्व्यनुबन्धकस्य' इति न्यायज्ञापनार्थं ञिग्रहणम् ।।८१।।

हो धुट्पदान्ते ।२।१।८२।

धुटि प्रत्यये पदान्ते च हो ढ् स्यात् । लेढा । मधुलिट् । गुडलिण्मान् । धुट्पदान्त इति किम् । मधुलिहौ ।८२।

लेढेति – लिहींक् आस्वादने ११२९ लिह् धातोस्तृच्यनेन हस्य ढः । 'अधश्चतुर्था०' ।२।१।७९। इति तस्य धत्वम् 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। इति ढत्वं 'ढस्तड्ढे०' ।१।३।४२। इति पूर्वढस्य लोपः । मधुलिडिति – मधु लेढीति मधुलिढ् पदान्तवाद् हस्य ढः, 'विरामे वा' ।१।३।५१। इति । गुडलिण्मा-

निति – गुड लेढि इति गुडलिट् सोऽस्यास्तीति गुडलिण्मान् अत्र ढत्वतृतीययोरसत्वात् 'मावर्णान्तो०' ।२।१।९४। इति वकारो न भवति । मधुलिहाविति-मधु लीढः इति मधुलिहौ 'गतिकारकङस्युक्तानां विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समासे पदान्तत्वाभावाद् हो ढो न भवति । यदि तु लीढः इति लिहौ मधुनो लिहौ मधुलिहाविति क्रियते तदा 'नृत्यन्तोऽसषे' ।१।१।२५। इति पदत्वाभावान्न भवति ॥८२॥

भ्वादेर्दादेर्घः ।२।१।८३।

भ्वादेर्धातोर्यो दादिरवयवस्तस्य हो धुटि प्रत्यये परे पदान्ते च घः स्यात् । दोग्धा । धोक्ष्यति । अधोक् । गोधुक् । भ्वादेरिति किम् । दामलित् ।८३।

भ्वादेरित्यस्य दादेरिति विशेषणमत आह भ्वादेर्धातोर्यो दादिरवयव इति समानाधिकरणविशेषणे तु दुहीक् क्षरणे ११२७ दुह् धातोः अदुग्धेत्यादाव डागमे कृते न सिध्येदिति । ढस्यापवादोऽयम् । तृच्प्रत्यये धुट्परत्वादनेन हस्य घे पश्चात्प्रत्ययतस्य धः । 'तृतीयस्तृतीय०' ।१।३।४९। इति तृतीयत्वे च दोग्धेति । दुह् + स्यति - अनेन घकारे कृते घस्य 'गडदबादे०' ।२।१।७७। इति धकारे च धोक्ष्यतीति - अत्र व्यपदेशवद्भावाद् धातोरवयवस्य दादित्व एव दुहेर्ह्यस्तन्या दिवि सिवि वा 'लघोरूपान्त्यस्य' ।४।३।४। इति गुणे 'व्यञ्जनाद्दे०' ।४।३।७८। इति दिवः लोपे 'सेः स्द्धां०' ।४।३।७९। इति सिव्लोपे 'अनेन घकारे आदिधकारे च अधोगिति । गां दोग्धीति गोधुक् । दामलिहमिच्छतीति अमाव्ययात् क्यन् च ।३।४।२३। क्वनि क्विपि च दामलिट् अय नामधातु न भ्वादिरिति न भवति । नन्वत्र सर्वेषु प्रयोगेषु घस्य कत्वगत्वे क्रियत इति ककारगकारयोरन्यतरविधानेनापि सर्वे प्रयोगाः सिध्येयुरिति किं घत्वविधानेनेति चेत्सत्यं ककारगकारयोरन्यतरविधाने चतुर्थान्तत्वाभावात् धोक्ष्यतीत्यादौ 'गडदबादे०' ।२।१।७७। इति चतुर्थत्वं न स्यादिति ॥८३॥

मुहद्रुहष्णुहष्णिहो वा ।२।१।८४।

एषां ह्रो घुटि प्रत्यये पदान्ते च घ् वा स्यात् । मोग्धा, मोढा । उन्मुक्, उन्मुट् । द्रोग्धा, द्रोढा, मित्रध्रुक्, मित्रध्रुट् । स्नोग्धा, स्नोढा । उत्स्नुट्, उत्स्नुक् । स्नेग्धा, स्नेढा । चेलस्निक्, चेलस्निट् ।८४।

द्रुहो नित्यं प्राप्तेऽन्येषामप्राप्ते विभाषा । मुहोच् वैचित्त्ये ऊर्ध्वं मुह्यतीति क्विपि उन्मुक् । चेल स्निह्यतीति क्विप् सिञ्चतीत्यर्थः । ननु मुहादेरित्येव क्रियतां किं धातुगणनेनेति । न चाधिकानां प्रसङ्गः स्यादिति वाच्यं तदनन्तरं वृत्करणात् । तद्धि पुष्यादिपरिसमाप्त्यर्थ-मपि भविष्यतीति चेत्सत्यं मुहादेरिति गणनिर्देशमकृत्वा धातुपरिगणनं यङ्लुप्यपि विध्यर्थम् तेन मोमग्धि, मोमोढि, द्रुहोच् जिघांसायाम् १२३९ द्रुह्-धातोः दोद्रोग्धि, द्रोद्रोढि । अथ बोभवीति इत्यादयो नियता एव यङ्लुबन्ता लोके प्रयुज्यन्ते तर्ह्येषां प्रयोगो न स्यादिति चेत् तर्हि स्पष्टार्थः पाठः ॥८४॥

महाहोर्द्धतौ ।२।१।८५।

महेब्रूँस्थानाहश्च धातोर्हो–घुटि प्रत्यये पदान्ते च यथासंख्यं धतौ स्याताम् ॥ नद्धा । उपानद्भ्याम्, आत्थ ।८५।

आहोऽन्यस्यासम्भवाद् 'ब्रूगः पञ्चानां॰ ।४।२।११४। इति विहितस्याहस्य ग्रहणमत आह ब्रूस्थानाहश्चेति । 'यथासङ्ख्यमनुदेशः॰' इत्याह यथासङ्ख्यमिति । ननु आहेरपि धकारादेशकरणे 'अघोषे प्रथमो॰' ।१।३।५०। इति प्रथमत्वे 'आत्थ' इति रूपं सेत्स्यतीति किमादेशान्तकरणेनेति चेत्सत्यमादेशान्तरकरणम् 'अधश्चतुर्थात्त॰' ।२।१।७९। इति धस्य धत्वनिवृत्त्यर्थमिति । न च 'ब्रूगः पञ्चानां॰' ।४।२।११८। इति सूत्रेण सिवस्थविधानादेव धत्व न भविष्यत्यन्यथा धत्वमेव विदध्यादिति वाच्यं 'सिवो धः' इति सूत्रान्तकरणे गौरवात् । उपानद्भ्यामिति - उपनह्यतीति क्विपि 'गतिकारक॰' ।३।२।८५। इति दीर्घत्वम् । आत्थेति - आहेर्नियतविषयत्वात् पदान्तत्वाभावः इति पदान्ते उदाहरणं नोपदर्शितम् ॥८५॥

चजः कगम् ।२।१।८६।

धुटि प्रत्यये पदान्ते च चजोः कगौ स्याताम् । वक्ता । वाक् । त्यक्ता । अर्द्धभाक् ।८६।

'प्रागिनात्' ।२।१।४८। स्त्य'दि'विभक्तिः' ।१।१।१९। इति सूत्र निर्दिष्टवत्त्वगत्वरूपज्ञापकात् 'धुट्पदान्ते' इत्यस्य चजाभ्यां कगाभ्यां प्रत्येकमभिसम्बन्ध यथासङ्ख्याभावः । वचननिर्देशस्य तुल्यत्वात् चजयोः कगाभ्यां स्ह यथासङ्ख्य न्वयः ननूभयविधानेन किमन्यतरविधानेनापीष्ट सिद्धेरिति चेत्सत्यं केवलगविधाने पक्वादयः केवलकविधाने लग्नादयः न सिध्येयुरित्युभयविधानम् । अर्द्धं भजतीति भजो विण्' ।५।१।१४६। इति विण् । कथ तच्चगति ? उच्यते दस्य 'धुटस्तृतीयः' ।२।१।७ । इति तृत यत्वे पश्चाद् 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। इति जत्वे पश्चात् 'अघोषे प्रथमो०' ।१।३।५०। इति चत्वे दकारस्य परे कार्ये कर्तव्येऽसत्त्वात्तत्स्थाननिष्पन्नयोः चजयोरप्यसत्त्वात् चत्वगत्वयोरभाव इति अच्च हल् च् अजझलावित्यत्र सञ्ज्ञाशब्दत्वान्न भवति ॥८६॥

यजसृजमृजराजभ्राजभ्रस्जव्रश्चपरिव्राजः शः षः ।२।१।८७।

यजादीनां धातूनां चजोः शस्य च धुटि प्रत्यये पदान्ते च षः स्यात् । यष्टा । देवेट् । स्रष्टा । तीर्थसृट् । मार्ष्टा । कंसपरिमृट् । राष्टिः । सम्राट् । भ्राष्टिः । विभ्राट् । भ्रष्टा । धानाभृट् । व्रष्टा । मूलवृट् । परिव्राट् । लेष्टा । प्रष्टा । शब्दप्राट् । यजादिसाहचर्याच्छोपि धातोरेव स्यात् । इह मा भूत् । निज्भ्याम् । चज इत्येव । वृक्षवृश्चमाचष्टे वृक्षव् ।८७।

देवेडिति - यजीं देवपूजा - सङ्गति-करण - दानेषु । देवान्यजयते इति क्विपि 'यजादिवचेः किति' ।४।१।७९। इति य्वृच्च । सृजंत् विसर्ग

स्रष्टेति - 'अः सृजिदृशो०' ।४।४।१११। इत्यदागमः । मृजौक् शुद्धौ कंसं परिमार्ष्टीति कंसपरिमृट् । राजृग् टुभ्राजि दीप्तौ राष्टिः भ्राजिरिस्यत्र तु तेग्रहादिभ्यः' ।४।४।३३। इति नियमात् क्तिरेव घुड् अन्यस्य क्विटा व्यवधान भवति । नन्वनयं यङ्लुबन्तयोरप्यपि तिव दिव्सम्भवति तत्कथं क्तिरेव धुडिति चेत्सत्यं यङ्लुबन्तयोरन योरन्येषां मत - ऽ - प्रयोगः, इत्युक्तं क्तिरेव धुडिति । भ्रस्जोत् पाके धाना भृज्जतीति क्विपि धानाभृट् । ओव्रश्चोत् छेदने १३८१ मूलं वृश्चतीति मूलवृट् । परिव्रजतीत्येवं शीलः 'दिद्युद्दृज्जगज्०' ।५।२।८३। इत्यादिना क्विबन्तस्यैव निपातनाद्व्यसम्भवान्नोदाहृतम् । शकारान्तस्योदाहरणम् लिशं गतौ लिश् धातोः लेष्टा प्रच्छन् ज्ञीप्सायाम् पृच्छतीति 'अनुनासिके०' ।४।१।१०८। इति शस्यानेन षः । शब्द पृच्छतीति 'दिद्युद्दृज्ज०' ।५।२।८३। इति क्विपि शब्दप्राट् । राजिसाहचर्यात् भ्राजेर्ग्रहणाद् 'एजृङ् भ्रेजृङ् भ्राजि दीप्तौ' इत्यस्य गत्वमेव विभ्राक् विभ्राग्भ्याम् । अतः एव भ्राजेरात्मनेपदिनोऽपि राजृग् टुभ्राजि दीप्तौ इत्यु उभयपदिषु पुनः पाठः साहचर्यार्थम् । न च 'आत्मनेपदमनित्यम्' इति न्यायेन भ्राजेरात्मनेपदिनोप्युभयपदिषु पुनः पाठः द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इति न्यायेनात्मनेपदाव्यभिचाराथमिति भवता साहचर्यार्थमिति कथनं न युक्तिसङ्गतमिति वाच्य तर्हि आत्मनेपदिष्वेव पुनः पठ्येत । नन्वेकस्य ट्वनुबन्धत्वात् 'ट्वितोऽथुः' ।५।३।८३। इत्यन्यस्य नेति वाच्य 'असरूपो०' ।५।१।१६। इत्युत्सर्गस्य प्रवर्तने एकेनापि धातुनाऽर्थाभेदेने प्रयोगद्वय सेत्स्यति परं साहचर्याय द्विः पाठः इति । निशाशब्दस्य 'मासनिशा०' ।२।१।१००। इति लुचि 'धुटस्तृतीय०' ।२।१।७६। इति जकारे निज्भ्यामित्यत्र जकारस्यासत्त्वात् 'चजः कगम्' ।२।१।८६। इति गत्वं न भवति । वृक्षवित्यत्र वकारस्य न भवति । कथं असृजिति । न च नञ्पूर्वस्य सृजेः क्विबन्तस्य षत्वे भाव्यमिति वाच्यं न सृज्य । इति 'रुधि पृथि०' । उणा० ८७४ । इति किदजि रूपमिदम् ॥८७॥

संयोगस्यादौ स्कोर्लुक् ।२।१।८८।

धुटः पदान्ते संयोगादिरथयोः स्कोर्लुक् स्यात् । लग्नः । साधुलक् । वृक्णः । मूलवृट् । तष्टः । काष्ठतट् ।८८।

युज् पीयोजे १४७६ संयुज्यते वर्णा अत्रेति 'व्यञ्जनाद्घञ्' ।५।३।१३२। इति घञि संयोगः वर्णाकमसम्प्रदायाद्व्यञ्जनैरनन्तर्थं संयोगः। ओलस्जेति व्रीडे ।१४७०। क्तप्रत्ययेऽनेन सलुकि च 'चजः कगम्' ।२।१।८६। इति कत्वे 'सूयत्याद्योदितः ।४।२।७०। इति तस्य नत्वे च लग्न इति। साधु लज्जत इति क्विपि साधुलक् 'सकारापदिष्टं कार्यं तदादेशस्य शकारस्यापि' इति न्यायात् वृश्चः इत्यादौ शस्यापि लुक् भवति। काष्टं तक्षणोतीति काष्टतड्। न च स्कोर्लुकि कृते तस्य परस्मिन्नसत्त्वात् 'पदस्य' ।२।१।८९। इति संयोगान्तस्य लोपः स्यादिति वाच्यं स्कोः पदान्ते लुको विधानादसत्त्वाभावः अन्यथा समुदायस्य लोप वास्यर्थं मित्यम तु बहिरङ्गस्य विदध्यादिति। यत्वस्य अन्तरङ्गे स्कोर्लुकि कर्तव्येऽसिद्धत्वात् संयोगादित्वे सत्यप्यनेनादेरुत्तरेण चान्तस्य लुग्न भवति। ननु मास पिपक्षतीति क्विपि, वचो विवक्षतीति क्विपि मामपिपक् वचोविवक् इत्यत्र कत्वस्य लुक् कथं न भवति न च 'स्वरस्य०' ।७।४।११०। इत्यल्लोपस्य स्थानिवद्भावेन संयोगस्याभावात् न प्राप्नोतीति वाच्यं न वासद्विधौ स्थानिवद्भाव निषेध इति वाच्य 'अस्वलुकि' इति वचनाद् नञ्निर्दिष्टमनित्यम्' इति न्यायेन 'अस्वलुकि' इति निषेधस्य प्रायिकत्वेन स्थानित्वाभावात्प्राप्नोतीति चेत्सत्यं 'चजः कगम्' ।२।१।८६। इति कत्वस्य परस्मिन् 'संयोगस्या०' ।२।१।८८। इति लोपे कर्तव्येऽसत्वान्न भवति ।।८८।।

पदस्य ।२।१।८९।

पदस्य संयोगान्तस्य लुक् स्यात्। पुमान्। पुंभिः महान्। पदस्येति किम्। स्कन्त्वा ।८९।

पदस्येति विशेष्यं संयोगस्येति विशेषणम् 'विशेषणमन्तः' ।७।४।११३। इति परिभाषोपस्थित्याऽऽह **पदस्य संयोगान्तस्येति** 'षष्ठ्याऽन्त्यस्य'। ।७।४।१०६। इत्यन्त्यस्य लुग्भवति। पुंभिरित्यत्र सकारलोपः, महानित्यत्र तकारलोपः महानित्यत्र संयोगान्तलोपस्य परकार्येऽसत्त्वाद्'नाम्नो नोऽनह्नः' ।२।१।९१। इति नलोपो न भवति। एवं 'न्स्महतोः' ।१।४।८६। इति स्यादिविधौ संयोगान्तलोपस्यासत्त्वाद्दीर्घो भवति। पदान्ते संयोगान्तस्य लुक् भवतीत्युच्यमानेऽपि संयोगान्तस्य पदस्यैव लोपस्य सिद्धत्वात्पदस्येति वचनं पदा-

त्समभवद्धुड्निवृत्त्यर्थमिति तेन स्कन्दिर् गतिशोषणयोः इति ३१९ स्कन्त्वेत्यादौ धुटि परे लोपो न भवति । नच 'नाम सिदय्०' ।१।१।२१। इति पदत्वाल्लोपो भविष्यतीति वाच्यं तेन नाम्नः पदत्वं विधीयते न तु धातोरिति भवाङ्च् शेते इत्यत्र तु विधानसामर्थ्यात् चलोपो न भवति ॥८९॥

रात्सः ।२।१।९०।

पदस्य संयोगान्तस्य यो रस्ततः परस्य सस्यैव लुक् स्यात् । चिकीः कटचिकीः । स एवेति किम् । ऊर्क् । न्यमार्ट् ।९०।

सस्यैवेति– पूर्वेण सिद्धे सति नियमार्थोऽयमुपतिष्ठते । रादेव सस्येति विपरीतनियमस्तु 'पुंवत्कर्मधारये' ।३।२।५७। इत्यत्र कृतसंयोगान्त-लोपस्य पुम्स्शब्दस्य निर्देशान्न भवति । नन्वेवं तर्हि अबिभः, अजागः इत्यादौ 'बिभर्तेर्जागर्तश्च ह्यस्तन्या दिवि 'हव०' ।४।१।१२। इति द्वित्वेऽत्वे 'पृभृमा०' ।४।१।५८। इतीत्त्वे 'द्वितीय०' ।४।१।४२। इति बत्वे गुणे च नियमात् 'व्यञ्जनाद्दे०' ।४।३।७८। इति लोपो न प्राप्नोतीति चेत्सत्यं प्रकरणात्पूर्वसूत्रविहितस्यैवायं न तूत्तरसूत्रविहितस्येति लोपो भवत्येव । चिकीर्षतीति क्विपि चिकीः षत्वस्य परेऽसत्त्वात्सस्य लुक् । ऊर्जण् बलप्राणनयोः १५८२ ऊर्जयतीति ऊर्क् । मृजौक् शुद्धौ १०९७ न्युपसर्गपूर्वस्य मृजधातोर्ह्यस्तनी-दिवि उपान्त्यगुणे 'मृजोऽस्य०' ।४।३।४२। इति वृद्धौ दिलोपे अडागमे 'यज-सृज०' ।२।१।८७। इति षत्वे तृतीयत्वे प्रथमत्वे च न्यमार्ट् ॥९०॥

नाम्नो नोऽनह्नः ।२।१।९१।

पदान्ते नाम्नो नस्य लुक् स्यात् । स चेदह्नो न स्यात् । राजा । राजपुरुषः । अनह्न इति किम् । अहरेति ।९१।

स्यादिविधावसदित्यनुवर्तते पर इति निवृत्तम् । स्यादिविधावसत्त्वात् 'राजभ्याम्, राजभिः, राजसु इत्यत्र दीर्घत्वैस्त्वैत्वान्यदन्तत्वाभावान्न भवन्ति अहरेतीति– अत्र 'रो लुप्यरि' ।२।१।७५। इति रेफस्य परेऽसत्वान्नलोपप्रा-

पितरन्त अहन्वर्जनेन प्रतिषेधः। न च निरवकाशत्वात् 'रो लुप्यरि' ।२।१।७५। इत्येव स्यादिति चेत्सत्यम् हे अहः इत्यामन्त्र्ये 'नामन्त्र्ये' ।२।१।९२। इति नलोपप्रतिषेधात् एवत्साबकाश परे इत्यस्य निवृत्तत्वात् 'दीर्घश्चि०' ।४।३।१०८। इति परकार्ये कर्तव्येऽसत्त्वाभावात् राजायते इत्यादौ दीर्घः सिद्धः। ननु वृत्रहभिरित्यत्र नलोपे परेऽसत्त्वाभावात् 'ह्रस्वस्य तः०' ।४।४।११४। इति तोन्तः कथं न भवतीति चेत्सत्यम् 'असिद्धं बहिरङ्ग-मन्तरङ्गे' इति धातुमात्राश्रितत्वेनान्तरङ्गे तोन्ते कर्तव्ये स्याद्यपेक्षणाद्बहिरङ्गस्य नलोपस्यासिद्धत्वान्न भवति। ननु तन्नयनमित्यत्र पदान्तस्थस्य नस्य लोपः कथं न भवति इति चेत्सत्यं धुटस्तृतीयः।२।१।७६। सूत्रविहितस्यासत्वात्तस्य नस्य नस्याप्यसत्त्वान्नलोपो न भवति॥९१॥

नामन्त्र्ये ।२।१।९२।

आमन्त्र्यार्थस्य नाम्नो नस्य लुक् न स्यात्। हे राजन् ।९२।

ननु सिलुचः स्थानिवद्भावेन 'अधातुविभक्ति०' ।१।१।२७। इति नामत्वाभावाल्लोपप्राप्तिरेव नास्ति किं प्रतिषेधेनेति चेत्सत्यमिदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं 'अधातु०' ।१।१।२७। इति नामसञ्ज्ञाप्रतिषेधो न भवतीति ॥९२॥

क्लीबे वा ।२।१।९३।

आमन्त्र्यार्थस्य नाम्नः क्लीबे नस्य लुग्वा स्यात्। हे दाम। हे दामन् ।९३।

'नाम्नो नोऽनह्नः' ।२।१।९१। इति प्राप्तः 'नामन्त्र्ये' ।२।१।९२। इत्यनेन प्रतिषिद्धः, अनेन पुनः प्रसूतः ॥९३॥

मावर्णान्तोपान्तापञ्चमवर्गान्मतोर्मो वः ।२।१।९४।

मावर्णो प्रत्येकमन्तोपान्तौ यस्य तस्मात् पञ्चमवर्जवर्गान्ताच्च नाम्नः परस्य मतोर्मो वः स्यात् । किंवान् । शमीवान् । वृक्षवान् । मालावान् । अहर्वान् । भास्वान् । मरुत्वान् ।९४।

मकारावर्णयोरन्त्योपान्त्याभ्यां सह यथासङ्ख्यमन्वयस्तु 'नोर्म्यादिभ्यः' ।२।१।९९। इति निषेधान्न भवति अन्यथा ऊर्मिमानित्यत्र मकारान्तत्वाभावात् आदिपदग्राह्ये यवमानित्यत्र अवर्णोपान्त्यत्वाभावाच्च प्राप्तेरभावात्प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यादिति । अथवा 'भोगवद्गौरिमत०' ।३।२।६५। इति निर्देशाद्वा । **मतोर्म इति–** अवयवावयविभावसम्बन्धे षष्ठी मतोरवयवस्य मकारस्येत्यर्थः । मः इत्यनुपादाने 'षष्ठ्याऽन्त्यस्य' ।७।४।१०६। इत्यन्त्यस्य तस्य स्यादथवा 'प्रत्ययस्य' ।७।४।१०८। इति सर्वस्य स्यादिति । **किंवानिति–** केऽस्य सन्तीति- 'तदस्यास्त्य०' ।७।२।१। इति मतावनेन वत्वे 'तौ मुमो०' ।१।३।१४। इत्यनुस्वारे । ततः सिलुकि 'ऋदुदितः' ।१।४।७०। इति नागमे 'अभ्वादे०' ।२।१।८३। इति दीर्घत्वे 'पदस्य' ।२।१।८९। इत्यन्तलोपे च सिद्धम् । मकारान्तस्योदाहरणमिदम् । **शमीवानिति–** शम्यस्त्यस्मिन्निति शमीवान् मकारोपान्त्यस्योदाहरणमिदम् । मालावानिदमाकारान्तस्योदाहरणम् । अहोऽस्त्यस्तीति-अहर्वान् 'रो लुप्यरि' ।२।१।७५। इति रत्वं अकारोपान्त्यस्योदाहरणमिदम् । 'भास्वानिदमाकारोपान्त्यस्योदाहरणम् । मरुत्वानिदं पञ्चमवर्जवर्गान्तस्योदाहरणम् 'न स्तं मत्वर्थे' ।१।१।२३। इति निषेधात् भास्वानित्यत्र रुत्वं मरुत्वानित्यत्र दत्वं च न भवतः ।।९४।।

नाम्नि ।२।१।९५।

संज्ञायां मतोर्मो वः स्यात् । अहीवती मुनीवती नद्यौ ।९५।

नाम द्वेधा लौकिकं शास्त्रीयं च निरूढलक्षणाकं यज्ञदत्तादि, यत् 'सञ्ज्ञा' इति प्रसिद्धम् । शास्त्रीयं 'अधातुविभक्ति०' ।१।१।२७। इति विहितं तत्र प्रत्यासत्त्या शास्त्रीयस्य ग्रहणे प्रसक्ते नामाधिकारेणैव नाम्नि लब्धे नामग्रहणमतिरिच्यमानं ज्ञापयति यदत्र लौकिकं नाम ग्राह्यमत आह **सञ्ज्ञायामिति–** पाणिनीयास्तु नाम्नः प्रातिपदिकमिति संज्ञेति ब्रुवन्ति ।

अहीवती मुनीवतीति— 'नद्यां मतुः' ।६।२।७३। इति चातुरर्थिको मतुः 'अन- जिरा०' ।३।३।७८। इति दीर्घत्वमेवनामानौ नद्यौ । ९०।।

चर्मण्वत्यष्ठीवच्चक्रीवत् कक्षीवद् रुमण्वत् ।२।१।९६।

एते मत्वन्ताः संज्ञायां निपात्यन्ते । चर्मण्वती नाम नदी । अष्ठीवान् जानुः । चक्रीवान् खरः । कक्षीवान् ऋषिः । रुमण्वान् गिरिः ।९६।

चर्मन्शब्दस्य नलोपाभावो णत्वं च निपात्यते । अस्थिशब्दस्याष्ठीभावः चक्रशब्दस्य चक्रीभावः खरः गर्दभः रासभ इति यावत् कक्षे भवा कक्षाय हिता कक्षे साधुर्वा 'दिगादि०' ।६।३।१२४। इत्यादिभिर्ये कक्ष्या कक्ष्याशब्दस्यानेन कक्षीभावः लूञ् छेदने १५१९ लुनाति वैरस्यमिति 'नन्द्यादिभ्योऽनः' ।५।१।१३४। इत्यनेऽत एव गणपाठाण्णत्वे च लवणम् लवणशब्दस्य रुमण्भावः ।संज्ञाया अभावे तु चर्मवती, अस्थिवान्, चक्रवान्, कक्ष्यावान्, लवणवानित्यन्ये त्वाहुः रुमन्निति प्रकृत्यन्तरमस्ति तस्यैतन्निपातनं नलोपाभावार्थं मत्वार्थं च, णत्वं तु यथायोगमस्त्येव । संज्ञाया अभावे लवणवान् ।।९६।।

उदन्वानुदधौ च ।२।१।९७।

अब्धौ जलाधारे नाम्नि च मतौ उदन्वान्निपात्यते । उदन्वान् घटः उदन्वान् समुद्रः, ऋषिः आश्रमश्च ।९७।

आपो धीयन्तेऽस्मिन्निति 'व्याप्यादाधारे०' ।५।३।८८। इति कौ अब्धिः । उदकस्योदन्भावो निपात्यते उदन्भावसामर्थ्यान्नलोपो न भवत्यन्यथा उदभावो निपात्येतेति । नाम्न्युदाह्रियते ऋषिराश्रमश्चेति— उदन्वान् नाम ऋषिः उदन्वान्नामाश्रमश्चेति ।।९७।।

राजन्वान् सुराज्ञि ।२।१।९८।

सुराजकेऽर्थे राजन्वान् मतौ निपात्यते । राजन्वान् देशः । राजन्वत्यः प्रजाः ।९८।

सुराज्ञीति– शोभनो राजा यस्य तस्मिन्नभिधेये इत्यर्थः । राजन्वान्देश इति– शोभनो राजाऽस्यास्मिन् वाऽस्तीति लिङ्गवचनयोरतन्त्रत्वादाह- राजन्वन्त्यः प्रजा इति । राजसत्तासम्बन्धमात्रे विवक्षिते तु राजवानित्येव भवति ॥९८॥

नोम्यादिभ्यः ।२।१।९९।

ऊर्म्यादिभ्यो मातोर्मोवो न स्यात् । ऊर्मिमान् । दल्मिमान् इत्यादि ।९९।

ऊर्मिमान् दल्मिमानित्यत्र मोपान्त्यत्वात्प्राप्ते प्रतिषेधः । बहुवचनमाकृतिगणार्थं तेन यस्य सति निमित्ते वत्वं न दृश्यते स ऊर्म्यादिषु द्रष्टव्यः । असदधिकारोऽत्र निवृत्तः ॥९९॥

मासनिशासनस्य शसादौ लुग्वा ।२।१।१००।

शसादौ स्यादावेषां लुग्वा स्यात् । मासः मासान् । निशः निशाः । आसनि आसने ।१००।

'षष्ठ्याऽन्त्यस्य' ।७।४।१०६। इत्यन्त्यस्य लुग्भवति । स्यादिभिन्नः शसादिर्न सम्भवतीति स्यादावित्युक्तम् । यद्यपि 'सङ्ख्यैकार्थाद्०' ।७।२।१५१ इति विहितःशस् सभवति तथापि 'सङ्ख्यादे०' ।७।२।१५२। इत्यकलादीनामसम्भवेनादिग्रहणस्यानर्थक्यप्रसङ्गादित्युक्तम् । यद्वा मण्डुकप्लुतिन्यायेन स्यादिरनुवर्तनीयः अथवाऽऽदिशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वाद्वा स्यादिरेव लभ्यत इति । मासशब्दस्य भ्याम्यनेनान्तलोपे 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न्यायादकारस्यासिद्धत्वेन 'सो रुः' ।२।१।७२। इति रुत्वाभावे 'धुटस्तृतीयः' ।२।१।७६। इति कर्तव्ये तु न्यायस्यानित्यत्वाद् माद्भ्यामिति केचित् मन्यन्ते । अन्ये तु माद्भ्यामिति स्वमते तूभयमपि भवति । निश्शब्दे सत्यपि

निशाग्रहणं निजभ्यामित्यस्य सिद्ध्यर्थमन्यथा निशशब्दस्य भ्यामि विवन्त-त्वाद् धातुत्वे 'यजसृज०' ।२।१।८७। इति षत्वे निड्भ्यामित्येवस्यात् सुपि तु त्वनेनान्तलोपे 'धुटस्तृ०' ।२।१।७६। इति तृतीये, जकारे, जकारस्य प्रथमत्वे 'सस्य शषौ' ।१।३।६१। इति सुपः सस्य शत्वे 'प्रथमादधुटि०' ।१।३।४। इति छत्वे निच्छु । जकारस्य तु परे गत्वेऽसत्त्वाद् गत्वं न भवति ॥१००॥

दन्तपादनासिकाहृदयासृग्यूषोदकदोर्यकृच्छकृतो दत्पन्नस्हृदसन्यूषन्नुदन्दोषन्यकञ्छकम् वा ।२।१।१०१।

शसादौ स्यादौ दन्तादीनां यथासंख्यं दत् इत्यादयो वा स्युः । दतः, दन्तान् । पदः, पादान् । नसा, नासिकया । हृदि, हृदये । अस्ना, असृजा । यूष्णा, यूषेण । उद्ना, उदकेन । दोष्णा, दोषा । यक्ना, यकृता । शक्ना शकृता ।१०१।

'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' इति न्यायादाह यथासङ्ख्यमिति ॥१०१॥

यस्वरे पादः पदणिक्यघुटि ।२।१।१०२।

णिक्यघुट्वर्जे यादौ स्वरादौ च प्रत्यये पादन्तस्य पद् स्यात् । वैयाघ्रपद्यः । द्विपदः पश्य । पादयतेः क्विपि । पाद् । पदी कुले । यस्वर इति किम् । द्विपाद्भ्याम् । अणिक्यघुटीति किम् । पाद-यति । व्याघ्रपाद्यति । द्विपादौ ।१०२।

नाम्नः इत्यस्य विशेषणात्तदन्तविधेराह-पादन्तस्येति । 'निर्दिश्य-मानस्यैवादेशा' भवन्ति' इति पाच्छब्दस्यैवाऽऽदेशः न तु तदन्तस्य सर्वस्य । वैयाघ्रपद्य इति व्याघ्रस्येव पादावस्येति व्याघ्रपाद् 'पात्पादस्य०' ।७।३।१४८।

इति पाद्भावः । तस्यापत्यं वृद्धं वैयाघ्रपद्यः 'गर्गादिर्यञ्' ।६।१।४२। इति यञ् 'द्वः पदान्तात्प्राग्०' ।७।४।५। इत्यैकारागमः । द्वौ पादावेषान्ते द्विपादः तान् द्विपदः 'सुसङ्ख्यात्' ।७।३।१५०। इति पादादेशेऽनेन पदादेशः । पदी कुले इति – 'औरीः' ।१।४।५६। इतीकारः अत्र व्यपदेशिवद्भावेन पादन्तत्वम् । पादयतीत्यादि - पादमाचष्टे अत्र व्यञ्जनान्तः पाच्छब्दोऽस्ति न तु स्वरान्तः तस्य स्वरान्तत्वे त्वल्लोपस्य 'स्वरस्य०' ।७।४।१००।इति स्थानिवद्भावेन द्व्यङ्गविकलता स्यात् । ननु तर्हि पादयतेः क्विपि पाद् पदी कुले इति कथं तदाप्यल्लोपस्य स्थानिवद्भावः स्यादिति चेन्मैवं प्रत्यासत्तिन्यायाद् यस्मिन्प्रत्यये लुक् तस्मिन् यद्यादेशः प्राप्नोति तदा स्थानिवद्भावः । अत्र तु णावकारलोप ईप्रत्यये त्वादेशः इति न स्थानिवद्भाव इति । यदा व्यञ्जनान्ताण्णिज् तदा तु 'नैकस्वरस्य' ।७।४।४४। इति निषेधान्नान्त्यस्वरादिलोपः । व्याघ्रपादमिच्छतितीति क्यनि व्याघ्रपाद्यति । द्विपाद इत्यत्र 'पुंस्त्रियोः स्यमौजस्' ।२।१।५९। इति घुट् सञ्ज्ञत्वात् पद्भावो न भवति । णिक्यघुटां प्रत्ययत्वात् तत्पर्युदासेन प्रत्ययस्य प्राप्तौ 'सप्तम्यां आदिः' ।७।४।११४। इति यादौ स्वरादौ च प्रत्यये इति लब्धम् तथा च सति णेरेकस्वरत्वात् णिवर्जनं व्यर्थं सत् :आद्यन्तवदेकस्मिन्निति न्यायांदेशस्यादिवत्कार्यस्य ज्ञापकमिदम् । अन्तवत्कार्यांशे ज्ञापकं तु 'ह्विणोरप्विति०' ।४।३।१५। इति सूत्रेण यत्वविधानम् ततु 'धातोरिव०' ।२।१।५०। इतीयबाधनार्थम् एतदियं तु इवर्णान्तस्य विधीयत इति तस्यैकवर्णस्येवर्णान्तत्वा–भावादनेन प्राप्त्यभावात् :इवर्णादि०' ।१।२।२१। इति यत्वं सिद्धमेव तथापि यत्वविधानं व्यर्थं सदेकस्मिन् अन्तवत्कार्यं ज्ञापयति ॥१०२॥

उदच उदीच् ।२।१।१०३।

अणिक्यघुटि यस्वरे उदच उदीच् स्यात् । उदीच्यः, उदीची । अणिक्यघुटीत्येव । उदयति । उदक्यति । उदञ्चः । उदच इति किम् । नि मा भूत् । उदञ्चा ! उदञ्चे ।१०३।

उदञ्चतीति क्विपि 'अञ्चोऽनर्चायाम्' ।४।२।४६। इति नलोपे 'तत्र साधौ' ।७।१।१५। इति यप्रत्यये उदीचि भवः 'द्युप्रागुदक्प्रतीचो यः' ।६।३।८। इति ये वाऽनेन उदीचादेशे उदीच्य इति । स्त्रियां 'अञ्चः' ।२।४।३।

इति क्वौ उदीचीति। उदञ्चमाचष्टे उदयति। उदञ्चमिच्छतीति - उदञ्चयति। उदञ्चः इत्यत्र 'अचः' ।१।४।६९। इति नागमः। लुप्तनकारस्याञ्चेर्निर्देशात्क्विप्यचार्यां नलोपाभावे उदञ्चा उदञ्चे इत्येव भवति न सूदीच्यादेशः। ननु णिवर्जं न किम् तदभावेऽप्यनेनादेशे कृते 'त्यन्त्यस्वरादेः' ।७।४।४३। इत्यन्त्यस्वरादिलोपे उदयतीति सेत्स्यतीति चेन्मैवम् अस्य 'सकृद्गते०' इति न्यायज्ञापनार्थत्वात् सत्यस्मिन्न्याये विशेषविहितत्वात् लुकं बाधित्वा प्रथमस्यादेशे पश्चात् 'सकृद्गते स्पर्धे यद्बाधितं तद्बाधितमेव' इति न्यायान्न भवति न णिवर्जनं सार्थकम् ॥१०३॥

अच्च् प्राग् दीर्घश्च ।२।१।१०४।

अणिक्यघुटि यस्वरादौ प्रत्ययेऽच् चः स्यात् प्राक्स्वरस्य दीर्घः। प्राच्यः। दधीचा। अणिक्यघुटीत्येव। दध्ययति। दध्यञ्चयति। दध्यञ्चः। अचिति किम्। त्नि मा भूत्। साध्वञ्चा ।१०४।

प्राचि भवः प्राच्यः दध्यञ्चतीति क्विपि तेन दधीचा। दध्यञ्चमाचष्ट इति दध्ययतीत्यत्र परत्वात् 'समानानां०' ।१।२।१। इति दीर्घत्वं बाधित्वा गुणः। तथाऽत्र 'स्वरव्यञ्जनयोरभेदन्यायेन 'स्वरस्य०' ।७।४।११०। इत्यचः स्थानित्वाद् दधीकारवृद्ध्यभावः इति। दध्यञ्चमिच्छतीति दध्यञ्चयति 'पुंस्त्रियोः स्यमौजस्' ।१।१।२९। इति घुट्प्रत्यये दध्यञ्चः। दृषदमञ्चतीति क्विपि दृषच्चा दृषच्चे इत्यत्र यद्यपि दकारस्यासन्नो लृकारः दीर्घो प्राप्नोति पर 'स्वरस्य ह्रस्वदीर्घप्लुताः' इति न्यायाद्दीर्घो न भवति। न च व्यवहितस्याकारस्य दीर्घः स्यादिति वाच्यं प्राक्शब्दस्यानन्तरार्थत्वादत्र एव पूर्वग्रहणमकृत्वा प्राग्ग्रहणं कृतमिति। 'नान्तरीयमाननिवृत्तौ प्रधानस्य' इति न्यायाद् दीर्घत्वनिवृत्तावपि चकारस्तु भवत्येव। लुप्तनकारस्याञ्चेर्निर्देशात् साध्वञ्चः पश्य साध्वञ्चा, साध्वञ्चे इत्यत्र न भवति ॥१०४॥

क्वसुष्मतौ च ।२।१।१०५।

अणिक्यघुटि यस्वरे मतौ च प्रत्यये क्वस् उष् स्यात् । विदुष्यः । विदुषा । विदुष्मान् । अणिक्यघुटीत्येव । विद्वयति । विद्वस्यति । विद्वांसः ।१०५।

विदुष्य इति – वेत्तीति विद्वान् 'वा वेत्तेः क्वसुः' ।५।२।२२। विदुषि साधुः 'तत्र साधौ' ।७।१।१५। इति यप्रत्ययः । विद्वान्सः सन्त्यत्र स विदुष्मान् । विद्वांसमाचष्टे विद्वयति । विद्वांसमिच्छतीति विद्वस्यति । पेचुषि साधुः पेचुष्यः पेचुषा पेचुष्मा नित्यत्र 'घसेकस्वरातः क्वसोः' ।४।४।८२। इतीट् सहितस्यापि क्वसोः 'आगमा यद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' । इति न्यायादिट् सहितस्यापि क्वसोरुषादेशः । उषित्यत्र षकारकरणं 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इत्येव सिद्धे प्रक्रियालाघवार्थम् ॥१०५॥

श्वन्युवन्मघोनो ङीस्याद्यघुट्स्वरे व उः
।२।१।१०६।

ङ्यां स्याद्यघुट् स्वरे च श्वनादीनां व उः स्यात् । शुनी शुनः । अतियूनी । यूनः । मघोनी । मघोनः । ङीस्याद्यघुट् स्वर इति किम् । शौवनम् । यौवनम् । माघवनम् ।१०६।

श्वा च युवा मघवा च तस्य । शुनीति - 'स्त्रियां नृतो०' ।२।४।१। इति ङीः । युवानमतिक्रान्ता अतियूनी समासाद् 'स्त्रियां नृतो०' ।२।४।१। इति ङीः । मघोनीति – धवाद्योगादपालका०' ।२।४।५९। इति ङीः । **शौवनमित्यादि** - शुन इदं 'तस्येदम्' ।६।३।१६०। इत्यण्, शुनः विकारः इति तु न कार्यं तथा सति 'एकस्वरात्' ।६।२।४८। इति मयट् स्यात् । यूनो भावः कर्म वा 'युवादेरण्' ।७।१।६७। इत्यण् । मघोनः इदं तस्येदम्' ।६।३।१६०। इत्यण् । एषु सर्वत्र 'अणि' ।७।४।५२। इति निषेधादन्त्यस्वरादिलोपाभावः । नकारान्त-निर्देशात् गोष्ठश्वेन युवतीः पश्य मघवतः पश्येत्यत्र न भवति । गोष्ठे श्वेति 'सप्तमी शौण्डाद्यैः' ।३।१।८८। इति समासः गोष्ठातेः०' ।७।३।१०। इत्यट् । 'युनस्तिः' ।२।४।७७। इति तौ शसि च युवतीरिति । मघो ज्ञानं सुखं वाऽस्यास्तीति मघवान् तस्य । न च समासान्तः समासस्यावयवो भवतीति गोष्ठ-

द्वेनेत्यत्र अघुट् स्वरादिप्रत्ययस्य व्यवधानादेव न प्राप्तिरिति किं नकारान्तनिर्देशादिति कथनेनेति वाच्यं समासान्तः समासस्यावयवो भवति तथोत्तरपदावयवोऽपीष्यत इति ततश्च श्वन्शब्दावयवत्वादव्यवधानेन प्राप्तिरिति ॥१०६॥

लुगातोऽनापः ।२।१।१०७।

आप्वर्जस्यातो ङीस्याद्यघुट् स्वरे लुक् स्यात् । कीलालपः । हाहे देहि । अनाप इति किम् । शालाः ।१०७।

अत्रासंभवेऽप्युत्तरार्थं ङीरित्यनुवर्तते । कीलालं पिबतीति क्विपि विचि वा कीलालपाः तान् कीलालपः । 'ओहाङ्क् गतौ' हाशब्दं जिहीते शीतकाले कर्तव्यतया आप्नोतीति विचि हाहाः तस्मै हाहे । देहीति 'हो दः' ।४।१।३१। इति क्त्वाटाशब्दयोः केचिदस्त्रीत्वं केचित्स्त्रीत्वं चेच्छन्तीति-ततः स्त्रीत्वेऽनाप इति वचनादनेन लुगभावे क्त्वायाः टाया इत्येव भवति अस्त्रीत्वे त्वनेन लुचि क्त्वः, टः इत्याद्येव भवति ॥१०७॥

अनोऽस्य ।२।१।१०८।

ङीस्याद्यघुट्-स्वरेऽनोऽस्य लुक् स्यात् । राज्ञी । राज्ञः ।१०९।

राज्ञीति - 'स्त्रियां नृतो०' ।२।४।१। इति ङीः, 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। इति नस्य ञः । न च 'स्वरस्य०' ।७।४।११०। इत्यत्र प्राचो विधिः प्राग्विधिरिति पञ्चमीसमासस्यापीष्टतया ञत्वे कर्तव्ये स्वरादेशस्य स्थानिवद्भावात्-कथं ञत्वमिति वाच्यं 'न सन्धि०' ।७।४।१११। इति सन्धिविधौ स्थानिवद्भाव-निषेधाद् ॥१०८॥

ईङौ वा ।२।१।१०९।

ईकारे ङौ च परेऽनोऽस्य लुग्वा स्यात् । साम्नी सामनी । राज्ञि

राजनि ।१०९।

ङिसाहचर्याद्ङीकारोपि विभक्तिरुप एव ग्राह्यस्तेन 'औरीः' । ।१।४।५६। इत्यौकारस्थाननिष्पन्न एव गृह्यते तेन ङी प्रत्यये तु पूर्वेण नित्यमेव 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य' इति न्यायाद्वा ।।१०९।।

षादिहन्धृतराज्ञोऽणि ।२।१।११०।

षादेरनो हनो धृतराज्ञश्चातोऽणिप्रत्यये लुक् स्यात् । औक्ष्णः । ताक्ष्णः । भ्रौणघ्नः । धार्त्तराज्ञः ।११०।

उक्ष्णोऽपत्यमिति 'ङसोऽपत्ये' ।६।१।२८। इत्यण् । तक्ष्णोऽपत्यमिति 'सेनान्त०' ।६।१।६०। इति कारुद्वारा प्राप्तस्य ञ्यस्य बाधकः 'शिवादेरण् ।६।१।६०।' इत्यण् । भ्रूणं हतवानिति 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रात् क्विप्' ।५।१।१६१। इति क्विपि भ्रूणघ्नोपत्यमिति 'ङसोपत्ये' ।६।१।२८। इत्यण्यनेनाल्लोपे 'हनो ह्नो घ्नः' ।२।१।११२। इति घ्नादेशे भ्रौणघ्नः इति । धृता राजानो येन तस्यापत्यमित्यणि धार्तराज्ञः ।।११०।।

न वमन्तसंयोगात् ।२।१।१११।

वान्तान्मान्ताच्च संयोगात्परस्यानोऽस्य लुग्न स्यात् । पर्वणा । कर्म्मणी ।१११।

वमयोः संयोगविशेषणत्वेन 'विशेषणमन्तः' ।७।४।११३। इत्यन्तत्वे लब्धेऽन्तग्रहणं स्पष्टार्थम् । अन्यथा 'वमसंयोगात्' इति समस्तनिर्देशेऽनयोरेव संयोगात् इत्याशङ्का स्यात् । 'वमः संयोगाद्' इति व्यस्तनिर्देशे वकारमकाराभ्यां परो यः संयोगस्तस्मा—दित्यपि प्रतीयेतेति । **पर्वणेति** 'अनोऽस्य' ।२।१।१०८। इति प्राप्ते वान्तसंयोगात् परत्वाद - नेन प्रतिषेधः एवमग्रेपि ।।२।१।१११।

हनो ह्नो घ्नः ।२।१।११२।

ह्नेर्हनो घ्नः स्यात् । भ्रूणघ्नी । घ्नन्ति । ह्न इति किम् । वृत्रहणौ ।११२।

भ्रूणं हतवतीति 'ब्रह्मभ्रूण०' ।५।१।१६१। इति क्विपि 'न वा शोणादेः' ।२।४।३१। इति ङ्यां 'अनोऽस्य' ।२।१।१०८। इत्यकारलोपेऽनेन घ्नादेशे च भ्रूणघ्नीति । 'गमहनजन०' ।४।२।४४। इत्यकारलोपेऽनेन घ्नादेशे च घ्नन्तीति । वृत्रं हतवन्तौ पूर्ववत्क्विपि वृत्रहणौ ।।११२।।

लुगस्यादेत्यपदे ।२।१।११३।

अपदाद्यकारे एकारे च परेऽस्य लुक् स्यात् । सः । पचन्ति । पचे । अपद इति किम् । दण्डाग्रम् ।११३।

अपदे इति 'अदेति' इत्यस्य विशेषणमतः 'सप्तम्या आदिः' ।७।४।११४। इत्याह - **अपदादाविति** - आदिशब्दोऽवयववाची अतः अपदावयवभूतेऽकारे एकारे च परत इत्यर्थः । 'सप्तम्या पूर्वस्य' ।७।४।१०५। इत्यव्यवहितपूर्वस्यैव लुग्भवतीत्यर्थः । पचधातोः वर्तमानाया एप्रत्यये 'कर्तर्यनद्०' ।३।४।७१। इति शव्यनेनाकारलोपे च पचे इति । **दण्डाग्रमिति** - ननु 'वृत्यन्तो०' ।१।२।२५। इत्यग्रशब्दस्य पदत्वाभावात् अकारस्य लुक् कथं न भवतीति चेत्सत्यं 'अपदे एव' इति सावधारणव्याख्यानान्न भवति अत्र तु वृत्तेः पूर्वं पदत्वमप्यासीदिति । ननु तर्हि प्रायणमित्यत्र 'गतिकारक०' । इति स्यायादिविभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समासेऽपदत्वादकारलोपः कथं न भवतीति चेत्सत्यं 'वेदूतोऽनव्यय०' ।२।४।९८। इतिवत् 'अपदे' इत्युत्तरपदमपि गृह्यते 'ते लुग् वा' ।३।२।१०८। इत्युत्तरशब्दलोपादिति ।।११३।।

ङित्यन्त्यस्वरादेः ।२।१।११४।

स्वराणां योऽन्त्यस्वरस्तदादेः शब्दस्य ङिति परे लुक् स्यात् । मुनौ ।

साधो । पितुः ।११४।

सति यस्मिन् यस्मात्पूर्वमस्ति परं नास्ति सोऽन्तः तत्र भवः अन्त्यः । मुनाविस्याबि - 'ङिडौ:' ।१।४।२५। इति 'ऋतो डुर्' ।१।४।३७। इति अनेन आद्यन्तवदेकस्मिन्निति व्यपदेशिवद्भावेनान्त्यस्वरादेर्लुक् । महत्या करः महाकरः इत्यत्र 'स्त्रियाम्' ।३।२।३९। इति आदेशेऽङ्पस्य लुक् ।।११४।।

अवर्णादश्नोऽन्तो वाऽतुरीङ्योः ।२।१।११५।

श्नावर्जावर्णात् परस्यातुः स्थानेऽन्तो वा स्यात् । ईङ्योः । तुदन्ती तुदती कुले स्त्री वा । एवम् भान्ती भाती । अवर्णादिति किम् । अदती । अश्न इति किम् । लुनती ।११५।

अवर्णादिति – श्नान्तवर्जितादवर्णान्तात्परस्येत्यर्थः अथवा श्नावर्जितात् श्नाप्रत्ययावयवो यो न भवति तस्मादवर्णात्परस्येत्यर्थः । श्नाशब्देन श्नाप्रत्ययसम्बन्ध्यवर्ण उच्यते इति भावः । अत एव अश्न इति प्रतिषेधो युज्यते तुदीत् व्यथने 'शत्रानशा०' ।५।२।२०। इति शतृप्रत्यये 'तुदादेः शः' ।३।४।८१। इति शप्रत्यये 'अधातूदृदितः' ।२।४।२। इति ङ्यां 'औरीः' ।१।४।५६। इतीत्वे वाऽनेन वाऽन्तादेशे 'लुगस्या०' ।२।१।११३। इत्यल्लोपे च तुदन्ती तुदतीति । 'अदं भक्षणे' शतृप्रत्यये अदतीति । लूग्श् छेदने शतृप्रत्यये' ऋयादेः ।३।४।७९। इति श्नाप्रत्यये 'श्नश्चातः' ।४।२।९६। इत्यातो लुकि च लुनतीति । अवर्णादिति विशेषणाद् अश्न इति प्रतिषेधाच्च तुदन्ती । भांक् दीप्तौ भान्तीत्यादौ 'लुगस्या०' ।२।१।११३। 'समानानां०' ।१।२।१। इति लोपदीर्घाभ्यां पूर्वमेवान्तादेशोऽन्यथा ईङ्योरनपेक्षत्वेन वर्णमात्राश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वात्पूर्वं लोपदीर्घत्वयोः कृतयो- रवर्णादिरत्वाभावात् शतृप्रत्ययस्यान्तादेशो न स्यादिति यद्वा भूतपूर्वतया पश्चादन्तादेशः । 'वार्णात्प्राकृतं बलीयः' इति तु नेहोपतिष्ठते भिन्नकालत्वात् तथा हि ईङ्योः सद्भावेऽन्तादेशः प्राप्नोति लोपदीर्घौ तु ततः प्रागेवेति ।।११५।।

श्यशवः ।२।१।११६।

श्याच्छवश्च परस्याऽतुरीङ्योः परयोरन्त इत्यादेशः स्यात् । दीव्यन्ती । पचन्ती ।११६।

पूर्वेणैव सिद्धे नित्यार्थमिदम् । दिव्यन्तीति – दिवूच् क्रीडादौ ११४४ 'दिवादे श्यः' ।३।४।७२। इति श्यः ।

दिव औः सौ ।२।१।११७।

दिवः सौ परे औः स्यात् । द्यौः ।११७।

'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इति न्यायात्सानुबन्धस्य दिवूच्धातोः अक्षैर्दिव्यतीति क्विपि ऊटि कृते 'एकदेशविकृ०' इति न्यायात्प्राप्तावपि न भवति। अत्राव्युत्पन्नस्य दिवो नाम्नो ग्रहण व्युपत्तिपक्षेपि 'दिवेर्डिव्' उणा० ९४९ । इत्यवयवानां सानुबन्धत्वं न तु नाम्न इति। **द्यौरिति** – अत्र 'उः पदान्तेऽनूत्' ।२।१।१०८। इति प्राप्तेप्यनवकाशत्वादनेन औरेव प्रवर्तते न तूकारः। दिवः औकारेण सम्बन्धात् सेः परत्वमात्रविज्ञानात् प्रिया द्यौः यस्य स प्रियद्यौरित्यत्रापि भवति ॥११७॥

उः पदान्तेऽनूत् ।२।१।११८।

पदान्तस्थस्य दिव उः स्यात् अनूत् । स तु दीर्घो न स्यात् । द्युभ्याम् । द्युषु । पदान्त इति किम् । दिवि । अनूदिति किम् । द्युभवति ॥११९॥

द्युभवतीति – अद्यौर्द्यौ भवतीति 'कृभ्वस्तिभ्यां०' ।७।२।१२६। इति च्विः, 'अप्रयोगीत्' ।१।१।३७। इति तस्य लोपः 'ऊर्याद्य०' ३।१।२। इति गति सञ्ज्ञा 'गतिः' ।१।१।३६। इत्यव्ययसञ्ज्ञा अत्रानूदिति वचनात् 'दीर्घश्च्वियङ०' ।४।३।१०८। सूत्रात् दीर्घत्व न भवति । ऊकारस्य निषेधात् द्युकामस्यापत्य द्योकामिरित्यादौ वृद्धिस्तु भवत्येव । ननु 'दिवौकसः' इत्यत्रान्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदादावुकारेण भाव्यमिति चेत्सत्यं पृषोदरादित्वात् अकारागमो भवति अथवा वृत्तिविषये अकारान्तो दिवशब्दोऽस्ति। वृत्तिविषये एव प्रयुज्यते केवलस्तु न प्रयुज्यते इत्यर्थः ॥११८॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः ॥

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः

क्रियाहेतुः कारकम् ।२।२।१।

क्रियाया निमित्तं कर्त्रादि कारकं स्यात् । करोतीति कारकमिति अन्वर्थाश्रयणाच्च निमित्तत्वमात्रेण हेत्वादेः कारकसंज्ञा न स्यात् ।१।

कारकं द्रव्याणां स्वपराश्रयसमवेतक्रियानिर्वर्तकं सामर्थ्यं शक्तिः । क्रिया त्रेधा स्वाश्रिता, पराश्रिता, उभयाश्रिता च । चैत्र आस्ते इति स्वाश्रिता । घटं करोतीति पराश्रिता । अन्योन्यमाश्लिष्यतः मिथ्रे इत्युभयाश्रिता तस्यास्त्रिविधक्रियाया निर्वर्तक निष्पादकं सामर्थ्यं शक्तिः कारकमित्युच्यते । द्रव्यस्य कारकत्वे तु प्रतिबन्धकमन्त्रादिसन्निधानासन्निधानाभ्यां दहनादेर्दाहोत्पत्त्यनुत्पत्ती न स्याताम् । द्रव्यस्वरूपस्य सर्वथैव विद्यमानत्वादुत्पत्तिरेव स्यात्तस्माच्छक्तिरेव कारकम् । चैत्रादेस्तु कारकत्वं शक्तिशक्तिमतोरभेदनयेन । **अन्वर्थाश्रयणाच्चेति–** चकारोऽत्रैवकारार्थेऽवधारणे वर्तते । **हेत्वादेरिति–** तेन विद्ययोषित इत्यत्र विद्याशब्दस्य कारकत्वाभावान्न 'कारकं कृता ।३।१।६८। सूत्रात्समासः । तृतीया तु 'हेतु० ।२।२।४४। सूत्रेण कृता । आदिशब्दादसम्बन्धस्य सहार्थस्य चाकारकत्वम् तेन बहूनामिदं वस्त्रमित्यादौ 'बहु-वल्पार्थात्कारका० ।७।२।१५०। सूत्रेण शस् न भवति । पुत्रेणागत इत्यादौ च 'कारकं कृता ।३।१।६८। सूत्रात्समासो न भवति । षोढा कारकाणि-कर्तृकर्मकरणसम्पदानापादानाधिकरणरूपाणि । ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छतीत्यादौ ब्राह्मणस्य पुत्रेणान्यथासिद्धया न कारकत्वम् । डुकृंग् करणे क्रियते इति 'कृगः शः च वा ।५।३।१००। सूत्रात् शे 'क्यः शिति ।३।४।७०। सूत्रात् क्ये 'रिः शक्याशीर्ये ।४।३।११०। सूत्रात् रौ च क्रियेति । क्रियायाः हेतुः= क्रियाहेतुः । क्रियाशब्दस्य भावकर्मणोरिय व्युत्पत्तिः यदाऽपादानादौ श-प्रत्ययस्तदा क्यो न भवति, तदेयादेशः ॥१॥

स्वतन्त्रः कर्ता ।२।२।२।

क्रियाहेतुः क्रियासिद्धौ स्वप्रधानो यः स कर्त्ता स्यात् । मैत्रेण कृतः ।२।

स्वशब्द आत्मवचनः तन्त्रशब्दः प्रधानार्थः स्वम् आत्मा प्रधानमस्य स स्वतन्त्रः आत्मप्रधान इत्यर्थः । मैत्रेण कृतः– 'हेतुकर्तृ०' ।२।२।८४। सूत्रात्कर्तरि तृतीया । 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायात् कर्मणि क्तप्रत्ययस्य सत्त्वात् कर्तुरनुक्तत्वात् कर्तरि तृतीया भवति, कर्तुरुक्तत्वे तु सामान्यलक्षणा प्रथमा भवति । सौकर्यादविवक्षिते कर्तृव्यापारे कर्मादीनां स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तृत्वं भवति । यथा ओदनः पच्यते स्वयमेव, असिश्छिनत्ति, अधिकरणरूपायाः स्थाल्याः स्वातन्त्र्यविवक्षायां स्थाली पचतीति ॥२॥

कर्त्तुर्व्याप्यं कर्म ।२।२।३।

कर्त्रा क्रियया यद्विशेषेणाप्तुमिष्यते तत्कारकं व्याप्यं कर्म्म च स्यात् । तत् त्रेधा । निर्वर्त्यं, विकार्यं प्राप्यं च । कटं करोति । काष्ठं दहति । ग्रामं याति ।३।

कर्त्रा क्रियया यद्विशेषेणाप्तुमिष्यते तद्व्याप्यं कर्मसञ्ज्ञं भवति । प्रसिद्धस्यानुवादेनाप्रसिद्धस्य विधानं लक्षणार्थः तेन यत्कर्म कर्त्रा क्रियते तद् व्याप्यसञ्ज्ञं भवतीत्यपि सूत्रस्यार्थः । अत्र प्रथमव्याख्याने 'व्याप्य'इत्यस्य कृत्प्रत्ययान्तस्य योगे 'कृत्यस्य वा' ।२।२।८८। इति कर्तरि षष्ठी द्वितीयव्याख्याने 'कृच्छेषा उणादयः' इत्युणादिप्रत्ययस्यापि कृदन्तत्वात् 'तस्य योगे 'कर्तरि' ।२।२।८६। इति षष्ठी । निर्वर्त्यमित्यादि– यदसज्जायते (असत्कार्यवादिमतेन) जन्मना [सत्कार्यवादिमतेन] वा प्रकाश्यते तन्निर्वर्त्यम् यथा कटं करोति प्रकृत्युच्छेदेन गुणान्तराधानेन वा यद्विकृतिमापद्यते तद्विकार्यं यथा काष्ठं दहति । यत्र तु क्रियाजनितः विशेषो नास्ति तत्प्राप्यं यथा ग्रामं याति । त्रिविधमपि पुनस्त्रिविधम् इष्टम् अनिष्टम् अनुभयं च यदवाप्तुं क्रियाऽऽरभ्यते तदिष्टं कटादि, यद्द्विष्टं प्राप्यते तदनिष्टं यथा विषं भक्षयति, अहिं लङ्घयति । यत्र नेच्छा न च द्वेषस्तदनुभयम् । यथा ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशतीति पुनरेतत्कर्म प्रधानेतरभेदाद्द्विविधम् दुह- भिक्षि-रुधि- प्रच्छि- चिञ्- ब्रू- शास्वर्थेषु याचि जयति, प्रभृतिषु च द्विकर्मकेषु द्विविधं भवति ।

दुहादीनामप्रधाने कर्मणि कर्मजः प्रत्ययो भवति नी-प्रभृतिषु च द्विकर्मकेषु द्विविधं भवति । गां दोग्धि पयः, भिक्षते गां धनिकं इत्यादि । अविनीतं याचते विनयम् याचिरिहानुनयार्थः तेन भिक्षयर्थाद् भेदः । यदर्थं क्रियारभ्यते तत्-प्रधानं कर्म यथा पय इत्यादि तत्सिद्धये यदन्यत्क्रियया व्याप्यते तदप्रधानम् यथा गवादि । दुहादीनामप्रधाने कर्मणि कर्मजः प्रत्ययो भवति गौर्दुह्यते पयः मैत्रेण । नीवहिहरति गत्यर्थानामकर्मणां च णिगन्तानां प्रधाने एव कर्मणि कर्मजः प्रत्ययो भवति प्रभृतीनां तु प्रधाने कर्मणि कर्मजः प्रत्ययो भवति । यथा—अजा ग्रामं नीयते । गमयति चैत्रं ग्रामं, गम्यते मैत्रो ग्रामं चैत्रेण, आसयति मासं चैत्रम्०, आस्यते मासं मैत्र चैत्रेण । अन्यस्त्वप्रधा-नेऽपीच्छति-गम्यते मैत्रं ग्रामश्चैत्रेण, आस्यते मासो मैत्रं चैत्रेण । बोधाऽऽहारार्थ-शब्दकर्मणां च णिगन्तानामुभयत्र-बोधयति शिष्यं धर्मम् बोध्यते शिष्यो धर्मम् बोध्यते शिष्यं धर्म इति वा । कर्म-व्याप्यप्रदेशाः 'कर्मणोण्' ।५।१।७२। व्याप्याच्चेवात्' ।५।४।७१। इत्यादयः ॥३॥

वाऽकर्मणामणिक्कर्त्ता णौ ।२।२।४।

अविवक्षितकर्मणां धातूनां णिगः प्राग् यः कर्त्ता स णिगि सति कर्म वा स्यात् । पचति चैत्रः । पाचयति चैत्रं चैत्रेण वा ।४।

उत्तरसूत्रे नित्यग्रहणादाह अविवक्षितकर्मणामिति किं करोतीति व्यापारमात्र-जिज्ञासायां चैत्रः पचतीति प्रयोगदर्शनादविवक्षितकर्मता । नन्-वोदनं पचतीति प्रयोगदर्शनात्कथमविवक्षितकर्मतेति चेत्सत्य शब्दस्य परार्थ-त्वेन यावती परस्य जिज्ञासा तावत एव शब्दप्रयोगस्यावश्यकत्वादिति । नन्वेवं तर्हि गत्यर्थादीनामविवक्षितकर्मणामनेनैव विकल्पः प्राप्नोतीति चेन्मैवं पाचयति चैत्रं चैत्रेण वा, गमयति ग्राममित्यादौ द्वयोः सावकाशत्वात् परत्वा-न्नित्य एव विधिरिति । चैत्रो गच्छति, चैत्रं गमयति ॥४॥

गतिबोधाहारार्थशब्दकर्मनित्याऽकर्मणामनीखा-द्यदिह्वाशब्दायक्रन्दाम् ।२।२।५।

गतिर्देशान्तरप्राप्तिः । शब्दः कर्मक्रिया व्याप्यश्च येषां ते शब्द-

कर्म्माणः । नित्यं न विद्यते कर्म येषां ते नित्याकर्म्माणः । गत्यर्थ-बोधार्थाहारार्थानां शब्दकर्म्मणां नित्यकर्म्मणां च नीखाद्यदिह्वाशब्दायक्रन्दिवर्जानां धातूनामणिक्कर्त्ता स णौ सति कर्म स्यात् । गमयति चैत्रं ग्रामम् । बोधयति शिष्यं धर्म्मम् । भोजयति बटुमोदनम् । जल्पयति मैत्रं द्रव्यम् । अध्यापयति बटुं वेदम् । शाययति मैत्रं चैत्रः । गत्यर्थादीनामिति किम् । पाचयत्योदनं चैत्रेण मैत्रः । न्यादिवर्ज्जनं किम् । नाययति भारं चैत्रेण । खादयत्यपूपं मैत्रेण । आदयत्योदनं सुतेन । ह्वाययति चैत्रं मैत्रेण । शब्दाययति बटुं मैत्रेण । क्रन्दयति मैत्रं चैत्रेण ।५।

जल्पयति मैत्रं द्रव्यमिति—शब्दक्रियस्योदाहरणमिदम् । अध्यापयति बटुं वेदमिति—शब्दव्याप्यस्योदाहरणमिदम् कर्मशब्दस्य क्रियाव्याप्ययोर्वाचकत्वादुभयोरुदाहरणं दत्तम् । नयतेः प्रापणापसर्जनप्राप्त्यर्थत्वेन गत्यर्थत्वात् खाद्यदो-हारार्थत्वात् ह्वाशब्दायक्रन्दां च शब्दकर्मकत्वात्प्राप्तावनेन प्रतिषिध्यते ।

प्रापण—'णिवेस्त्यास०' ।५।३।१११। इत्यनः प्राप्तौ प्रयुङ्क्तिरित्यर्थः तत्र गुणीभूता प्राप्तिरस्त्येवेति । सा च गतिरिति नयतेर्गत्यर्थता । प्रेषणाऽध्येषणादिना प्रयोजकव्यापारेण णिगन्तवाच्येनाणिक्कर्तुर्व्याप्यत्वात्कर्मसञ्ज्ञायां सिद्धायां पुनर्विधानं नियमार्थं तेन प्रयोजकव्यापारेण व्याप्यमानस्य गत्यर्थादिसम्बन्धिन एव प्रयोज्यकर्तुः कर्मसञ्ज्ञा भवति तेनान्यधातुसम्बन्धिनः कर्तृत्वमेव भवति । फलतावच्छेदक-सम्बन्धेन फलव्यधिकरणव्यापारार्थकत्वं सकर्मकत्वम् यत्र फलं व्यापारश्चैकत्र न वर्तते तद्वाचको धातुः सकर्मकः यथा चैत्रस्तण्डुलं पचति अत्र विक्लित्त्यनुकूलव्यापारश्चैत्रे विक्लित्तिरूपफलं तण्डुल इति । फलतावच्छेदकसम्बन्धेन फलाधिकरणवृत्तिव्यापारार्थकत्वमकर्मकत्वम् । यथा चैत्रश्शेते अत्र स्वापतदनुकूलव्यापारयोरेकत्र चैत्र एव वृत्तेरकर्मकत्वम् । ॥५॥

भक्षेर्हिंसायाम् ।२।२।६।

भक्षेर्हिंसार्थस्याणिकर्त्ता णौ कर्म्म स्यात् । भक्षयति सस्यं बलीवर्दान् मैत्रः । हिंसायामिति किम् । भक्षयति पिण्डीं शिशुना ।६।

अत्र भक्षेः 'चुरादिभ्य०' ।३।४।१७। इति स्वार्थिकणिजन्तस्य ग्रहणम् । अणिगवस्थायां यः कर्ता स णिचि सति कर्म स्याद् अत्र तु 'चुरादिभ्यः' ।३।४।१७। इति णिजवस्थायां कर्ता न तु णिगवस्थायामिति भवति । आहारार्थत्वात् पूर्वेण प्राप्ते नियमार्थं वचनं तेन भक्षेर्हिंसायामेव भवति । भक्षयति सस्यमित्यादि - वनस्पतीनां प्रसव - प्ररोह - वृद्ध्यादिमत्त्वेन चेतनत्वात्प्राणवियोगरूपा हिंसा परकीयसस्य-भक्षणे स्वाम्युपघाताद्वा हिंसाऽत्र बोध्या । भक्षयति पिण्डीं शिशुनेति — पिण्ड्या अप्राणित्वान्नात्र हिंसेति न भवति कर्मसञ्ज्ञा ।।६।।

वहेः प्रवेयः ।२।२।७।

वहेरणिक्कर्त्ता प्रवेयो णौ कर्म्म स्यात् । वाहयति भारं बलीवर्द्दान् मैत्रः । प्रवेय इति किम् । वाहयति भारं मैत्रेण ।७।

प्रवीयते प्राजनक्रियया व्याप्यते यः स प्रवेयः, कर्मणि यप्रत्यये 'अघ्न्यक्य०' ।४।४।२। इत्यजेर्वीभावे च रूपमिदम् । वाहयति भारं मैत्रेण- अत्र मैत्रो बलीवर्दवन्न प्रवेयः । प्राप्त्यर्थस्य प्रापणार्थस्य च वहेर्गत्यर्थत्वात् तस्य नित्याकर्मकस्य च पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम् । अविवक्षितकर्मकस्य तु पक्षे विध्यर्थं चेदम् । प्राप्त्यर्थो यथा वहन्ति बलीवर्दाः देशान्तरं प्राप्नुवन्तीति धातूनामनेकार्थत्वादत्र प्राप्त्यर्थः । प्रापणमिति — अणिगन्तरूपानटि प्राप्ति-रित्यर्थः' णिगन्तस्यानप्रत्यये तु प्राप्तौ प्रयुक्तिरित्यर्थः, यथा ग्रामं भारं वहति, बलीवर्दः ग्रामं प्रापयतीत्यर्थः । अत्र प्रापणे गुणीभूता प्राप्तिरस्त्येवेति गत्यर्थत्वम् अकर्मको यथा नदी वहति स्यदन्त इत्यर्थः धातूनामनेकार्थत्वात् स्यन्द्यर्थः ।।७।।

हृक्रोर्नवा ।२।२।८।

हृक्रोरणिक्कर्त्ता णौ कर्म्म वा स्यात् । विहारयति देशं गुरुं गुरुणा

वा । आहारयत्योदनं बालं बालेन वा । कारयति कटं चैत्रं चैत्रेण वा ।८।

प्राप्तेऽप्राप्ते चायं विकल्पः । हृंग् हरणे डुकृंग् करणे हृसाहचर्यात् करोतेरेव स्वादेरेव ग्रहणेन 'कृत् विक्षेपे' 'कृंगट् हिंसायाम्' इत्यनयोर्न ग्रहः । विहारयत्याहारयतीत्यादौ गत्यर्थत्वादाहारार्थत्वाच्च प्राप्ते विभाषा कारयतीत्यादौ चाप्राप्ते विभाषा । हरति द्रव्यं मैत्रः, हारयति द्रव्यं मैत्रं मैत्रेण वेत्यत्र हरतिश्चौर्यार्थं इत्यप्राप्तौ विभाषा एवं प्रापणार्थस्य च प्राप्तौ विभाषा । विकुरुते स्वरं क्रोष्टा, विकारयति स्वरं क्रोष्टारं क्रोष्ट्रा वेत्यत्र शब्दकर्मकत्वात्प्राप्तौ विभाषेत्यूह्यम् ॥८॥

दृश्यभिवदोरात्मने ।२।२।९।

दृश्यभिवदोरात्मनेपदविषयेऽणिक्कर्त्ता णौ कर्म वा स्यात् । दर्शयते राजा भृत्यान् भृत्यैर्वा । अभिवादयते गुरुः शिष्यं शिष्येण वा । आत्मन इति किम् । दर्शयति रूपतर्कं रूपम् ।९।

आत्मन इति आत्मार्थं पदम् 'परात्मभ्यां ङे' ।३।२।१७। इत्यलुप्समासः 'ते लुग्वा' ।३।२।१०८। इत्युत्तरपदलोपः । दृशं प्रेक्षणे-दर्शयते राजेत्यादि—पश्यन्ति राजानं भृत्याः, राजा अनुकूलाचरणेन तान् प्रयुङ्क्ते इति दर्शयते राजा भृत्यान् भृत्यैर्वा 'अणिक्कर्म०' ।३।३।८८। इत्यात्मनेपदम् । वदिं व्यक्तायां वाचि, अभिवदति गुरुं शिष्यः गुरुस्तं पश्यन्त्यभिवादयते गुरुः शिष्यं शिष्येण वा, पूर्ववदात्मनेपदम् । रजतकार्षापणादिपरीक्षको रूपतर्क उच्यते । रूपतर्को रूपं पश्यति अन्यस्तं प्रयुङ्क्ते इति अन्यो रूपतर्कं रूपं दर्शयति । नात्राणिक्कर्मणिक्कर्तृक इति नात्मनेपदविषय इति न भवति दृशेर्बोधार्थत्वेन नित्यं कर्मत्वे प्राप्ते अभिवदेस्तु प्रणामार्थत्वेनाप्राप्ते विकल्पः ॥९॥

नाथः ।२।२।१०।

आत्मनेपदविषयस्य नाथो व्याप्यं कर्म वा स्यात् । सर्पिषो

नाथते । सर्पिर्नाथते । आत्मन इत्येव । पुत्रमुपनाथति पाठाय ।१०।

पृथग्योगाद् 'अणिककर्ता णाविति निवृत्तम् 'कर्तुर्व्याप्यं०' ।२।२।३। इति नित्यं कर्मत्वे प्राप्ते विकल्पः । ७१६ नाथृङ् उपतापैश्वर्याशीर्याचनेषु इत्यर्थचतुष्टये वर्तमानत्वेऽप्यस्य 'आशिषि नाथः' ।३।३।३६। इत्याशीरर्थे एवात्मनेपदम् । इदं कत्रपेक्षयोक्तं भावकर्मणोस्तु सर्वधातूनामात्मनेपदं 'तत्साप्या०' ।३।३।२१। इति सूत्रेणास्त्येव । सर्पिषो नाथते, सर्पिर्नाथते मा । मे भूयादित्याशास्ते आशंसां करोतीत्यर्थः । सर्पिषो नाथत इत्यत्र कर्माभावपक्षे 'शेषे' ।२।२।८१। इत्यनेन षष्ठी । पुत्रमुपनाथति पाठाय- उपयाचत इत्यर्थः ।।१०।।

स्मृत्यर्थदयेशः ।२।२।११।

स्मृत्यर्थानां दयेशोश्च व्याप्यं कर्म्म वा स्यात् । मातुः स्मरति । मातरं स्मरति । मातुः स्मर्यते । माता स्मर्यते । सर्पिषो सर्पिर्वा दयते । लोकानामीष्टे । लोकानीष्टे ।११।

अर्थग्रहणात्- मातुर्ध्यायति मातरं ध्यायतीत्यादयोऽपि गृह्यन्ते । दयत इति- दयि- दानादौ । लोकानामीष्ट इति- व्यापारेषु नियुङ्क्ते स्वायत्तीकरोतीत्यर्थः । ननु 'विवक्षातः कारकाणि' इति न्यायात् कर्माविवक्षायां 'माषाणामश्नीयाद्' इत्यादिवच्छेषे षष्ठी सिद्धैवेत्यलं विधानेनेति चेत्सत्यं 'षष्ठ्ययत्नाच्छेषे' ।३।१।७६। इत्यत्रायत्नजे शेषे षष्ठ्याः समासो वक्ष्यते ततोऽत्र यत्नजायाः षष्ठीसमासो न भवेदित्यर्थं नियमार्थं च तेनैषां धातूनां कर्मैव शेषत्वेन विवक्ष्यते न कारकान्तरं तेन 'मात्रा स्मृतम् मनसा स्मृतमित्यादौ कर्तृकरणयोः शेषविवक्षाभावात्षष्ठी न भवति ।।११।।

कृगः प्रतियत्ने ।२।२।१२।

पुनर्यत्नः प्रतियत्नस्तद्वृत्तेः कृगो व्याप्यं कर्म वा स्यात् । एधोद-

कस्यैधोदकं वौपस्कुरुते ।१२।

पुनर्यत्न इति- प्रतिशब्दः पुनरर्थेऽव्ययम् 'अव्ययं प्रवृद्धादिभिः' ।३।१।४८। इति समासः । प्रथममर्थलाभाय यत्नः क्रियते । लब्धात्मनो विशेषान्तरमुत्पादयितुं परिपूर्णगुणस्य तादवस्थ्यरक्षणार्थं वा यत्नः क्रियते स पुनर्यत्नः । **एधोदकस्येति** - एधाश्च उदकानि च 'अप्राणिपश्वादेः' ।३।१।१३६। इत्येकत्वम् । **उपस्कुरुत इति** - उपपूर्वस्यैव करोतेः प्रतियत्नविषयत्वात् उपपूर्वस्यैव करोतेः 'गन्धना'० ।३।३।७६। इत्यात्मनेपदमत एवोदाहरणमुपपूर्वस्यैव दर्शितम् । 'उपाद्भूषा०' ।४।४।९२। इति स्सट् ॥१२॥

रुजाऽर्थस्याऽज्वरिसन्तापेर्भावे कर्त्तरि ।२।२।१३।

रुजा पीडा तदर्थस्य ज्वरिसन्तापिवर्जस्य धातोर्व्याप्यं कर्म्म वा स्यात् । भावश्चेद्रुजायाः कर्त्ता । चौरस्य चौरं वा रुजति रोगः । अज्वरिसन्तापेरिति किम् । आद्यूनं ज्वरयति सन्तापयति वा । भाव इति किम् । मैत्रं रुजति श्लेष्मा ।१३।

'रुजोंत् भङ्गे' इत्यस्मात् 'भिदादयः' ।५।३।१०८। इत्यङि रुजा । **भावश्चेदिति**- अत्र सामान्योऽपि भावशब्दः सिद्धरूपे भावे वर्तते साध्यरूपस्य भावस्य कर्तृत्वानुपपत्तेः । **चौरस्येत्यादि**- चौरस्य रुजति रोगः, चौरं रुजति रोगः कर्मविकल्पकत्वादुदाहरणद्वये । चुरण् स्तेये इतिधातोरणिजन्तस्य भिदादित्वादङि चुरा,सा: शीलमस्येति 'अङ्स्थाच्छत्रादेरञ्'।६।४।६०। इत्यञि वृद्धौ च चौर इति । रुजतीति'पदरुज०'।५।३।१६। इति घञि रोगः । **श्लेष्मेति**- श्लिष्यतेर्मन् श्लेष्मेति द्रव्यं न तु भावः । रोगो व्याधिरामयः इत्यादयो भावरूपाः कर्तारः । **आद्यूनं ज्वरयति**- औदरिकं अत्यधिकबुभुक्षितं पीडयतीत्यर्थः ॥१३॥

जासनाटक्राथपिषोहिंसायाम् ।२।२।१४।

हिंसार्थानामेषां व्याप्यं कर्म वा स्यात् । चौरस्य चौरं वोज्जासयति । चौरस्य चौरं वोन्नाटयति । चौरस्य चौरं वोत्क्राथयति । चौरस्य चौरं वा पिनष्टि । हिंसायामिति किम् । चौरं बन्धनाज्जासयति ।१४।

जसण् हिंसायाम् (१७१३) जसण् ताडने (१७५८) इति चुरादी गृह्येते न तु जसूच् मोक्षणे (१२२३) इति दिवादिस्तस्याहिंसार्थत्वात् एवं नटण् अवस्यन्दन (१५९३) इत्यस्य ग्रहणं न तु णट नृत्तौ (१८७) इत्यस्य तस्याहिंसार्थत्वात् अवस्यन्दन हिंसाभेदः क्रथ (१०४५) इति घटादिः । यौजादिकस्य तु क्रथो ग्रहणं केषाञ्चित् मते नेष्यते, अस्माकं मते तु योजादिकस्यापि ग्रहणमिष्यते पिष्लृंप् सञ्चूर्णने १४९३ ननु । धातुपाठे जसनटक्रथेति वर्तते तत्कथं जासनाटक्राथेति निर्देशः । न च ण्यन्तानां निर्देश इति वाच्यं तर्हि जासिनाटि-क्राथि ति पठ्येतेति चेत्सत्यं कृताकारनिर्देशो यत्राऽऽकारश्रुतिस्तत्रैव स्यादित्येवमर्थं तेन 'उपान्त्यस्या०' ।४।२।३५। इति ह्रस्वत्वे दस्युमुदजीजसद् दस्युमनीनटत्, दस्युम-चिक्रथदित्यत्र न भवति (जसनटयोश्चुरादित्वात्तत णिच्, उत्क्रथति तमन्यः प्रयुङ्क्ते इति-प्रयोक्तृव्यापारे णिग् ञ्णिति' ।४।३।५। इति वृद्धिः, ततोऽद्यतन्या दिः, 'णि-श्रि०' ।३।४।८८। इति ङः, ततः उपान्त्यस्या० ।४।२।३५। इति ह्रस्वः, ततः द्विर्वचनादि) ननु क्रथधातुर्घटादिरतः 'घटादेर्ह्रस्वः०' ।४।२।२४। इति सूत्रेण चौरस्योत्क्राथयतीत्यत्र ह्रस्वत्वेन भाव्यमिति चेन्नात एव निर्देशात् क्रथेणिगि सत्याकारस्य भावः, ननु तर्हि घटादित्वेन पाठो व्यर्थ इति चेन्न कर्मसञ्ज्ञाप्रतिषेधपक्ष एव न ह्रस्वः कर्मणि तु ह्रस्वत्वमेवात एवाह चौरस्योत्क्राथयति, चौरमुत्क्रथयतीति । ननु तर्हि दस्युमुदजीजसदित्यादावपि 'उपान्त्यस्या०' ।४।२।३५। इत्यस्य पक्षे किं न निषेध इति चेत्सत्यं 'येन नाप्राप्ते०' इति न्यायाद् 'घटादेः०'।४।२।२४। इत्यस्यैव निषेध इति । ननु हिंसाया रुजारूपत्वात् 'रुजार्थस्या०' ।२।२।१३। इत्यनेनैव कर्मविकल्पो भविष्यति किमनेन । न च जासनाटक्राथेत्याकारश्रवणार्थमिदं वचनमिति पूर्वेण भावे कर्तरि विधीयतेऽत्र तु चौरस्योज्जासयति यज्ञदत्त इत्यभावेऽपि कर्तरि स्यादित्येवमर्थमिति ॥१४॥

निप्रेभ्यो हनः ।२।२।१५।

समस्तव्यस्तविपर्यस्ताभ्यां निप्राभ्यां परस्य हिंसार्थस्य हन्तेर्व्याप्यं कर्म्म वा स्यात । चौरस्य चौरं वा निप्रहन्ति । हिंसायामित्येव । रागादीन्निहन्ति ।१५।

बहुवचन समस्तव्यस्तविपर्यस्तसङ्ग्रहार्थम् निप्रौ द्वावपि मिलितौ समस्त इत्युच्यते निः पृथक् प्र पृथक् इति व्यस्त इत्युच्यते पूर्वं प्रः पश्चात् निः इति विपरीतत्वे विपर्यस्त मत्युच्यते । चौरस्य चौरं वा निहन्ति, चौरस्य चौरं वा प्रहन्तीति व्यस्त दाहरणम् चौरस्य चौरं वा प्रणिहन्तीति विपर्यस्तोद हरणम् । रागादीन्निहन्तीति- रागादीनामचेतनत्वात्प्राण - व्यपरोपणलक्षण-हिंसाया अभावान् कर्मविकल्पो न भवति ॥१५॥

विनिमेयद्यूतपणं पणिव्यवहृोः ।२।२।१६।

विनिमेयः क्रयविक्रयोऽर्थः, द्यूतपणो द्यूतजेयं तौ पणिव्यवहृोर्व्याप्यौ वा कर्म्म स्याताम् । शतस्य शतं वा पणायति । दशानां दश वा व्यवहरति । विनिमेयद्यूतपणमिति किम् । साधून् पणायति ।१६।

वचनभेदो यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थः । क्रयविक्रयोर्थ इति । य आत्मना ग्राह्यः स क्रेयः; यो देय स विक्रेय इत्यर्थः **शतस्य शतं वा पणायतीति** - क्रयविक्रये द्यूतपणत्वे वा तद्विनियुङ्क्त इत्यर्थः । एवमग्रेपि । 'प्रकृतिग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तामपि ग्रहणम्' इति न्यायात् पणायतेरिह ग्रहः । आत्मनेपद तु प्रत्यय न्यायः 'कर्मणिङ्' ।३।४।२। इत्यत्र ङकारानुबन्धस्य णिङः उपादानादनित्यः इति । साधून् पणायति - स्तौतीत्यर्थः ॥१६॥

उपसर्गाद्दिवः ।२।२।१७।

उपसर्गात् परस्य दिवो व्याप्यौ विनिमेयद्यूतपणौ वा कर्म्म स्याताम्। शतस्य शतं वा प्रदीव्यति। उपसर्गादिति किम्। शतस्य दीव्यति ।१७।

शतस्य दीव्यतीत्यत्र 'न' ।२।२।१८। इत्युत्तरसूत्रेण कर्मसञ्ज्ञाप्रतिषेधः ॥१७॥

न ।२।२।१८।

अनुपसर्गस्य दिवो व्याप्यौ विनमेयद्यूतपणौ कर्म्म न स्याताम्। शतस्य दीव्यति ।१८।

उपसर्गपूर्वस्य पूर्वेण विकल्पविधानादनुपसर्गस्यायं निषेधः। कर्मसञ्ज्ञानिषेधे सति 'शेषे' ।२।२।८१। इति षष्ठी भवति ॥१८॥

करणं च ।२।२।१९।

दिवः करणं कर्म्म करणं च युगपत् स्यात्। अक्षान् दीव्यति। अक्षैर्दीव्यति। अक्षैर्देवयते मैत्रश्चैत्रेण ।१९।

दिवः करणं कर्म चकारात्करणं च युगपत् स्यात् चकारादन्यस्य समुच्चेतव्यस्याभावात् करणमेव प्रतीयते। कर्मसञ्ज्ञायामप्राप्तायां कर्मसञ्ज्ञाविधानात् निर्वर्त्यादयो धर्मा न चिन्त्या अभावात्। अक्षान्दीव्यतीत्यत्र कर्मत्वे द्वितीया, अक्षैर्दीव्यतीत्यत्र करणत्वे तृतीया सिद्धा, करणं वेत्येव सिद्धे चकारो युगपत्सञ्ज्ञाद्वयसमावेशार्थस्तेनाक्षैर्देवयते मैत्रश्चैत्रेणेत्यत्र करणत्वात्तृतीया भवति कर्मत्वाच्च 'गतिबोधा०' ।२।२।५। इति सूत्रेण नित्याकर्मकलक्षणाणिक्कर्तुः कर्मत्वं न भवति देवयतेश्च 'अणिगि प्राणि०' ।३।३।१०७। इति परस्मैपदं च न भवति। नन्वक्षैर्देवयते मैत्रश्चैत्रेणेत्यत्र युगपत्कर्मकरणसञ्ज्ञाया सावकाशत्वात् अक्षान्दीव्यतीत्यत्र परत्वात्करणत्व-

हेतुका तृतीयैव स्यादिति चेत्सत्यम् अस्मिन् सूत्रे यद्यपि युगपत्सञ्ज्ञाद्वयस्य विधानमस्ति तथापि अक्षानक्षैर्वा दीव्यतीति यत्रप्रयोगद्वयं दृश्यते तत्रस्पष्टार्थं द्विधा सूत्रं भिद्यते - दिवः करणं कर्म स्यात् । दिवः करणं करणं स्यादिति सूत्रद्वयारोपणे तु स्पर्द्धाभावेन स्वस्वविषय उभयोरपि सावकाशत्वाद्द्वितीयतृतीये उभेऽपि पर्यायेण भवतः । अन्यथा कर्मसञ्ज्ञाविधायकसूत्रस्यानवकाशत्वं स्यात् ॥१९॥

अधेः शीङ्स्थास आधारः ।२।२।२०।

अधेः संबद्धानां शीङ् स्थासामाधारः कर्म्म स्यात् । ग्राममधिशेते । अधितिष्ठति अध्यास्ते वा ।२०।

अकर्मका अपि धातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्तीति सिद्धमेव सकर्मकत्वमाधारबाधनार्थं तु वचनम् । अधिशेत इत्यादि - शीङ्क् स्वप्ने तेप्रत्ययः 'शीङः एः शिति' ।४।३।१०४। इत्येकारः । 'ष्ठां गतिनिवृत्तौ तिव् 'श्रौति०' ।४।२।१०८। इति तिष्ठादेशः । आसिक् उपवेशने तेप्रत्ययः ॥२०॥

उपान्वध्याङ्वसः ।२।२।२१।

उपादिविशिष्टस्य वसेराधारः कर्म्म स्यात् । ग्राममुपवसति । अनुवसति । अधिवसति । आवसति ।२१।

उपश्चानुश्चाधिश्चाङ् चेति द्वन्द्वं कृत्वा ते पूर्वे यस्मात् स उपान्वध्याङ्पूर्वः स चासौ वसिरिति विशेषणसमासः, मयूरव्यंसकादित्वात्पूर्वस्य लोपः, एभ्यः परो वसिरिति वा समासः । शब्दशक्तिस्वाभाव्यादन्वादिपूर्वो वसतिः स्थानार्थः तत्साहचर्यादुपपूर्वस्यापि वसतेः स्थानार्थस्यैव ग्रहणं न तु भोजननिवृत्तिवचनस्य तेन उपवसति भोजननिवृत्तिमुपवासं करोतीत्यत्र न भवति । 'अदाद्यनदाद्योरनदादेरेव' इति न्यायाददादिवसतेर्ग्रहणं न भवति परन्तु भ्वादिवसतेर्ग्रहणं भवति ॥२१॥

वाऽभिनिविशः ।२।२।२२।

अभिनिभ्यामुपसृष्टस्य विशेराधारः कर्म वा स्यात् । ग्राममभिनिविशते । कल्याणे अभिनिविशते ।२२।

अभिःपूर्वो यस्मात्सोऽभिपूर्वः स चासौ निश्च अभिनिः ततः परो विट् तस्य मयूरव्यंसकादित्वात्पूर्वपदयोर्लोपः । अभिनिनोपसर्गसमुदायेन विशिष्टस्य विशेराधारः कर्म वा भवतीत्यर्थः । अभिश्च निश्चेत्येवं रूपे द्वन्द्वे कृते 'उपान्व०' ।२।२।२१। इतिवत्प्रत्येकमभिसम्बन्धः स्यात् । ग्राममभिनिविशत इत्यादि – वाशब्दो व्यवस्थितविभाषार्थः तस्मात् प्रयोगव्यवस्थया क्वचित्कर्मसञ्ज्ञैव भवति क्वचिदाधारसञ्ज्ञैव च भवति । व्यवस्थिता प्रयोगजात विशेषेण भवत इति व्यवस्थितविभाषा ॥२२॥

कालाध्वभावदेशं वाऽकर्म्म चाकर्म्मणाम्
२।२।२३।

कालादिराधारोऽकर्मणां धातूनां योगे कर्माकर्म च युगपद्वा स्यात् । मासमास्ते । क्रोशं शेते । गोदोहमास्ते । कुरूनास्ते । पक्षे । मासे आस्ते इत्यादि । अकर्म चेति किम् ? । मासमास्यते । अकर्मणामिति किम् । रात्रावुद्देशोऽधीतः ।२३।

कालो मुहूर्तादि, अध्वा-गन्तव्यं क्षेत्रं क्रोशादि, तेनाध्वशब्दाभिधेयस्याध्वनः कर्मसञ्ज्ञा न भवति तस्याध्वविशेषक्रोशयोजनादिवत् गमनानर्हत्वात् । यद्वाऽर्थप्रधानोऽयं निर्देशस्तेन कालाध्वभावदेशानां साक्षात्प्रयोगे न भवति किन्तु तदर्थप्रतिपादकशब्दप्रयोगे एव भवति । भावः क्रिया-गोदोहादिः सा घञादिवाच्या सिद्धरूपा न तु साध्यमाना । देशो जनपदग्रामनद्यपर्वतादिः । युगपद्वेति-यत्रापि पक्षे कर्मसञ्ज्ञा तत्र अकर्मसञ्ज्ञापि वा भवतीत्यर्थः । गोदोहमास्ते इति-सामीप्यक आधारः यदा तु गोदोहविशिष्टः कालो विवक्ष्यते तदा नैमित्तिकोऽपि । मासमास्यत इति – अत्राकर्मसञ्ज्ञात्वात् 'तत्साप्या०' ।३।३।२१। इति सूत्रेण भावे आत्मनेपदं सिद्धम् । कर्मसञ्ज्ञा-

त्वाच्च कर्मणि द्वितीया सिद्धा। न च कर्मण्येवात्मनेपदं भविष्यतीति किमर्थं भावे आत्मनेपदं यथनेनेति वाच्यं कर्मण्यात्मनेपदे तु तेनैव कर्मणोऽभिहितत्वात् कर्मणि द्वितीया न स्यादिति ॥२३॥

साधकतमं करणम् ।१।४।४२।

क्रियायां प्रकृष्टोपकारकं करणं स्यात् । दानेन भोगानाप्नोति ।२४।

सिध्यतेर्णिचि 'सिध्यतेरज्ञाने' ।६।१।४९। इत्यात्वे ण्वुले तमपि च साधकतमं इति । प्रकृष्टोपकारकमिति – प्रकर्षेणं प्रकृष्टं तेनोपकारकं यद्वा प्रकृष्यते स्म प्रकृष्टम् । प्रकृष्टं च तदुपकारकं चेति प्रकृष्टोपकारकम् । प्रकृष्टोपकारकं अव्यवधानस्वरूपमस्ति । अन्येषु कारकेषु मिलितेष्वपि भोगप्राप्त्यादिरूपक्रियाया: दानादिकं विनाऽनुपन्नमतः कर्त्राऽव्यवहितं दानादिकं करणमपेक्ष्यत इति तस्य प्रकृष्टत्वम् । नच तर्हि कर्तुरपि प्रकृष्टोपकारकत्वात्तदपि करणं स्यादिति वाच्यं तस्य स्वातन्त्र्यलक्षणसद्भावात् । वस्तुतस्तु दानेन भोगानाप्नोतीत्यत्र पुण्यरूपोऽवान्तरव्यापारः तथापि विवक्षया दानस्य प्रकृष्टोपकारकत्वम् ॥२४॥

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ।१।४।३२।

कर्मणा व्याप्येन क्रियया वा यमभिप्रैति स सम्प्रदानं स्यात् । देवाय बलिं दत्ते । राज्ञे कार्यमाचष्टे । पत्ये शेते ।२५।

कर्माभिप्रेय इत्यादि – ईङ् च् गतौ (१२५२) 'यः एच्वातः' ।६।१।७८। इति ये गुणे "उपसर्गस्या०" ।१।२।१९। इत्यलोपे अभिप्रेय:, कर्मणाऽभिप्रेय:, 'कारकं कृता' ।३।१।६८। इति समासः । वृत्तौ यमभिप्रैति इति स्वार्थकथनमेव, सम्प्रदीयते ऽस्मा इति बाहुल्कात्ल्युट् । यमभिप्रैति अद्धानुग्राहकं स्यादिति कामयया यमभिसम्बध्नातीत्यर्थः ॥२५॥

स्पृहेरीप्सितः ।१।४।३६।

स्पृहेरीप्सितः सम्प्रदानं स्यात् । पुष्पेभ्यः स्पृह-यति ।३६।

स्पृह ईप्सायाम् स्पृहयतीत्यत्र 'स्वगस्य०' ।७।४।११०। इत्यकार-लोपस्य स्थानिवद्भावाभावादकारस्योपान्त्यत्वाभावात् 'लघावुपान्त्यस्य' ।४।३।४। इति गुणाभावः । संप्रदानसञ्ज्ञापक्षे धातोरकर्मकत्वाद्भावे आत्मनेपदं भवति । पुष्पेभ्यः स्पृह्यते ।।३६।।

क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः ।१।४।३७।

क्रुधाद्यर्थैर्धातुभिर्योगे यं प्रति कोपस्तत् सम्प्रदानं स्यात् । मैत्राय क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा । यं प्रतीति किम् । मनसा क्रुध्यति । कोप इति किम् । शिष्यस्य कुप्यति विनयार्थम् ।३७।

क्रोधोऽमर्षः, द्रोहोऽपचिकीर्षा अपकर्तुमिच्छेत्यर्थः ईर्ष्या परसम्पत्तौ कालुष्यम्, गुणेषु दोषाविष्करणमसूया । क्रुध्यतीत्यादि- क्रुधंच्, द्रुहीच् जिघांसायाम्, ईर्ष्यं, ईक्ष्यं ईर्ष्यं ईर्ष्यार्थाः, असूयेति कण्ड्वादिर्यगन्तः । शब्द-शक्तिस्वभावात्कुधद्रुहोरकर्मकत्वात्सम्बन्धषष्ठ्यां प्राप्तायां तदपवाद. सम्प्र-दानत्वम् । मनसा क्रुध्यतीति- नेह मनस उपरि क्रोधः किन्तु तेन करणेनान्य-स्य पुरुष देउपरि क्रोधः इति करणस्य न भवति । शिष्यस्येत्यादि- नात्र शिष्यस्योपरि क्रोधोऽपि तु तस्याविनयस्योपरि अत्रेदं विचार्यते—ननु क्रोधाद्द्रो-हादयो भिन्नस्वभावा उक्तास्तत्कथं यं प्रति कोप इति विशेषणं घटते, यं प्रति द्रोहः, यं प्रतीर्ष्या, यंप्रत्यसूयेति वक्तव्यमिति चेत्सत्यं द्रोहादयो द्विप्रकाराः केचित् कोपहेतुकाः केचित् वस्त्वन्तरहेतुकाः । अत्र तु कोपहेतुका एव ग्राह्या इत्येवमर्थं यं प्रति कोप इति सामान्येन विशेषणो - पादानमन्यथाऽव्यभिचारा दिदमनुपादेयं स्यादिति । प्रतीत्यनुपादाने यस्मिन्नित्युच्यमाने कर्तुरपि । न च विषयसप्तम्यां यं प्रति कोपस्तस्यैव सम्प्रदानत्वमिति वाच्यं आधारमात्रत्वेन कर्तुरपि स्यादिति । प्रतिशब्दयोगे 'भागिनि च प्रति०' ।२।२।३७। इति

द्वितीया ॥२७॥

नोपसर्गात् क्रुद्द्रुहोः ।२।२।२८।

सोपसर्गाभ्यां क्रुद्द्रुहिभ्यां योगे यं प्रति कोपस्तत्संप्रदानं न स्यात् । मैत्रमभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति । उपसर्गादिति किम् । मैत्राय क्रुध्यति, द्रुह्यति ।२८।

मैत्रमभिक्रुध्यतीत्यादि– 'अकर्मका अपि धातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्तीति 'कर्मणि' ।२।२।४०। इति द्वितीया । ननु मैत्र देर्लक्षणाद्यर्थेनाभिना योगस्तदा क्रुधादेरुपसर्गत्वाभावात् निषेधाप्रवृत्तौ 'लक्षण०' ।२।२।३६। इति द्वितीया वा स्यात् सम्प्रदानचतुर्थी वेति चेत्सत्यं वृक्षमभि मैत्राय क्रुध्यतीत्यादौ द्वयोः सावकाशत्वात्परत्वात् सम्प्रदानचतुर्थ्या एव भावात् मैत्राय भिक्रुध्यतीत्येव भवति ।२८॥

अपायेऽवधिरपादानम् ।२।२।२९।

अपाये विश्लेषे योऽवधिस्तदपादानं स्यात् । वृक्षात् पर्णं पतति । व्याघ्राद्बिभेति । अधर्माज्जुगुप्सते विरमति वा । धर्मात्प्रमाद्यति । चौरेभ्यस्त्रायते । अध्ययनात् पराजयते । यवेभ्यो गां रक्षति । उपाध्यायादन्तर्द्धत्ते । शृङ्गाच्छरो जायते । हिमवतो गङ्गा प्रभवति । वलभ्याः शत्रुञ्जयः षड् योजनानि । कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे । चैत्रान् मैत्रः पटुः । माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः ।२९।

अपायनं अपायः इंण्क् गतौ इंण्क्धातोः 'युवर्ण०' ।५।३।२८। इत्यल् । यद्वा अयि गतौ अयिधातोः 'भावाकर्त्रोः' ।५।३।१८। इति घञ् । विश्लेषः विभाग

इत्यर्थः। अवधं यने मर्यादं क्रियये बुद्धचेत्यवधिः 'उपसर्गाद्दः किः' ।५।३।८७। इति किः। अपदानं त्रिधा- निर्दिष्टविषयम् उपात्तविषयमपेक्षितक्रियं च। यत्र धातुनाऽपायलक्षणो विषयः निर्दिष्टस्तन्निर्दिष्टविषयम्, यथा वृक्षात्पर्णं पतति. यत्र तु धातु-र्धात्वन्तरार्थाङ्गं (धात्वन्तरार्थोऽङ्गं विशेषणं यस्य तत् धात्वन्तरार्थस्य वाङ्गम्। स्वार्थमाह तदुपात्तविषयम् यथा बलाहकाद्विद्योतते विद्युत् बलाहकान्निःसृत्य विद्योतते इत्यर्थः,अत्र निःसरणाङ्गे विद्योतने विद्यु-तिर्वर्तते।। यत्र क्रियावाचि पदं न श्रूयते स्वयमेव क्रिया प्रतीयते तदपेक्षित-क्रियम् यथा माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यआढ्यतराः। अत्र निर्द्धार्यन्त इति क्रिया प्रतीयते। अपायश्च कायसंसर्गपूर्वको बुद्धिसंसर्गपूर्वको वा विभाग उच्यते। व्याघ्राद्बिभेतीति- अत्र कश्चिद्धीमान् व्याघ्रकारिणं बुद्धया ज्ञात्वा ततो निव-र्तते इति। अधर्माज्जुगुप्सते विरमति वा धर्मात्प्रमाद्यतीत्यत्र कश्चिन्मेधावी दुःखहेतुकमधर्मं कुबुद्धया प्राप्यापि नानेन कार्यमिति ततो निवर्तते, नास्ति-कस्तु पूर्वपुण्येन धर्मं प्राप्य नैनं करिष्यामीति ततो निवर्तत इति निवृत्त्यङ्गेषु जुगुप्साविरामप्रमादेष्वेते धातवो वर्तन्त इति बुद्धिसंसर्गपूर्वकोऽपायः। ननु कायसंसर्गपूर्वको विभागो मुख्यः, बुद्धिसंसर्गपूर्वको विश्लेषः गौणः इति 'गौण-मुख्ययोः०' २२ इति न्यायान्मुख्यस्यैव परिग्रहात् 'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतरा' इत्यादौ अपादानसञ्ज्ञाभावे कारकशेषत्वात् षष्ठी प्राप्नोतीति चेत्सत्यं 'साधकतमं करणम्' ।२।२।२४। इत्यत्र तमग्रहणेनात्र तरतमगत-प्रकर्षाभावस्य ज्ञापितत्वादुभयरूपस्याप्यपायस्य परिग्रहः इति। चौरेभ्यः त्रायत इत्यत्रापि कश्चिन्मेधावी यदीमे चौराः पश्येयुर्नूनमस्य धनमपहरेयु-रिति बुद्धया उपायेन तेभ्यो निवर्तयतीत्यत्रापि बुद्धिसंसर्गपूर्वकोऽपायः। त्रैङ् पालने+शव्+ते अध्ययनात्पराजयते इत्यत्राप्यध्ययनमसहमानस्ततो निव-र्तत इत्यपाय एव। यवेभ्यो गां रक्षतीत्यत्रापि गवादेर्यवादिसम्पर्कं बुद्धया दृष्ट्वाऽन्यतरस्य विनाशं पश्यन् गां यवेभ्यो निवर्तयतीत्यपाय एव। उपा-ध्यायादन्तर्द्धत्ते इति-मा मामुपाध्यायोऽद्राक्षीदिति तिरोभवतीत्यपाय एव। डुधांग्क् धारणे च। अन्तर्+धाधातुः, वर्तमाना ते 'ह्वः शिति' ।४।१।१२। इति द्वित्वम् 'श्नश्चातः' ।४।२।९६। इत्याकारलोपः, 'धागस्तथोश्च' ।२।१।७८। इति आदिदस्य धकारः। शृङ्गाच्छरो जायत इति- जनैचि प्रादुर्भावे 'जाज्ञाजनो०' ।४।२।१०४। इति दिवादि जनैचि-धातोः जादेशः। शृङ्गाच्छरो निष्क्रामतीति प्रकट एव कायसंसर्गपूर्वकोऽपायः। यदुक्तम्-

गोलोमाज्जायते दूर्वा, गोमयाद् वृश्चिकः स्मृतः।
गोदोहाद् गोरसं प्राहुर्गोशृङ्गाद्च्यते शरः ॥१॥

हिमवतो गङ्गा प्रभवतीत्यत्राऽऽपः सङ्क्रामतीत्यपायोऽस्ति। वलभ्या श्रीशत्रुञ्जयः षड्योजनानि वलभ्या निःसृत्य गतानि योजनानि भवन्तीत्यर्थः। अत्र गते गम्ये०'।२।२।१०७। इति सामानाधिकरण्यम्। कार्तिक्या आग्रहायणी मासे ततः प्रभृति मासे गते भवतीत्यर्थः। उभयत्राप्यपायः प्रतीयते-कृत्तिकाभिश्चन्द्रयुक्ताभियुक्ता पौर्णमासी कार्त्तिकी। 'चन्द्रयुक्तात्० ।६।२।६। इत्यण् ङीश्च। अग्रं हायनस्य 'पूर्वपदस्था०' ।२।३।४। इति णत्वम् अग्रहायणेन मृगशिरया चन्द्रोपेतेन युक्ता पौर्णमासी (आग्रहायणी), 'चन्द्रयुक्तात्०' ।६।२।६। इत्यण्, चैत्रान्मैत्रः पटुः, माथुरा पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा इत्यत्र मैत्रमाथुराः पुंस्त्वादिना संसृष्टाः पटुत्वादिधर्मेण ततो विभक्ताः प्रतीयन्त इति सर्वत्राप्यपायविवक्षा वेदितव्या। विवक्षान्तरे त्वपादानत्वाभावे यथायोगमन्या विभक्तयो भवन्ति- अधर्मं अधर्मेण जुगुप्सते, इत्यादि ॥२९॥

क्रियाश्रयस्याधारोऽधिकरणम् ।२।२।३०।

क्रियाश्रयस्य कर्तुः कर्मणो वाऽऽधारोऽधिकरणं स्यात्। कटे आस्ते। स्थाल्यां तण्डुलान् पचति ।३०।

अत्रापि प्रसिद्धस्यानुवादेनाप्रसिद्धस्य विधानमिति लक्षणार्थस्तेन यत्क्रियाश्रयस्याधिकरणं तदाधारसञ्ज्ञं भवतीत्यपि सूत्रार्थः। अधिकरणं षोढा-वैषयिकम्, औपश्लेषिकम्, अभिव्यापकं, सामीप्यकम्, नैमित्तिकम्, औपचारिकञ्च। अनन्यत्र भावो विषयस्तस्मै प्रभवति 'तस्मै योगादेः०' ।६।४।९४। इतीकणि वैषयिकम्, यथा दिवि देवाः, नभसि तारका इत्यादि। देवादीनामन्यत्र प्रवृत्त्यभावाद्दिवादयो विषयाः। एकदेशमात्रसंयोग उपश्लेषः तत्र भवम् 'अध्यात्मादिभ्य इकण्' ।६।३।७८। इतीकणि औपश्लेषिकम् यथा कटे आस्ते इत्यादि। यस्याधेयेन समस्तावयवसंयोगस्तदभिव्यापकम् आधेयेनाभिव्याप्यते आधेयं वाऽभिव्याप्नोतीति 'बहुलम्' ।५।१।२। इति कर्मण्यपि णकः। तिलेषु तैलम्, दध्नि सर्पिः, गवि गोत्वम्, तन्तुषु पटः। यद् आधेयसन्निधिमात्रेण क्रियाहेतुस्तत्सामीप्यकम् (भेषजादित्वाण्णन्तात्स्वार्थे कः) गङ्गायां घोषः, कूपेषु गर्गकुलम्, गुरौ वसति। नन्वाधारोऽधिकरणं भवति-आधारश्च संयोगसमवायाभ्यां भवति। न हि घोषादीनां गङ्गादेः संयोगसमवायौ स्त इति कथमधिकरणसञ्ज्ञेति चेन्मैवं यदायत्ता यस्य स्थितिस्तत्

संयोगसमवायाभ्यां विनाप्यधिकरणसञ्ज्ञं भवति यथा लोकेपि राजपुरुष इत्यत्र राज्ञा सह पुरुषेन सह संयोगसमवाययोरभावेपि तदधीनस्थितत्वात् राजाश्रयः पुरुष इति व्यवह्रियते । एवं गङ्गायां घोष इत्यत्रापि सन्निधिमात्रेण क्रियाहेतुत्वाद्युक्तमधिकरणत्वम् । यदा तूपचाराद् गङ्गादिशब्देन तत्समीपो देश एवोच्यते तदौपश्लेषिक एवाधारः । निमित्तमेव 'विनयादिभ्यः' ।७।२।१६९। इतीकणि नैमित्तिकम्, युद्धे सन्नह्यते, अतरे बलाम्यति, छायायामाश्वसिति । अन्यत्रावस्थितस्यान्यत्राध्यारोप उपचारस्तत्र भव 'अङ्गुल्यादिभ्यः इकण्' ६।३।७८ इतीकणि औपचारिकम् अङ्गुल्यग्रे करिशतमास्ते, स मे मुष्टिमध्ये तिष्ठति, यो यस्य द्वेष्यः स तस्याक्ष्णोः प्रतिवसति यथाऽक्षिस्थितं तृणादि दुःखकारि तथा द्वेष्योपीत्यर्थः, यो यस्य प्रियः स तस्य हृदये वसति अत्र करिशतादीनामन्यत्रावस्थितानां केनापि प्रयोजनविनाऽङ्गुल्यग्रादावध्यारोप्यमाणानामङ्गुल्यग्रादिरौपचारिक आधार उच्यते । यदा त्वङ्गुल्यग्रादिशब्देनोपचारादाधेयाधिष्ठितो देश उच्यते तदौपश्लेषिक एवाधारः । उक्तं च–

> आधारस्त्रिविधो ज्ञेयः कटाकाशतिलादिषु ।
> औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापक एव च ॥

आध्रीयते इति भूश्रयद'ल्' ।५।३।२३। इत्यलि आश्रयः क्रियाया आश्रय क्रियाश्रयः क्रियासम्पादक इत्यर्थः आध्रियेते अवतिष्ठेते क्रियाश्रयौ कर्तृकर्मणी यत्रेति आधारः 'व्याधावाय०' ।५।३।१३४। इति घञ् अधिकरणाधारसञ्ज्ञाप्रयोजनस्थानानि– 'सप्तम्यधिकरणे' ।२।२।९५। 'अद्यर्थाच्चाधारे' ।५।१।१२। इत्यादयः ॥३०॥

नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ ।२।२।३१।

एकद्विबहावर्थमात्रे वर्त्तमानान्नाम्नः परा यथासंख्यं सिऔजस्लक्षणा प्रथमा स्यात् । डित्थः । गौः । शुक्लः । कारकः । दण्डी ।३१।

कर्मादिशक्तिषु द्वितीयादिविभक्तीनां विधास्यमानत्वादत्र विशेषानभिधानाच्च परिशिष्टेऽर्थमात्रे प्रथमा भवति । अर्थमात्रं चोपचरितमध्यारोपितमपि भवति साहचर्यस्थानतादर्थ्यवृत्त - मान-धरण - सामीप्य-योग-

साधना-ऽऽधिपत्येभ्यः अतद्भावेऽपि तद्वदुपचारः । यथा साहचर्यात् कुन्ताः प्रविशन्ति,स्थानात्-मञ्चाः क्रोशन्ति, तादर्थ्यात् इन्द्रः स्थूणा, वृत्तात् यमोऽयं राजा, मानात् प्रस्थो व्रीहिः धरणात्तुला चन्दनम्, सामीप्यात् गङ्गातटं गङ्गा, योगाद्रक्तः कम्बलः, साधनात् अन्नं प्राणाः, आधिपत्यात् ग्रामाधिपतिर्ग्रामः ॥३१॥

आमन्त्र्ये ।२।२।३२।

आमन्त्र्यार्थवृत्तेर्नाम्नः प्रथमा स्यात् । हे देव । आमन्त्र्य इति किम् । राजा भव ।३२।

प्रसिद्धतत्सम्बन्धस्य किमप्याख्यातुमभिमुखीकरणमामन्त्रणम् तद्विषय आमन्त्र्यः प्रसिद्धतत्सम्बन्धः कः ?- देवदत्तत्वादिना प्रवृत्तिनिमित्तेन सम्बन्धः अथवा तेनामन्त्र्यवाचिना देवदत्तादिशब्देन सम्बन्धः वाच्यवाचकभावः प्रसिद्धस्तत्सम्बन्धो यस्य तस्य देवदत्तादेर्निति येन निरवधान आत्मा सावधानः क्रियते तदामन्त्रणमिति० स्पष्टार्थः । **राजा भवेत्यत्र राजाऽत्र नामन्त्र्यः** किन्तु स एव विधीयते इति पूर्वेणैव प्रथमा । ननु पूर्वेणैव सिद्धः किमनेनेति वाच्यम्-आमन्त्र्यामन्त्रणभावसम्बन्धे विषयविषयिभावसम्बन्धे वा प्रथमापवादः 'शेषे' ।२।२।९१। इति षष्ठी प्राप्नोति तद्बाधनार्थं वचनम् ॥३२॥

गौणात्समयानिकषाहाधिगन्तरान्तरेणातियेन-तेनैर्द्वितीया ।२।२।३३।

समयादिभिर्युक्ताद् गौणान्नाम्न एकद्विबहौ यथासंख्यममौशसिति द्वितीया स्यात् । समया ग्रामम् । निकषा गिरिं नदी । हा मैत्रं व्याधिः । धिग्जाल्मम् । अन्तराऽन्तरेण च निषधं नीलं च विदेहाः । अन्तरेण धर्मं सुखं न स्यात् । अतिवृद्धं कुरून् महद्बलम् । येन-पश्चिमां गतः । तेन पश्चिमां नीतः ।३३।

आख्यातपदेनासमानाधिकरणं गौणत्वम् । सम्बन्ध-षष्ठ्याः अपवादोऽयम् । **समया ग्राममित्यादि** – ग्रामसमीपवृत्तिनदी, गिरिसमीपवृत्तिनदीत्यर्थः, हाशब्देन स्तेनस्य शोच्यता द्योत्यते,धिक् जाल्ममत्र जाल्मस्य निन्द्यता। अन्तरा निषधं नीलं च विदेहा। निषेधनीलयोर्मध्ये इत्यर्थः। **अन्तरेण धर्ममिति** धर्मं विनेत्यर्थः। **अतिवृद्धं कुरूनिति**- कुरूणामतिक्रमेण पाण्डवानां महद् बृहद् बलं वर्तते इत्यर्थः। **येनेति** – येनतेनौ लक्ष्यलक्षण–भावं द्योतयतः पश्चिमां प्रति लक्ष्यीकृत्य गत इत्यर्थः। अयं गतः कां प्रति पश्चिमां प्रति। पश्चिमया लक्षणेन देवदत्तस्याप्रसिद्धं लक्षणं लक्ष्यते। बहुवचनादन्येनापि युक्ताद् भवति यथा न बुभूक्षितं प्रति भाति किञ्चित्। धातुसम्बद्धोऽत्र प्रतिस्तेन 'भ गिनि च०' ।२।२।३७। इति न सिध्यतीति। **गौणादिति किम्** – अन्तरा गार्हपत्यमाहवनीयं च वेदिः, अत्र प्रधानाद्वेदिशब्दान्न भवति ॥३३॥

द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः ।२।२।३४।

द्विरुक्तैरेभिर्युक्तान्नाम्नो द्वितीया स्यात्। अधोऽधो ग्रामम्। अध्यऽधि ग्रामम्। उपर्युपरि ग्रामं ग्रामाः। द्वित्व इति किम्। अधो गृहस्य ।३४।

बहुवचनमेकद्विबहावितिं यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थम्, 'सामीप्येऽधोऽध्युपरि०' ।७।४।७९। इति द्विरवम्। षष्ठ्यपवादः यस्य सामीप्यं तस्माद्ग्रामादेः सम्बन्धे षष्ठ्यां प्राप्तायामिदं वचनम्। **अधो गृहस्येति** - अत्रौत्तराधर्यमात्रं विवक्षितं न सामीप्यमिति द्विरवाभावः ॥३४॥

सर्वोभयाभिपरिणा तसा ।२।२।३५।

सर्वादिभिस्तसन्तैर्युक्तान्नाम्नो द्वितीया स्यात्। सर्वतः। उभयतः। अभितः। परितो वा ग्रामं वनानि ।३५।

षष्ठ्यपवादः। तसेति सर्वादिविशेषणात्तदन्तविधिः। सर्वतः उभयत इत्यत्र 'आद्यादिभ्यः' ।२।२।८४। इति तसुः अभिपरिशब्दाभ्यां 'पर्यभेः०' ।७।२।८३। इति तसुः ॥३५॥

लक्षणवीप्स्येत्थम्भूतेष्वभिना ।२।२।३६।

लक्षणं चिन्ह्नम् । वीप्साकर्म्म वीप्स्यम् । इत्थम्भूतः किञ्चित्प्रकारमापन्नः । एषु वर्त्तमानादभिनायुक्ताद्द्वितीया स्यात् । वृक्षमभि विद्युत् । वृक्षं वृक्षमभिसेकः । साधुर्मैत्रो मातरमभि । लक्षणादिष्विति किम् । यदत्र ममाभि स्यात्तद्दीयताम् ।३६।

लक्ष्यते दर्श्यते येन तल्लक्षणं चिह्नम्, अवयवशः समुदायस्य क्रियादिना साकल्येन प्राप्तुमिच्छा वीप्सा तत्कर्म वीप्स्यम्, विपूर्वादाप्नोतेः सति यप्रत्यये च रूपमिदम् । केनचिद्विशेषणेन विशेषेण भावः इत्थंभावः, तद्विषय इत्थंभूत इत्थं भवति स्म स्मिन्निति ।५।१।१२। इति क्तः, यद्वा इत्थं भवन 'क्लीबे' ।५।१।१२३। इति क्ते इत्थभूतं तत्प्राप्त इति 'अभ्यादिभ्यः' ।७।२।४६। 'अव्ययं प्रवृ०' ।३।१।४८। इति समासः । **वृक्षमभीति** – विद्योतते इति शेषः अत्र वृक्षः लक्षणम्, विद्योतमाना विद्युल्लक्ष्यं, तयोर्लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धोऽभिना द्योत्यते । **वृक्षं वृक्षमभि इति** – एकैकस्य वृक्षस्य सेक इत्यर्थः 'वीप्सायाम्' ।७।४।८१। इति द्वित्वम् । अत्राभिना साध्यसाधनभावसम्बन्धो द्योत्यते । **साधुरिति** - मातृविषये साधुत्वप्रकारमापन्न इत्यर्थः । अत्राभिना विषयविषयिभावसम्बन्धो द्योत्यते । **यदत्रेति** - योऽत्र मम भागः स्यात्तद्दीयताम्, अत्राभिना भागसम्बन्धो द्योत्यते । अत्रापि बहुवचनं एकद्विबहाविति यथासङ्ख्याभावार्थम् । एवमुत्तरत्र ॥३६॥

भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः ।२।२।३७।

स्वीकार्योंऽशो भागस्तत्स्वामी भागी तत्र लक्षणादिषु च वर्त्तमानात् प्रत्यादिभिर्युक्ताद्द्वितीया स्यात् । यदत्र मां प्रति मां परि मामनु स्यात्तद्दीयताम् । वृक्षं प्रति परि अनु वा विद्युत् । वृक्षंवृक्षं प्रति परि अनु वा सेकः । साधुर्मैत्रो मातरं प्रति परि अनु वा । एष्विति किम् । अनु वनस्याऽशनिर्गता ।३७।

स्वीकार्य इति - अस्वीक्रियमाणेप्यंशे भागशब्दः प्रयुज्यते यथा नगरस्य भागः स तु स्वीक्रियमाणाभागसादृश्यत्। चकारेणानन्तरोक्तं लक्षणवद्यस्येत्थम्भूते इत्यनुकृष्यतेऽत आह - **लक्षणादिषु चेति यदत्र मां प्रतीत्यादि**– योऽत्र मम भागः स्यात् तद्दीयताम् इत्यर्थः, **अनु वनस्याशनिर्गतेति**- समीप इत्यर्थः। अत्र वनस्य समीपं भाव इति वीप्सादिभावाभावः ॥३७॥

हेतुसहार्थेऽनुना ।२।२।३८।

हेतुर्जनकः । सहार्थस्तुल्ययोगो विद्यमानता च । तद्विषयोप्युपचारात् । तयोर्वर्तमानादनुना युक्ताद्द्वितीया स्यात् । जिनजन्मोत्सवमन्वागच्छन् सुराः । गिरिमन्वासिता सेना ।३८।

हेतुर्द्विविधः जनको ज्ञापकश्च। ज्ञापकस्य तु लक्षणत्वात् पूर्वसूत्रेणैव द्वितीया सिद्धाऽत आह- हेतुर्जनक इति। **सहार्थ इति**– तुल्यः साधारणः गौणस्य मुख्येन क्रियादिना यः सम्बन्धः स तुल्ययोगः। विद्यमानता सत्ता ननु तुल्ययोगे सहादय एव शब्दा उच्यते न तु गिर्यादिशब्दा इति कथं ततो द्वितीयेत्याह **तद्विषय इति**– तदाश्रयः गिर्यादिरप्युपचारात्सहार्थं इत्यर्थः। **जिनजन्मोत्सवमिति**- तेन हेतुनेत्यर्थः। **गिरिमन्ववसितेति**– गिरिणा सह सम्बद्धेत्यर्थः। विद्यमानतोदाहरण अनु कर्माणि संसारीति ज्ञातव्यम्। 'हेतु०' ।२।२।४४। इति तृतीयापवादो योगः ॥३८॥

उत्कृष्टेऽनूपेन ।२।२।३९।

उत्कृष्टार्थादनूपाभ्यां युक्ताद्द्वितीया स्यात् । अनुसिद्धसेनं कवयः । उपोमास्वातिं संगृहीतारः ।३९।

स्वयमेव उत्कृष्यते स्म कर्मकर्तरि क्तः,उत्कृष्ट शब्दो हीनापेक्षस्तेन हीनोत्कृष्टसम्बन्धोऽनुना द्योत्यते। अनु सिद्धसेनं कवयः इत्यादि-तस्मादन्ये हीना इत्यर्थः। उमा कीर्तिमंततं नि 'पादचचात्यनिभ्याम्' [उणा. ६२०] इति इः णित् यद्वा उमा कीर्तिः स्वातिरुज्ज्वला यस्य, यद्वा उमा माता स्वातिः पिता

तयोजार्तत्व तुत्रोप्युमास्वाति: । सङ्गृ्ह्णन्ति सङ्गृहीतार: 'णकतृचौ' ।५।१।४८। 'स्ताद्यशित०' ।४।४।३२। 'गृह्णोऽ०' ।४।४।३४। इति दीर्घ: । ।।३९।।

कर्मणि ।२।२।४०।

नाम्न: कर्म्मणि द्वितीया स्यात् । कटं करोति । तण्डुलान् पचति । रविं पश्यति । अजां नयति ग्रामम् । गां दोग्धि पय: ।४०।

क्रियते कट इत्यत्र कर्मण्यात्मनेपदे कर्मण उक्तत्वाद् 'उक्तार्थानामप्रयोग:' इति न्यायाद्द्वितीया न भवति । अर्थप्रत्यायनार्थं शब्दा: प्रयुज्यन्ते सोऽर्थो यदि शब्दान्तरेणोक्तस्तदा प्रयोजनाभावात् शब्दान्तरप्रयोगो न कर्तव्य इति । ननु कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयमित्यत्र कटस्यैव कर्मत्वेन कटशब्दादेव द्वितीया स्याद् भीष्मादिभ्यो न स्यादिति चेन्मैव यथा कट: कर्म तथा भीष्मादयोपि तथाहि स कटं करोति तथा तद्गतगुणानपि करोत्येव करतिना यद्यद्व्याप्तुमिष्टं तत्सर्वं द्रव्य गुणश्च कर्मेति सर्वेभ्योपि द्वितीया भवति पश्चात्तु गौणमुख्यभावे विशेषणविशेष्यभाव: । यद्वा 'न केवला प्रकृति: प्रयोक्तव्या' इति न्यायादविभक्तिकानां प्रयोगानर्हत्वात्म न विभक्तिमृते सामानाधिकरण्यविशेषणत्वायोगात् यथा ईश्वरसुहृदा स्वय निर्धनत्वेपि नदेकयोगक्षेमत्वात्तद्धनेनैव फलभाक्त्वं भवति एवं कर्म गाम प कटकमत्वेनैव द्वितीया सिद्धा । कृत: कटो भीष्म: उदारो दर्शनीय इत्यत्र तु कृग: क्तप्रत्यय: । यस्य यस्य तया क्रियया सम्बन्धस्तस्य तस्य साकल्येन कर्मत्वमभिदधातीति क्वचिदपि द्वितीया न भवति । ननु कथं कृतं पश्यात्र क्तप्रत्ययेन कर्मण उक्तत्वात्प्रथमया भवितव्यमिति चेत्सत्यं कर्मशक्तियुक्तं द्रव्यमेव क्तप्रत्ययाभिधानाभिधीयते इति स्वरूप– कालभिन्नायां क्रियाया सव्यापारतया कर्मरूपतेति तदभिधानाय द्वितीया भवतीति ।।४०।।

क्रियाविशेषणात् ।२।२।४१।

क्रियाया यद्विशेषणं तद्वाचिनो द्वितीया स्यात् । स्तोकं पचति ।

सुखी स्याता ।४१।

द्वितीयार्थं वचनं न कर्मसञ्ज्ञार्थं तेन सुखं स्यातेत्यादौ कृद्योगे कर्मनिमित्ता षष्ठी न भवति ॥४१।

कालाध्वनोर्व्याप्तौ ।२।२।४२।

व्याप्तिरत्यन्तसंयोगः । व्याप्तौ द्योत्यायां कालाध्ववाचिभ्यां द्वितीया स्यात् । मासं गुडधानाः, कल्याणी अधीते वा । क्रोशं गिरिः कुटिला नदि क्रोशमधीते वा । व्याप्ताविति किम् । मासस्य मासे वा द्व्यहं गुडधानाः । क्रोशस्य क्रोशे वा एकदेशे कुटिला नदी ।४२।

व्याप्तिरिति-स्वेन सम्बन्धिना द्रव्यगुणक्रियारूपेण कार्त्स्न्येन सम्बन्धो व्याप्तिरत्यन्तसंयोग इति यावत् । **मासं गुडधाना** इत्यादि–मास गुडधानाः, कल्याणी, मासमधीते, क्रोशं गिरिः, क्रोशं कुटिला नदी, क्रोशमधीत इति **बोध्यम्** । द्रव्यगुणकर्मणां यथासङ्ख्यमुदाहरणानि । सम्बन्धविवक्षायां षष्ठी, आधारविवक्षायां तु सप्तमी । **द्व्यहं इति**–द्वयोरह्नोः समाहार इति 'द्विगारह्नोऽ' ।७।३।९९। इत्यटि द्व्यहम् । अत्र द्व्यहशब्दादनेन द्वितीया, मासशब्दात्तु व्याप्तेः रभावान्न । **एकदेशे**– अत्रैकदेशशब्दात् व्याप्तेः सम्भवेपि अध्वनोऽभावान्नानेन द्वितीया 'कालाऽध्वभाव-देशं०' ।२।२।२३। इति कर्मसञ्ज्ञाभावपक्षे षष्ठ्याः सप्तम्या वाऽपवादोऽयम् तेन मासमधीते क्रोशमधीते इत्यकर्मकत्वे उदाहरणमिदम् । कर्मत्वे 'कर्मणि' ।२।२।४० इत्येव द्वितीया सिद्धा । ग्रन्थादिकर्मणा इङ् धातुः सकर्मकस्तथापि अविवक्षितकर्मकत्वेनाकर्मकत्वात् 'कालाध्व०' ।२।२।२३। इति प्राप्तेरकर्मपक्षे एवानेन द्वितीया कर्मपक्षे तु 'कर्मणि' ।२।२।४०। इत्येव सिद्धा ॥४२॥

सिद्धौ तृतीया ।२।२।४३।

सिद्धौ फलनिष्पत्तौ द्योत्यायां कालाध्ववाचिभ्यां टाभ्यामिस्लक्षणा

तृतीया यथासंख्यमेकद्विबहौ स्यात्। मासेन मासाभ्यां मासैर्वा आवश्यकमधीतम्। क्रोशेन क्रोशाभ्यां क्रोशैर्वा प्राभृतमधीतम्। सिद्धाविति किम्। मासमधीत आचारो नानेन गृहीतः।४३।

व्याप्तौ गम्यायामिति तु 'एकद्विबहौ स्यात्' इत्यनन्तरं ज्ञेयम्। द्वितीयापवादो योगः। यद्यपि व्याप्तिस्त्रिप्रकारा स्वेन सम्बन्धिना द्रव्यगुणक्रियारूपेण कृत्स्नेन सम्बन्धरूपा तथाप्यत्र क्रिया– व्याप्तेरेव सिद्धाविति विशेषणं युज्यते यस्य ह्यारम्भस्तस्यैव सिद्धिः द्रव्यगुणयोस्तु सिद्धरूपयोः शब्देनाप्रतिपादनान्न तावभ्येते नापि निष्पद्येते इति। **आवश्यकमिति**– आवश्यकं नामाध्ययनविशेषः। **अधीतमिति**– यदयमध्ययन तत्फलनिष्पत्तिरत्र गम्यते। **मासमधीत इति**। अत्र व्याप्तिमात्रं गम्यते न तु सिद्धिरिति पूर्वेण द्वितीयाऽभूत्।।४३।।

हेतुकर्तृकरणेत्थम्भूतलक्षणे ।२।२।४४।

फलसाधनयोग्यो हेतुः किञ्चित्प्रकारमापन्नस्य चिह्नं इत्थम्भूतलक्षणं हेत्वादिवृत्तेर्नाम्नस्तृतीया स्यात्। धनेन कुलम्। चैत्रेण कृतम्। दात्रेण लुनाति। अपि त्वं कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीः।४४।

फलसाधनयोग्य इति– फलं कार्यं तस्य साधनं निष्पादनं करणमिति तत्र योग्या सामान्यतो दृष्टसामर्थ्यः। योग्यग्रहणमृते फलसाधन इत्युच्यमाने यः फलं साधयति क्रियाविष्टस्तस्य प्रतिपत्तिः स्यात् योग्यग्रहणे तु अकुर्वदपि योग्यतया तद्धेतुः। योऽत्र निर्व्यापारो गृह्यते सव्यापारे तु कर्तृत्वमेव धनेन कुलमित्यत्र कुलमकुर्वदपि योग्यतामात्रेण तद्धेतुतया तृतीया भवति। अन्नेन वसतीत्यत्र यद्यपि क्रिया दृश्यते तथापि योग्यतामात्रविवक्षयेति हेतावेव तृतीया। प्रकृष्यमाणव्यापारविवक्षायां तु करणे तृतीयेति। द्रव्यादिसाधारणं हेतुत्वं करणत्वं तु क्रियानिरूपितं व्यापारनियतं चेति हेतुकरणयोर्विशेषः। इमं कञ्चित् प्रकारं भूत आपन्न इत्थम्भूतः लक्ष्यते येन स लक्षणः करणेऽनट् इत्थभूतस्य लक्षणं इत्थम्भूतलक्षणः। **कमण्डलुनेति**– छात्र-

त्वादिकं प्रकारमापन्नस्य कमण्डलुर्लक्षणम् ॥४४॥

सहार्थे ।२।२।४५।

सहार्थे तुल्ययोगे विद्यमानतायां च गम्यमाने नाम्नस्तृतीया स्यात् । पुत्रेण सहागतः । स्थूलो गोमान् ब्राह्मणो वा । एकेनापि सुपुत्रेण सिंहो स्वपिति निर्भयम् । सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ॥ ।४५।

तुल्यः साधारणो गौणस्य मुख्येन क्रियादिना यः सम्बन्धः स तुल्ययोगः, विद्यमानता सत्ता । ननु विद्यमानतायामपि तुल्ययोगोऽस्त्येव सत्तया साकमुभयोः सम्बन्धात् तथाहि– सहैव दशभिः पुत्रैः भारं वहति गर्दभीत्यत्र सहैव दशभिः पुत्रैः सत्तां शक्यते पातयितुमिति किं तुल्ययोगात् पृथग् विद्यमानता निर्दिश्यते इति चेत् सत्यं सहैव दशभिः पुत्रैरित्यत्र गर्दभ्या एव वहनं विवक्षितं न तु तत्पुत्राणाम् । पुत्रेण सहागत इत्यत्र तूभयोरेवागमनं विवक्षितमिति तुल्ययोगाद्विद्यमानता भिन्ना । **पुत्रेणेत्यादि–** पुत्रेण सहाऽऽगतः इत्यत्रागमनक्रियया पितापुत्रयोस्तुल्ययोगः पुत्रेण सह स्थूल इत्यत्र स्थौल्यगुणेन तुल्ययोगः; पुत्रेण सह गोमानित्यत्र गोरूपद्रव्येण । **ब्राह्मण इति** अत्र ब्राह्मणत्वजात्या । **सहैवेति** – एतद्विद्यमानतोदाहरणम् - अत्र पुत्राणां सत्तामात्रं विवक्षितं न तु वहनम् । गम्यमानेऽपि सहार्थे भवति पुत्रेणागतः सुखेनास्ते इत्यादि । क्रियाविशेषत्वविवक्षायां तु सुखमास्त इत्यपि । गौणादित्यधिकारात् सहोभौ चरतो धर्ममित्यत्र न भवति ॥४५॥

यद्भेदैस्तद्वदाख्या ।२।२।४६।

यस्य भेदिनो भेदैः प्रकारैस्तद्वतोऽर्थस्याख्यानिर्देशः स्यात् । तद्वाचिनस्तृतीया स्यात् । अक्ष्णा काणः । पादेन खञ्जः । प्रकृत्या दर्शनीयः तद्वद् । ग्रहणं किम् - अक्षिकाणं पश्य । आख्येति प्रसिद्धिपरिग्रह-

र्थम् । तेनाक्ष्णा दीर्घ इति न स्यात् ।४६।

यस्य भेदिनश्चक्षुरादेः भेदः काणत्वादिभिः प्रकारैः तद्वतो चक्षुरादिमतः पुरुषादेर्लक्षणा निर्देशो भवति तद्वाचिनश्चक्षुरादिवाचिनस्तृतीया भवति । अक्ष्णा काण इति-अक्षि काणमकाणं च भवतीति काणत्वभेदेन पचारात्तद्वान् चत्रादिर्लक्ष्यते भेदग्रहणमृते 'येन तद्वदाख्या' इत्युच्यमाने यष्टीः प्रवेशयेत्यत्रैव स्यात् । अत्र यष्टिशब्देनोपचारात्तद्वानुच्यते न तु अक्ष्णा काण इत्यत्र । अत्र न क्षिशब्देन तद्वानुच्यत इति । अक्षि काणं पश्येति– अत्र काणशब्देनाक्षिभेदेनाक्ष्युच्यते न तु तद्वान् चत्रादिरित्यत्र न भवति । अक्ष्णा दीर्घः– लोक एतादृशं प्रयोगं न कुरुते. कायेन दीर्घ इति तु भवत्येव । कृतभवत्यादिक्रियाध्याहारेण तृतीया सिद्धैव अवयवावयविभावसम्बन्धे षष्ठीप्राप्तौ वचनम् । ॥४६॥

कृताद्यैः ।२।२।४७।

कृताद्यैर्निषेधार्थैर्युक्तात् तृतीया स्यात् । कृतं तेन । किं गतेन ।४७।

बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । । कृत । कृतम् । भवतु । अलम् । किम् । एवंप्रकारो कृतादयः । कृतादीनां निषेधार्थवृत्तित्वं धातूनामनेकार्थत्वात् लक्षणातो वा ज्ञेयम् ॥४७॥

काले भान्नवाधारे ।२।२।४८।

कालवृत्तेर्नक्षत्रार्थादाधारे तृतीया वा स्यात् । पुष्येण पुष्ये वा पायसमश्नीयात् । काल इति किम् । पुष्येऽर्कः । भादिति किम् । तिल पुष्येषु यत्क्षीरम् । आधार इति किम् । अद्य पुष्यं विद्धि ।४८।

पुष्येणेति– पुष्येण चन्द्रयुतेन युक्तःकालः इति 'चन्द्रयुक्तात्काले' ।६।२।६। इत्यणि 'लुप्त्वप्रयुक्ते' इति लुपि पुष्यशब्दो नक्षत्रवाची काले वर्तते । स्वार्थिकप्रत्ययाः प्रकृतिलिङ्गवचनानि नातिवर्तन्त इति कालवृत्तिरपि नक्षत्रशब्दो नक्षत्रलिङ्गसङ्ख्य एव । पायसमिति पयसि संस्कृतं भक्ष्यं 'संस्कृते

भक्ष्ये ।६।२।१४०। इत्यण् । पयसा संस्कृतमिति तु कृते 'संस्कृते' ।६।४।३। इतीकण् स्यात् । अश्नीयादिति– अश् भोजने, सप्तमीयात् 'क्र्यादिः' ।३।४।७९। इति श्ना:, 'एषाम व्यंञ्जने०' ।४।२।४७। इतीकार: । तिलपुष्येष्विति– तिलपुष्पशब्द: यस्मिन् काले तिला पुष्यन्ति तस्मिन्काले वर्तते न तु नक्षत्रे इति न भवति । स्थाल्या पच्यते इत्यादिवदाधारस्य करणविवक्षायां तृतीया सिद्धैव परन्तु सम्बन्ध ववक्षाया षष्ठी मा भूदिति वचनम् ।।४८।।

प्रसितोत्सुकाऽवबद्धैः ।२।२।४९।

एतैर्युक्तादाधारवृत्तेस्तृतीया वा स्यात् । केशैः केशेषु वा प्रसितः । गृहेण गृहे वा उत्सुकः । केशैः केशेषु वाऽवबद्धः ।४९।

यद्यपि प्रसितशब्द: एक: प्रकृष्ट: सित: शुक्ल: इति शुक्लगुणवचन: द्वितीय: सिनोते क्तप्रत्यये प्रकर्षेण सित: बद्ध: नित्यप्रसक्त इत्यर्थ: क्रियावचन: तथापि अवबद्धोत्सुकसाहचर्यात् क्रियावचन एव गृह्यते । पूर्ववद् आधारस्य करणविवक्षायां तृतीया सिद्धैव षष्ठीबाधनार्थं वचनम् । बहुवचनमेकद्विबहाविति यथासङ्ख्यनिवृत्यर्थम् ।।४९।।

व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् ।२।२।५०।

व्याप्यवृत्तिभ्यो द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायां तृतीया वा स्यात् । द्विद्रोणेन, द्विद्रोणं द्विद्रोणं वा धान्यं क्रीणाति । पञ्चकेन पञ्चकं पञ्चकं वा पशून् क्रीणाति ।५०।

द्विद्रोणादय:– आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वात् यत्र वीप्सायां तृतीया दृश्यते ते द्विद्रोणादय: न तु गर्गादिवत् सन्निविष्टा इति । द्विद्रोणेनेति– वीप्सायां तृतीया विहितेति तृतीयान्तस्य पदस्य द्विर्वचनं न भवति । द्वितीया तु कर्मणि विहितेति वीप्साया अनुक्तत्वाद्द्विर्वचनं भवत्येव । द्वौ द्रोणौ मानमस्य धान्यस्य 'मानम्' ।६।४।१६९। इतीकण् तस्य 'अनाम्न्यद्विः प्लुप्' ।६।४।१४१। इति लुप् । धान्यादिकर्मण: विशेषणत्वात् द्वितीयायां प्राप्तायां तृती-

यत्र विधिः । पञ्च पञ्च या मानमस्य सङ्ख्यायाः सङ्घसूत्रपाठे ।६।४।१७१। इति यथाविहितः 'सङ्ख्य डतेश्चा०' ।६।४।१३०। इति कः । पञ्चकं पञ्चकं सङ्घं पशून् क्रीणातीत्यर्थः । पशुसामानाधिकरण्येऽपि पञ्चकशब्दात् ब्राह्मणः सप्त इतिवदेकवचनम् ।।५०।।

समो ज्ञोऽस्मृतौ वा ।२।२।५१।

अस्मृत्यर्थस्य सञ्जानातेर्यद्व्याप्यं तद्वृत्तेस्तृतीया वा स्यात् । मात्रा मातरं वा सञ्जानीते । अस्मृताविति किम् । मातरं सञ्जानाति ।५१।

सञ्जानीते इति - सपूर्वः ज्ञांश् अवबोधने १५४० 'संप्रने०' ।६।१। ६९। इत्यात्मनेपदम्. क्र्यादित्वात् श्नाप्रत्ययः, 'जा ज्ञाजनो०' ।४।२।१०४। इति जादेशः 'एषाम०' ।४।२।९७। ईत्त्वम् । **मातरमिति**– 'स्मृत्यर्थ०' ।२।२।११। इति पाक्षिके कर्मत्वे कर्मणि द्वितीया । **सञ्जानातीति**– स्मरतीत्यर्थः । नवाधिकारे वाग्रहणमुत्तरत्र नवाधिकार- निवृत्त्यर्थः । कर्मणः करणत्वविवक्षायां तृतीयायाः सिद्धावपि धात्वन्तरस्य अन्योपसर्गपूर्वस्य निरुपसर्गस्य स्मृत्यर्थस्य च सम्पूर्वस्य जानाते स्तद्विवक्षाव्युदासार्थोऽयं पाक्षिकस्तृतीयारम्भ इति ।।५१।।

दामः संप्रदानेऽधर्म्ये आत्मने च ।२।२।५२।

सम्पूर्वस्य दामः सम्प्रदानेऽधर्म्ये वर्तमानात्तृतीया स्यात् । तत्सन्नियोगे च दाम आत्मनेपदम् । दास्या संप्रयच्छते कामुकः । अधर्म्य इति किम् । पत्न्यै संप्रयच्छति ।५२।

दास्या इति–कामुकः सन् दास्यै द्रव्यं ददातीत्यर्थः । पत्न्यै सम्प्रयच्छतीति– पत्न्यै दानं नाधर्म इति न भवति । 'डुदांग्क् दाने' तिवि चानेनात्मनेपदम् । ननु सम इत्यत्र परदिग्योगलक्षणा पञ्चमीति 'पञ्चम्याः०' ।७।

४।१०४। तत्त्वा ।न्तरस्ये ति प्रशब्दव्यव धाने न प्राप्नोति त चेन्मैवमत्र संपूर्वस्य दाम: प्रशब्दव्यवधानमन्तरेण प्रयोगाभ वात् 'येन नाव्यव०' इति न्यायाद्व्यवधानेऽपि भवति । यद्वा पञ्चम्यन्तमपाद विभक्तिपरिणामेनानुवर्तनात्षष्ठ्य-तविज्ञानात्ततः व्यवधानेऽपि समा द्योतमानार्थत्वाद्दाम: सम्बन्धोपात्त भवत्येव विधि: ॥५२॥

चतुर्थी ।२।२।५३।

संप्रदाने वर्त्तमानादेकद्विबहौ यथासंख्यं ङे भ्याम्भ्यस्लक्षणा चतुर्थी स्यात् । द्विजाय गां दत्ते । पत्ये शेते ।५३।

दत्त इति– डुदांगक् दाने ११३८ + वर्तमानाते 'हव: शिति' ।४।१।१२। इति द्वित्वम् 'ह्रस्व:' ।४।१।३९। 'श्नश्चात:०' ।४।२।९६। इति धातोराकारलोप:, अघोषे प्रथमो०' ।१।३।५०। इति दस्य तकार: । शेत इति–'शीङ् स्वप्ने' 'शीङ: ए: शिति' ।४।३।१०४। इत्येकार: ॥५३॥

तादर्थ्ये ।२।२।५४।

तस्मा इदं तदर्थम् । तद्भावे सम्बन्धविशेषे द्योत्ये चतुर्थी स्यात् । यूपाय दारु । रन्धनाय स्थाली ।५४।

किञ्चिद्वस्तु संपादयितुं यत्प्रवृत्तं तत्तदर्थं तादर्थ्ये सम्बन्धविशेषे द्योत्ये गौणान्नाम्न: चतुर्थी भवतीति सूत्रार्थ: । तादर्थ्यं सम्बन्धविशेष: । सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वेऽपि गौणादित्यधिकाराद् गौणान्नाम्नश्चतुर्थी भवतीति । यूपाय दार्विति– यूपादिहेतुभूतस्य दार्वादेर्हेतुमत्ता या तु न भवति अगौणत्वात् । कार्यकारणभावसम्बन्धे षष्ठीप्राप्तौ तद्बाधनोऽयं योग: ॥५४॥

रुचिकृप्यर्थधारिभि: प्रेयविकारोत्तमर्णेषु ।२।२।५५।

रुच्यर्थैः कृप्यर्थैर्धारिणा च योगे यथासंख्यं प्रेयविकारोत्तमर्ण-धृतेश्चतुर्थी स्यात् । मैत्राय रोचते धर्म्मः । मूत्राय कल्पते यवागूः । चैत्राय शतं धारयति ।५५।

रुचिश्च कृपिश्च रुचिकृपी 'इकिस्तिव०' ।५।३।१३८। इत्यर्थे किः । तावर्थौ येषान्ते रुचिकृप्यर्थाः 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण पद०' इति न्यायादर्थशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धः । वचने सामर्थ्येन यथासङ्ख्यान्वयः इत्याह- यथासङ्ख्यमिति । बहुवचनमेकद्विबहाविति यथासङ्ख्य भावार्थम् । प्रेयविकारोत्तमर्णवृत्तेरिति- प्रेयः प्रीयमाणः प्रीणातेः 'य एच्चातः' ।५।१।२८। इति कर्मणि यप्रत्यये रूपमिदम् । रुचि अभिप्रीत्यां च ९३८ **मैत्राय रोचते धर्म** इति—तस्याभिलाषमुत्पादयतीत्यर्थः । प्रेयसम्बन्धादभिलाषकरणार्थस्य रुचेर्ग्रहणादिह न भवति । सर्वेषामेतद्रोचते तव कथं ? रोचते प्रतिभाति किं तव विचार इत्यर्थः । कथं रोचते मम घृतमिति अत्र सत्यपि प्रेयत्वे प्रेयत्वाविवक्षा सम्बन्ध-मात्र विवक्षायां षष्ठी । **मूत्राय—कल्पते यवागूः**— मूत्ररूपविकारमापद्यत इत्यर्थः । कृपौङ् सामर्थ्ये+ते 'लघोरूपा०' ।४।३।४। गुणः 'ऋरलृलं कृपो०' ।२।३।९९। इति रेफस्य लकारः । गोमयाद्वृश्चिकः प्रभवति, शृङ्गाच्छरो जायत इत्य वौ सत्यपि कृप्यर्थे गौणादित्यधिकारान्न भवति । विकारवृत्ति-ग्रहणात् चैत्रस्य कल्पते धनमित्यत्र न भवत्यत्र धनस्य स्वामी चैत्रः न तु विकारः इति । यो धनं प्रयुङ्क्ते स लोके उत्तमर्णत्वेन प्रसिद्धः । यो धनं गृह्णाति सोऽधमत्वेन प्रसिद्धः । उत्तमाधमाभ्यां सम्बद्धमृणमपि तयोत्र व्यपदेशमर्हतीति उत्तममृणं यस्य स उत्तमर्णः दायकः । अधमर्णो ग्राहक इति । **धारयतीति**—धृङ् स्थाने ध्रियते तिष्ठति स्वरूपान्न प्रच्यवते शतं कर्तृ तद् ध्रियमाणं प्रयुङ्क्ते इति णिच् अपरपठितचुरादिर्वा ॥५५॥

प्रत्याङः श्रुवार्थिनि ।२।२।५६।

प्रत्याङ्भ्यां परेण श्रुवा युक्तादर्थिन्यभिलाषुके वर्त्तमानाच्चतुर्थी स्यात् । द्विजाय गां प्रतिशृणोति, आशृणोति वा ।५६।

'अर्थणि उपायाचने' अर्थयत इति इत्यर्थी । **द्विजाय गां प्रतिशृणोति,**

आशृणोति वेति– याचितोऽयाचितो वा द्विजनिमित्तं गोदानं ओमिति स्वीकरोतीत्यर्थः । श्रुट् श्रवणे-प्रति - पूर्वः आपूर्वश्च,तिव् 'स्वादेः श्नुः' ।३।४।७५। इति श्नुः, 'श्रौ -कृवु०' ।४।२।१०८। इति श्रु वःशृभव. ॥५६॥

प्रत्यनोर्गृणाऽऽख्यातरि ।२।२।५७।

प्रत्यनुभ्यां परेण गृणा योगे आख्यातृवृत्तेश्चतुर्थी स्यात् । गुरवे प्रति-गृणाति । अनुगृणाति ।५७।

गॄश् शब्दे १५३८ गुरवे प्रतिगृणाति, गुरवे अनुगृणाति वा गुरूक्तमनुवदति, प्रशंसन्तं वा प्रोत्साहयतीत्यर्थ ॥५७॥

यद्वीक्ष्ये राधीक्षी ।२।२।५८।

वीक्ष्यं विमतिपूर्वकं निरूप्यं तद्विषया क्रियापि । यस्य वीक्ष्ये राधीक्षी वर्त्तेते तद्वृत्तेश्चतुर्थी स्यात् । मैत्राय राध्यति ईक्षते वा । ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्यः । वीक्ष्य इति किम् । मैत्रमीक्षते ।५८।

विमतिः सन्देहज्ञानं तत्पूर्वकं निरूप्यं निरूपणीयमिति यावत् तच्चादृष्टमिष्टानिष्टफलं पुण्यपापरूपम्,अप्रत्यक्षं पराभिप्रायादिकम् । राधं च् वृद्धौ ईक्षि दर्शने मैत्राय राध्यति ईक्षते वेति– तस्य दैवं पर्यालोचयतीत्यर्थः

ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्य इति–

ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्यः, स्वधर्मो रक्षसामयम् ।
संक्रुध्यसि मृषा किं त्वं, दिदृक्षु मां मृगेक्षणे ॥१॥

परस्त्रीणामाभिप्राये यत्सन्देहादीक्षितव्यं निरूपयितव्यं किमेवं करोषि नवेति तद्रक्षसां कुलधर्मो न तु दोष इति । **मैत्रमीक्षत इति**–अत्र मैत्रविषय एवेक्षतिः न तु तद्वीक्ष्यविषय इति वीक्ष्यग्रहणान्न भवति ॥५८॥

उत्पातेन ज्ञाप्ये ।२।२।५९।

उत्पात आकस्मिक निमित्तम् । तेन ज्ञाप्ये वर्तमानाच्चतुर्थी स्यात् । वाताय कपिला विद्युत् आतपायातिलोहिनी । पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत ।।१।। उत्पातेनेति किम् । राज्ञ इदं छत्र-मायान्तं विद्धि राजानम् ।५९।

उत्पत्य प्रसिद्धं निमित्तं पततीति बाहुलकात् 'वा ज्वलादि०' ।५।१।६२। इति सोपसर्गादपि णः । न च कपिलादिविद्युतःवातादिका जनिका इति तादर्थ्ये एव चतुर्थी भविष्यतीति वाच्य वातादयः स्वकारणेभ्य एवत्प-द्यन्ते विद्युत्तु ज्ञापिकवेति तादर्थ्यं नास्तीति । निमित्त द्वेधा जनकं ज्ञापकं च । यत्र तादर्थ्यं तत्र जनक एव हेतुः यथा रन्धनाय स्थाली, अत्र तादर्थ्याभावा-ज्जनक एव हेतुः । ज्ञाप्यज्ञापकभावसम्बन्धविवक्षायां षष्ठ्यां प्राप्तायां तद-पवादश्चतुर्थी । **राज्ञ इदं छत्रमित्यादि**- अत्र छत्रेणागच्छन् राजा ज्ञाप्यते तथापि छत्रस्याकस्मिकनिमित्तत्वाभावान्नात्र ज्ञाप्यराजन्-शब्दाच्चतुर्थी । उत्-पातो हि शुभाशुभसूचकः कादाचित्को महाभूतपरिणाम उच्यते इति ।।५९।।

श्लाघह्नुस्थाशपा प्रयोज्ये ।२।२।६०।

श्लाघादिभिर्धातुभिर्युक्तात् ज्ञाप्ये प्रयोज्ये वर्तमानाच्चतुर्थी स्यात् । मैत्राय श्लाघते । ह्नुते । तिष्ठते । शपते । प्रयोज्य इति किम् । मैत्रायात्मानं श्लाघते । आत्मनो मा भूत् ।६०।

'युजण् संपर्चने' प्रयुज्यत इति 'य एच्चातः' ।५।१।२८। इति ये प्रयोज्यः अथवा प्रयोक्तुं शक्यः 'शक्तार्हे कृत्याश्च' ।५।४।३५। इति घ्यणि 'निप्राद् युजः शक्ये' ।४।१।११६। इति गत्वाभावे प्रयोज्य इति । द्वितीयाप्रा-प्तौ वचनम् । **मैत्राय श्लाघत इत्यादि**- मैत्रायात्मानं परं वा श्लाघ्यं कथ-यतीति, ह्नोतव्यं किञ्चिन्मैत्रं ज्ञापयति, स्थित्वात्मानं ज्ञापयति, प्रका-शयतीति शपते-वाचा मात्रादिशरीरस्पर्शनेन नाहं जाने न मया कृतमिति मैत्रं ज्ञापयतीत्यर्थः । श्लाघा-ह्नव-स्थान-शपथान् कुर्वाणम् आत्मानं परं वा ज्ञाप्यं जानन्तं मैत्रं प्रयोजयतीत्यर्थः स्पष्टार्थः । श्लाघृङ् कत्थने, ह्नुङ्क् अपनयने

ङित्व दात्मनेपदम्, 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' 'ईप्सास्थेये' ।१।३।६४। इत्यात्मनेपदम् 'शपी आक्रोशे' 'शप उपलम्भने' ।१।१।३५। इत्याम पदम् । श्लाघादयोऽप्यत्र विषये नयत्यादिवद्द्विकर्मकाः । अत एव जानातेः कर्तृभूत- ज्ञाप्यस्य ग्रहणार्थं प्रयोज्य इत्युच्यते । ॥६०॥

तुमोर्थे भाववचनात् ।२।२।६१।

क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे तुम् वक्ष्यते तस्यार्थे ये भाववाचिनो घञादयस्तदन्तात् स्वार्थे चतुर्थी स्यात् । पाकाय इज्याये वा व्रजति । तुमोर्थ इति किम् । पाकस्य । भाववचनादिति किम् । पक्ष्यतीति पाचकस्य व्रज्या ।६१।

भवनं भावः 'भावाकर्त्रोः' ।५।३।१८। इति घञ् । वक्तीति ब्रवीतीति वा 'रम्यादिभ्यः' ।५।३।१२६। इति कर्तर्यनट्. भावस्य वचनः भाववचनस्तस्मात् । तुम् वक्ष्यत इति 'क्रियायां०' ।५।३।१३। इति सूत्रेणेति । **पाकायेत्यादि पक्तुं यष्टुं वा व्रजतीति**– 'भाववचनाः' ।५।३।१५। इति सूत्रेण घञ् इज्येत्यत्र 'आस्यटिव्रजयजः' ।५।३।९७। इति क्यप् च । तदर्थस्य प्रत्ययेनैवोक्तत्वात् चतुर्थी न प्राप्नोतीति शेषषष्ठी व्रजतिक्रियया हेतुमत्त्वात् पाकस्य च हेतुत्वात् हेतुहेतुमद्भावविवक्षायां हेतुतृतीया वा स्यादिति चतुर्थ्यर्थं वचनम् । **पाकस्येति**– नात्र क्रियाया क्रियार्थायां तुम्विहितः किन्तु भावमात्रे 'भावाकर्त्रोः' ।५।३।१८। इति घञ्प्रत्ययः । **पक्ष्यतीति पाचकस्य व्रज्येति**– व्रजिक्रियायाः भविष्यत्पचनादिक्रियार्थाया उपपदत्वे कर्तरि णको विहितः इति भाववचनग्रहणादत्र न चतुर्थीति । **व्रज्येति**– 'आस्यटिव्रज०' ।५।३।९७। इति भावे क्यप् गमनमित्यर्थः । तुम इति व्यस्तनिर्देश उत्तरार्थः । अन्यथा 'मात्रालाघवमप्युत्सवाय मन्यन्ते वैयाकरणाः' इति न्यायात् तुमर्थः इति एकमात्रालाघवकृतः समासनिर्देश एव ज्यायान् स्यात् ॥६१॥

गम्यस्याप्ये ।२।२।६२।

यस्यार्थो गम्यते नचासौ प्रयुज्यते स गम्यः । गम्यस्य तुमोव्याप्ये वर्त्तमानाच्चतुर्थी स्यात् । एधभ्यः फलेभ्यो वा व्रजति । गम्यस्येति किम् । एधानाहर्तुं याति ।६२।

शब्देऽर्थवानपि प्रयुज्यमानोऽप्रयुज्यमानश्च भवति, अप्रयुज्यमानश्चार्थप्रकरणशब्दान्तरसन्निधानैः प्रतीयमानार्थः, स च गम्य इत्युच्यते। **एधेभ्यः फलेभ्यो वा व्रजतीति**– एधान् फलानि चाहर्तुं व्रजतीत्यर्थः। तुमन्तस्य एधानां फलानां च कर्मत्वाद् द्वितीयाप्राप्तौ तदपवादश्चतुर्थीयम्। न च एधार्थं फलार्थं वा व्रजतीति तादर्थ्य एव चतुर्थी भविष्यति किमनेनेति वाच्यम् तत्रैधार्था फलार्था वा व्रजनक्रिया अपि त्वाहरणार्थेति न सिध्यतीति ॥६२॥

गतेर्नवाऽनाप्ते ।२।२।६३।

गतिः पादविहरणं तस्या आप्येऽनाप्ते वर्तमानात् चतुर्थी वा स्यात् । ग्रामं ग्रामाय वा याति । विप्रनष्टः पन्थानं पथे वा याति । गतेरिति किम् । स्त्रियं गच्छति । मनसा मेरु गच्छति । अनाप्त इति किम् । संप्राप्ते माभूत् । पन्थानं याति ।६३।

गतिशब्दस्य ज्ञानाद्यर्थत्वेऽप्यनाप्त इति वचनादिह पादविहरणरूपैव गतिर्गृह्यते, ज्ञानादिव्याप्यस्यानाप्तत्वसम्भवादत एवोक्तं गतिः **पादविहरणमिति। स्त्रियं गच्छतीति**-भजनार्थोऽत्र गमिर्न तु गत्यर्थः। **मनसेत्यादि**-ज्ञानार्थोऽत्र गमिः। **पन्थानं यातीति**- अनाप्ते सम्प्राप्ते चतुर्थी अत्र तु पन्थान सम्प्राप्त इति न भवति। कृद्योगे तु परत्वात् षष्ठ्येव ग्रामस्य गन्ता ॥६३॥

मन्यस्यानावादिभ्योऽतिकुत्सने ।२।२।६४।

अतीव कुत्स्यते येन तदतिकुत्सनं तस्मिन् । मन्यतेर्व्याप्ये वर्तमानान्नावादिवर्जाच्चतुर्थी वा स्यात् । न त्वा तृणाय तृणं वा मन्ये ।

मन्यस्येति किम् । न त्वा तृणं मन्वे । अनावादिभ्य इति किम् । न त्वा नावं,अन्नं, शुकं,शृगालं काकं वा मन्ये । कुत्सन इति किम् । न त्वा रत्नं मन्ये । करणाश्रयणं किम् । न त्वा तृणाय मन्ये । युष्मदोमाभूत् । अतीति किम् । त्वां तृणं मन्ये ।६४।

नौकान्नशुकशृगालवर्ज्येष्वेते नावादयस्तेभ्यः । एषां वर्जनम् । **न त्वा तृणायेत्यादि**-तृणमपि न मन्ये तृणादपि निकृष्टं तुच्छं मन्य इति कुत्स्यते । **न त्वा तृणं मन्व इति**-श्यन्निर्देशेन मनिच् ज्ञाने इति दिवादेः ग्रहणात् मनुयि बोधने' इत्यस्य ग्रहणं न भवति । न त्वा नावमन्नमिति न च नावन्नयोरत्युपकारकत्वात्कथमतिकुत्सनत्वमिति वाच्यं नावन्नयोरिति पराश्रीनप्रवृत्तेर्नावः स चौर्यतादिभिरतिकुत्सनत्वं गम्यते इति । **शुकमिति**- शुकः पाठितो भणति त्वं तदपि नेत्यतिकुत्सा गम्यते । बहुवचनस्य कृतिगणार्थत्वात् नावादयः यथादर्शनं ज्ञातव्याः । **न त्वा रत्नं मन्य इति**- रत्नादपि त्वामधिकं मन्य इति प्रशंसा । यतो रत्नः पाषाण इति । **करणाश्रयणमिति**- कुत्स्यतेऽनेनेति अत्र मन्यते कर्मणि यस्य युष्मदो न भवति । **त्वां तृणं मन्य इति**- अत्र नञ्प्रयोगाभावे साम्यमात्र प्रतीयते न त्वतितुच्छतेति । न त्वा तृणस्य मन्तेत्यत्र कृद्योगे परत्वात् षष्ठी । अयं भावः 'कर्मणि कृतः' ।२।२।८३। इत्यनेन तृणशब्दात् नित्यं षष्ठी युष्मच्छब्दात्तु 'वैकत्र द्वयोः' ।२।२।८५। इति षष्ठीविकल्पाद्द्वितीया । यदा तु युष्मच्छब्दात् 'कर्मणि कृतः' ।२।२।८५। इत्यनेन नित्य षष्ठी तदा तृणशब्दात् विकल्पेन षष्ठी पक्षे चतुर्थ्यपि न तव तृणाय मन्ता, तृणस्य मन्ता, तृणं मन्तेति वा । उक्तकर्मणि न त्वं तृणं मन्यसे मया, न त्वं श्वा मन्यसे मयेत्यादौ विशेषण-विशेष्य भावेनोभयमपि कर्म उक्तमिति उभयत्र प्रथमा भवति ।६४।

हितसुखाभ्याम् ।२।२।६५।

आभ्यां युक्तात्चतुर्थी वा स्यात् । आमयाविने आमयाविनो वा हितम् । चैत्राय चैत्रस्य वा सुखम् ।६५।

सम्बन्धलक्षणा षष्ठी सिद्धैवेति पक्षे चतुर्थ्यर्थं वचनम् । आमीना-

तीश्यत्रामय:, आमयोऽस्य स्तीति 'आमयाद्दीर्घश्च' ।७।२।४८। इति विनि दीर्घत्वे च आमयावी । ६५॥

तद्भद्रायुष्यक्षेमार्थार्थेनाशिषि ।२।२।६६।

तदिति हितसुखयोः परामर्शः । हिताद्यर्थैर्युक्तादाशिषि गम्यायां चतुर्थी वा स्यात् । हितं पथ्यं वा जीवेभ्यो जीवानां वा भूयात् । सुखं शं शर्म वा प्रजाभ्यः प्रजानां वा भूयात् । भद्रमस्तु श्रीजिनशासनाय श्रीजिनशासनस्य वा । आयुष्यमस्तु चैत्राय चैत्रस्य वा । क्षेमं भूयात् कुशलं निरामयं वा श्रीसंघाय श्रीसङ्घस्य वा । अर्थः कार्यं प्रयोजनं वा भूयान्मैत्राय मैत्रस्य वा ।६६।

अर्थशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । हितसुखशब्दाभ्यां पूर्वेण विकल्पः सिद्धः एव तदर्थार्थं तु वचनम्, नच पूर्वसूत्र एवार्थग्रहणं क्रियतामिति वाच्यं तदर्थानामाशिषि नियमार्थमिदमिति । आयुः प्रयोजनस्येति 'स्वर्गस्वस्तिवाचना०' ।६।४।१२३। इति ये आयुष्यं घृतादि । नच दीर्घमायुरस्तु मैत्रायेत्यादौ चतुर्थीसिद्धिर्न स्यादिति वाच्यं- मुपचारादायुरपि घृतमुच्यते इति अथवा 'आयुरेवायुष्यम् 'भेषजादिभ्यः' ।७।२।१६४। इति स्वार्थे ट्यणिति । क्षेमभद्रायोः कुशले एवार्थत्वेपि क्षेममापदोऽभावः,भद्रं सम्पदुत्कर्ष इत्यर्थभेदाद्द्वयोः पृथगुपादानम् । निरामयमिति आमयस्याभावः निरामयः 'विभक्तिसमीप०' ।३।१।३९। इति समासः, आशीरभावे आयुष्यं प्राणिनां घृतमित्यादौ तत्त्वाख्याने न भवति ।।६६।।

परिक्रयणे ।२।२।६७।

परिक्रीयते नियतकालं स्वीक्रियते येन तस्मिन् वर्त्तमानात् चतुर्थी वा स्यात् । शताय शतेन वा परिक्रीतः ।६७।

परकस्त्वादिकं नियतकालं द्रव्यदानेन स्वाधीनकरणं परिक्रय इत्यु-

च्यते सर्वथा-स्वीकारस्तु क्रय उच्यते 'परिसहस्रा गावः' सहस्रप्रत्यासन्ना गाव इत्यर्थः। अत्र यथा परिशब्दो प्रत्यासत्तिं द्योतयति तथाऽत्राप्येव क्रयप्रत्यासन्न ऽल्पकालं वेतनादिना स्वीकारः परिक्रय इत्युच्यते। तत्र करणेऽनटि वेतनादिक परिक्रयणशब्देन च्यन्ते। वेतन मूल्य आदिशब्दाद् भाटकादिपरिग्रहः। नियतकालंस्तोकं कालमित्यर्थः सर्वथास्वीकारस्तु क्रयः । क्रयस्य करणे तु 'शतेन क्रीणाति' इत्यत्र न भवति ॥६७॥

शक्तार्थवषड्नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाभिः ।२।२।६८।

शक्तार्थैर्वषडादिभिश्चयुक्तात् चतुर्थी नित्यं स्यात् । शक्तः प्रभुर्वा मल्लो मल्लाय । वषडग्नये । नमोऽर्हद्भ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यः । स्वाहेन्द्राय । स्वधा पितृभ्यः ॥६८॥

पृथग्योगाद्वेति निवृत्तम्। अयं भावः- पृथग्योगो द्विधा क्वचित्सामस्त्येन, क्वचिदेकदेशेन तथ हि 'हितसुखाभ्याम्' ।२।२।६५। इत्यनेन स्वस्तिशब्दस्यैकयोगाकरणादेकयोगे च कृतेऽन शिषि 'हितसुखस्वस्तिभिः' इत्यनेन आशिषि तु 'तद्भद्रा०' ।२।२।६६। इत्यनेन स्वस्तिशब्दस्य क्षेमार्थत्वात् क्षेमद्वारेण वा विकल्पस्सिध्यतीति। तदकरणाद्वेतिनिवृत्तम्। ननु कथमेकदेशेन पृथग्योगो न तु सामस्त्येनेति चेत्सत्यं 'तद्भद्रा०' ।२।२।६६। इत्यत्रार्थपरो निर्देशः अत्र तु शब्दपर इति 'तद्भद्रा०' ।२।२।६६। इत्यत्र तदित्यनेन 'हितसुखाभ्याम्' ।२।२।६५। इत्यत्र सर्वेषामुपादानात् सर्वेषां परामर्शाद्व्यभिचारः स्यादिति। 'परिक्रयणे' ।२।२।६७ इत्यनेनैकयोगस्तु न सम्भवति तत्र तु परिक्रयणे वर्तमानान्नाम्न इत्युक्तमनेन त्वेकयोगे वषडादिवत्परिक्रयणशब्दस्वरूपपरिग्रहः स्यादिति। शक्तः इत्यत्राकर्मकत्वात् 'गत्यर्थ०' ।५।१।११। इति कर्तरि क्तः। शक्तार्थ इति- नात्र प्रत्ययार्थो विवक्षितः किन्तु प्रकृत्यर्थमात्रम्, तेन अलं मल्लो मल्लायेत्यत्राप्यनेन चतुर्थी, अन्यथा अलमित्यस्या-सत्त्ववाचित्वेन सामर्थ्यमात्रद्योतकत्वात् कर्तुः प्रत्ययार्थस्याभावादत्र न स्यादिति। स्वस्तिशब्दः क्षेमार्थः, स्वस्ति जाल्मायेति जाल्मत्वादाशीरभावात् तत्त्वाख्यानमिदमित्यनाशिषि स्वस्तिचतुर्थ्या अवकाशः, क्षेमं भूयात् संघायेत्यत्र क्षेमचतुर्थ्या अवकाशः, स्वस्ति प्रजाभ्यो भूयादित्यत्रोभयप्राप्तौ परत्वादाशिष्यप्यनेन नित्यं चतुर्थी भवति नमस्यति देवानित्यत्र न नमःशब्देन योगो अपितु नमस्यधा-

तुनेति चतुर्थी न भवति। अथवाऽयमर्थग्रहणन्यायान्नमःशब्दस्यानर्थकत्वान्न भवति 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' ति न्यायाद्वा कारकविभक्तेर्बलवत्वाद्द्वितीया। नमः करोतीति नमस्यति 'नमोवरिवश्चित्रङो०'।३।४।३७।'नामिदय्०' ।१।१।२१। इत्यत्र अयीति प्रतिषेधात् सो रूत्वं न भवति। स्वयंभुवे नमस्कृत्येत्यत्र तु नमस्कारक्रिययाऽभिप्रेयमाणत्वात्सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी स्वयंभुवं नमस्कृत्येत्यत्र तु क्रियाभिप्रेयत्वाविवक्षायां कर्तुर्व्याप्यत्वात्कर्मत्वाद्द्वितीया। बहुवचनमसन्देहार्थम् ॥६८॥

पञ्चम्यपादाने ।२।२।६९।

अपादाने एकद्विबहौ यथासंख्यं ङसिभ्याम्भ्यस्लक्षणा पञ्चमी स्यात्। ग्रामाद् गोदोहाभ्यां वनेभ्यो वा आगच्छति ॥६९॥

ग्रामादित्यादि - 'अपायेऽवधिरपादानम्' ।२।२।२९। इत्यपादानत्वादनेन पञ्चमी ॥६९॥

आङावधौ ।२।२।७०।

अवधिर्मर्यादा अभिविधिश्च तद्वृत्तेराङा युक्तात् पञ्चमी स्यात्। आपाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः ॥७०॥

अभिविधिश्चेति - अभिविधिरपि अवधिविशेष इति तस्यापि ग्रहणम्। प्रवृत्तस्य यत्र निरोधः सा मर्यादा। मर्यादाभूतमेव क्रिययाऽभिव्याप्यते तदाऽभिविधिः। आ पाटलिपुत्राद्वृष्टो मेघ इति - पाटलिपुत्रमवधीकृत्य तद्व्याप्या व्याप्य वा वृष्टो मेघ इत्यर्थः।

पर्यपाभ्यां वर्ज्ये ।२।२।७१।

वर्ज्ये वर्जनीयेऽर्थे वर्तमानात् पर्यपाभ्यां युक्तात् पञ्चमी स्यात्।

परि अप वा पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः । वर्ज्ये इति किम् । अपशब्दो मैत्रस्य ॥७१॥

युक्तादिति-युक्ताद्गौणान्नाम्नः इति भावः । परि अप वा पाटलिपुत्राद्वृष्टोमेघः इति - परि पाटलिपुत्राद्वृष्टो मेघः अप पाटलिपुत्राद्वृष्टो मेघः इति स्पष्टः पाटलिपुत्रं वर्जयित्वेत्यर्थः । वर्ज्यवर्जकभावसम्बन्धः द्योत्यते तत्र । पर्यपाभ्यां युक्ताद् वर्जनीयात् सम्बन्धषष्ठ्यां प्राप्तायां पञ्चमम्यनेन विधायते । अपशब्दो मैत्रस्येति – अपशब्दः दुष्टशब्द इत्यर्थः, तत्पुरुषस्य पूर्वपदप्रधानत्वात् पूर्वपदेन सह मैत्रशब्दस्य योगोस्तीति न वर्ज्य इति व्यावृत्तेर्द्वयङ्ग विकलता । अत्र मैत्रशब्दान्मा भूत् ॥७१॥

यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने प्रतिना ।२।२।७२।

प्रतिनिधिर्मुख्यसदृशोर्थः । प्रतिदानं गृहीतस्य विशोधनम् ते यतः स्यातां तद्वाचिनः प्रतिना योगे पञ्चमी स्यात् । प्रद्युम्नो वासुदेवात् प्रति । तिलेभ्यः प्रतिमाषानस्मै प्रयच्छति ॥७२॥

यस्मादिति 'किमद्वयादि०' ।७।२।८९। इति ङस्यन्तात् तस् 'आ द्वेरः' ।२।१।४१। इति ।'अप्ययपः कर्माधारे' ।२।२।७४। इति पञ्चमी यमपेक्ष्य प्रतिनिधि-प्रतिदाने ततः पञ्चमीत्यर्थः । यदा यस्य यतस्तदा 'आद्यादिभ्यः' ।७।२।८४। इति तसुः 'पृषोदरा०' ।३।२।१५५। इति दलोपः । प्रतिनिधीयते प्रतीतः सन् मुख्यस्थाने निधीयते आरोप्यते सदृशः क्रियते स प्रतिनिधिः । प्रतिदानं तुल्यजातीयेनातुल्यजातीयेन वा गृहीतस्य प्रत्यर्पणम् । प्रतिनिधिश्च प्रतिदानं च प्रतिनिधिप्रतिदाने 'औरीः' ।१।४।५६। इतीत्वम् । **प्रद्युम्नो वासुदेवात्प्रति** - सदृश इत्यर्थः । प्रकृष्टं द्युम्नं पराक्रमो यस्य स प्रद्युम्नः । प्रद्युम्नस्य वासुदेवप्रतिनिधित्वाद् वासुदेवात्पञ्चमी । **तिलेभ्य प्रति मासानस्मै प्रयच्छति** - कान् प्रयच्छति ? माषान्, कथं भूतान् ? प्रति– प्रतिदानभूतान् केषां ? तिलानामिति प्रति शब्दाद्द्वितीयैकवचनम् । तिलान्गृहीत्वा मासान् ददातीत्यर्थः ॥७२॥

आख्यातयुपयोगे ।२।२।७३।

आख्याता प्रतिपादयिता तद्वाचिनः पञ्चमी स्यात् । उपयोगे नियमपूर्वकविद्याग्रहणविषये । उपाध्यायादधीते आगमयति वा । उपयोग इति किम् । नटस्य शृणोति ॥७३॥

नियमपूर्वकविद्याग्रहणविषय इति - नियमो विद्याग्रहणार्थं गुरुशुश्रूषादिकं शिष्यवृत्तमाख्यायते न तूपयोगमात्रम् उपयोगमात्रस्य तु नटादपि भावाद् नटादपि पञ्चमी स्यादिति । **आगमयतीति** - आगम्यत 'युवर्णवृदृ०' ।५।३।२८। इत्यलि आगमः, सिद्धान्तः इति यावत् आगमं गृह्णातीति 'णिज्बहुलं०' ।३।४।४२। इति णिज्, 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ।७।४।४३। **नटस्य शृणोतीति** - कथं नटादभाषितं शृणोतीति नटादेर्भारतशास्त्रादिकमात्मसात्कर्तुकाम शृणोति तदा उपयोगविवक्षाभावात् पञ्चमी भवत्येव । अपादानत्वेनैव सिद्धे उपयोग एव यथा स्यादित्येवमर्थं वचनम् ॥७३॥

गम्ययपः कर्माधारे ।२।२।७४।

गम्यस्याप्रयुज्यमानस्य यबन्तस्य कर्माधारवाचिनः पञ्चमी स्यात् । प्रासादादासनाद्वा प्रेक्षते । गम्यग्रहणं किम् । प्रासादमारुह्य प्रेक्षते । आसने उपविश्य भुङ्क्ते ।७४।

प्रासादादित्यादि-प्रासादमारुह्य आसने चोपविश्य प्रेक्षते इत्यर्थः । ॥७४॥

प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्दबहिरारादि-तरैः ।२।२।७५।

प्रभृत्यर्थैरन्यार्थैर्दिक्शब्दैर्बहिरादिभिश्च युक्तात् पञ्चमी स्यात् । ततः प्रभृति । ग्रीष्मादारभ्य । अन्यो भिन्नो वा मैत्रात् । ग्रामात्

पूर्वस्यां दिशि वसति । उत्तरो विन्ध्यात् पारियात्रः । पश्चिमो रामाद् युधिष्ठिरः । बहिरारादितरो वा ग्रामात् ।७५।

अर्थशब्दः प्रभृत्यन्याभ्यां प्रत्येकमभिसम्बध्यते इत्याह - प्रभृत्यर्थैरित्यादि । दिशां शब्दाः दिक्षु वर्तमाना इत्यर्थः । दिशि दृष्टाः शब्दा वा तदा 'मयूर - व्यंसके०' ।३।१।११६। इति दृष्टशब्दलोपः, दिशि ये वचनत्वेन दृष्टास्त इह दिक्शब्दा उच्यन्ते न तु दिशि वर्तमाना एव तेन देशकालादिवृत्तियोगेऽपि पञ्चमी भवति । अदिक्शब्दाद् भावे द्रव्ये च वृत्तावपि तद्योगे पञ्चमी भवति । अत एव शब्दशब्दोपादानम् । ग्रीष्मादारभ्य यत्राभ्येति वत्सरम् अवत्वन्तमत्यय वा, परियात्रतुर्यं 'तस्येदम्' ।६।३।१६०। इत्यण् यद्वा परिगता यात्रा यस्यासौ परियात्रः । परियात्र एव पारियात्रः स्वार्थेऽण् । पारियात्रः पर्वतः, पर्वतसमीपो वा आरादित्यव्ययं दूरसमीपवाचि तेन तद्योगे वक्ष्यमाणस्य 'आरादर्थैः' ।२।२।७८। इति विकल्पस्यापवादोऽयम् । इतरशब्दो द्वयोरुपलक्षितयोरन्यतरवचनः तेनान्यार्थो द्बध्यते । इतरो ग्रामाद् तस्य द्वितीयो नगरादिरित्यर्थः ॥७५॥

ऋणाद्धेतोः **।२।२।७६।**

हेतुभूतऋणवाचिनः पञ्चमी स्यात् । शताद् बद्धः । हेतोरिति किम् । शतेन बद्धः ।७६।

फलसाधनयोग्यः पदार्थो हेतुः । तृतीयापवादोऽयं योगः । शतेन बद्धः इति – अत्र शतं कर्तृ बन्धकत्वेन विवक्षितमिति कर्तरि तृतीया । हेतुर्हि फलसाधनयोग्यः पदार्थः कर्त्रादिभ्योऽन्यः ॥७६॥

गुणादस्त्रियां नवा ।२।२।७७।

अस्त्रीवृत्तेर्हेतुभूतगुणवाचिनः पञ्चमी वा स्यात् । जाड्याज्जाड्येन वा बद्धः । ज्ञानात् ज्ञानेन वा मुक्तः । अस्त्रियामिति किम् ।

बुद्ध्या मुक्तः ।७७।

जडस्य भावः 'वर्णदृढादिभ्यष्ट्यण् च वा' ।७।१।५९। इति दृढादित्वाट्ट्यण् । वह्निधूमादिति – नात्रवह्नेर्धूमो हेतुः किन्तु वह्निज्ञानस्य। पञ्चमी तु गम्ययप०' ।२।२।७४। इति सूत्रेण भवति। धूममुपलभ्य वह्निः प्रतिपत्तव्य इत्यर्थः। ज्ञानहेतुत्वविवक्षायां तु धूमेनाग्निः प्रतिपत्तव्य इति ।।७७।।

आराद्‌र्थैः ।२।२।७८।

आराद्दूरमन्तिकं च तदर्थैर्युक्तात् पञ्चमी वा स्यात्। दूरं विप्रकृष्टं वा ग्रामाद् ग्रामस्य वा। अन्तिकमभ्यासं वा ग्रामाद् ग्रामस्य वा ।७८।

आराच्छब्दः दूरसमीपयोर्वाचक इत्याह दूरमन्तिकं चेति। आरात्शब्दयोगे तु प्रभृत्यन्या०' ।२।२।७५। इति नित्य पञ्चमी ।।७८।।

स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयादसत्त्वे करणे ।२।२।७९।

यतो द्रव्ये शब्दप्रवृत्तिः स गुणोऽसत्त्वं तेनैव वा रूपेणाभिधीयमानं द्रव्यादि तस्मिन् करणे वर्त्तमानेभ्यः स्तोकादिभ्यः पञ्चमी वा स्यात्। स्तोकात् स्तोकेन वा। अल्पादल्पेन वा। कृच्छ्रात् कृच्छ्रेण वा। कतिपयात्कतिपयेन वा मुक्तः। असत्त्व इति किम्। स्तोकेन विषेण हतः ।७९।

स्तोकादयः शब्दा यत्र सामानाधिकरण्यमनुभवन्ति।स्तोकं धनमिति तद्‌द्रव्यम्। सीदन्ति अस्मिन् गुणादय इति व्युत्पत्त्या सत्त्वमुच्यते। न सत्त्वमसत्त्वम्। यत इति - यतः स्तोकत्वादेर्निमित्ताद् द्रव्ये विशेष्ये स्तोकादिशब्दप्रवृत्ति स गुणोऽसत्त्वम् शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः। तेनैवेति – असत्त्व-

रुपेणेवेति, अयमर्थः-तिरोहितधनादि विशेष्यं स्तोकादिरूपेणैव सामान्यात्मना ऽभिधीयमानं धनादिरूपव्यावृत्तं स्तोकादिरूपापन्नं द्रव्यं गुणः क्रिया वा यदा पर्यायते तदा द्रव्याद्यसत्त्वमुच्यते इति । अत्र स्तोकादीनामसत्त्ववचित्वाद् द्वित्वबहुत्वासम्भवे एकवचनमेव । एकत्वनिबन्धने वचनस्याप्यसम्भवे औत्सर्गिकमेकवचनमिति । पक्षे 'हेतुकर्तृ०' ।२।२।४४। इति करणे तृतीया । **स्तोकेन विमुक्तोति** - विषद्रव्यस्य मारणाधिकरण्यादत्र सत्त्ववृत्तिता । करण इति वचनात् क्रियाविशेषणात्तु द्वितीयैव - स्तोकं चलति ॥७९॥

अज्ञाने ज्ञः षष्ठी ।२।२।८०।

अज्ञानार्थस्य ज्ञो यत्करणं तद्वाचिनः एकद्विबहौ यथासंख्यं ङसोसांलक्षणा षष्ठी नित्यं स्यात् । सर्पिषः, सर्पिषोः सर्पिषां वा जानीते । अज्ञान इति किम् । स्वरेण पुत्रं जानाति । करण इत्येव । तैलं सर्पिषो जानाति ।८०।

अनेकार्थत्वाद्धातूनां ज्ञाधातोरज्ञानेऽप्यवबोधनादन्यत्रार्थेऽपि वृत्तिरिति । भिन्नविभक्तिविधानाद्वेति निवृत्तम् । **सर्पिषो जानीत इति** - सर्पिषा करणभूतेन प्रवर्तते इत्यर्थः, प्रवृत्तरत्र ज्ञाधातोरर्थः । एवं सर्पिषोर्जानीते, सर्पिषां जानीत इति । अथवा सर्पिषि रक्तो विरक्तो वा चित्तभ्रान्त्या सर्वमेवोदकादि सर्पीरूपेण प्रतिपद्यत इति मिथ्याज्ञानवचनोऽत्र जानातिः मिथ्याज्ञानं चाज्ञानमेव भवति, ज्ञानकार्याकारणात् ज्ञानरूपतया न गृह्यत इति । अत्र 'ज्ञः' ।३।३।८२। इत्यात्मनेपदम् । सर्पिषामिति-आजगव्यमहिषाणां घृतानामित्यर्थः, **तैलं सर्पिषो जानातीति**-अत्र तैलात्कर्मणो न भवति सर्पिषस्तु करणत्वाद्भवत्येव । यद्यप्यत्र करणस्य सम्बन्धिरूपविवक्षायां षष्ठी सिध्यति तथापि करणविवक्षायां तृतीया मा भूदिति तृतीयापवादोऽयं योगः ॥८०॥

शेषे ।२।२।८१।

कर्मादिभ्योऽन्यस्तदविवक्षारूपः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः विशेषः

शेषस्तत्र षष्ठी स्यात् । राज्ञः पुरुषः । उपगोरपत्यम् । माषाणामश्नीयात् ।८१।

तत्रेति – तत्र गौणान्नाम्नः इति । राज्ञः पुरुष इत्यादौ सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वेपि गौणादित्यधिकारात्प्रधानपुरुष-शब्दात् षष्ठी न भवति, गौणत्वं नामाख्य तपदेनास मानाधिकरण्यम् । राज्ञः पुरुषः अत्र स्वस्व मिभावसम्बन्धः, उपगोरपत्यम्, अत्र जन्यजनकभावसम्बन्धः, माषाणामश्नीयादत्र आश्याशन भाव-सम्बन्धः । सम्बन्धविशेषः श्रूयमाणक्रियोऽश्रूयमाणक्रियश्चेति द्वेधा राज्ञः पुरुष इत्यश्रूयमाणक्रियः माषाणामश्नीयादित्यश्रूयमाणक्रियः । माषाण म-श्नीयादित्यत्र श्रूयमाणक्रियत्वे सत्यपि कर्मत्वस्याविवक्षितत्वाद् विशेषण विशेष्यभाव एव प्रतिपाद्यते माससम्बन्ध्यशनमिति । अत्र कर्मादीनां सत मपि 'अनुदरा कन्या' इत्य दिव-दविवक्षा । **सम्बन्धः विशेष इति** कारकसम्बन्धा-दिभद्यमानः सम्बन्धः सम्बन्धविशेष इत्युच्यते । यद्यपि सम्बन्ध इत्युक्तेपि सर्वं सिध्यति तथापि विशेषस्थापन येदमुक्तम् । प्रथमापवादोऽयं योगः । अयं भावः– 'नाम्नः प्रथमै०' ।२।२।२१। इति सूत्रेण 'एकद्विबह्वाविति सङ्ख्या-मात्रमुपादाय गौणमुख्याच्च नाम्नः सामान्येन प्रथमा विधीयतेऽनेन तु गौणान्नाम्नः इति विशेषविधित्वात्तदपवादो भवति ॥८१॥

रिरिष्टात्स्तादस्तादसतसाता ।२।२।८२।

एतत्प्रत्ययान्तैर्युक्तात् षष्ठी स्यात् । उपरि ग्रामस्य । उपरिष्टात् । परस्तात् । पुरस्तात् । पुरः । दक्षिणतः । उत्तराद्वा ग्रामस्य ।८२।

रि-रिष्टात्-स्तात्-अस्ताद्-अस्-अतस्-आत्-प्रत्ययान्तैर्युक्ताद्गौणान्नाम्नः षष्ठी भवति । **उपरीत्यादि** – 'ऊर्ध्वाद् रिरिष्टातौ०' ।७।२।११४। इति । परस्तादित्यादि परःपरा वा प्रकृतिः 'परावरात् स्तात्'।७।२।११६। इति पूर्वावराधरेभ्यासस्तातौ०' ।७।२।११५। इति । 'दक्षिणोत्तराच्चातस्' ।७।२।११७। इति 'अधरापराच्चात्' ।७।२।११८। इति । ननु 'शेषे' ।२।२।८१। इत्यनेनैव सिध्यति किमनेनेति चेत्सत्यं रिप्रभृतयः प्रत्ययाः स्वार्थिका दिक्-

शब्देभ्यो विधीयन्ते, अस्तस्ता अपि दिक्शब्दा एवेति 'शेषे' ।२।२।८१। इत्यस्यापवादः 'प्रभृत्यन्यार्थ०' ।२।२।७४। इति पञ्चमी, तस्या अपवादोऽयम्। अत एव दक्षिणा ग्रामाद्रमणीयम्, दक्षिणाहि ग्रामाद्रमणीयमिति 'आही दूरे' ।७।।१२०। इति प्रत्ययद्वयये षष्ठी न भवति ॥८२॥

कर्मणि कृतः २।२।८३।

कृदन्तस्य कर्मणि षष्ठी स्यात् । अपां स्रष्टा । गवां दोहः । कर्मणीति किम् । शस्त्रेण भेत्ता । स्तोकं पक्ता । कृत इति किम् । भुक्तपूर्वी ओदनम् ।८३।

'कर्मणि' ।२।२।४०। इत्यनेन प्राप्तायाः द्वितीयायाः अपवादोऽयं योगः। **स्तोकं पक्तेति** – क्रियाविशेषणत्वान्नात्र षष्ठी । ननु यत् कारकं तच्च क्रियामन्तरेण न सम्भवति, क्रिया च प्रत्ययसहितं धातुमाक्षिपति धातोश्च द्वौ एव प्रत्ययौ विधीयेते । त्यादयः कृतश्च तत्र 'तद्धितेऽध्यर्धे' ।६।४।११७। इत्य दिप्रयोगे द्वितीयाविधानात् कृत्प्रयोगे एव षष्ठी भविष्यति किं कृद्ग्रहणेनेति चेत्सत्यं कृद्ग्रहणमन्तरेण तद्धितप्रयोगेपि यत्कर्म तत्र षष्ठी स्यादिति तन्निषेधार्थं कृद्ग्रहणमिति । **भुक्तपूर्वी ओदनमिति** - तद्धितस्य कर्मणि षष्ठी न भवति । भुक्तं पूर्वमनेनेति 'पूर्वमनेन०' ।७।१।१६७। इतीन्प्रत्यये भुक्तपूर्वी पूर्वं भुक्तवानित्यर्थः । यथा चित्रगुरित्यादौ बहुव्रीहिणा स्वामिसामान्येऽभिहितेऽपि विशेषाभिधानाय चैत्र इत्यादिः प्रयुज्यते तथाऽत्रापि क्तेन सामान्यकर्मण्यभिहितेऽपि विशेषकर्माभिधानाय द्वितीया भवति । सामान्येन व्यवहारासंभवाद्विशेषेणावश्य निर्वाहः कार्य इति । ननु कथ अर्थस्य त्यागी, सुखस्य भोगीति अत्र त्यागोऽस्यास्तीति तद्धितेन त्यये अर्थस्य सुखस्येति कर्मणि षष्ठी न प्राप्नोतीति चेत्सत्यं त्यजतीत्येवं-शील इत्यादिविग्रहे 'युज०' भुज०' ।५।२।५०। इति घिनण् भवति ॥८३॥

द्विषो वाऽतृशः ।२।२।८४।

अतृशन्तस्य द्विषः कर्म्मणि षष्ठी वा स्यात् । चौरस्य चौरं वा द्विषन् ।८४।

द्विषन्निति - 'द्विषींक् अप्रीतौ' इत्यतः 'सुगद्विषार्हः०' ।५।२।२६। इत्यतृश् । 'तृन्नु०' ।२।२।९०। इति सूत्रेण प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पायम् ।।८४।।

वैकत्र द्वयोः ।२।२।८५।

द्विकर्म्मकेषु धातुषु कृत्प्रत्ययान्तेषु द्वयोः कर्म्मणोरेकतरस्मिन् षष्ठी वा स्यात् । अजाया नेता स्रुघ्नं स्रुघ्नस्य वा । अथवा अजां अजाया वा नेता स्रुघ्नस्य ।८५।

द्वे कर्मणि द्विकर्मकेषु धातुष्वेव सम्भवतीत्याह - **द्विकर्मकेष्विति ।** कर्मणीत्यनुवर्तमानं द्वयोरिति विशेषणसामर्थ्यात् द्विवचनान्त-त्वेनेह परिणमतमित्याह - **द्वयो कर्मणोरिति** । ननु कृतः इत्यस्यैव द्वयोरिति विशेषणं कस्मान्न क्रियते ? तथापि द्वयोः कृदन्तयोरेक यत्कर्म तत्र षष्ठो वा भवतीति सूत्रार्थे अपां स्रष्टा भेत्तेत्यादावेव विकल्पः स्यादिति चेत्सत्यं 'कर्मणि कृता द्वयश्च वा' इत्येकयोगकरणे एकस्य कृतः कर्मणि नित्य षष्ठो भवति द्वयोः कृदन्त-योस्तु वा भवतीति सूत्रार्थः स्यात् तस्मात्पृथग्योगात् कर्मण एव विशेषणं न तु कृत इति । **एकतरस्मिन् षष्ठी वा स्यादिति** - अन्यस्मिन् कर्मणि तु 'कर्मणि कृतः ।२।२।८८। सूत्रेण नित्यमेव षष्ठी, 'कर्मणि कृतः' ।२।२।८८। सूत्रेण द्वयोरपि कर्मणोः षष्ठी प्राप्ताऽनेन निषिध्यते । ननु कर्मणीत्यस्यानुवर्तनात् एकशब्दस्य द्वितीयसापेक्षत्वात् एकत्रेत्युक्तेऽपि द्वयोः कर्मणोरेकतरस्मिन्निति गम्यत एव किं द्वयोरित्यस्योपादानेनेति चेन्मैवम् एवं सति 'गौणमुख्ययोः मुख्य एव कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायात् मुख्ये एव कर्मणि स्यात् यद्वा गौणादित्यधिकारात् कर्मापेक्षया गौण एव कर्मणि स्यादिति द्वयोरपि कर्मणोः पर्यायेण षष्ठी विकल्पार्थं वचनम् । अन्ये तु नीव-ह्यादीनां गौणे कर्मणि, दुहादीनां तु मुख्ये विकल्पमिच्छन्ति, उभयत्रापि नित्यमेवेत्यन्ये ।।८५।।

कर्तरि ।२।२।८६।

कृदन्तस्य कर्त्तरि षष्ठी स्यात् । भवत आसिका । कर्त्तरीति किम् । गृहे शायिका ।८६।

'हेतुकर्तृकरणे०' ।२।२।४४। इति तृतीयापवादः षष्ठीयम् । आसिकेति - आसितु पर्यायः 'पर्यायार्हणोत्पत्तौ च णकः' ।५।३।१२०। इति णके आसिका । 'आत्' ।२।४।१८। इत्याप् । 'अस्यायत्तत्०' ।२।४।१११। इत कारः । शायिकेति - शयितु पर्यायः शायिका पूर्ववत्सर्वं ज्ञेयम् ।।८६।।

द्विहेतोरस्त्र्यणकस्य वा ।२।२।८७।

स्त्र्यधिकारविहिताभ्यामणकाभ्यामन्यस्य द्वयोः कर्तृकर्मषष्ठ्यो र्हेतोः कृतः कर्त्तरि षष्ठी वा स्यात् । विचित्रा सूत्राणां कृतिराचार्यस्य आचार्येण वा । द्विहेतोरित्येकवचनं किम् । आश्चर्यमोदनस्य पाकोऽतिथीनां च प्रादुर्भावः । अस्त्र्यणकस्येति किम् । चिकीर्षा मैत्रस्य काव्यानाम् । भेदिका चैत्रस्य काष्ठानाम् ।८७।

अश्च णकश्चाणकं स्त्रियामणकं स्त्र्यणकं न स्त्र्यणकं अस्त्र्यणकं तस्य । 'कर्तरि' ।२।२।८६। इत्यनेन नित्यं षष्ठीप्राप्ते विभाषेयम् । विचित्रेत्यादि – 'स्त्रियां क्तिः' ।५।३।९१। इति भावे क्तिः । अस्य कृदन्तस्य सूत्रं कर्म आचार्यः कर्ता उभयत्र षष्ठीप्राप्ते कर्तरि विकल्पोऽयम् । आश्चर्यमित्यादि – अत्र पाक इत्यपेक्षया ओदनकर्मणः षष्ठी, प्रादुर्भाव इत्यपेक्षयाऽतिथिकर्तुः षष्ठीति भिन्नकृतोः कर्तृकर्मषष्ठी हेतुत्वमिति न भवति चिकीर्षेति – अत्र करोतेः 'तुमर्हा०' ।३।४।२१। इति सन् 'स्वरहन०' ।४।१।१०४। इति दीर्घः 'सन्यङश्च' ।४।१।३। इति द्वित्वम्, 'ह्रस्वः' ।४।१।३९। ऋतोऽत्, कङश्चञ् ।४।१।४६। 'ऋतां०' ।४।४।१११। इतीर् चिकीर्षणं चिकीर्षा 'शंसिप्रत्ययात्' ।५।३।१०५। इत्यप्रत्ययः 'आप्' ।२।४।१८। इत्याप् 'कर्मणि कृतः' ।२।२।८३। इति 'कर्तरि' ।२।२।८६। इति । भेदिकेति - अत्र 'भावे' ।५।३।१२२। इति भावे

णकः अथवा 'पर्यायार्हणो०' ।५।३।१२०। इति णकः 'अस्यायत्त०' ।२।३।१११। इतीकारश्च । अन्ये तु घञल्प्रत्यययोर्द्विहेतोः कर्मण्येव षष्ठी-मिच्छन्ति न तु कर्तर - आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन, आश्चर्य इन्द्रियाणां जयो यूना । पालयतीति णकः गवां पालकः 'अकेन क्रीडाजीवे' ।३।१।८१। इति समासः ।।८७।।

कृत्यस्य वा ।२।२।८८।

कृत्यस्य कर्त्तरि षष्ठी वा स्यात् । त्वया तव वा कृत्यः कटः ।८८।

कृत्यसञ्ज्ञा 'ते कृत्याः' ।५।१।४७। इति सूत्रेण बोध्याः । कृत्य इति 'कृ-वृषि०' ।५।१।४२। इति क्यप्प्रत्ययः । कर्तरीत्यनुवृत्त्या गेयः श्रावकः सूत्राणामित्यत्र कर्मणि षष्ठी विकल्पो न भवति । श्रावकात् तु अगौण-त्वात् प्राप्तिरेव नास्ति । गायतीति गेयः 'भव्यगेय०' ।५।१।७। इति कर्तरि निपातनम् ।।८८।।

नोभयोर्हेतोः ।२।२।८९।

उभयोः कर्तृकर्मणोः षष्ठीहेतोः कृत्यस्योभयोरेव षष्ठी न स्यात् । नेतव्या ग्राममजा मंत्रेण ।८९।

नच द्विकर्मकेषु धातुष्वयं प्रतिषेधस्तत्रं वो - भयप्राप्तिभावात् तत्र मुख्यकर्मणः कृत्यप्रत्ययेनैवाभिहितत्वात् षष्ठ्यविषयत्वात् गौणकर्मणस्तु 'गौणमुख्ययोः०' इति न्यायात् गौणादप्यप्रसङ्गात्कर्तर्येव निषेधो वक्तव्य इत्युभयग्रहणमतिरिच्यत इति वाच्यं द्वितीयाबाधिका षष्ठी विधीयते यथा द्वितीया गौणादपि भवति तथा षष्ठ्यपि गौणादपि भवेदिति प्रतिषेधः इति । न च 'दुहादीनामप्रधाने कर्मणि तिबादयः' इति अनेन प्रधाने कर्मणि षष्ठी-निषेधादुभयग्रहणं नातिरिक्त-मिति वाच्यं तत्रापि पूर्वं प्रवृत्तिविषयत्वेनान्त-रङ्गत्वाद् गवादेरेव प्राधान्य, व्यवहारापेक्षया तु पयःप्रभृतेरिति ।।८९।।

तृन्नुदन्ताव्ययक्वस्वानातृश्शतृङिणकच्खल-र्थस्य ।२।२।९०।

तृन्नादीनां कृतां कर्मकर्त्रोः षष्ठी न स्यात् । तृन् । वदिता जनापवादान् । उदन्तः । कन्यामलङ्करिष्णुः । श्रद्धालुस्तत्त्वम् । अव्ययम् । कटं कृत्वा । ओदनं भोक्तुं व्रजति । क्वसुः । ओदनं पेचिवान् । आनः । कटं चक्राणः मलयं पवमानः ओदनं पचमानः चैत्रेण पच्यमानः । अतृश् । अधीयंस्तत्त्वार्थम् । शतृ । कटं कुर्वन् । ङि । परिषह्वान् सासहिः । णकच् । कटं कारको व्रजति । खलर्थः-ईषत्करः कटो भवता । सुज्ञानं तत्त्वं त्वया ।९०।

'कर्मणि कृतः' ।२।२।८३। इति 'कर्तरि' ।२।२।८६। इति च प्राप्तायाः षष्ठ्या अपवादः । तृन्नित्यादि – 'तृन् शील–धर्म साधुषु' ।५।२।२७। इति तृनि वदिता । 'भ्राज्यलङ्कृग्०' ।५।२।२८। इति ष्णौ अलङ्करिष्णुः । 'शीङ्-श्रद्धा०' ।५।२।३७। इत्यालौ श्रद्धालुः । 'प्राक्काले' ।५।४।४७। इति क्त्वाप्रत्यये कृत्वा । भुजेः 'क्रियायां०' ।५।३।१३। इति तुमि भोक्तुम् अत्र हेतुहेतुमद्भावे तृतीया 'तुमोऽर्थे०' ।२।२।६१। इत्यनेन चतुर्थी वा, सम्बन्धविवक्षायां षष्ठी । पचेः क्वसुकानौ० ।५।२।२। इति क्वसौ 'अनादे०' ।४।१।२४। इत्येत्वे द्वित्वाभावे 'घसेकस्वरात०' ।४।४।८२। इतीटि पेचिवान् । आनेति प्रयोगोपयोगिस्वरूपनिर्देशात् अनुबन्धवतामपि कान-शानाऽऽनशां सर्वेषां ग्रहणम् । 'तत्र क्वसुकानौ०' ।५।२।२। इति काने द्वित्वादौ च चक्राणः । पवतेः 'पूङ्यजः०' ।५।२।२३। इति शाने पवमानः । पचतीति 'शत्रानशा०' ।५।२।२०। इति कर्तर्यानशि पचमान इति । पच्यते इति 'तत्साप्या०' ।३।३।२१। इति कर्मण्यानशि च पच्यमान इति 'धारीङोऽकृच्छ्रे०' ।५।२।२५। इत्यतृशि – अधीयन् । परिषह्वान्त इति 'स्थादिभ्यः कः' ।५।३।८२। इति के 'अस इसि०' ।२।३।४८। इति षत्वे 'घञुप०' ।३।२।८६। इति बहुलत्वादत्र न दीर्घः । सासह्यतेः 'ङौ सासहि०' ।५।२।३८। इति ङौ सासहिः । करिष्यतीति व्रजतीति 'क्रियायां०' ।५।३।१३। इति णकचि कारकः । चिद्विनिर्देशात् 'णकतृचौ' ।५।१।४८। इति णके वर्षयात-

स्य पूर्वक इत्यादौ निषेधो न भवति । 'दुःखं षत:' ।५।३।१२९। इति खलि ईषत्कर इति । 'शासू - युधि०' ।५।३।१४१। इत्यने सुज्ञानमिति ॥९०॥

क्तयोरसदाधारे ।२।२।९१।

सतो वर्तमानादाधाराच्चान्यत्रार्थे यौ क्तक्तवतू तयोः कर्म-कर्त्रोः षष्ठी न स्यात् । कटः कृतो मैत्रेण । ग्रामं गतवान् । असदाधार इति किम् । राज्ञां पूजितः । इदं सक्तूनां पीतम् ।९१।

ननु सन् धात्वर्थः तत्र धातुरेव वर्तते कृत्प्रत्ययस्तु 'कर्तरि' ।५।१।३। इत्यादिना कर्तरि भावे कर्मणि च विधीयन्ते इति प्रत्ययस्य सति कदापि वर्तमानत्वमेवनास्तीति कथमुक्तं 'सतोऽन्यत्रार्थे' इति चेत्सत्यं 'सदर्थसहचारो प्रत्ययार्थोपि सन्नित्युच्यते । यद्वा धात्वर्थोपि सन्निति प्रत्ययत एव विज्ञायते धातुतस्तु भूतो भवन् भविष्यन् वा न ज्ञातुं शक्यः, धातुस्तु क्रियामात्रमाह न स्वमुं विशेषमिति सदर्थस्तु प्रत्ययादेव विज्ञायत इति कर्त्रादिकारकत्रसिरपि सतीति विज्ञायत इति । क्तावयवयोगात् क्तवतुरपि क्तः । क्तश्च क्तश्च क्तौ तयोः क्रियते स्मेति कृतः 'तत्साप्याo' ।३।३।२१। इति कर्मणि 'क्तक्तवतू' ।५।१।१७४। इति क्तः गच्छति स्मेति गतवान् । 'कर्तरि' ।५।१।३। इति कर्तरि 'क्तक्तवतू' ।५।१।७४। इति क्तवतुः गतवानित्यत्र 'यमिरमिनमिगमि०' ।४।२।५५। इत्यन्त्यमकारस्य लोपः । राज्ञां पूजित इति 'ज्ञानेच्छार्चार्थ०' ।५।२।९२। इति सूत्रेण वर्तमाने क्तप्रत्ययः । इदं सक्तूनां पीतमिति – पीयतेऽस्मिन्निति 'अद्यर्थाच्चाधारे' ।५।१।१२। इत्याधारे क्तः । ननु शीलितो मैत्रेण, रक्षितश्चैत्रेणेति कथम् ? 'ज्ञानेच्छा०' ।५।२।९२। इति सत्यर्थे क्तप्रत्ययेऽनेन प्रतिषेधाभावात् कैन षष्ठी-निषेधः इति चेत्सत्यमत्र भूते क्तः वर्तमानताप्रतीतिस्तु प्रकरणादिनेति । आदिशब्दादर्थ-शब्दान्तरसान्निध्यादिपरिग्रहः । नन्वयं भूते क्तस्तदा वर्तमानताप्रतीतिः कथमिति चेत्सत्यं वर्तमानमध्ये भूतो भविष्यंश्च कालोऽस्तीति भूते क्तः यथा कटं करोतीत्यत्र केचिदवयवा निष्पन्नाः, तदपेक्षयाऽतीतत्वं ये निष्पद्यन्ते तदपेक्षया वर्तमानत्वम्, ये निष्पत्स्य-

न्ते तदपेक्षया भविष्यत्त्वमिति । अन्ये तु तक्रकौण्डिन्यन्यायेन ज्ञानेच्छार्चार्थ-शीच्छील्यादिभ्यो भूते क्तस्य बाधनात् सदर्थक्तेन च योगे कर्तरि षष्ठी-विधानादपशब्दत्वेनाविति मन्यन्ते । तक्रं देयमस्मै स तक्रदेयः स चासौ कौण्डिन्यश्च तक्रकौण्डिन्यः मयूरव्यंसकादित्व द् देयशब्दलोपः ततः न्यायश-ब्देन समानाधिकरण समासः न्यायो दृष्टान्तः इत्यर्थः सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि देयं तक्रं कौडिन्याय इत्युक्ते ब्राह्मणेषु सामान्येन कौण्डिन्योपि समा-यातः इति पूर्ववाक्येन प्राप्तमपि दधिदान परवाक्योक्तेन विशेषतो तक्रदानेन बाध्यते यद्यपि दधदानोत्तरं ततः पूर्वं वा दधिदान शक्यते तथा सत्यपि संभवे सामान्येन विशेषस्य बाधः इति तक्रकौडिन्यस्यार्थः । इति ॥९१॥

वा क्लीबे ।२।२।९२।

क्लीबे विहितस्य क्तस्य कर्त्तरि षष्ठी वा न स्यात् । मयूरस्य मयूरेण वा नृत्तम् ।९२।

'क्लीबे क्तः' ।५।३।१२३। इति सूत्रेण 'भावे' इत्यनुवृत्त्या भावे क्तो विहितः । नृत्तमिति - नर्तनमित्यर्थः । क्लीब इत्यस्यानुपादाने चैत्रेण कृत-मित्यादावपि षष्ठी स्याद् यतोऽत्रापि 'क्तक्तवतू' ।५।१।७४। इति सूत्रेण 'तत् साप्या०' ।३।३।२१। इति भावे क्तः इति । 'कर्तरि' ।२।२।८६। इति षष्ठी-प्राप्तिः तस्याः 'क्तयोरसदाधारे' ।२।२।९१। इति निषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ॥९२॥

अकमेरुकस्य ।२।२।९३।

कमरेन्यस्योकप्रत्ययान्तस्य कर्म्मणि षष्ठी वा स्यात् । भोगानभि-लाषुकः । अकमेरितिकिम् । दास्याः कामुकः ।९३।

अभिलाषुक इति 'लषी कान्तौ (९२७) अभिपूर्वः अभिलषतीत्येवं शीलः 'लषपतपद:' ।५।२।४१। इत्युकण् । कामुक इति - कमूङ् कान्तौ

(७८९) 'कर्मणिङ्' ।३।४।२। व रमयत इत्येवं शील: 'शृकमगम०' ।५।२।४०। इत्युकण् ।।९३।।

एष्यदृणेनः ।२।२।९४।

एष्यत्यर्थे ऋणे च विहितस्येनः कर्म्मणि षष्ठी न स्यात् । ग्रामं गमी आगामी वा । शतं दायी । एष्यदृणेति किम् । साधुदायी वित्तस्य ।९४।

एष्यच्च ऋणं च एष्यदृणे तयोरिन्, एष्यदृणेन्, तस्य एष्यदृणेन: । इन इति इन् - णिनोर्ग्रहणम् । इन इति स्वरूपनिर्देशान्निरनुबन्धस्येन:, निरनुबन्धस्य च ऋणेऽसम्भवादृणग्रहणात् सानुबन्धस्य णिनो ग्रहणमिति । ग्रामं गमीति - वर्त्स्यति गम्यादि:' ।५।३।१। इति वचनाद् 'गमेरिन्' (उणा० ९११) इति भविष्यति इन् एव 'आङश्च णित्' । उणा० ९२० । इति णिति इनि आगामीति । शतं दायीति - शतं धारयन् ददातीति 'णिन् चावश्यका०' ।५।४।३६। इति णिन् 'आत ऐः कृञ्ञौ' ।४।३।५३। इत्यैत्वमायादेशश्च । साधुदायीति - साधु ददातीति 'साधौ' ।५।१।१५५। इति णिन् ।।९४।।

सप्तम्यधिकरणे ।२।२।९५।

अधिकरणे एकद्विबहौ यथासंख्यं ङ्योस्सुप्सपा सप्तमी स्यात् । कटे आस्ते । दिवि देवाः । तिलेषु तैलम् ।९५।

'अधिकरणे' इत्यत्र सत्यर्थे वैषयिके वा सप्तमी । कटे आस्ते, दिवि देवा:, तिलेषु तैलमेतानियथाक्रमं औपश्लेषिकवैषयिकाभिव्यापकाधिकरणोदाहरणानि ।।९५।।

नवा सुजर्थैः काले ।२।२।९६।

सुचोऽर्थो वारो येषां तत्प्रत्ययान्तैर्युक्तात् कालेऽधिकरणे वर्तमानात् सप्तमी वा स्यात् । द्विरह्नि अह्नो वा भुङ्क्ते । पञ्चकृत्वो मासे मासस्य वा भुङ्क्ते । काल इति किम् । द्विः कांस्यपात्र्यां भुङ्क्ते ।९६।

सुचोऽर्थः- सुच् इत्युपचारात्, तेन सुजर्थो येषामिति बहुव्रीहिः, एतच्च बहुवचनादेव ज्ञायते । अन्य-पदार्थस्य बहुत्वाद् बहुत्वोपपत्तेः अन्यथा तत्पुरुषाश्रयणे 'सुजर्थे काले' इति अर्थस्यैकत्वात् 'सहार्थे' ।.।२।४५। इतिवदे-कवचनमेव स्यात् । वारः क्रियाभ्या-वृत्तिरिति यावत् । स चार्थः प्रत्ययानामेव, प्रत्ययानां च केवलानां प्रयोगाभावाद ह- तत्प्रत्ययान्तैरिति । काल इत्यधिकृतस्याधिकरणस्य विशेषणमित्याह- **कालेऽधिकरण इति- द्विरिति- द्वौ वारा**वस्येति 'द्वि-त्रि-चतुरः०' ।७।२।११०। इति सुच् । **पञ्चकृत्वः इति**–पञ्च वारा अस्येति 'वारे कृत्वस्' ।७।२।१०९। इति कृत्वस् । सप्तम्यभावपक्षे 'शेषे' ।२।२।८१। इति षष्ठी । **कांस्यपात्र्या-मिति–** कंसायेदं 'परिणामिनि तदर्थे' ।७।१।४४। इतीयः, ततः कंसीयस्य विकारः 'कंसीयाञ्ञ्यः' ।६।२।४१। इति ञ्ये यलुकि च कांस्यम् आधारस्याऽधारत्वाविवक्षायां पक्षे 'शेषे' ।२।२।८१। इति षष्ठी सिद्धैव, नियमार्थं तु वचनम् । नियमश्चेत्थम्- सुजर्थैरेव योगे काले सप्तमी वा भवति, सुजर्थयोगे काल एव वा सप्तमी-ति । उभयथापि नियमात् अह्नि न भुङ्क्ते इत्यादौ काले सत्यपि सुजर्थयोगाभावात् न शैषिकी षष्ठी, द्विः कांस्यपात्र्यां भुक्ते इत्यादौ सुजर्थैः योगे सत्यपि कालाभावात् न शैषिकी षष्ठी । सुचोऽर्थो येषामिति बहुव्रीह्याश्रयणेन सुजर्थप्रत्ययस्याप्रयोगे गम्यमाने तदर्थे न भवति बहुव्रीहिकृते शब्दप्रधाने निर्देशे तदर्थैः शब्दैर्युक्तादेव भवतीति, षष्ठीतत्पुरुषाश्रयणे तु 'सुजर्थे काले' इत्युक्तौ स्वर्थप्रधाने निर्देशे अह्नि न भुङ्क्ते' इत्यत्र द्विर्वेति प्रतीयते तदापि स्यादिति ॥९६॥

कुशलायुक्तेनासेवायाम् ।२।२।९७।

आभ्यां युक्तादाधारवाचिनः सप्तमी वा स्यात्, आसेवायां तात्पर्ये।

कुशलो विद्यायां विद्याया वा । आयुक्तस्तपसि तपसो वा । आसेवायामिति किम् । कुशलश्चित्रे नतु करोति । आयुक्तो गौः शकटे, आकृष्य युक्त इत्यर्थः ।९७।

कुशलो निपुणः युज् पी योगे' आङ् पूर्वः आयुङ्क्ते स्म 'युजिच् समाधौ' आयुज्यते स्मेति कर्तरि क्ते । आसेवायामित्यस्य पर्यायमाह **तात्पर्य इति**– तत्परः आसक्तस्तस्य भावः तात्पर्यं तत्परतेति यावत् आयुक्तः व्यापृतः इत्यर्थः । **विद्याया इति**- पक्षेऽधिकरणाविवक्षायां शेषषष्ठी । **चित्रे इति**– 'सप्तम्यधिकरणे' ।२।२।९५। इति नित्यमेव सप्तमी । पक्षे आधारस्याऽविवक्षायां विकल्पे सिद्धेऽनासेवायामाधाराविवक्षानिवृत्त्यर्थं वचनम् ।।९७।।

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैः २।२।९८।

एभिर्युक्तात् सप्तमी वा स्यात् । गोषु गवां वा स्वामी । ईश्वरः । अधिपतिः । दायादः । साक्षी । प्रतिभूः । प्रसूतो वा ।९८।

गवामिति– पक्षे शेषषष्ठी **स्वामीत्यादि**– 'स्वाम्निन्नीशे' ।७।२। ४१। इति मिन् दीर्घत्वं च । इष्टे स्थेशभास०' ।५।२।८१। इति वरे ईश्वरः । अधिरूढः पतिमिति 'प्रात्यव०' ।३।१।४७। इति समासे, अधिकश्चासौ पतिश्चेति वा समासे अधिपतिः । दायमादत्ते इति 'दश्चाङः' ।५। ।७८। इति डप्रत्यये, दायमत्तीत्यदेर्वाणि दायादः । **प्रसूत इति**– प्रसूते स्मेति 'गत्यर्था०' ।५।१।११। इति क्तः । स्वामीश्वराधिपतीति पर्यायोपादानात् पर्यायान्तरयोगे षष्ठ्येव भवति । ग्रामस्य राजा, ग्रामस्य पतिरिति । स्वाम्यादीनां गवादिसम्बन्धित्वमित्यस्त्येव षष्ठी, सप्तमी तु क्रियाप्रतीत्यभावात् नास्तीति सप्तमीप्रापणार्थं वचनम् ।।९८।।

व्याप्ये क्तेनः ।२।२।९९।

क्ताद्यइन् तदन्तस्य व्याप्ये सप्तमी नित्यं स्यात् । अधीतमनेन अधीती व्याकरणे । इष्टी यज्ञे । क्तेनेति किम् । कृतपूर्वी कटम् ॥९९॥

पृथग्योगात् वेति निवृत्तम् । अधीतीत्यादि– 'इष्टादेः' ।७।१।१६८। इनीन् कृते गौणभूतक्रियया सम्बध्यमानं व्याकरणमनभिहितं कर्मेति कृतपूर्वी कटमित्यादिवद्द्वितीयायां प्राप्तायां तदपवादश्चतुर्थी ॥९९॥

तद्युक्ते हेतौ ।२।२।१००।

तेन व्याप्येन युक्ते हेतौ वर्त्तमानात् सप्तमी स्यात् । चर्म्मणि द्वीपिनं हन्ति । दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ॥ केशेषु चमरीं हन्ति । सीम्नि पुष्कलको हतः ॥ १ ॥ तद्युक्त इति किम् । वेतनेन धान्यं लुनाति ।१००।

युज्यते स्मेति युक्तम् तेन व्याप्येन युक्तं तद्युक्तम् । हेतुतृतीयापवादो योगः । ननु दात्रेण धान्यं लुनातीत्यत्रापि दात्रशब्दात् सप्तमी स्यात् तद्युक्तहेतौ वर्तमानत्वादिति चेन्मैवं हेतुशब्दादत्र विशिष्ट एव हेतुरभिप्रेतः यदर्थं क्रियारम्भः स एव हेतुरिह गृह्यते नात्र दात्रार्था लवणक्रियेत्यत्र न भवति सप्तमीति । न च 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति न भविष्यतीति वाच्यं कर्तृकरणयोस्तृतीया विहितेति तृतीयायाः कारकविभक्तित्वम् [illegible] 'व्याप्ये युक्तः' इति कारकश्रुत्या कारकविभक्तित्वम् सा ह्युपपदविभक्तिर्यत्र कारकगन्धोऽपि नास्ति यथा शक्तार्थवषडादिभिर्योगे चतुर्थी । तस्माद्धेतुशब्दाद् यदर्थं क्रियारम्भः स एव विशिष्टहेतुर्गृह्यत इति । द्वीपिनमिति– द्विधा गता आपो यत्रेति 'ऋक्पू०' ।७।३।७६। इत्यति 'द्व्यन्तरनवर्णं०' ।३।२।१०९। इतीपादेशे द्वीपमस्यास्तीति मत्वर्थीये इनि द्वीपिन् अत्र द्वीपिवधे चर्म हेतुः एवमग्रेऽपि । कुञ्जौ दन्तावस्येति 'मध्वादिभ्यः रः' ।७।२।२६। इति रे कुञ्जरः । पुष्पं लातीति 'आतो डोऽह्वावामः' ।५।१।७६। इति सूत्रेण डप्रत्यये पुष्पलः अज्ञाताद्यर्थविवक्षायां 'कुत्सि-

त'ल्पाज्ञाते' ।७।३।३३। इति कपि पुष्पलकः, पुष्पकलः गन्धमृगः, सीमा अण्ड-कोशः। वेतनेन धान्य लुनातीति– नाम्र वेतन धान्येन संयुक्तमिति ॥१००॥

अप्रत्यादावसाधुना ।२।२।१०१।

प्रत्यादेरप्रयोगे असाधुशब्देन युक्तात् सप्तमी स्यात्। असाधुर्मैत्रो मातरि। अप्रत्यादाविति किम्। असाधुर्मैत्रो मातरं प्रति परि-अनु अभि वा ।१०१।

इत्यादिशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वेन प्रति परि अनु अभि इत्येते एव अप्रत्यादावित्यत्र दिशब्दग्राह्याः। ननु साधुशब्देन सदाचार उच्यते आचरणं च क्रियाविषयमिति मातृशब्देन तत्स्था परिचर्यादिक्रिया उच्यते इति मातृ-परिचरणादिक्रियाणां सम्यगाचरिता मातरि साधुरुच्यते तद्विपरीत्येनासाधु-र्मातरीति ततश्चासाधुर्मैत्रो मातरीति मातृविषयस्य साधुत्वस्य निषेधात् प्रथम मात्रा साधोर्योगादुत्तरेणैव सप्तमी सिद्धा किमनेनेति चेत्सत्यं पदान्तर-सम्बन्धादेकपदवर्तित्वेन नञ्सम्बन्धस्यान्तरङ्गत्वात् 'असूर्याग्राद् दृशः' ।५।१।१२६। इत्यत्र असूर्य इति कि हि वचनान्न भवति' इति न्यायात् '१३९' सूर्य-शब्दस्य नञा सह समास इति असमर्थनञ् समासस्य च नियतविषयत्वात् प्रथमं नञ् समासे कृते ततो मातु सम्बन्ध 'अब्राह्मणमानयेत्यादिवत् ननु साधुने- इत्युत्तरेण न सिध्यतीति वचनम्। नन्वभियोगे लक्षणवीप्स्येत्थम्भूते०' ।२।२।३६। इत्यनेन प्रत्यादियोगे तु 'भागिनि च' ।२।२।३७। इत्यनेन द्विती-यया विशेषविधानात् सप्तमी न भविष्यतीति किमप्रत्यादावित्यनेनेति चेत्-सत्यं असाधुशब्दाभावे द्वितीयाऽचरितार्थत्वेन प्रत्यादियोगे असाधुशब्दस-मभिव्याहारे सप्तमी स्यादिति ॥१०१॥

साधुना ।२।२।१०२।

अप्रत्यादौ साधुशब्देन युक्तात् सप्तमी स्यात्। साधुर्मैत्रो मातरि। अप्रत्यादावित्येव। साधुर्मातरं प्रति परि अनु अभि वा ।१०२।

उत्तरत्राचार्यां विधानाद् अनेन तत्त्वकथनमत्रे सप्तमी । कथं तर्हि साधुर्भृत्यो राज्ञः इति अत्रापि तत्त्वकथनस्य विद्यमानत्वात् सप्तम्या भाव्यमिति चेत्-भृत्यापेक्षाऽत्र षष्ठी न तु साध्वपेक्षया, साध्वपेक्षायां तु सप्तमी स्यादिति । अयमर्थः यो राज्ञो भृत्यः स साधुर्गुणवानिति । यदा तु साधुनैवाभिमुख्येन सम्बन्धस्तदा सप्तम्येव भवति यथा राजनि साधुरिति ॥१०२॥

निपुणेन चार्चायाम् ।२।२।१०३।

निपुणसाधुशब्दाभ्यां युक्तादऽप्रत्यादौ सप्तमी स्यात्, अर्चायाम् । मातरि निपुणः साधुर्वा । अर्चायामिति किम् । निपुणो मैत्रो मातुः । मातैवनं निपुणं मन्यत इत्यर्थः । अप्रत्यादावित्येव । निपुणो मैत्रो मातरं प्रति परि अनु अभि वा ।१०३।

अर्चिण् पूजायाम् (१९५४) 'भीषि भूष०' ।५।३।१०९। इति बहुवचनादङि सप्तम्येकवचने च अर्चायामिति । मातरि निपुण इति-अत्र मातरि सुष्ठु वर्तत इति मैत्रादेः प्रशंसा गम्यते । षष्ठ्यपवादो योगः ॥१०३॥

स्वेशेऽधिना ।२।२।१०४।

स्वे ईशितव्ये ईशे च वर्त्तमानादधिना युक्तात् सप्तमी स्यात् । अधिमगधेषु श्रेणिकः । अधिश्रेणिके मगधाः ।१०४।

ईशितव्ये-यथेष्टं विनियोज्ये । ईशे स्वामिनि च वर्तमानादधिनायुक्ताद्गौणान्नाम्नः सप्तमी भवतीति अधेरुपरिभावस्वस्वामिसम्बन्धयोर्द्योतकत्वेपि 'स्वेशे' इति वचनादत्र स्वस्वामिसम्बन्धद्योतो गृह्यते । न च सम्बन्धस्योभयनिष्ठत्वेन युगपदुभयत्र सप्तमी स्यादिति वाच्यं तत्र सम्बन्धस्योभयनिष्ठत्वेपि यद्गौणत्वेन विवक्ष्यते ततो भवतीति । स्वे– उदाहरणमाह अधिमगधेषु श्रेणिक इति मगधनामेशः श्रेणिक इत्यर्थः । ईशे– उदाहरणमाह–अधिश्रेणिके मगधा इति श्रेणिकस्य ईशितव्या मगधा इत्यर्थः । नचाधि

सगर्भेष्विरयादिषु 'विभक्तिसमीप०' ।३।१।३९। इति नित्यसमासे सति वाक्य-निवृत्तिः स्यादिति वचनमिदमनर्थकं स्यात् न च सप्तम्या वा' ।३।२।४। इत्यभावे सप्तमी चरितार्थेति वाच्य वतिपदसप्तमीलोपात् समास-सप्तम्या हि स विकल्प इति वाच्यं यतो विभक्तिर्विभक्त्यर्थः कारकमिति अत्र च षष्ठ्यपवादः सप्तमीति न विभक्त्यर्थं वमिति न 'विभक्ति०'।३।१।३९।समास। नन्वत्र क्रमेण परस्परमाधाराधेयभावविवक्षायां पर्यायेण सप्तमी भविष्यति किमनेनेति चेत्सत्यं सम्बन्धविवक्षायां षष्ठ्यपि स्यादतः षष्ठीबाधनार्थोऽयं योग इति ॥१०४॥

उपेनाऽधिकिनि ।२।२।१०५।

उपेन युक्तादधिकिनि वाचिनः सप्तमी स्यात् । उपखार्यां द्रोणः । १०५।

'अतोनेकस्वरात्' ।७।२।६। इति नि अधिकीति । उपखार्यां द्रोणः-द्रोणोऽधिकः खार्यां इत्यर्थः ।' अत्रा- ध्याधारविवक्षायां सप्तमी सिद्धैव परं पूर्ववद् विभक्त्यन्तरबाधनार्थं वचन- मिति ॥१०५॥

यद्भावो भावलक्षणम् ।२।२।१०६।

भावः क्रिया । यस्य भावेन अन्यो भावो लक्ष्यते तद्वाचिनः सप्तमी स्यात् । गोषु दुह्यमानासु गतः ।१०६।

लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् भावस्य लक्षणम् भावलक्षणम् । गोषु दुह्यमानासु गतः इति– अत्र कालतः प्रसिद्धेन गवां दोहेन भावेनान्यस्य गमनमप्रसिद्धं लक्ष्यते । दुहेः कर्मण्यानश् 'क्यः शिति' ।३।४।७०। इति क्ये 'अतो म आने' ।४।४।११४। इति मागमः । गमेः गच्छति स्मेति गत्यर्थत्वात् कर्तरि क्तः । 'हेत्वर्त्तृ करणेत्यम्भूतलक्षणे' ।३।२।४४।इति सूत्रेण इत्थंभूतलक्षणेर्थे तृतीयाप्राप्तौ तदपवादोऽयं योगः ॥१०६॥

गते गम्येऽध्वनोऽन्तेनैकार्थ्ये वा ।२।२।१०७।

कुतश्चिदवधेर्विवक्षितस्याध्वनोऽवसानमन्तः यद्भावो भावलक्षणं तस्याध्वनोऽध्वन एवान्तेनान्तवाचिना सहैकार्थ्यं समानाधिकरण्यं वा स्यात्, तद्विभक्तिस्तस्मात् स्यादित्यर्थः। गते गम्ये ऽप्रयुज्यमाने। गवीधुमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि चतुर्षु वा योजनेषु। गत इति किम्। दग्धेषु लुप्तेष्विति वा प्रतीतौ मा भूत्। गम्य इति किम्। गतप्रयोगे माभूत्। अध्वन इति किम्। कार्तिक्या आग्रहायणी मासे। अन्तेनेति किम्। अद्य नश्चतुर्षु गव्यूतेषु भोजनम् ।१०७।

कुतश्चिदवधेरिति–गवीधुमतः इत्यादिलक्षणात्। **विवक्षितस्येति**–इयत्तापरिच्छेदाये–त्तस्याध्वनोऽवसानं साङ्काश्याद्यन्तः। **यद्भाव इति**–यस्याध्वनश्चतुर्योजनरूपस्य भावेन गमनरूपेण अन्यो भावः साङ्काश्यभवनरूपो लक्ष्यते तस्येति एकोऽर्थो द्रव्यमनेक-भेदाधिष्ठानमस्य स एकार्थः। तस्य भावः ऐकार्थ्यम्। **गवीधुमत इत्यादि**– गवामीः श्रीः तां दधातीति 'पृ॰का-हृषि॰'। उणा. ७२९। इति किदुः। सोऽ ग्रास्तीति मतुः अव्युत्पन्नो वा गवीधुमच्छब्दः ततः पञ्चमी ङसिः। संकाशशब्दात् 'सुपन्थ्यादेर्ञ्यः' ।६।२।८४। इति चातुरर्थिके ञ्ये सांकाश्यम् देशनाम। **चत्वारि योजनानीति**– चतुर्षु योजनेषु गतेषु भवतीत्यर्थः, पक्षे पूर्वेण सप्तम्यां **चतुर्षु योजनेष्विति**। गतेष्विति गम्यते। गम्यं प्रतीयमानार्थमप्रयुज्यमानमुच्यत इति। प्रतीताविति-प्रकरणादेरिति शेषः। **गतप्रयोगे इति**- गवीधूमतः साङ्काश्य चतुर्षु योजनेषु गतेषु भवतीत्यत्र गतशब्दप्रयोगादैकार्थ्यं न भवति सप्तमी तु पूर्वेण नित्य भवतीति। **कार्तिक्या आग्रहायणी मासे**–कार्तिक्याः प्रभृति मासे गते आग्रहायणीत्यर्थः। अत्राप्यैकार्थ्याभावे पूर्वेण नित्यं सप्तमी। **अद्य नश्चतुर्षु गव्यूतेषु भोजनमिति**– भोजन क्रिया भोक्तृधर्मः नाध्वनोऽन्तः इति पूर्ववत् सप्तम्येव। गव्यूतिरत्रास्ति विषयतयाऽवयवितया वा 'अभ्र दिभ्यः' ।७।२।४६। इत्यप्रत्यये गव्यूतं क्रोश एकः। नन्वन्तेन सहाध्वनोऽभेदोचारात् सिद्धमेवैकार्थ्यं किमनेनेति चेत्सत्यं कालेप्येवं मा भूदिति वचनम् ॥१०७॥

षष्ठी वा ऽनादरे ।२।२।१०८।

यद्भावो भावलक्षणं तद्वृत्तेरनादरे षष्ठी वा स्यात् । रुदतो लोकस्य, रुदति लोके वा प्राव्राजीत् ।१०८।

वाशब्दोपादानेन पक्षे पूर्वेण सप्तमी भवत्यन्यथा वाशब्दं विना षष्ठ्याऽपवादतया सप्तमी बाध्येतेति । रुदतो लोकस्येति-रुदन्तं लोक-मनादृत्य प्राव्राजीदित्यर्थः । प्राव्राजीदिति प्रपूर्वक - व्रजधातोः 'सिजद्यतन्याम्' ।३।४।५३। इति सिच्, 'सः सिजस्ते०'।४।३।६५। इतीत्, 'स्ताद्यशितः' ।४।४।३२। इति इट् -'वद-व्रज-लः'।४।३।४८। इति वृद्धिः, 'इटः ईति' ।४।३।७१। इति सिचो लुक्, अड्० ।४।४।२९। इत्यडागमश्च ।।१०८।।

सप्तमी चाविभागे निर्धारणे ।२।२।१०९।

जातिगुणक्रियादिभिः समुदायादेकदेशस्य बुद्ध्या पृथक्करणं निर्द्धारणम् । तस्मिन् गम्ये षष्ठीसप्तम्यौ स्याताम् । अविभागो निर्द्धार्यमाणैकदेशस्य समुदायेन सह कथञ्चिदैक्ये शब्दाद्गम्यमाने । क्षत्रियो नृणां नृषु वा शूरः । कृष्णा गवां गोषु वा बहुक्षीरा । धावन्तो यातां यात्सु वा शीघ्रतमाः । युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणां कुरुषु वा । अविभाग इति किम् । मैत्रश्चैत्रात् पटुः ।१०९।

षष्ठी–सप्तम्यौ स्याताम् इति – गौणान्नाम्न इति शेषः । निर्पूर्वाद् धारयतेर्भावेऽनटि निर्द्धारणम् विपूर्वाद्भजेर्भावे घनि विभागो भेदः, न विभागः अविभागः । क्षतात् त्रायते 'स्था-पा०' ।५।१।१४२। इति कः, पृषोदरादित्वादलोपे क्षत्र तस्यापत्यं 'क्षत्रादियः' ।६।१।९३। इतीये क्षत्रियः । **नृणामित्यादिषु**–क्षत्रियत्वजात्या, कृष्णत्वगुणेन, धावनक्रियया आदिशब्दाद् युधिष्ठिरप्रभृतिसञ्ज्ञया च निर्द्धारणम् । **अविभाग इति** - सर्वस्यैव निर्द्धारणस्य विभागरूपत्वेनाविभागपूर्वकत्वादविभागग्रहणस्यानर्थक्यादविभागग्रहण-सामर्थ्यादवधारणमाश्रीयते अविभागे निर्द्धार्यमाणैकदेशस्य समुदायेन सह कथ-

ञ्चिवच्छब्दादव्ये गम्यमाने एव षष्ठी-सप्तम्यावित यथा क्षत्रियो नृणां नृषु वा शूर इत्यत्र निर्धार्यमाणस्य क्षत्रियस्य नृत्वेनाविभागप्रतीतिरिति तेन। मैत्र-श्चैत्रात्पटुरित्यत्र न भवति नात्र केनचित्प्रकारेण मैत्रस्य चैत्रेऽविभागः शब्दात्प्रतीयते न हि मैत्रश्चैत्रः, नापि पटुरिति वाक्याद् भेद एव प्रतीयत इति। कृष्णा गवां गोषु वा बहुक्षीरेत्यत्र विभज्यमाना गौगोत्वेनाविभक्ता कार्ष्ण्येन तु विभक्तेति एवमग्रेऽपि। निर्धारणस्य विभागरुपत्वात् यस्य यतो विभागस्तस्यावधिरुपत्वादपादानत्वात् 'पञ्चम्यपादाने' ।२।३।२९। इति पञ्चमीप्राप्तौ तद्बाधनार्थोऽयं योगः ॥१०९॥

क्रियामध्येध्वकाले पञ्चमी च ।२।२।११०।

क्रिययोर्मध्ये यावध्वकालौ तद्वाचिभ्यां पञ्चमीसप्तम्यौ स्याताम्। इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशात् क्रोशे वा लक्ष्यं विध्यति । अद्य भुक्त्वा मुनिर्द्व्यहात् द्व्यहे वा भोक्ता ।११०।

इहस्थोऽयमित्यादि ननु इष्वास इति धनुरुच्यते यदाह - धनुश्चापोऽस्त्रमिष्वासः धनुश्च व्यधने करणं कर्ता तु चैत्रादिरिति कथमुक्तम् 'इष्वासः विध्यतीति' चेत्सत्यम् इष्वास इति क्रियाशब्दोऽयं इषूनस्यति क्षिपति स चैत्रादिरित्युच्यते। यद्वा करणस्य स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् इष्वासो विध्यतीति स्थालीकरणस्य कर्तृविवक्षायां स्थाली पचतीतिवत्। अत्र धनुष्कावस्थानमिषुमोक्षो वैका क्रिया, लक्ष्यव्यधश्च द्वितीया। तयोर्मध्ये क्रोशोऽध्वा। व्यधंच् ताडने 'दिवादेः श्यः' ।३।४।७२। इति श्यप्रत्यये 'शिदवित्' ।४।३।२०। इति सूत्रेण ङिद्वद्भावे, 'ज्याव्यधः०' ।४।१।८१। इत्यनेन य्वृति, इकारे च विध्यतीति। अद्य भुक्त्वेति – ननु इहस्थोऽयमिष्वास इत्यादि तु क्रियाभेदाद् युक्तमुदाहरणं किन्तु इदं त्वयुक्तं अद्य भुक्त्वा मुनि र्द्व्यहाद् द्व्यहे वा भोक्तेति भुजिक्रियाया एकत्वादिति चेन्न भुजिक्रियाया एकत्वेऽपि कालभेदाद् भेदः सिद्ध इति युक्तमुदाहरणमिति। द्वयोरह्नोः समाहारः द्व्यहः 'द्विगोरन्नह्नोऽट्' ।७।३।९९। इत्यट्समासान्तः 'नोऽपदस्य तद्धिते' ।७।४।६१। इत्यन्त्यस्वरादिलोपः, अत्र द्वयोर्भोजनक्रिययोर्मध्ये द्व्यहः कालः, द्व्यहे पूर्णे दिनद्वये व्यतीते सति भुङ्क्ते इत्यर्थः। न च क्रोशे स्थितं लक्ष्यं विध्यति, द्व्यहे पूर्णे भुङ्क्ते इति क्रोशैकदेशस्याधिकरणत्वात् क्रोशेऽप्यधिकरणत्वस्य भक्तं

शक्यत्वादेवं कालादपि द्व्यहे पूर्णे इति पूर्णद्व्यहस्य दुराश्लिष्टमहस्तत्र भोक्तेत्यर्थाविगमायाद धिकरणत्वादौपश्लेषिकी सप्तमी सिद्धैव एव क्रोशान्निर्गच्छद्भिः शरैर्लक्ष्यं विध्यतीत्यर्थविगमाद् यथा शरनिर्गमनस्य धनुरपादानं भवति तथाऽत्र श निर्गमनस्यावधित्वात् क्रोशस्याप्यपादानत्वात् अथवा क्रोशस्य धनुरूपत्वारात् मञ्चा क्रोशन्तीतिवत् क्रोशशब्देनोच्यते इत्यप दानत्वात् पञ्चमी, कालात्तु द्व्यहाद्व्यतिक्रम्य भोक्तेत्यर्थप्रतीतेः 'गम्ययप०' ।२।२।७४। इति पञ्चमी सिद्धैवेति किमनेनेति वाच्यं अस्यपादानस्याधारस्य च यदा क्रियाकारकजन्यं शेषसम्बन्धित्वं विवक्ष्यते तदा 'शेषे' ।२।२।८१। इति सूत्रेण क्रोशस्य लक्ष्यं विध्यति, द्व्यहस्य भुङ्क्ते इति क्रियामध्ये षष्ठी मा भूदिति वचनमिति । किञ्च द्व्यह - क्रोशशब्दौ द्व्यहक्रोशविषयावेव न तदेकदेशविषयाविति नाऽऽयो नाप्याधारेति षष्ठी प्राप्नोति' क्रोश वाहयित्वा विध्यति, द्व्यहं वाहयित्वा भुङ्क्ते इति वा प्रतीतेः द्वितीयापि प्राप्नोतीति द्वितीयाया अपि बाधनार्थं विज्ञेयमिति ॥११०॥

अधिकेन भूयसस्ते ।२।२।१११।

अधिकेनाऽल्पीयोवाचिना योगे भूयोवाचिनस्ते सप्तमीपञ्चम्यौ स्याताम् । अधिको द्रोणः खार्यां खार्या वा ।११२।

आरूढ इत्यर्थे वर्तमानादधिशब्दात् 'अधेरारूढे' ।७।१।१८७। इति स्वार्थे कप्रत्यये अधिकशब्दः सिद्धः । आरूढ इत्यत्र कर्तरि कर्मणि च क्तप्रत्ययो भवति तत्र आरोहति स्मेति कर्तरि क्तप्रत्ययस्तदा अधिक इत्यनेनाल्पीयानुच्यते यदा आरूह्यते स्मेति कर्मणि क्त प्रत्ययस्तदा भूयानुच्यते । अत्र तु 'भूयसः' इत्युपादानात् अल्पीयानेवोच्यते । अत्राधिकाधिकभावसम्बन्धे षष्ठी प्राप्नोति, कर्तृसाधनारूढार्थत्वात् 'कर्मणि' ।२,२।४०। इति द्वितीया च प्राप्नोति अतस्तयोर्बाधिके द्वितीया-सप्तम्यावनेन विधीयेते ॥१११॥

तृतीयाल्पीयसः ।२।२।११२।

अधिकेन भूयोवाचिना योगे - ऽल्पीयोवाचिनस्तृतीया स्यात् । अ-

धिका खारी द्रोणेन ।११२।

अल्पीयसः इत्युपादानात् कर्मसाधनो भूयोऽर्थोऽधिकशब्दः स्वीकर्तव्य इत्याह - **भूयोवाचिनेति** – कर्तरि तृतीया सिद्धैव षष्ठीबाधनार्थं तु वचनम् ॥११२॥

पृथग्-नाना पञ्चमी च ।२।२।११३।

आभ्यां युक्तात् पञ्चमी तृतीया च स्यात् । पृथग् मैत्रात् मैत्रेण वा । नाना चैत्राच्चैत्रेण वा ।११३।

यदा पृथग्नानाशब्दावन्यार्थौ तदा 'प्रभृत्यन्यार्थ०' ।२।२।७५। इति पञ्चमी सिद्धैव । तृतीयैवानेन विधीयते,परत्वाद् विशेषविहितत्वाच्च तृतीया पञ्चमीं बाधेतेति पञ्चम्यनेनानूद्यते इति । विशेषस्यानुपादानादुभयार्थयोरपि पृथग्नानाशब्दयोर्ग्रहणाद्यदाऽसहायार्थौ पृथग्नानाशब्दौ तदा पञ्चमीविधानार्थमपीदमिति । अन्ये तु द्वितीयामपीच्छन्ति ॥११३॥

ऋते द्वितीया च ।२।२।११४।

ऋते-शब्देन युक्ताद् द्वितीया पञ्चमी च स्यात् । ऋते धर्मात् कुतः सुखम् ।११४।

ऋते इत्यतो विनार्थादव्ययादनुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षातः उत्पन्नस्य टाप्रत्ययस्य 'अव्ययस्य' ।३।२।७। इति लुप् । चकारेणानन्तरोक्ता समुच्चीयत इत्याह - **द्वितीया पञ्चमी चेति** । पाणिन्यादिभिः ऋते-शब्देन योगे द्वितीया नोक्ता तथापि शिष्टैः प्रयुज्यते ऽतोऽत्र द्वितीयाप्युक्ता, तथाहि--

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा च्छाया ।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति न निराश्रयं लिङ्गम् ॥

॥११४॥

विना ते तृतीया च ।१।२।११५।

विना शब्देन युक्तात्तो द्वितीयापञ्चम्यौ तृतीया च स्यात् । विना वातं वातात् वातेन वा ।११५।

विनेत्यव्ययं वर्जनार्थे । तच्छब्दस्य पूर्ववस्तुपरामर्शित्वात्तदनन्तरोक्ते द्वितीयापञ्चम्यौ परामृश्येते इत्याह - **ते द्वितीयापञ्चम्याविति** । द्वितीयां नेच्छन्त्यन्ये ॥११५॥

तुल्यार्थैस्तृतीया-षष्ठ्यौ ।२।२।११६।

तुल्यार्थैर्युक्तात् तृतीयाषष्ठ्यौ स्याताम् । मात्रा मातुर्वा तुल्यः समो वा ।११६।

तुलया अर्थग्रहणं पर्यायार्थम् । तुल्यः सदृशोऽर्थो येषान्ते तुल्यार्थाः तैः । सम्मितः तुल्यः सदृगुपचारात् 'हृद्यपद्य०' ।७।१।११। इति ये तुल्यः । नन्वनन्तरात् पूर्वसूत्रात् तृतीयाऽनुवर्तते इति 'तुल्यार्थैर्वा' । इति तद्विकल्पे कृते 'शेषे' ।२।२।८१। इति पक्षे षष्ठी सिद्धैवेति किमर्थं षष्ठीविधानमिति चेत्सत्यं तृतीयामविकल्प्य षष्ठीविधान सप्तमीबाधनार्थं तेन गवां तुल्यः स्वामी, गोभिस्तुल्यः स्वामीत्यत्र 'स्वामीश्वरा०' ।२।२।९८। इति सूत्रेण सप्तमी न भवति । यदात्वत्रास्मत्-स्वामी गवां तुल्यः इत्यर्थो विवक्ष्यते तदा तु गोशब्दस्य स्वामिशब्देनायोगात् सप्तमीप्राप्तिरेव नास्तीति । उपमा नास्ति कृष्णस्य तुला नास्ति सनत्कुमारस्येत्यादावुपमादयो न तुल्यार्था इति न भवति तुल्यादयो हि धर्मिवाचका उपमादयस्तु धर्मवाचका इति न तुल्यार्था इति । गौणाधिकाराच्च गोरिव गवयः, यथा गौस्तथा गवय इत्यादौ प्रधानाद्गोशब्दात् न भवति । कीदृग् गवय इत्येवं पृष्टो नागरिकैर्यदा ॥ वदत्यारण्यको वार्ता, यथा गौर्गवयस्तथा ॥११६॥

द्वितीयाषष्ठ्यावेनेनानञ्चेः ।२।२।११७।

एनप्रत्ययान्तेन युक्ताद्द्वितीयाषष्ठ्यौ स्याताम् । नचेत्सोऽञ्चेः

परः स्यात् । पूर्वेण ग्रामं ग्रामस्य वा । अनञ्चेरिति किम् । प्राग् ग्रामात् ।११७।

पूर्वेण ग्राममिति-ग्रामादद्दूर-पूर्वा दिगिति 'अदूरे एनः' ।७।२।१२२। इति एनप्रत्ययः । प्राग्ग्रामादिति – प्राञ्चतीति क्विप् 'अञ्चोऽ-न०' ।४।२।४६। इति नलोपः 'अञ्चः' ।१।४।३। इति ङी प्रत्ययः, ग्रामात्प्राच्याम-दूरवर्तिन्यां दिशि वासः इति 'अदूरे एनः' ।७।२।१२२। इत्येनस्य 'लुबञ्चेः' ।७।२।१२३। इति लोपः । 'ङच देशे णस्या०' ।२।४।९५। इति ङीनिवृत्तिः 'अधणतस्वाद्याः' ।१।१।३२। इत्यव्ययसञ्ज्ञा, अव्ययस्य' ।३।२।७। इति सेर्लुप् । अनञ्चेरिति प्रतिषेधात् द्वितीयाषष्ठ्योरभावात् 'प्रभृत्यन्यार्थ०' ।२।२।७५। इति सूत्रेण ग्रामात् पञ्चमी ।।११७।।

हेत्वर्थैस्तृतीयाद्याः ।२।२।११८।

हेतुर्निमित्तं तदर्थैर्भियुक्तात् तृतीयाद्याः स्युः । धनेन हेतुना । धनाय हेतवे । धनाद्धेतोः । धनस्य हेतोः । धने हेतौ वा वसति । एवं निमित्तार्थैरपि ।११८।

'हेतौ तृतीयायाम् ऋणे द्वितीयोः' ।२।२।७६। 'गुणादस्त्रियां न वा' ।२।२।७७। इति पञ्चम्यां च प्राप्तायामिदं सूत्रम् । हेत्वर्थशब्देन युक्तात् प्रत्यासत्तेः सामानाधिकरण्यमपेक्षितम्, असामानाधिकरण्येन हेत्वर्थशब्द-सम्बन्धे त्वन्नस्य हेतुरित्यादौ षष्ठ्येव । अग्रिमसूत्रेण हेत्वर्थयुक्तात्सर्वादेः सर्वविभक्तिविधानादत्रासर्वादिस्तृतीयाद्या विभक्तयो बोध्याः । अन्ये तु हेत्वर्थशब्दयोगे नेच्छन्ति, हेतुशब्दयोगे तु षष्ठीमेवेच्छन्ति ।।११८।।

सर्वादेः सर्वाः ।२।२।११९।

हेत्वर्थैर्युक्तात् सर्वादेः सर्वा विभक्तयः स्युः । को हेतुः । कं हेतुम् । केन हेतुना । कस्मै हेतवे । कस्माद्धेतोः । कस्य हेतोः ।

कस्मिन् हेतौ वा याति ।११९।

हेत्वर्थैर्युक्तात्प्रत्यासत्तेस्तत्समानाधिकरण्यात् सर्वादेः गौणान्नाम्नः सर्वा विभक्तयो भवन्तीत्यर्थो पूर्ववज्ज्ञेयः । सामानाधिकरण्याभावे तु कस्य हेतुरित्येव भवति। प्रथमां नेच्छन्त्येके। प्रियः सर्वे यस्येति बहुव्रीहौ हेत्वर्थयोगेऽपि सर्वादेर्गौणत्वात् 'गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इति न सर्वा विभक्तयः। कर्मधारये तु परमसर्वो हेतुं वसतीत्यादि भवति। 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' इति त्वत्र नोपतिष्ठते ॥११९॥

असत्त्वारादर्थाट्टाङसिङ्यम् ।२।२।१२०।

असत्त्ववाचिनो दूरार्थादन्तिकार्थाच्चटाङसिङ्यमः स्युः । गौणादिति निवृत्तम् । दूरेण दूरात् दूरे दूरं वा ग्रामस्य ग्रामाद्वा वसति। एवं विप्रकृष्टेनेत्यादि । अन्तिकेन अन्तिकात् अन्तिके अन्तिकं वा ग्रामस्य ग्रामाद्वा वसति । एवमभ्यासेनेत्यादि । असत्त्व इति किम् । दूरोऽन्तिको वा पन्थाः ।१२०।

सत्त्वं द्रव्यम् न सत्त्वमसत्त्वम् । लिङ्गसंख्यावद् द्रव्यम् इदंतदित्यादिपदैर्यद् व्यपदिश्यते तत् द्रव्यम्, एतद् लक्षणेन गुणजात्यादिकं सर्वं पारिभाषिक द्रव्यमुच्यते। आरादित्यव्ययं दूरान्तिकवाचि । विभक्ति-सम्बद्धत्वात् तन्निवृत्तौ **गौणादिति निवृत्तम् । ग्रामस्य ग्रामाद्** वेति - ग्रामशब्दात् "आरादर्थैः ।२।२।७८। सूत्रात् विकल्पेन पञ्चम्या प्राप्तायां पक्षे 'शेषे ।२।२।८१। सूत्रात् षष्ठी । विप्रकृष्टं दूरमित्यर्थः, **अभ्यासः** समीपमित्यर्थः ॥१२०॥

जात्याख्यायां नवैकोऽसंख्यो बहुवत् ।२।२।१२१।

जातेराख्याभिधा तस्यामेकोऽर्थोऽसंख्यः संख्यावाचि-विशेषणरहितो बहुवद्वा स्यात् । संपन्ना यवाः । संपन्नो यवः । जाताविति किम् ।

चैत्रः । आख्यायामिति किम् । काश्यपप्रतिकृतिः काश्यपः । असंख्य इति किम् । एको व्रीहिः संपन्नः सुभिक्षं करोति ।१२१।

जायेतेऽनया भिन्नेष्वभिन्नावभिधान - प्रत्ययाविति जातिः गौरयं गौरयमित्यादिसदृशाभिधानज्ञानहेतुः जातेराख्यायामिति वैषयिकेऽधिकरणे सप्तमी, निमित्तसप्तमी वा । जातेरैकत्वादेकवचने एव प्राप्ते पक्षे बहुवचनार्थं बहुवद्भावः क्रियते । सम्पन्ना यवा इति जात्यर्थस्य बहुवद्भावात् सम्पन्नादि विशेषणानामपि सामानाधिकरण्याद् यवादिशब्दोपात्ते जात्यर्थे वर्तमानत्वात् तेषा-मपि बहुवद्भावः । तथा चोभयत्र विभ्यं पि बहुवचनम्, जातिशब्दस्य बहुवद्भावे तु यवशब्दात्व जातिशब्दाद्बहुवचनं स्यात् न तु तद्विशेषणभूताद्यवशब्दादिति । चैत्र इति - नायं जातिर्यदृच्छाशब्दत्वात् जातिर्हि गौगौरित्याद्यनुवृत्तप्रत्ययकारणम् । यदि च बालकुमारादिभेदेष्वनुवर्तमानं चैत्रादिकं जातिरुच्येत तदा सर्वेषां जातिशब्दत्वात् जातिग्रहणमनर्थकं स्याद तस्मात् सादृश्यसामान्यमिह जातिः न स्वरुपसामान्यमिति । काश्यप इति 'बिदादेर्वृद्धे' ।६।१।४१। इत्यञि काश्यपः । यद्यप्यं गौत्राभिधायकत्वात् 'गौत्रं च चरणैः सह' इति लक्षणेन जातिशब्दस्तथापि नानेन जातिरभिधीयतेऽपि तु प्रतिकृतिरिति । आख्याग्रहणात् प्राधान्येन जातावभिधेयायां भवति इह तु तद्विशिष्टा प्रतिकृतिरिति न भवति । एक इति वचनात् द्वयोर्जात्योर्यत्राख्या तत्र न भवति - संपन्नौ व्रीहियवाविति । एको व्रीहिः संपन्नः सुभिक्षं करोतीत्यत्र विशेषणभूतसंख्याप्रयोगात् एके व्रीहयः संपन्नाः सुभिक्षं करोतीति न भवति । ननु एक इति संख्याशब्दः प्रयुज्यमानः स्वतः एकत्वमुद्भावयति बहुत्वं तु तद्विरुद्धमिति बहुवदतिदेशो न भविष्यतीति 'असंख्यः' इत्युपादानेनेति चेत्सत्यम् अस्यैवार्थस्यानुवादमित्यदोषः ॥१२१॥

अविशेषणे द्वौ चास्मदः ।२।२।१२२।

अस्मदो द्वावेकश्चार्थो बहुवद्वा स्यात्,अविशेषणे न चेत्तस्य विशेषणं स्यात् । आवां ब्रूवः । वयं ब्रूमः । अहं ब्रवीमि, वयं ब्रूमः । अवि-

शेषण इति किम् । आवां गार्ग्यौ ब्रूवः । अहं चैत्रो ब्रवीमि ।१२२।

अस्मद इति– अनुकरणत्वादस्मच्छब्दकार्याप्रवृत्तिः । अविशेषणे इत्यत्र विशेषणस्याभावः तस्मिन्निति प्रसज्यनञ् । यद्यत्र न विशेषणमविशेषणं तस्मिन्निति पर्युदासः स्यात्तदा विशेषणे नापि विधिः, नापि प्रतिषेधः, विशेषणादन्यस्मिन् तु प्रयुज्यमाने स्यादित्यर्थः तनश्चाहं चैत्रो ब्रवीमीत्यत्र मिवन्तस्य विशेष्यस्य भावात् मैत्र इति विशेषणे सत्यपि स्यादित्याह– न चेत्तस्येति । आवां ब्रूवः इति– अत्र द्वयोर्मध्ये एकस्य वक्तृत्वेऽपि अयमै द्वितीय अहमा, अहमेव वाऽ । यमित्युपचाराद् त्वं चाहं चेत्येकशेषे वाऽस्मदर्थस्य द्विवचनमिति । नन्वेकोऽप्यात्मा यथैकत्वेनानुभूयते तथाऽनेकस्वभाववत्त्वेन द्रष्टा, श्रोता, मन्तेत्यादि नानात्वेनापि । तत्र यथैकत्वेन विवक्षिते एकवचनं द्वित्वेन विवक्षिते द्विवचनं तथा बहुत्वेन विवक्षिते बहुवचनमपि सिद्धमेवेति किमनेनेति चेत्सत्यं विशेषणप्रतिषेधार्थं वचनमिति ॥१२२॥

फल्गुनीप्रोष्ठपदस्यभे ।२।२।१२३।

फल्गुनीप्रोष्ठपदयोर्भे नक्षत्रे वर्त्तमानयोर्द्वित्वयोर्बहुवद्वा स्याताम् । कदा पूर्वे फल्गुन्यौ । कदा पूर्वाः फल्गुन्यः । कदा पूर्वे प्रोष्ठपदे । कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः । भ इति किम् । फल्गुनीषु जाते फाल्गुन्यौ कन्ये ।१२३।

फल्गुनी च प्रोष्ठपदा चेति- फल्गुनीप्रोष्ठपदम्, तस्य द्व्यर्थे भवति एकस्मिन् ज्योतिषि 'दृश्यते फल्गुनी' इत्यत्र न भवति । एकस्यां तारायां फल्गुनीप्रोष्ठपदयोः प्रयोगो नास्ति इत्यन्ये । फल्गुनी–पूर्वा उत्तरा च, प्रोष्ठपदा–पूर्वभाद्रपदा, उत्तरभाद्रपदा च । **फल्गुन्यौ कन्ये**– 'फल्गुन्याष्टः ।६।३। १०६। सूत्रात् टप्रत्ययः, 'अवर्णेवर्णस्य ।७।४।६८। सूत्रादिकारलोपे, टित्वात् 'अणजे० ।२।४।२०। सूत्रात् ङीः ॥१२३॥

गुरावेकश्च ।२।२।१२४।

गुरौ गौरवार्हे वर्त्तमानस्य द्वावेकाश्चर्थो बहुवद्वा स्यात् । युवां गुरू । यूयं गुरवः । एष मे पिता । एते मे पितरः ।१२४।

एक एव शब्दः एकलिङ्गं, द्विलिङ्गं, त्रिलिङ्गं वा भजते, एक एव शब्दः एकवचनं, द्विवचनं, बहुवचनं वा भजते, लिङ्गव्यत्ययोऽपि भवति । यथा आप एकस्यां जलकणिकायामपि बहुवचनान्तः, दारशब्दः गृहिणीवाचकोऽपि पुल्लिङ्ग इत्यादि । इदं सूत्रं तु गौरवार्हे बहुवचनं विदधाति ॥१२४॥

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीय पादः ॥

प्रश्न– धर्मी आज अल्प हो रहे हैं तो रचनात्मक करने की क्या जरुरत नहीं है ?

उत्तर– धर्मी हमेशा अल्प ही रहने वाले है, पांचवे आरे में तो धर्मी दिन प्रतिदिन घटने वाले ही है, परन्तु भगवान का शासन पांचवे आरे के अंत तक रहने वाला है वह थोडों से ही चलने वाला हैं, टोले से नहीं, टोलों से ज्यादा कार्य नहीं होता !

आत्मा शरीर में सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु वह शरीर से भिन्न है ।

महापुरुषों ने इस आर्यदेश की जो प्रधानता गाई है, वह इस आर्यदेश की अध्यात्मप्रधानता को लेकर ही है ।

'महापुरुषों ने आर्यदेश की महत्ता ममत्व के अधीन बनकर गाई है'- ऐसा कहकर अपने को अपनी तुच्छता का आरोपण, कभी भी, महापुरुषों पर नहीं करना चाहिये ।'

आत्मा के हित के उद्देश्य से जो विचार किया जाय, बात की जाय अथवा तो वर्तन किया जाय इन सब का समावेश 'अध्यात्म में होता है ।

-लेखक-
पू. परम शासन-प्रभावक, व्याख्यान-वाचस्पति आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा

आप खुद को ही पहचानने का स्वयं प्रयत्न करो।

मनुष्य स्वयं ही अपना भावी बनाता है।
कोई किसी के भावी को बना नहीं सकता।
इस जन्म में मुख्यतया पूर्वजन्मों के पुण्यों का
और पापों का फ़ल भोगा जाता है।

ऐसा मानने की भूल मत करना कि– 'आप जो कुछ भी
प्रवृति करते हैं, उसका जो तत्काल प्रत्यक्ष परिणाम आता हैं,
उसके सिवाय का उसका परिणाम हैं ही नहीं।'

'पाप करना नहीं और पुण्य किये बिना रहना नहीं'
–इतना भी निर्णय नहीं करते हुए, मनुष्य बहुतया
गतानुगतिक रीति से ही जीते हैं।

—लेखक—

पू० परम शासनप्रभावक, व्याख्यान-वाचस्पति आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा

॥ अथः द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पाद ॥

नमस्पुरसो गतेः कखपफि रः सः ।२।३।१।

गतिसंज्ञयोर्नमस्पुरसोः कखपफि रः सः स्यात् । नमस्कृत्य, पुरस्कृत्य । गतेरिति किम् ? नमः कृत्वा, तिस्रः पुरः करोति ।१।

नमस्पुरसः कखपफैःसह समानवचननिर्देशेऽपि संख्यया तुल्यत्वाभावान्न यथासंख्यम् । 'यथासंख्य०' इति न्याये संख्या वचनरूपा गणनारूपा च गृह्यते । नमस्कृत्य - अनमो नमः करणं पूर्वं 'साक्षादादिश्च्व्यर्थे ।१।४।७४। सूत्रात् गतिसंज्ञा, 'प्राक्काले' ।५।४।४७। सूत्रात् क्त्वा, 'गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः ।३।१।४२। सूत्रात् समासः, 'अनञः क्त्वो यप्' ।३।२।१५४। सूत्राद् यबादेशः । अत्र 'सो रुः ।२।१।७२। सूत्रात्कृतस्य रस्य 'रः कखपफयोः ×क ।१।३।५। इत्यादि—बाधनार्थमेन सकारविधानम् । सादेशे अकार उच्चारणार्थः । पुरस्कृत्य—'पुरोऽस्तमव्ययम्' ।३।१।७। सूत्राद् गतिसंज्ञा । पूर्वपर्यायोऽत्र—पर्यायो वा पुरस्शब्दः । नमः कृत्वा—'साक्षादादिश्च्व्यर्थे ।३।१।१४। सूत्राद् विकल्पेन गतिसंज्ञा विधीयते, गतिसंज्ञाया अभावपक्षे 'गति - क्वन्० ।३।१।४२। सूत्रेण समासो न भवति, 'अनञः क्त्वो यप् ।३।२।१५४। सूत्राद् यबादेशश्च न भवति । तिस्रः पुरः करोति—पुर् नगरम् नैतदव्ययमिति न गतिसंज्ञा ॥१॥

तिरसो वा ।२।३।२।

गते-स्तिरसो रस्य कखपफि स् वा स्यात् । तिरस्कृत्य, तिरः कृत्य । गतेरित्येव—तिरःकृत्वा काष्ठं गतः ।२।

तिरस्कृत्य—'कृगो नवा ।३।१।१०। सूत्राद्गतद्योतकी विकल्पेन

गतिसंज्ञा । अनेन विकल्पेन सकारः । पक्षे विसर्गः । व्यवधानं कृत्वेत्यर्थः । अन्तर्द्धपुंश्चाराद् अवशाप्यन्तर्द्धोगिति पराभव कृत्वेत्यर्थो वा । तिरः कृत्वा—ऊर्ध्वं स्थित काष्ठं तिर्यक्कृत्वेत्यर्थः 'अन्तर्द्धार्विरि 'कृगो नवा ।३।१।१०। सूत्राद् विकल्पेन गति—संज्ञा, गतिसंज्ञाभावाच्च समासयबादेशाभावः । तिरस्शब्दः वाचकत्वसम्बन्धेन अन्तर्द्धि-वक्रातिर्यग्भावेषु वर्तते अथवा तिरस्शब्द एषामर्थानां वाचकः ।।२।।

पुंसः ।२।३।३।

पुंसः सम्बन्धिनो रस्य कखपफि स् स्यात् । पुंस्कोकिलः, पुंस्खालः, पुंस्पाकः, पुंस्फलम् ।३।

पुमांश्चासौ कोकिलश्च पुम्स्शब्द 'पदस्य ।२।१।८८। सूत्रात्सकारलोपः' 'पुमोऽशिट्यो०' ।१।३।९। सूत्रात् मकारस्य रकारः अनुस्वारपूर्वकः, पुंस इत्यनेन रेफस्य सकारः । एवं पुम्खात इत्याद्यपि । ननु 'पुमोऽशिट्यो०' ।१।३।९। सूत्रे रत्वमपहाय सकार एव 'वधीयतां किं शिरोवेष्टनेन नासिकास्पर्शानुधावनेनेति चेत् न रत्वविधानाभावे पुंश्चरः, पुंष्टिट्टिभः इत्यादयो न सिध्यन्तीति । न च 'सो रुः ।२।१।७२। सूत्राद्रुत्वे तस्य शकारषकारादिः भविष्यतीति वाच्यं विधानसामर्थ्येन रुत्वाभावात् ।।३।।

शिरोऽधसः पदे समासैक्ये ।२।३।४।

अनयो रेफस्य पदशब्दे परे स् स्यात्, समासैक्ये । शिरस्पदम्, अधस्पदम् । समासेति किम् ? शिरः पदम् । ऐक्य इति किम् ? परमशिरः—पदम् ।४।

ननु कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः इति न्यायात् 'तदन्तं पदम् ।१।१।२०। सूत्रेण परिभाषितस्य ग्रहण प्राप्नोति तथापि समास इति वचनादुत्तरपदमृते समासस्यासम्भवात् पदग्रहणानर्थक्यप्रसङ्गात् पद इति शब्दस्वरूपस्य ग्रहणादाह—पदशब्दे इति । ननु समास इति भणने एकवच-

नादेकसमासे एव भविष्यतीति 'उक्तार्थानामप्रयोग:' इति न्याय देवयशब्द-स्याप्रयोग: प्राप्नोमीति चेन्मैव स्पष्टार्थत्वात् द्विर्बद्ध सुबद्ध भवति' इतिन्याद्याद् वा। शिरसि पदम् सप्तमी शौण्डाद्यै: ।३।१।८८। सूत्रात् सप्तमीसमासे, शिरस: पदमिति षष्ठीसमासे वा शिरस्पदम् । अध: पदम् इत्येव विग्रहे 'अव्ययं प्रवृद्धादिभि: ।३।१।४८। सूत्रात् नित्यं समासे प्राप्तेऽपि बाहुलकात् समासाभावे अध: पदमित्यत्रापि समासे' इत्युपादानस्य फलं ज्ञेयम्। परम च तत् शिरश्च परमशिर:। तस्मिन् तस्य वा पदम्—तत्पदम्। परमशिरश्च तत्पदं चेति परमशिर:—पदमित्यत्र शिर:शब्दस्य समासद्वयसम्बन्धित्वादेव इति वचनान्न भवति ।।४।।

अत कृकमिकंसकुम्भकुशाकर्णीपात्रेऽनव्ययस्य

।२।३।५।

आत्परस्यानव्ययस्य रस्य कादिस्थे कखपफि स् स्यात् । समासैक्ये । अयस्कृत्, यशस्काम:, पयस्कंस:, अयस्कुम्भ:, अयस्कुशा, अयस्कर्णी, अयस्पात्रम् , अत इति किम्? वा:-पात्रम्। अनव्ययस्येति किम्? स्व:कार। समासैक्य इत्येव-उपय:कार:

।५।

अय: करोतीति क्विपि तागमे 'ङस्युक्तं कृता' ।३।२।७२। इति समासे 'सो रु:' ।२।१।७२। इति सस्य रुत्वे तस्यानेन सकारे अयस्कृदिति। यश: कामयते स यशस्काम: 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। इत्यण्। पयस: कंस: पानभाजनम् पयस्कंस:। कमुङ् कान्तौ 'मावावद्य०' । उणा ५६४। इति स: पुल्लिङ्गाश्रयेणैव दृश्यते इति स्त्रियां नोदाहार्यम्। अयस: कुम्भ: -अयस्कुम्भ: विकारविकारिभावसम्बन्धे षष्ठीसमास: 'भोः गोण०' ।२।४।३०। इति सूत्रेणायोविकारस्याविवक्षितत्वान्न ङी: किन्तु 'आत्' ।२।४।१८। इत्याप्। अय: प्रधानं यस्या सा अय: प्रधाना सा चासौ कुशा चेति कर्मधारय:। 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति न्याये नाम ग्रहणे इत्युक्त्या यत्र लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणं न, तत्र नामग्रहणं भवतीति। अत्र सूत्रे 'कुश' इत्यविकृतस्य

नाम्नो ग्रहणाभावे 'अयःकुशः' इत्यत्र रस्य सो न भवति। अयस्कर्णीति—अयइव कर्णौ यस्याः सा अयस्कर्णी 'नासिका०' ।२।४।३९। इति वैकल्पिको ङीः, समुदायस्य तु जातिवाचित्वे 'पाककर्ण०' ।२।४।९५। इति नित्यं ङीः। अयसः पात्रम् अयस्पात्रम्। नामग्रहणे लिङ्ग०' इति न्यायात् अयस्कुम्भी, अयस्पात्रीति कुम्भशब्दाद् गौरादित्वाद् ङी पात्रशब्दात् पातेः पिबतेर्वा नीदावशसु०' ।५।२।८८। इति त्रडन्तत्वात् टित्वात् ङीः। वाःपात्रमिति—वारः पात्रमिति षष्ठी—समासः जलपात्रमित्यर्थः। उपपयः-कारः इति-पयसःसमीपमुपपयः करोतीति उपपयः—कारः। अत्र पयः - शब्दस्य समासद्वयसम्बन्धित्वात् सकारो न भवति। केवलयोः कृकम्योः समासो न भवतीति क्विबन्ता धातुत्व नोज्झन्ती ति क्विबन्तयोर्ग्रहणम्। केवलयोः क्विबन्तयोर्ग्रहणं तु न कार्य गतिकारक०'।३।२।८५। इत्यत्र क्विब्ग्रहणात् नह्यन्यप्रत्ययान्तानां धातूत्तरपदानामग्रहणे क्विब्ग्रहणमथवद् सव त। कमिग्रहणादत्र कामयतेर्ग्रहणं न भवति पयः कामयते पयः- कामा 'शीलि—कामि—भक्ष्याचरि०' ।५।१।७३। इति णः 'णेरनिटि' ।४।३।८३। इति णिलोपः आप् च णिङो वैकल्पिकत्वात् णिङभावे कमेरणि पयस्कामीति। कमिग्रहणनैव कंसग्रहणे लब्धे पृथक् कंसग्रहणम् 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि' इति न्यायस्य ज्ञापकम्। तथा चाव्युत्पन्न एवायं कंसशब्दः न तु कमिना व्युत्पन्न इति ॥५॥

प्रत्यये ।२।३।६।

अनव्ययस्य रस्य प्रत्ययविषये कखपफि स् स्यात्। पयस्पाशम्। पयस्कल्पम्। पयस्कम्। अनव्ययस्येत्येव। स्वः पाशम्।६।

पयस्पाशमिति—निन्द्यं पयः इति 'निन्द्यं पाशप्' ।७।३।४। इति पाशप्। पयस्कल्पमिति—ईषदपरिसमाप्तं पयः इति 'अतमबादेः०' ।७।३।११। इति कल्पप्। पयस्कमिति—कुत्सिताद्यर्थे 'कुत्सिताल्पाज्ञाते' ।७।३।३३। इति कप्। अत्र पाश - कल्प - का एव ग्राह्याः काम्ये विशेषविधानादन्यस्य चाभावात् ॥६॥

रोः काम्ये ।२।३।७।

अनव्ययस्य रस्य रोरेव काम्ये प्रत्यये स् स्यात् । पयस्काम्यति । रोरिति किम । अहः काम्यति ।७।

र इति रेफस्य षष्ठ्यन्तं विशेषणमित्याह रस्य रोरिति । पयस्काम्यतीति पयः इच्छति इति 'द्वितीयायाः काम्यः' ।३।४।२२। इति काम्यप्रत्ययः, 'नाम सिदय्व्यञ्जने' ।१।१।२१। इति पदत्वे 'सो रुः' ।२।१।७२। इति रेफे कृतेऽनेन सकारस्य सिद्धिः । अहः काम्यतीति 'रो लुप्यरि' ।२।१।७५। इति रः । पूर्वेण सिद्धे रोरेवेति नियमार्थमिदम् । रोः काम्यप्रत्यये एवेति विपरीतनियमस्तु 'वर्चस्का०' ।३।२।४८। इति निर्देशात् 'प्रत्यये रोः काम्ये' चेत्येकयोगाभावाद्वा न ॥ ॥

नामिनस्तयोः षः ।२।३।८।

तयोः प्रत्ययस्थे कखपफि रोरेव काम्ये नामिनः परस्य रस्य ष् स्यात् । सर्पिष्पाशम् । धनुष्कल्पम् । धानुष्कः । सर्पिष्काम्यति । नामिन-इति किम् । अयस्कल्पम् । रोःकाम्य इत्येव । गीः काम्यति ।८।

तयोरिति—प्रत्ययसूत्रसंगृहीतानां पाश - कल्प - कानां, रो काम्ये इति निर्दिष्टस्य काम्यस्य च ग्रहणम्, अत्र अनव्ययस्येति वर्तते यतः पूर्वसूत्रयोरपवादोऽयं ष इति, तेन उच्चैष्क इत्यादि उच्चैष्काम्यतीत्यादि च न भवति । धानुष्क इति— धनुः प्रहरणमस्येति 'प्रहरणम्' ।६।४।६२। इतीकण् 'ऋवर्णोवर्ण०' ।७।४।७१। इतीकणः इकारलोपः । प्रत्यये इति सूत्रे पाशकल्पका इत्युपलक्षणं तेन कणापि ग्रहणम् अथवा इकारे लुप्तेऽप्यकारे क इत्यत्रापि परत्वम् । रोरेवेति नियमाद् गीःकाम्यत इत्यत्र न भवति ॥८॥

निर्दुर्बहिराविष्प्रादुश्चतुराम् ।२।३।९।

निरादीनां रस्य कखपफि ष् स्यात् । निष्कृतम् । दुष्कृतम् । बहि-

ष्पीतम् । आविष्कृतम् । प्रादुष्कृतम् । चतुष्पात्रम् ।९।

बहुवचनं निसदुसं निर्दु रोश्च संग्रहार्थम् । नितरां क्रियत इति 'क्लीबे क्तः' ।५।३।१२३। इति क्ते निष्कृतमित्यादि । **चतुष्पात्रमिति**—बहुव्रीहिः समाहा द्विगुर्वा समाहारद्विगावपि पात्रादित्व स्त्रीत्वप्रतिषेधात् स्त्रीत्वाभावः । पात्र द्विवर्जितादन्तोत्तरपदसमाहारे । द्विगुरन्नावन्तान्तो वान्यस्तु सर्वो नपुंसक ॥ लिङ्गानुशासन-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरणस्य पञ्चमः श्लोकः । पात्रादयः शिष्टप्रयोगगम्याः । निष्पीतम्, दुष्पीतम्, बहिष्कृतम्, अविष्पीतम्, चतुष्कण्टकम् इत्यादयो दृष्टान्ता अपि बोध्याः । प्रादुः—पीतमित्यादयस्तु न प्रादुःशब्दस्य कृभ्वस्तिविषय एवोपलम्भादिति ॥९॥

सुचो वा ।२।३।१०।

सुजन्तस्थस्य रस्य कखपफि ष् वा स्यात् । द्विष्करोति । द्वि≍करोति, द्विःकरोति चतुष्फलति, चतु≍फलति चतुःफलति । कखपफीति किम् ? द्विश्चरति ।१०।

सुच इति न रेफस्य विशेषणं तथा च सति सुचः स्थाने यो रेफस्तस्येति स्यात्तदा चतुष्फलतीत्यत्र 'रात् सः' ।२।१।९०। इति सुचो लोपे सुचोऽभावाद्रेफो न स्यादिति सुचिति प्रकृतेर्विशेषणमित्याह— **सुजन्तस्थस्येति**— एवं कृते सुचो लोपेपि स्थानिवद्भावात् प्रकृतेः सुजन्तत्वात् चतुष्फलतीत्यत्र षत्वं भवत्येव नच तर्हि त्रिष्करोतीत्यत्रापि त्रिशब्दस्थस्य रेफस्य सुजन्तस्थत्वात् तस्यापि षत्वेन भाव्यमिति वाच्यमनन्तरे कृतार्थत्वादिति । **द्विष्करोतीत्यादि**-द्वौ वारौ करोतीत्याद्यर्थे 'द्वित्रिचतुरः०' ।७।२।११७। इति सुच् सिः अव्ययस्य' ।३।२।७। इति लुप् षत्वपक्षे 'रःकखपफयोः' ।१।३।५। इति जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ विसर्गश्च । सुचन्तस्य चतुरः परत्वादनेन नित्यो विधिः न तु 'निर्दुर्बहिराविष्प्रादुश्चतुराम्' ।२।३।९। इति पूर्वेण विकल्पः ॥१०॥

वेसुसोऽपेक्षायाम् ।२।३।११

इसुस्प्रत्ययान्तस्य रस्य कखपफे ष् वा स्यात् । स्थानिनिमित्तयो-रपेक्षा चेत् । सर्पिष्करोति । सर्पि ≍ करोति । धनुष् खादति । धनु ≍ खादति । अपेक्षायामिति किम् । परमसर्पि ≍ कुण्डम् ।११।

'प्रत्ययाप्रत्यययोः०' 'लक्षणप्रतिपदे०' 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इति वाच्यात् इसुसोः प्रत्यययोर्ग्रहणात् मुनिः करोति, नदीभिः क्रियते मुहुः पठति, भिन्द्युः पापानि इत्यत्र न भवति । मुहुरित्यव्युत्पन्नमव्ययम् । इसा साहचर्यादुस औणादिकस्य ग्रहणाद् चक्षुः कुलानीत्यत्र न भवति । अत्र करोतेः परोक्षाया उस्प्रत्ययः । **परमसर्पि ≍ कुण्डमिति**– एकार्थीभावे न भवति । सामर्थ्यं द्विधा व्यपेक्षा, एकार्थीभावश्च, अपेक्षाया भिन्नपदार्थगोचरत्वाद् वाक्ये अपेक्षारूपसामर्थ्यं भवति, वृत्तौ तु एकार्थीभावरूपसामर्थ्यं भवति ॥११॥

नैकार्थेऽक्रिये २।३।१२।

न विद्यते क्रिया प्रवृत्तिनिमित्तं यस्य तस्मिन्नेकार्थे तुल्याधिकरणे पदे यत् कखपफं तस्मिन् परे इसुस्प्रत्ययान्तस्य रस्य ष् न स्यात् सर्पि≍कालकम् । यजु≍पीतकम् । एकार्थं इति किम् । सर्पि-ष्कुम्भे, सर्पि ≍ कुम्भे । अक्रिय इति किम् ? सर्पिष्क्रियते, ≍क्रियते ।१२।

एकार्थे इति– एकशब्दः समानार्थः एकोऽर्थो यस्येत्येकार्थः समानाधिकरणमित्यर्थः । 'वेसुसोऽपेक्षायाम्' ।२।३।११। इत्यस्यायं प्रतिषेधः नान्यस्य । **सर्पिः कालकमिति**– काल एव कालकम् 'कालात्' ।७।३।१९। इति सूत्रेण कप्रत्ययः । **यजुः पीतकमिति**– पीतमेव पीतकम् 'यावादित्वात् स्वार्थे कः यद्वा पीतेन रक्तमिति 'नीलपीतादकम्' ।६।२।४। इति कः । कालकं पीतक-मिति गुणवचनमक्रियावाचि समानाधिकरणं पदमतः प्रतिषेधः ॥१२॥

समासेऽसमस्तस्य ।२।३।१३।

पूर्वतासमस्तस्य इसुस्प्रत्ययान्तस्य रस्य कखपफि ष् स्यात् निमित्तनिमित्तिनौ चेदेकत्र समासे स्तः । सर्पिष्कुम्भः । धनुष्फलम् । समास इति किम् । तिष्ठतु सर्पिः पिब त्वमुदकम् । असमस्तस्येति किम् । परमसर्पिः-कुण्डम् ।१३।

सर्पिषकुम्भइत्यादि– सर्पिषः कुम्भः, धनुषः फलमिति षष्ठीसमासः **परमसर्पि कुण्डमिति**– पूर्वेण परमशब्देन सर्पिष्शब्दस्य समस्तत्वान्न भवति, 'वेसुसोऽपेक्षायाम्' ।२।३।११। इत्यनेनापि न भवति समासे सत्यपेक्षाया अभावात् । ननु 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' ।७।४।११५। इति परिभाषया परमसर्पिः-कुण्डमित्यत्र पूर्वेण समस्तस्य षो न भविष्यति, इस्प्रत्ययान्तत्वाभावादिति चेत्सत्यम् इदमेवासमस्तस्येति वचनम् इसुसोः 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' ।७।४।११५। इत्ययं नियमो न भवतीत्यस्य ज्ञापकं तेन परमसर्पिष्करोति परमसर्पिःकरोतीत्यत्र 'वेसुसोऽपेक्षायाम्' ।२।३।११। इत्यनेनाधिकस्यापि विकल्पो भवति । यद्यपि परमं च तत्सर्पिः परमसर्पिः करोतीत्यत्र तत्पुरुषस्योत्तरपदप्रधानत्वात् प्रधानापेक्षाया षत्व सिध्यति तथापि परमं सर्पिर्यस्य सर्पिषः समीपम् सर्पिषः निष्क्रान्तम्-परमसर्पिष्करोति, उपसर्पिष्करोति, निः-सर्पिष्करोतीत्यत्र षत्वं न सिध्यति सर्पिः-शब्दस्य करोतिक्रियायाश्च उपेक्षाभावादित्येवमर्थमिद ज्ञापक-मिति भावः । ईषदपरिसमाप्तं सर्पि बहुसर्पिः तस्य कुण्डम् नाम्नप्राग्बहुर्वा' ७।३।१२। इति बहौ बहुसर्पिः, तस्य कुण्डमित्यत्र तु बहुप्रत्ययादेः असमस्तत्वादनेन नित्यं षत्व भवति ॥१३॥

भ्रातृष्पुत्रकस्कादयः ।२।३।१४।

भ्रातुष्पुत्रादयः कस्कादयश्च कखपफि रस्य यथासंख्यं कृतषत्वसत्वाः साधवः स्युः । भ्रातुष्पुत्रः । परमयजुष्पात्रम्, कस्कः । कौतस्कुतः ।१४।

भ्रातुष्पुत्रः कस्क इत्यत्र विसर्गात्पूर्वं यदकारान्तं रूपं तदनुक्रियते,

आदिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बध्यतेइत्याह- भ्रातुष्पुत्रादय इत्यादि- जिह्वामूलीयोपध्मानीययोः प्रायः यत्स्यमपवादः । तत्र नामिनः परस्य रेफस्य षकारः अन्यस्य तु सकारः भवतीत्याह- यथासङ्ख्यं कृतषत्वसत्वा इति । भ्रातुष्पुत्र इति- ऋतां विद्याय निसम्बन्धे' ।३।२।३७। इति षष्ठ्या अलुप् । परमसर्पिष्पात्रमिति- सर्पिष्पात्रस्य पूर्वेण षत्वे सिद्धेऽपि समस्तार्थमिह पाठः । कस्कः इति 'किमः कस्तसादौ च' ।२।१।४०। इति 'वीप्सायाम्' ।७।४।८०। इति द्वित्वम् । कौतस्कुत इति- कुतः कुतः 'वीप्सायाम्' ।७।४।८०। इति द्वित्वम् कुतः कुतः आगतः इति 'ततः आगते' ।६।३।१४९। इति गणपाठसामर्थ्यादिण् अन्यथा 'क्वेहामात्रतसः०' ।६।३।१६। इति त्यच् स्यात् यतः तसन्तस्य प्रथमान्तत्वात् 'ततः आगते' ।६।३।१५०। इति पञ्चम्यन्ताद्विधीयमानो न प्राप्नोतीति । ननु द्वित्वे एकपदत्व भावात्कथं 'ततः आगते' ।६।३।१४९। इत्यण् ? सत्यम् भूतपूर्वकत्वाद् भवति ।।१४।।

नाम्यन्तस्थाकवर्गात् पदान्तः कृतस्य सः शिड्नान्तरेऽपि ।२।३।१५।

एभ्यः परस्य पदस्यान्तर्मध्ये कृतस्य कृतस्थस्य वा सस्य षः स्यात् । शिटा नकारेण चान्तरेऽपि । आशिषा । नदीषु । वायुषु । कर्तृषु । पितृषु । एषा । गीर्षु, नौषु । सिषेच । गीर्षु । हल्षु । शक्ष्यति । क्रुङ्षु । शिड्नान्तरेऽपि । सर्पिःषु । यजूंषि । पदान्तरिति किम् ? दधिसेक् । कृतस्येति किम् बिसम् ।१५।

नामी च अन्तस्था च कवर्गश्च तस्मात् । कृतस्य कृतस्थस्य वेति- केनचित्सूत्रेण कृतस्य कृतसम्बन्धिनो वेत्यर्थः । **आशिषा**- आङ्-उपसर्गात् शास्धातोः क्विपि 'इसासः०' ।४।४।११८। सूत्रेणे-सि, टायामनेन षः, कृतसम्बन्धिन उदाहरणमिदम् । सिषेचपर्यन्तं नामिनः परस्योदाहरणम् । नदीषु इत्यादि कृतसम्बन्धिनः । एषेति कृतस्य । गीर्षु हल्षु इत्यन्तस्थायाः परस्य । हल्नाम परमते व्यञ्जनसञ्ज्ञा । शक्ष्यति, क्रुङ्षु-इति कवर्गात्परस्य । **सर्पिःषु**- अत्र सस्य रत्वे, विसर्गे च तस्य शिट्त्वात् तद्व्यवधानेऽपि षत्वम् ।

यजूंषीत्यत्र-'शिड्० ।१।३।४०। इति नित्यत्वादन्तरङ्गत्वात् च कृते षकारः। नकारस्याऽवश्यमनुस्वारस्य भावात् अनुस्वारस्य च शिट्त्वेन शिट्ग्रहणेनैव सिद्धे सस्थानिकानुस्वारव्यावर्तनाय नकारोपादानम् तेन पुंसीत्यादौ न षत्वम्। दधिसेक्- अत्र वर्तेरन्ते वर्तमानस्य षभिन्नकार्यविधान एव 'नृत्य० ।१।१।२५। सूत्रेण पदत्वनिषेधात् सेक् इत्यस्य पदत्वेन सकारो न पदमध्यगतः किन्तु पदादिस्थ एव। बिसमिति- 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि' इति अव्युत्पन्नोऽयमतः सकारो न केनचित्कृतः ॥१५॥

समासेऽग्नेः स्तुतः ।२।३।१६।

अग्नेः परस्य स्तुतः सस्य समासे ष् स्यात्। अग्निष्टुत् ।१६।

अग्निं स्तौतीति- अग्निष्टुत्। अत्र 'षः सो० ।२।३।९८। सूत्रेण सकारः कृतः। षत्वे कर्तव्ये उत्तरस्य पदत्वात् पूर्वसूत्रेणाप्राप्तौ सत्यां वचनम् ॥१६॥

ज्योतिरायुर्भ्यां च स्तोमस्य ।२।३।१७।

आभ्यामग्नेश्च परस्य स्तोमस्य सस्य समासे ष् स्यात्। ज्योतिष्टोमः। आयुष्टोमः। अग्निष्टोमः। समासइत्येव। ज्योतिः स्तोमं याति ।१७।

चशब्देनाग्निशब्दस्य समुच्चयः। ज्योतिषां स्तोमः=ज्योतिष्टोमः, एवमग्रे। ज्योतिः स्तोमं याति- प्रदीपः समूहं प्रापयतीत्यर्थः। अकृतत्वात् पदादित्वाच्चाप्राप्ते विधीयते ॥१७॥

मातृपितुः स्वसुः ।२।३।१८।

आभ्यां परस्य स्वसुः सस्य समासे ष् स्यात्। मातृष्वसा। पितृ-

मातुः स्वसा= मातृष्वसा । 'स्वसृ० ।३।२।३८। सूत्रेण षष्ठ्याः वा लुप् ॥१८॥

अलुपि वा ।२।३।१९।

मातृपितुः परस्य स्वसुः सस्यालुपि समासे वा ष् स्यात् । मातुःष्वसा, मातुः-स्वसा । पितुः-ष्वसा, पितुः-स्वसा ।१९।

पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पः ॥१९॥

निनद्याः स्नातेः कौशले ।२।३।२०।

आभ्यां परस्य स्नातेः सस्य समासे ष् स्यात्, कौशले गम्यमाने । निष्णो निष्णातो वा पाके । नदीष्णो नदीष्णातो वा प्रतरणे । कौशलइति किम् । निस्नातः । नदीस्नः । यः श्रोतसा ह्रियते ।२०।

निश्च नदी च निनदी तस्याः । कुशले भवम्-कौशलम् 'भवे' ।६।३।१२३। सूत्रेणाण् । यद्वा कुशलस्य भावः कर्म वा युवादे० ।७।१।६७। इत्यण् । निष्णातीति निष्णः, निष्णाति स्मेति निष्णातः, एव नद्यां स्नाति स्म= नदीष्णातः ॥२०॥

प्रतेः स्नातस्य सूत्रे ।२।३।२१।

प्रते परस्य स्नातस्य सः समासे ष् स्यात् सूत्रे वाच्ये । प्रतिष्णातं सूत्रम् । प्रत्ययान्तोपादानं किम् । प्रतिस्नातृ सूत्रम् ।२१।

प्रतिष्णातं सूत्रम्– विशेषानुपादानात् सूत्रपदेन ऊणादेः व्याकरणा-

देशत्र मूत्र मूह्यते. ऊणादिमूत्र क्षालनेन शुद्धम्, व्याकरणादिमूत्र तु अतिव्याप्त्य दिद षाभावेन शुद्धमित्यर्थः । अन्यप्रत्ययनिवृत्यर्थं क्तप्रत्ययान्त पदानम् । तेन प्रतिस्नातृ मूत्रमित्यत्र तृप्रत्ययान्तस्य षो न भवति ॥२१॥

स्नानस्य नाम्नि २।३।२२।

प्रतेः परस्य स्नानस्य सः समासे ष् स्यात्, सूत्रविषये नाम्नि । प्रतिष्णान सूत्रमित्यर्थः ।२२।

प्रतिस्नाति प्रतिष्णानम्, 'नन्द्या० ।५।१।५२। इत्यनः ॥२२॥

वेः स्तः ।२।३।२३।

वेः परस्य स्तृस्य समासे ष् स्यात्, नाम्नि । विष्टरो वृक्षः । विष्टरं पीठम् ।२३।

विस्तीर्यते इति विष्टरः । 'युवर्ण० ।५।३।२८। सूत्रेणाल् । विस्तृणाति उपविष्टुः सुखमिति-विष्टरम् ।२३॥

अभिनिःष्टानः ।२।३।२४।

अभिनिर्भ्यां स्तानः समासे कृतषत्वो निपात्यते नाम्नि । **अभिनिःष्टानो वर्णः ।२४।**

एषा विसर्गस्य संज्ञा । **वर्णमात्रस्येत्यन्ये** ॥२४॥

गवियुधिभ्यां स्थिरस्य ।२।३।२५।

आभ्यां परस्य स्थिरस्य सः समासे ष् स्यात् नाम्नि । गविष्ठिरः ।

युधिष्ठिरः ।२५।

गविश्च युधिश्चेति समाहारद्वन्द्वः, सप्तम्यन्तयोरनुकरणयोरेवि स्थाधातोः 'शुषीषि०' (उणा० ४१६) इति किति इरे स्थिरः। ततः सप्तम्यन्तस्य गविशब्दस्य स्थिर इत्यनेन 'नाम्नि' ।३।१।९४। इति समासः, व्युत्पत्तिमात्र-मेतद् सञ्ज्ञाशब्देषु सर्वत्र अवयवार्थाभावात् । योधनं युत् क्रुत्० ।५।३।११४। इति क्रुधादित्वात्क्विपि पूर्ववत् स्थिरशब्देन समासः । गविष्ठिर इत्यत्र गवियुधेः स्थिरस्य' इति निर्देशात् सप्तम्या अलुप् यदि हि गोशब्दाद् ङेर्लुब् न स्यात्तर्हि कथं गवेरुत्तरस्य स्थिरसकारस्य षत्वं विदधातेति न । च विधानसामर्थ्यात् वाक्ये तथाभावो भविष्यतीति वाच्यं 'नाम्नि' ।३।१।७४। इत्यनेन नित्यसमास एव विधेरारम्भ इति अथवा 'विदादेवृद्धे' ।६।१।४१। इति बिदादिगणपाठसामर्थ्याद् । युधिष्ठिर इत्यत्र च 'अद्व्यञ्जनात्०' ।३।२।१८। इति सूत्रेण सप्तम्या अलुप् । ननु गविष्ठिर इत्यत्रावादेशे कृते 'अद्व्यञ्जनात्०' ।३।२।१८ इति सूत्रेणा ऽलुबिति कथं नोक्तमिति चेत्सत्यं 'लुबन्तरङ्गेभ्यः' इति न्यायात्पूर्वमेव लोपे ऽवादेशा - भावे व्यञ्जनान्तत्वा भावादिति । युधिष्ठिर इत्यत्र तु व्यञ्जनान्तत्वात्तेन लुपपद्यत एवेति ॥२५॥

एत्यकः ।२।३।२६।

कवर्जान्नाम्यादेः परस्य स एति परे समासे ष् स्यात् नाम्नि । हरि-षेणः । श्रीषेणः । अक इति किम् । विष्वक्सेनः ।२६।

हरिर्हरयो वा सेनायामस्येति हरिषेणः । 'गोश्चान्ते०' ।२।४।९६-इति ह्रस्वत्वम् । 'विषु' इत्यव्ययं नानात्वे वर्तते विषु अञ्चतीति क्विपि 'अञ्चोऽनर्चायाम्' ।४।२।४६। इति नलोपः 'अञ्चः' ।२।४।३। इति ङीः, 'अच्च् प्राग्दीर्घश्च' ।२।१।१०४। इत्यकारलोपः पूर्वस्य दीर्घत्वम्, विषूची सेनाऽस्येति 'परतः स्त्री०' ।३।२।४९। इति पुंवद्भावः 'चजः कगम्' ।२।१।८६। इति ककारः, 'धुटस्तृतीयः' ।२।१।७६। इति गकारः, ततो नित्यत्वा-दन्तरङ्गत्वाच्च पूर्वं 'अघोषे प्रथमो०' ।१।३।५०। इति कत्व ततः 'अकः' इति वर्तिष्यमाणात् षत्वं न भवति । अथवा विश्वगित्यव्ययं सामस्त्ये वर्तते विश्वक्

सेनाऽस्य स विष्वक्सेनः ॥२६॥

भादितो वा ।२।३।२७।

नक्षत्रवाचिन इदन्तात् परस्य स एति परे समासे ष् वा स्यात्, नाम्नि । रोहिणिषेणः । रोहिणिसेनः । इतइति किम् । पुनर्वसुषेणः ।२७।

रोहतेः 'द्रु हृ-वृहि-दक्षिभ्यः' (उणा० १९४) इति बहुवचनाद् इणे रोहिणः । ततः 'रेवतरोहिणाद्भे' ।२।४।२६। इति ङीः, 'अस्य ङ्यां लुक्' ।२।४।८६। इत्यकारलोपः । रोहिण्य इव कल्याणिनी सेनाऽस्य 'ङ्यापो बहुल नाम्नि' ।२।४।९८। इति सूत्रेण ईकारस्य ह्रस्वत्वम् पक्षेऽनेन षत्वं 'रघुवर्णा०' ।२।३।६३। इति णत्वं च । रोहिणिषेण एवं नामा राजा । पुनर्वसुषेण इति - पुनर्वसुषेण इत्यत्र पूर्वेण नित्यमेव षत्वम् ॥२७॥

विकुशमिपरेः स्थलस्य ।२।३।२८।

एभ्यः परस्य स्थलस्य सः समासे ष् स्यात् । विष्ठलम् । कुष्ठलम् । शमिष्ठलम् । परिष्ठलम् ।२८।

विष्ठलादिशब्दैः संज्ञाया अप्रतीतेः नाम्नीति नानुवर्तते । तिष्ठत्यत्र सिकतादिकमिति 'स्थो वा' । उणा० ४७३ । इत्यले स्थलम्, विगतं स्थलम् अथवा वीनां पक्षिणां स्थलं विष्ठलम् कुत्सितं स्थलम् अथवा कोः पृथ्व्या स्थलम् कुष्ठलम् विकुशब्दावव्ययावव्ययाविति अव्ययपक्षे 'गति-बवन्य०' ।३।१।४२। इति 'प्रात्यव०' ।३।१।४७। इति च समासोऽन्यत्र षष्ठीसमासः शमिशब्दात् 'इतोऽक्त्यर्थात्' ।२।४।३२। इति ङ्यां शमशब्दात् गौरादित्वाद् ङ्यां समीशब्दः, शमीनां स्थलम् शमिष्ठलम्, 'ङ्यापो बहुलं नाम्नि' ।२।४।९९। इति ह्रस्वः, सूत्रे ह्रस्वस्य शमिशब्दस्योच्चारणाद् दीर्घान्न भवति - शमीस्थलम् बाहुलकादत्र ह्रस्वत्वं न भवति यदुक्तम्-

क्वचित् प्रवृत्तिः, क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद्विभाषा, क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥
परिगतं स्थलम् परिष्ठलम् ॥२८॥

कपेर्गोत्रे ।२।३।२९।

कपेः परस्य स्थलस्य सः समासे ष् स्यात् । गोत्रे वाच्ये । कपिष्ठलः ऋषिः ।२९।

गोत्रमिह लौकिकं ग्राह्यं न तु 'बाह्वादिभ्यो गोत्रे' ।६।१।३२। इति सूत्रोक्तं स्वापत्यसन्तानस्येत्यादि लक्षणं शास्त्रीयम् लोके येऽपत्यसन्ततेः वर्तयितारः यन्नाम्नोऽपत्यसततिर्व्यपदिश्यते तेऽभिधीयन्ते । कपीनां स्थलमिव स्थलमस्य स कपिष्ठलः ऋषिः । गोत्रवाच्यत्वाभावे तु कपीनां स्थलम् कपिस्थल-मिति ॥२९॥

गोऽम्बाऽऽम्बसव्यापद्वित्रिभूम्यग्निशेकुशङ्कुकङ्गुमञ्जिपुञ्जिबर्हिः परमेदिवेः स्थस्य ।२।३।३०।

एभ्यः परस्य स्थस्य सः समासे ष् स्यात् । गोष्ठम् । अम्बष्ठः । आम्बष्ठः । सव्यष्ठः । अपष्ठः । द्विष्ठः । त्रिष्ठः । भूमिष्ठः । अग्निष्ठः । शेकुष्ठः । शङ्कुष्ठः । कुष्ठः । अङ्गुष्ठः । मञ्जिष्ठः । पुञ्जिष्ठः । बर्हिष्ठः । परमेष्ठः । दिविष्ठः ।३०।

अम्बा, आम्ब, सव्य - अप इत्येतेभ्योऽनाम्यन्तत्वादप्राप्तं षत्वं विधीयते इतरेभ्यः पदादित्वात्प्रतिषिद्धं पुनर्विधीयते, बर्हिःशब्दस्य शिङ्क्स्त्वात्प्राप्तम् । गोऽम्बादीनां दिविपर्यन्तानां प्रायोगिकाणामनुकरणम् । परमेदिवि शब्दौ सप्तम्यन्तौ । स्थस्येति तिष्ठतेः स्थ इति रूपस्यानुकरणम् गोम्बेति - अम्बष्ठः 'ङ्यापो बहुलं नाम्नि' ।२।४।९९। इति ह्रस्वत्वम् हिल-

ष्टनिर्देशात् अम्बाष्ठः इत्यपि भवति । अम्बायां भवः आम्बः, आम्बे तिष्ठतीति आम्बष्ठः। परमेष्ठः, गविष्ठ इत्यत्र सूत्रनिर्देशादेव सप्तम्या अलुप् 'तत्पुरुषे कृति' ।३।२।२०। इति तु न 'नेन्सिद्धस्थे' ।३।२।२९। इति निषेधात् । शेकुरुदिभदिवशेष । सर्वत्र स्थापास्ना०' ।५।१।१४२। इति कः 'इडेत्पुसि०' ।४।३।९४। इत्याकारलोपः' अंगनिष्ठनीत्यत्र तु 'उपसर्गादातो०' ।५।१।५६। इति डः, अधिकरणे तु गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति 'स्थादिभ्यः कः' ।५।३।८२। इति के गोष्ठम् ॥३०॥

निदुस्सोः सेधसन्धिसाम्नाम् ।२।३।३१।

एभ्यः परेषां सेधादीनां सः समासे ष् स्यात् । निःषेधः । दुःषेधः सुषेधः । निःषन्धिः । दुःषन्धिः । सुषन्धिः । निःषाम । दुःषाम । सुषाम ।३१।

वचन-भेदाद्यथासङ्ख्याभावः । निषेध इत्यादि सेधनं सेधः 'भावाकर्त्रोः' ।५।३।१८। इति घञ्, निर्गतः सेधः, दुर्गतः सेधः । अत्र गमि - वाच्यक्रियाया विशेषकौ न तु सेधतेरिति 'येन धातुना युक्ता प्रादयस्तम्०' इति न्यायाद् सेधिं प्रत्युपसर्गत्वाभावात् 'स्था - सेनि०' ।२।३।४०। इति सूत्रेण षत्वं न प्राप्नोति यद्वा गतावयं सेधतिरिति 'गतौ सेधः' ।२।३।६१। इति प्रतिषेधात् षत्वं न प्राप्नोतीति वचनम् । शोभनः सेधः 'सुः पूजायाम्' ।३।१।४४। इति समासः, 'धातोः पूजार्थ०' ।३।१।१। इत्युपसर्गत्व भावादनेन षत्वम् । संधानं संधिः 'उपसर्गाद्दः किः ।५।३।८७। इति किः, निर्नष्टः सन्धिः, दुष्टः सन्धिः 'प्रात्यव०' ।३।१।४७। इति 'दुर्नि०' ।३।१।४३। इति च समासः निर्गतं दुष्टं शोभनं वा सामेति । अत्र 'शषसे शषसं वा' ।१।३।६। इति रेफस्य विकल्पेन सत्त्वेऽनेन शिडन्तरत्वात् परसकारस्य षत्वे पूर्वस्य च 'सस्य शषौ' ।१।३।६१। इति षत्वे निष्षेधादयः इत्यपि ॥३१॥

षष्ठ्योऽग्न्यगो ।२।३।३२।

प्रात् स्थस्य सः ष् स्यात् अग्रगामिन्यर्थे । प्रष्ठो–ऽग्रगः ।३२।

प्रतिष्ठते इति 'उपसर्गादातो डोऽश्यः' ।५।१।५६। इति डः न तु 'स्था-पा०' ।५।१।१४२। इति कः 'नामग्रहणे प्रायेणोपसर्गस्य न ग्रहणम्' इति न्यायात् । अग्रगे - अग्रे गच्छतस्येव घ लः 'अजातेः शीले' ।५।१।१५४। इति णिन् । अग्रगामिन्यर्थाभावे तु प्रस्थ इति ॥३२॥

भीरुष्ठानादयः ।२।३।३३।

एते समासे कृतषत्वाः साधवः स्युः । भीरुष्ठानम् । अङ्गुलिषङ्गः ।३३।

भीरूणां स्थानं भीरुष्ठानम् अङ्गुलीनां सङ्गः अङ्गुलिषङ्गः । समासाभावे तु भीरोः स्थानमित्यादि ॥३३॥

ह्रस्वान्नाम्नस्ति ।२।३।३४।

नाम्नो विहिते तादौ प्रत्यये ह्रस्वान्नामिनः परस्य सः ष् स्यात् । सर्पिष्टा । वपुष्टमम् । नामिन इत्येव । तेजस्ता ।३४।

सर्पिषो भावः 'भावे त्वतल्' ।७।१।५५। इति तल् । अमीषां प्रकृष्टं वपुरिति । 'प्रकृष्टे०' ।७।३।५। इति तमपि वपुष्टमम् 'तवर्गस्य०' इति टत्वम् ॥३४॥

निसस्तपेऽनासेवायाम् ।२।३।३५।

निसः सस्तादौ तपतौ परे ष् स्यात्, पुनः पुनः करणाभावे । निष्टपति स्वर्णं सकृदग्निं स्पर्शयतीत्यर्थः । तीत्येव निरतपत् ।३५।

अन्त्यस्वादप्राप्ते वचनम् । पुनः पुनः करणमासेवा तदभावोऽनासेवा । तपे इति शव्निर्देशो तपं धुप संतापे इति स्वादि-परिग्रहार्थः, तेन दैवादिक-तपिच् ऐश्वर्ये वा धातुर्न ग्राह्यः यङ्लुब्निवृत्त्यर्थश्च तेन निस्तातप्ति, निस्तात गीतीति । भृशमत्यन्त तपति ति'व्यञ्जनादे०'३।४।९। इति यङ् न तु आभीक्ष्ण्ये यङ्,अनासेवायामिति निषेधात् 'बहुलं लुप्' ।३।४।१४। इति यङ्-लुप् 'सन्यङश्च' ।४।१।३। इति द्वित्वम्, 'आगुणा०' ।४।१।४८। इत्यात्वम्, 'यङ्तुरुस्तो०' ।४।३।६४। इति विकल्पेन ईत् ॥३५॥

घस्वसः ।२।३।३६।

नाम्यादेः परस्य घस्वसोः सः ष् स्यात् । जक्षुः । उषितः ।३६।

घस्लृं अदने (५४४) इति प्रकृत्यन्तरमेव ग्राह्यं 'परोक्षायां न वा' ।४।४।१८। इत्यदादेशस्य घसेस्तु कृतत्वेनैव षत्वस्य सिद्धत्वात्, 'शुद्धधातूनामकृत्रिमं रूपमिति' धातुपाठपठिता धातवः शुद्धधातवस्तेषां कृतत्वाभावादकृतसकारार्थं वचनम्, । वसिक् आच्छादने इत्यदादिकस्य य्वृदभावेन नामिनःसस्यासम्भवात् स्वादिकस्यैव 'वसं निवासे' इत्यस्य ग्रहणम्, 'अदाद्यनदाद्यो०' इति न्यायाद्वा । घस्लृं अदने परोक्षाया उसि द्वित्वे 'द्वितीयतुर्ययोः०' ।४।१।४२। इति घस्य गत्वे 'गहोर्जः' ।४।१।४०। इति गस्य जत्वे 'गमहनजन०' ।४।२।४४। इति घसोऽकारलोपेऽनेन सस्य षत्वे 'अघोषे प्रथमो०' ।१।३।५। इति घस्य कत्वे च जक्षुरिति । वसं निवासे ।९९९। उष्यते स्म वसति स्मेति क्तप्रत्यये 'क्षुधवस०' ।४।४।४३। इतीटि 'यजादिवचेः०' ।४।१।७२। इति य्वृत्यनेन षत्वे च उषितः ॥ ३६ ॥

णिस्तोरेवाऽस्वदस्विदसहः षणि ।२।३।३७।

स्वदादिवर्जानां ण्यन्तानां स्तोरेव च सो नाम्यादेः परस्य षत्वभूते सनि ष् स्यात् । सिषेवयिषति । तुष्टूषति । स्वदादिवर्जनं किम् । सिस्वादयिषति । सिस्वेदयिषति । सिसाहयिषति । एवेति किम् । सुसूषति । षणीति किम् । सिषेव । षत्वं किम् । सुषुप्सति ।३७।

र्त्तं त्रिसाहचर्यात्स्वदादिपयुं दासेन सदृशग्रहणाच्च ण्यन्तानामपि षोपदेशानामेव ग्रहणम्, तथा च कृतत्वात् 'नाम्यन्तस्थाकवर्गात्०' ।२।३।१५। इत्येव सिद्धे नियमार्थमिदम् । णिस्तोरेव षणि षत्वं नान्यस्य इति नियमाद् सुसूषति इत्यत्र 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इतिसूत्रेण षत्व न भवति । एवकारो णिस्तोः षण्येवेति विपरीतनियमवारणार्थः तेन असिषिचद् तुष्टावेत्यत्र षत्वं भवत्येव सिञ्चतेर्णिगि,गुणे,अद्यतन्यां दिप्रत्यये,'णि-श्रि-द्रु-०' ।३।४।५८। इति ङे, द्वित्वे ह्रस्वत्व 'उपान्त्यस्या०' ।४।२।३५। इत्युपान्त्यह्रस्वत्वे 'लघोर्दीर्घो०' ।४।१।६४। इति पूर्वस्य दीर्घत्वे णिलोपे एवकारोपादाने 'यत एवकारस्ततोऽवधारणम्' इति न्यायाद्विपरीतनिवृत्ते-र्ण्यन्तधातुसस्य षत्वे च असीषिचदिति । एवं स्तौतेर्णं विद्वित्वादौ च तुष्टावेति । सिषेवयिषतीति–सीव्यति तमन्यः प्रयुङ्क्ते इति णिगि उपान्त्यगुणे सेवयितुमिच्छतीति सनि गुणे 'सन्यङश्च' ।४।१।३। इति द्वित्वे, ह्रस्वत्वे'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति सनः सस्य षत्वेऽनेन धातुसस्य षत्वे च सिद्धम् । तुष्टूषतीति–स्तोतुमिच्छतीति सनि स्वरहन०' ।४।१।१०४। इति दीर्घत्वे द्वित्वे 'अघोषे शिटः' ।४।१।४५। पूर्वस्य लुचि प्रकृतिप्रत्यययोः पूर्ववत् षत्वे 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। इति टत्वे रूपमिदम् । सिस्वादयिषतीत्यादि– 'स्वादि आस्वादने' ।७३१। ञिष्विदाङ् मोचने च (९४६) 'षहि मर्षणे' (९९०) स्वादमानं स्वेदमानं सहमानं प्रयुङ्क्ते इति णिगि स्वादयितुं साहयितुमिच्छतीति सनि 'सन्यस्य' ।४।१।५९। इति सूत्रेणाभ्यासे इत्वे च सर्वं सिद्धम् । सुसूषतीति– षुंगट् अभिषवे सोतुमिच्छतीति सनि 'स्वरहनगमः०' ।४।१।१०४। इति दीर्घत्वे चेदं निष्पन्नम् । सुषुप्सतीति– कृतषकारस्य सन उपादानादत्र षत्वभूतसनोऽभावात् नियमाभावात् 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति षत्वं भवति । स्वप्तुमिच्छतीति सन् 'स्वपेर्यङ्ङे च' ।४।१।८०। इति य्वृत् द्वित्वादिश्च ।।३७।।

सञ्जेर्वा ।२।३।३८।

ण्यन्तस्य सञ्जेर्नाम्यादेः परस्य सः षणि ष् वा स्यात् । सिषञ्जयिषति, सिसञ्जयिषती ।३८।

इकारान्तनिर्देशात् सञ्जिरिह ण्यन्तो गृह्यतेऽत एवात्र प्रकरणे इकार उच्चारणार्थो न कुत्रापि विहितः सञ्जेर्णिगि सञ्जयितुमिच्छतीति

सनि द्वित्वादौ वाऽनेन षत्वे च सिषञ्जयिषत इत्यादि ॥३८॥

उपसर्गात् सुग्सुवसोस्तुस्तुभोऽट्यप्यद्वित्वे ।२।३।३९।

द्वयुक्ताभावे सुनोत्यादेः स उपसर्गस्थान्नाम्यादेः परस्य ष् स्यात् अड्व्यवधानेऽपि । सुग् । अभिषुणोति । नीःषुणोति, पर्यषुणोत् । सुव । अभि- षुवति । पर्यषुवत् । सो । अभिष्यति । पर्यष्यत् । स्तु । अभिष्टौति । दुष्टवम् । पर्यष्टौत् । स्तुभ् । अभीष्टोभते । पर्यष्टोभत । अद्वित्व इति कीम् । अभिसुसूषषि ।३९।

सुगिति गकारोपादानात् षुगट् अभिषवे इति ग्रहणम्तेन 'षुंक् प्रसवैश्वर्ययः' इत्यदादेः, सुं प्रसवैश्वयर्योः इति भ्वादेग्रहणाभावात् अभिसोति अभिसवत इत्यत्र न भवति । सुवेति-शनिर्देशात् 'षूत् प्रेरणे' इति । षूङौक् प्राणि-गर्भ-विमोचने' षूङो - च् प्राणिप्रसवे इत्यनयोर्न भवति अभिसूते अभि-सूयत इति । **निःषुणोतीति**– शिड्नान्तरेपीत्यधिकारात् । **अभिष्यतीति**– 'ओतः श्ये' ।४।२।१०३। इत्योकारलोपः । **अभिष्टौतीति**– 'उत । औविति०' ।४।२।५९। इत्योकारः । पदादौ प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । **अतिसुसूषतीति**– सुनोतेः अद्वित्व इति वचनात् उपसर्गात् परस्य सस्य षत्वमनेन व्यावर्त्यते मूलधातुसकारस्य तु णिस्तोरेवेति नियमाद्व्यावृत्तिः । कथम् अभिषुण्वन्तं प्रयुङ्क्ते इति अभिषावयति ? अत्रोपसर्गसम्बन्धे सति णिः ण्यन्तानां धातूनां धात्वन्तरत्वात्तेभ्य उपसर्ग-संबन्धे सति न भवति यथा अभिसावयतीति । कथं सुस्तुतम्, अतिस्तुतमिति ? पूजायां सोः पूजातिक्रमयोश्चातेरुपसर्गत्वा-भावादिति । अत्र अट्यपीति भणनात् 'आगमा यद्गुणा०' इति न्यायस्या-नित्यता ज्ञापिता । ज्ञापिते चास्या नित्यत्वे अट्यपीति सार्थकमिति । वस्तुतस्तु उपसर्गात्परस्येति विशेषणं न सुनोत्यादेः धातोः किन्तु सकारस्य इत नानेन 'आगमा यद्गुणी०' इति न्यायस्यानित्यता ज्ञापयितुं शक्या तथा ह्यत्राटि कृतेऽकारेण व्यवधानात् सकारस्याव्यवहित नास्तीति अट्यपीति वचनम् । अत्र 'कृतेऽन्यस्मिन् धातु प्रत्ययकार्ये पश्चाद्वृद्धिस्तद्बाध्योऽट् च' इति न्याय-नापि सिद्धौ अट्यपीति वचनमस्य न्यायस्यांशस्यानित्यतां ज्ञापयति । तत-श्चास्यानित्यतया कदाचित्परत्वादिभिर्हेतुभिरडपि पूर्वं प्रवर्तेत तदापि षत्वं

निध्ये इत्येतदर्थं अटघपीति सार्थकमेव ॥३९॥

स्थासेनिसिधसिचसञ्जां द्वित्वेपि ।२।३।४०।

उपसर्गस्थान्नाम्यादेः परेषां स्थादीनां सः ष् स्यात् द्वित्वेऽप्यटघपि । अधीष्ठाष्यति । अधितष्ठौ । अध्यष्ठात् । अभिषेणयति । अभिषिषेणयिषति । अभ्यषेणयत् । प्रतिषेधति । प्रतिषिषेधिषति । प्रत्यषेधत् । अभिषिञ्चति । अभिषिषिक्षति । अभ्यषिञ्चत् । अभिषजति, अभिषषञ्ज, अभ्यषजत् ।४०।

सेनया अभियातीति 'णिज्बहुलं ।३।४।४२। इति णिचि 'त्र्यन्त्यस्वरादेः ।७।४।४३। इत्यन्त्यस्वरलोपे अभिना योगे तिवादावनेन षत्वे च । **अभिषेणयतीति**— अभिषेणयितुमिच्छतीति अभिषिषेणयिषति अभ्यषेणयत्-ह्यस्तनीदिव् । षिचींत् क्षरणे 'मुचादि-तृफ-दृफ०' ।४।४।९९। इति नोऽन्ते 'म्नां धुड्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते' ।१।३।३९। इति ञकारे च । **अभिषिञ्चतीति**-अभिषेक्तुमिच्छतीति-सनि 'चजःकगम्' ।२।१।८६। इति कत्वे 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति सनःसस्य षत्वे द्वित्वेपीति वचनादनेन द्वयो-सकारयोः षत्वे च । **अभिषिषिक्षति** - 'षञ्ज सङ्गे' दंशसञ्जः०'।४।२।४९। इति शवि नलोपे च । **अभिषजति** - सेनेष्यादेशार्थं स्थासञ्जोरवर्णान्तव्यवधानेऽपि विध्यर्थं सिच्-सञ्ज-सेधां षणि नियमबाधनार्थं सर्वेषामड्व्यवधाने पदादौ च षत्वार्थं वचनम् । सेधेति कृतगुणस्य निर्देशः सिध्यतिनिवृत्त्यर्थः तेन अभिसिध्यति इत्यत्र न भवति । अकारस्तूच्चारणार्थः न तु शव्निर्देशः तेन यङ्लुप्यपि भवति प्रतिषेषिधीति । 'शिड्नान्तरेपि' इति वचनादन्यव्यवधानस्यानिष्टत्वात् द्वित्वव्यवधानं निषिद्धं तथापि 'स्वाङ्गमव्यवधायि' इति न्यायेन पुनः प्रसूतम् पि न्यायानामनित्यत्वात् प्रवृत्तेविश्वासः कर्तुमयोग्य इति सूरिणा 'द्वित्वेपि ' इति भणितमिति 'द्वित्वेपि' इति वचनादनित्यताऽस्य ज्ञापिते । वस्तुतस्तु उपसर्गात्परत्वं न धातोर्विशेषणं किन्तु सस्येति द्वित्वेन व्यवधानात्प्राप्त्यभावादुक्तं द्वित्वेपीति । नाऽनेन न्यायस्यानित्यत्वाश्रयणं युक्तम् । कथं सुस्थितः दुस्थित इति ? उपसर्गसदृशा निपाता एवेत्युपसर्गत्वा - भावात् न षत्वम् ॥४०॥

अङ्प्रतिस्तब्धनिस्तब्धे स्तम्भः ।२।३।४१।

उपसर्गान्नाम्यादेः परस्य स्तम्भस्सो द्वित्वेऽप्यटचपि ष् स्यात् । न चेत् स्तम्भिर्ङ्प्रतिस्तब्धनिस्तब्धयोश्च स्यात् । विष्टभ्नाति । वितष्टम्भ । प्रत्यष्टभ्नात् । ङादिवर्जनं किम् । व्यतस्तम्भत् । प्रतिस्तब्धः । निस्तब्धः ।४१।

नचेदित्यादि– न चेदसौ ङ विषये प्रतिस्तब्धनिस्तब्धयोश्च विषययोः स्यादिति– अत्राश्रयः आधारमात्रं न तु अनन्यत्रभावलक्षणस्तद्विशेषस्तस्मिन्निति । विष्टभ्नातीत्यादि-'स्तम्भू रोधने' इति सौत्रात् 'स्तम्भूस्तुम्भू०' ।३।४।७८। इति श्ना 'शिदवित्' ।४।३।२०। इति ङिद्वद्भावात् 'नो व्यञ्जनस्या०' ।४।२।४५। इति नलोपश्च । उपलक्षणत्वात् ष्टभुङ् स्तम्भे ७८१ विष्टम्भते इत्याद्यपि ज्ञेयम् । ष्टभुङ इत्यस्य लाक्षणिकत्वात् न ग्रहणमित्यपरे । प्रागायणकारैस्तु अस्यापि षत्वं कृतमेवमुत्तरसूत्रेऽपि ज्ञेयम् । व्यतस्तम्भदिति । स्तम्भूधातोः णिगि ङिप्रत्यये 'णिश्रिद्रुस्रु०' ।३।४।५८। इति ङे द्वित्वादौ ङविषयत्वात्षत्वाभावे च सिद्धम् । प्रतिस्तब्ध इत्यादि– प्रतिपूर्वान्निपूर्वाच्च स्तम्भूधातोः क्तप्रत्यये 'नो व्यञ्जनस्या०' ।४।२।४५। इति नलोपे 'अधश्चतुर्थात्तथोर्धः' ।२।१।७९। इति तस्य धत्वे 'तृतीयस्तृतीय०' ।१।३।४९। इति भस्य तृतीयत्वे च सिद्धम् ॥४१॥

अवाच्चाश्रयोर्जाविदूरे ।२।३।४२।

अवादुपसर्गात् परस्य स्तम्भः स आश्रयादिषु गम्यमानेषु द्वित्वेऽप्यट्यपि ष् स्यात् । ङविषयश्चेत् स्तम्भिर्न स्यात् । आश्रय आलम्बनम् । दुर्गमवष्टभ्नाति । अवतष्टम्भ । अवाष्टभ्नाद्वा । ऊर्जं औजित्यम् । अहो वृषभस्यावष्टम्भः । अविदूरमासन्नमदूरासन्नं च अवष्टब्धा शरत् । अवष्टब्धा सेना । चोऽनुक्तसमुच्चये । तेन उपष्टम्भः । अङ इत्येव । अवातस्तम्भत् ।४२।

समुदाय यामुवृत्तावपि व्यभिचाराद् अङः इत्यस्यैव ग्रहणमत आह-ङविषयश्चेदित्यादि। दुःखेन गम्यतेऽस्मिन्निति दुर्गः पन्थः 'सुगदुर्गमाधारे' ५।१।१३२। इति सिद्धिः। अत्र च व्युत्पत्तौ कर्मव्युत्पत्तौ तु खल् भवति। दुर्गं नगरादि अत्र बिल्वत्वम्। ऊर्जण् बलप्राणनयोः १५८२। ऊर्ज ओजित्यं सुबलत्वमिति यावत्। **अविदूरमिति**- विशिष्टं दूरं विदूरं प्रादिसमासे, न विदूरं अविदूरमिति तदन्यग्रहणात् तत्सदृशग्रहणाच्च तदन्यदसन्न सदृशं चासन्नमिति यच्च नासन्नं नापि दूरमित्यर्थः **अवष्टब्धा शरदिति**- नातिदूरे-त्यर्थः। **चोऽनुक्तसमुच्चय इति**- तेनोपदपि भवति उपावादित्यकृत्वा चकारेणानित्यार्थं तेन उपस्तब्धं इत्यपि भवति। ननु तर्हि वोपादित्यतः सूत्रात्पृथगेव कथं न कृतमिति चेत् सत्यम् विचित्रा सूत्रकृतिरिति। उपलक्षणत्वाच्चकाराऽङ इत्यस्यानुवृत्त्यर्थोऽपि। आश्रयादित्यविति भणनात् अवष्टब्धः वृषलः शीतेनेत्यत्र न भवति शीतेनादितः सङ्कुचितो जात इत्यर्थः ॥४२॥

व्यवात् स्वनोऽशने ।२।३।४३।

वेरवाच्चोपसर्गात् परस्य स्वनः सोऽशने भोजने द्वित्वेऽप्यटयपि षः स्यात्। विष्वणति। अवष्वणति। विषष्वाण। अवषष्वाण। व्यष्वणत्। अवाष्वणत्। व्यषिष्वणत्। अवाषिष्वणत्। अशन इति किम्। विस्वनति मृदङ्गः।४३।

वेः परस्य स्वनतिसस्याकृतत्वात्पदादित्वादप्राप्तेऽत्र पुनरनाम्यन्तत्वाच्चेदमारभ्यते। पूर्वसूत्रे चानुकृष्टत्वादिङः इति नानुवर्तते। **अशने भोजन इति**- 'स्वन शब्दे' इत्युक्तावप्यनेकार्थत्वाद्धातूनां विशिष्टोपसर्गस्वनिरेवाशने वर्तते। विष्वणति-, अवष्वणतीति- भुङ्क्ते इत्यर्थः। विषष्वाण-णव्, 'ञ्णिति' ।४।३।५०। इति वृद्धिः। **व्यषिष्वणदिति**-स्वनेर्णिगन्ताद् अद्यतन्या दिप्रत्यये 'णिश्रिद्रु०' ।३।४।५८। इति ङे 'उपान्त्यस्या०' ।४।२।३५। इति ह्रस्वत्वे 'आद्योंऽशः०' ।४।१।२। इति द्वित्वेऽनादिव्यञ्जनलोपे 'असमानलोपे सन्वद्०' ।४।१।६३, इति पूर्वस्येत्त्वे च सिद्धम्। **विस्वनति मृदङ्ग- इति**-विविधं शब्दं करोतीत्यर्थः ॥४३॥

सदोऽप्रतेः परोक्षायां त्वादेः ।२।३।४४।

प्रतिवर्जोपसर्गस्थान्नाम्यादेः परस्य सदः सो द्वित्वेप्यट्यपि ष् स्यात् । परोक्षायां तु द्वयुक्तौ सत्यामादेः पूर्वस्यैव । निषीदति । विषाषद्यते व्यषीदत् । परोक्षायां त्वादेरेव । निषसाद । अप्रतेरिति किम् । प्रतिसीदति ।४४।

उपसर्गादित्यनुवर्तते । व्यवादित्यस्य नुवृत्तौ प्रतिवर्जनानर्थक्यं । स्यात् । **निषीदतीति-**षद्लृ विशरणादौ,षद्लृ त् अवसादने इत्युभयोर्ग्रहणम् । 'श्रौतिकृवु०' ।४।२।१०८। इति सीदादेश:,स्थानिवद्भावात्सत्वम् । **विषाषद्यत इति–** गर्हित विषदत ति गृ_-लुप०' ।३।४।१२। इति यङ्,द्वित्वम्' आगुणाव०' ।४।१।४८। इत्यात्त्वम् । **व्यषीषददिति–** णौ अद्यतन्या दौ ङे ह्रस्वे द्वित्वे 'असमान०' ।४।१।६३। इति पूर्वस्येत्वे 'लघोर्दीर्घो०' ।४।१।६४। इति दीर्घत्वे च सिद्धम् । तुर्विशेषार्थः परोक्षायामेष विशेषोऽन्यत्र तूभयत्र पि भवति ॥४४॥

स्वञ्जश्च ।२।३।४५।

उपसर्गस्थान्नाम्यादेः परस्य स्वञ्जः सो द्वित्वेप्यट्यपि ष् स्यात् । परोक्षायां त्वादेरेव । अभिष्वजते । अभिषिष्वङ्क्षते । प्रत्यष्वजत । परिषस्वजे ।४५।

अभिष्वजत इति–'ष्वञ्जित् सङ्गे' तुदादित्वाच्छः, 'शिदविद्' ।४।३।२०। इति ङिद्वद्भावात् 'नो व्यञ्जनस्या०' ।४।२।४५। इति नलोपेऽनेन षत्वम् । **अभिषिष्वङ्क्षते इति–** नन्वत्र 'णिस्तो०' ।२।३।३७। इति नियमात् मूर्धन्यात् सकारस्य षत्वं न प्राप्नोतीति चेत्सत्यं 'स्पर्द्धे' ।७।४।११९। इति परत्वादिदमेव प्रवर्तते इति । **परिषस्वज इति-**अत्र'स्वञ्जेर्नवा'।४।३।२२। इति पक्षे परोक्षाया: किद्वद्भावान्नलोप: । योगविभागादप्रतेरिति नानुवर्तते, चकार: परोक्षायां त्वादेरित्यस्यानुकर्षणार्थः ततश्च 'चानुकृष्टं नानुवर्तते' इति न्यायादुत्तरत्राननुवृत्तिः ॥४५॥

परिनिवेः सेवः ।२।३।४६।

पर्यादिभ्य उपसर्गस्थान्नाम्यादेः परस्य सेवतेः सो द्वित्वेऽप्यड्व्यपि ष स्यात्। परिषेवते। परिषिषेवे। परिषिषेविषते। पर्यषेवत। निषेवते। विषिषेवे ।४६।

षेवृङ् सेवृङ् सेवने इति षोपदेशस्य षद्यादित्वात्षोपदेशस्य तु मूलत एवाप्राप्ते वचनम्। परिनिवेरित्युपादानात् अन्योपसर्गपूर्वस्य तु न भवति- अनुसेवते, प्रतिसिषेवे। अत्रोपसर्गाश्रितं षत्वं न भवति द्वित्वाश्रितं तु 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इत्यनेन भवत्येव ।।४६।।

सयसितस्य ।२।३।४७।

परिनिवेः परस्य सयसितयोः सः ष स्यात्। परिषयः। निषयः। विषयः। परिषितः। निषितः। विषितः ।४७।

सय इति सिनोतेः 'युवर्ण०' ।५।३।२८। इत्यलन्तस्य 'अच्' ।५।१।४९। इत्यजन्तस्य 'पुन्नाम्नि०' ।५।३।१३०। इति घान्तस्य वा रूपमिदम् सित इति क्तान्तस्य रूपम्। स्यतेः नियमार्थम्। नियमश्चेत्थम्। 'उपसर्गात्सुग्सुवसो०' ।२।३।३९। इत्येव सिद्धे परिनिविभ्य एव क्तान्तस्य स्यतेः यथा स्यात् नान्योपसर्गपूर्वस्य 'उपसर्गा०' ।२।३।३९। इत्यनेनापि न भवति—प्रतिसितः, निःसितः। योगविभागाद् द्वित्वेऽपीत्यपि नानुवर्तते इति निवृत्तम् तेन विषयमाख्यत् 'णिजबहुलं०' ।३।४।४२। इति विपूर्वात्सयशब्दात् णिजन्तात् माङ्सहितादद्यतन्यां 'णिश्रिद्रु०' ।३।४।५८। इति ङे द्वित्वे कर्तव्ये 'णषमसत्०' ।२।१।६०। इत्यनेन षत्वनिवृत्तौ 'अन्यस्य' ।४।१।८। इति द्वित्वे मा विषसयद् इत्यत्र द्वित्वे सति पूर्वेण व्यवधानादुत्तरस्य न भवति पूर्वस्य त्वव्यवहितत्वाद् भवत्येव एवं विषयमैच्छत् क्यनि ईकारे व्यसयीयदित्यत्र, परिषितं इवाचरत् क्यङ् 'दीर्घश्च०' ।४।३।१०८। इति दीर्घत्वे च पर्यसितायतेत्यत्र षत्वं न भवति ।।४७।।

असोङसिवूसहस्सटाम् ।२।३।४८।

परिनिविभ्यः परस्य सिवूसहोः स्सटश्च सः ष् स्यात्, न चेत् सिवूसहौ सो ङविषयौ स्याताम् । परिषीव्यति । निषीव्यति । विषीव्यति । परिषहते । निषहते । विषहते । परिष्करोति । विष्किरः । असोङेति किम् । परिसोढः । मा परिसीषिवत् । मा परिसीषहत् ।४८।

सोश्च ङश्च सोङौ । न विद्येते सोङौ ययोस्तौ असोङौ । सिवूश्च सहश्च सिवूसहौ । असोङौ च तौ सिवूसहौ च, असोङसिवूसहौ च स्सट् च तेषाम् । सोढ इत्यादिप्रयोगस्थस्य सहेरवयवस्य 'सो' इत्यस्यानुकरणम् । द्वित्वे पीत्यस्य निवृत्तत्वात् पर्यादिभ्योऽनन्तरस्यैव सस्य षत्व-विधानात् स्सटस्तु ङप्रत्यये द्वित्वेन व्यवधानात् प्राप्तेरभावात् असोङेति प्रतिषेधाभाव इति । **परिषीव्यतीति**— 'षिवूच् उतौ' 'स्व देर्नामिनो०' ।२।१।६३। इति दीर्घत्वम् । **परिष्करोतीति**— 'सं - परेः कृगः०' ।४।४।९२। इति स्सट् । **विष्किर इति**— 'वौ विष्किरो वा' ।४।४।९६। इति स्सडागमः, नेस्तु परः स्सड् नास्तीति नोदाह्रियते । **परिषोढ इति**—'सहिवहेरोच्चा०' इत्योत्वम् । अत्र सहेः सोविषयत्वान्न भवति । सोप्रतिषेधस्तु सहेरेव न तु सिवेः तस्य स्वरूपासम्भवाद् । सिवोऽनुबन्धनिर्देशाद्यङ् लुपि न भवति परिसेषिवीति । –तिवा शव नुबन्धेन, निर्दिष्टं यद्गणेन च । एकस्वरनिमित्तं च, पञ्चैतानि न यङ् लुपि ।। बहुवचनं परि-नि-विभिः सह यथासङ्ख्याभावार्थम् । अन्यथा परिनिवेरित्यस्य त्रित्वसङ्ख्यत्वात् सिवूसहस्सटामित्यनेन यथासङ्ख्यं स्यात् । **मा परिसीषिवदित्यादि** – षिवूच्धातोः सीव्यन्तं प्रयुङ्क्ते सहमानं प्रयुङ्क्ते इति णिग्, सह इत्यत्र 'ञ्णिति' ।४।३।५०। इति वृद्धिः, 'माङ्यतन्यां' ।५।४।३९। इत्यद्यतन्या दिव्, 'णिश्रिदुस्रु०' ।३।४।५८। इति ङः, 'उपान्त्यस्यासमान०' ।४।२।३५। इति ह्रस्वत्वं, 'णेरनिटि' ।४।३।८३। इति, णिलोपः, 'असमान०' ।४।१।६३। इति यथायोगमभ्यासे इत्वम्, 'लघोर्दीर्घ०', ।४।१।६४। इति दीर्घत्वम् अत्र मूलधातोस्तु 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इत्यनेन षत्वं भवत्येव ।।४८।।

स्तुस्वञ्जश्चाटि नवा ।२।३।४९।

परिनिवेः परस्य स्तुस्वञ्जोरसोढसिवुसहस्सटां च सोऽटिसति ष् वा स्यात् । पर्यष्टौत् । पर्यस्तौत् । न्यष्टौत् । व्यष्टौत् । व्यस्तौत् । पर्यष्वजत् । पर्यस्वजत् । न्यष्वजत् । न्यस्वजत् । व्यष्वजत् । व्यस्वजत् । पर्यषीव्यत् । पर्यसीव्यत् । न्यषीव्यत् । न्यसीव्यत् । व्यषीव्यत् । व्यसीव्यत् । पर्यषहत । पर्यसहत । न्यषहत । न्यसहत । व्यषहत । व्यसहत । पर्यष्करोत् । पर्यस्करोत् । असोढसिवुसहेत्येव । पर्यसोढयत् । पर्यसीषीवत् । पर्यसीषहत् ।४९।

पर्यष्टौदिति-'उत औ०' ।४।३।५९। इत्यौत्वम् । 'उपसर्गात्सुग०' ।२।३।३९। इति स्वञ्जश्च' ।२।३।४५। इत्याभ्यां स्तुस्वञ्जोर्नित्यं प्राप्ते सिवु - सह - स्सटां चाप्राप्ते विभाषा ॥४९॥

निरभ्यनोश्च स्यन्दस्याप्राणिनि ।२।३।५०।

एभ्यः परिनिवेश्च परस्याप्राणिकर्तृकार्थवृत्तेः स्यन्दः सः ष् वा स्यात् । निःष्यन्दन्ते । निःस्यन्दन्ते । अभिष्यन्दन्ते । अभिस्यन्दन्ते । अनुष्यन्दते । अनुस्यन्दते । परिष्यन्दते । परिस्यन्दते । निष्यन्दते । निस्यन्दते । विष्यन्दते । विस्यन्दते तैलम् । अप्राणिनीति किम् । परिस्यन्दतेमत्स्य यः ।५०।

निःष्यन्दतइति-'स्यन्दौङ् श्रवणे' इति स्यन्दतेरकृतसकारत्वान्मूलत एवाप्राप्तौ वचनम् । शव्निर्देशात् यङ्लुपि न भवति । अभिजन्स्यन्दीति तेरम् । अत्रसूत्रे न-

वा नत्रेयम्-असम्भवाच्च चैकवाक्यत्वे वाक्यभेदाश्रयणस्यायुक्तत्वात्। प्रसज्ये तु न चेदित्यादि वाक्यभेदस्यावश्यंभावित्वात् पर्युदासोऽयं न तु प्रसज्यप्रतिषेधः पर्युदासे विधेः प्राधान्यात् यत्र प्राणी चाप्राणी च कर्ता भवति तत्र प्राण्या-श्रयो विकल्पो भवति न तु प्राण्याश्रयः प्रतिषेधः - अनुष्यन्देते मत्स्योदके अनुस्यन्देते मत्स्योदके। ननूदकस्यापि 'पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च' इत्यादि-प्राणलक्षणयोगित्वात् उदकस्यापि प्राणित्वमिति चेत् सत्यं 'पृथिव्यप्तेजो-वायु वनस्प-तयः स्थावराः' इति 'प्राणिऔषधि०' ।६।२।३१। इत्यत्रौषधिवृक्षयोः प्राणित्वेन सिद्धेऽपि पृथगुपादानादिह शास्त्रे प्राणिग्रहणेन त्रसा एव गृह्यन्ते न तु स्थावरा इत्यर्थो ज्ञाप्यते। प्रसङ्गं कृत्वा प्रतिषेधः प्रसज्यप्रतिषेधः 'अव्ययं प्रवृद्धा०' ।२।१।४८। इति समासः प्रसज्यस्तु निषेधकृत्' इत्यत्र 'ते लुग् वा' ।३।२।१०८। इति प्रतिषेधलोपः। ननु तत्र 'अव्ययस्य' ।३।२।७। इति सेर्लुप् कथं न भवति? उच्यते—समाससम्बन्धी सिरत्र नाव्ययस्येति न भवति ॥५०॥

वेः स्कन्दोऽक्तयोः ।२।३।५१।

विपूर्वस्य स्कन्दः सः ष् वा स्यात् न चेत् क्तक्तवतू स्याताम्। विष्कन्ता। विस्कन्ता। अक्तयोरिति किम्। विस्कन्नः। विस्कन्नवान्। ।५१।

'स्कन्दृं गति-शोषणयोः' अषोपदेशत्वात्पदादित्वाच्चाप्राप्ते षत्वे इदं वचनम्। क्तस्य द्विवचनात् 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इति न्यायानपेक्षस्य क्तवतूप्रत्ययावयवस्य क्तस्य च ग्रहणम्। तृचि 'एकस्वरात्०' ।४।४।५६। इतीड्निषेधे **विष्कन्तेति**। क्ते क्तवतौ च अनेन षत्वप्रतिषेधे 'नो व्यञ्जनस्या०' ।४।२।४५। इति नलोपे 'रदाद०' ।४।२।६९। इति तस्य नत्वे धातुदस्य च नत्वे **विष्कन्न– विष्कन्नवान्**। 'उपसर्गात्०' ।२।३।३९। इति स्थासेनि०' ।२।३।४०। इति सूत्रयोः 'आगमा यद्गुणीभूताः०' इति 'स्वाङ्गमव्यवधायि' इति न्याययोरनित्यता ज्ञापिताअतोऽत्र व्यस्कन्ददित्यत्र विविस्कन्सतीत्यत्रानेन षत्वं न भवति। वस्तुतस्तु उपसर्गात् परस्येति धातोर्न विशेषणम् अपि तु सस्येति सकारस्य न गुणीभूतोऽडागमः अवयवभूत इत्यर्थः। सकारस्य च न

स्वाङ्गभूतो द्वित्वगो वर्ण इति प्राप्तेरेवाभावात् तत्र-नित्यताज्ञापनमप्ययुक्तमिति ध्येयम् ॥५१॥

परेः ।२।३।५२।

परेः स्कन्दः सः ष् वा स्यात् । परिष्कन्ता । परिस्कन्ता । परिष्कण्णः । परिस्कन्नः ।५२।

'विपर्यभ्यां स्कन्दोऽक्तयोः' इत्येकयोगाकरणाद् 'अक्तयोः' इति नानुवर्तते । 'रदादमूर्च्छ०' ।४।२।६९। इति प्रत्ययतस्य नत्वे धातुदस्य च नत्वे 'षः०' ।२।३।६३। इति धातुनस्य णकारे 'तवर्ग०' ।१।३।६०। इति प्रत्ययनस्य णत्वे च **परिष्कण्ण** इति ॥५२॥

निर्नेः स्फुरस्फुलोः ।२।३।५३।

आभ्यां परयोः स्फुरस्फुलोः सः ष् वा स्यात् । निःष्फुरतिः । निःस्फुरति । निष्फुरति । निस्फुरति । निःष्फुलति । निःस्फुलति । निष्फुलति । निःस्फुलति ।५३।

वचनभेदो यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थः । **निष्फुरतीत्यादि**— 'स्फुरत् स्फुरणे' 'स्फुलत् संचये च' तिव् तुदादित्वाच्छः । निसः सस्य रुत्वे शषसे०' ।१।३।६। इति तस्य सत्वेऽनेन धातुसस्य षत्वे 'सस्य शषौ' ।१।३।६१। इति षत्वम् सत्वाभावपक्षे कदाचित् विसर्गः, कदाचित् 'व्यत्यये लुग्वा' ।१।३।५६। इति लोपः । षत्वाभावपक्षे कदाचित् सकारद्वयश्रवणं कदाचिद् विसर्गलोपौ । ॥५३॥

वेः ।२।३।५४।

वेः परयोः स्फुरस्फुलोः सः ष् वा स्यात् । विष्फुरति । विस्फुरति ।

विष्फुलति । विस्फुलति ।५४।

'निनिवेः स्फुरस्फुलोः' इत्येकयोगाकरणमुत्तरार्थम्, उत्तरत्र 'वेः' इत्यस्यैवानुवृत्तिर्यथा स्यान्न तु निर्नेरित्यस्येत्येवमर्थः इत्यर्थः ॥५४॥

***स्कम्भः* ।२।३।५५।**

वेः स्कम्भः सः ष् नित्यं स्यात् । विष्कम्नाति ।५५।

वेः स्कम्भश्चेत्येकयोगाकरणाद्वेति निवृत्तम् । **विष्कम्नातीति**–'स्तम्भूस्तुम्भू०' ।३।४।७८। इति श्नाप्रत्ययः ङिद्वद्भावान्नलोपः क्षुभ्नादित्वाण्णत्वाभावः । श्नानिर्देशात् सश्नोर्न भवति-विष्कभ्नाति अन्यथा स्कम्भ इति निर्दिशेत । ननु श्नानिर्देशात् यत्र श्नाप्रत्ययस्तत्रैव षत्वं प्राप्नोति नान्यत्रेति विष्कम्भितेत्यादौ तृजादौ प्रत्यये षत्वं न प्राप्नोतीति चेन्मैवं श्नानिर्देशस्य श्नुनिषेधपरतया व्याख्यातत्वात् । स्तम्भू सौत्रो धातुरस्याषोपदेशत्वाद् षदादित्वाच्चा-प्राप्तं षत्वं विधीयते ॥५५॥

***निदुःसुवेः समसूतेः* ।२।३।५६।**

एभ्यः परस्य समसूत्योः सः ष् स्यात् । निःषमः । दुःषमः । सुषमः विषमः । निःषूतिः । दुःषूतिः । सुषुतिः । विषूतिः ।५६।

'षम वैक्लव्ये' इत्यजन्तस्य सर्वादिपठितस्याव्युत्पन्नस्य वा 'सम' इत्यनुकरणं सूतिसूयति-सुवतीनां क्त्यन्तानां सूतेत्यनुकरणम् । यद्यपि सूतीत्यदादिकस्य श्तिव्यपि भवति तथापि समेन नाम्ना साहचर्यात् अवः स्वपः' ।२।३।५७। इत्यनेन पृथग्योगाद् वा समसूत्योर्नाम्नोरेव ग्रहणाद् निः-समति निःसूतमित्यादौ धातोर्वै रूप्ये न भवति । नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् तेन निः-षमा, दुःषमेत्याद्यपि भवति । निश्चितः समः निषमः, दुष्टः समः दुःषमः, शोभनःसमः सुसमः, विगतः समः विषमः 'प्रात्यव०' ।३।१।४७। इति 'दुर्निन्दा०' ।३।१।४२। इति 'सुः पूजायाम्' ।३।१।४४। इति समासः ॥५६॥

अवः स्वपः ।२।३।५७।

निर्दुःसुविपूर्वस्य वहीनस्य स्वपेः सः ष् स्यात् । निःषुषुपतुः । दुःषुषुपतुः । सुषुषुपतुः । विषुषुपतुः । अव इति किम् । दुस्स्वप्नः । ।५७।

निराद्युपसर्गपूर्वस्य स्वपधातोः परोक्षाया अतुस्प्रत्यये 'इन्ध्यसंयोगात्०' ।४।३।२१। इति किद्वद्भावे 'स्वपेयङ्०' ।४।१।८०। इति य्वृत द्वित्वेऽनादिव्यञ्जनलोपेऽनेन पूर्वसस्य षत्वे परस्य 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति षत्वे च निःषुषुपतुरित्यादि । दुःस्वप्न इति— 'यजि-स्वपि-रक्षि०' ।५।३।८५। इति न प्रत्ययः ॥५७॥

प्रादुरुपसर्गाद्यस्वरेऽस्तेः ।२।३।५८।

प्रादुरुपसर्गस्थाच्च नाम्यादेः परस्यास्तेः सो यादौ स्वरादौ च परे ष् स्यात् । प्रादुःष्यात् । विष्यात् । निष्यात् । प्रादुःषन्तिः । विषन्ति । निषन्ति । यस्वर इति किम् । प्रादुःस्तः ।५८।

अकृतसकारत्वादप्राप्ते षत्वे इदं वचनम् । प्रादुःशब्दस्याप्रादित्वात् पृथगुपादानम् । प्रादुःष्यादिति— 'असक् भुवि' इति धातोः 'विधिनिम०' ।३।४।२८। इति सप्तमाय तु श्नास्त्योर्लुक् ।४।२।९०। इत्यकारलोपः अनेन षत्वम्, शिड्नान्तरेपीत्यस्यानुवृत्तत्वात् निःष्याद्, निःषन्तीत्यपि ॥५८॥

नस्सः ।२।३।५९।

कृतद्वित्वस्य सस्य ष् न स्यात् । सुपिस्स्यते ।५९।

सुपिस्स्यते इत्यादि प्रयोगस्थो द्विरुक्तः सकारः स्सः [illegible] इत्याह— कृतद्वित्वस्येति— सुपूर्वात् स्सः क्यप्रत्यये 'अदीर्घाद्०' ।१।३।३२। इति

सूत्रेण द्विर्भावे 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति प्राप्तस्य षत्वस्यानेन प्रतिषेधे सुषिस्स्यते इति ॥५९॥

सिचो यङि ।२।३।६०।

सिचः सो यङि ष् स्यात् । सेसिच्यते ।६०।

सेसिच्यते इत्यत्र 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति प्राप्तस्य षत्वस्यानेन प्रतिषेधः । एवं परत्वाद् 'स्थासेनि०' ।२।३।४०। इति प्राप्तस्योपसर्गलक्षणस्य षत्वस्याप्यनेन अभिसेसिच्यते इत्यत्र प्रतिषेधः ज्ञेयः ॥६०॥

गतौ सेधः ।२।३।६१।

गत्यर्थस्य सेधः सः ष् न स्यात् । अभिसेधति गाः । गताविति किम् । निषेधति पापात् ।६१।

'स्थासेनि०' ।२।३।४०। इति प्राप्तस्य षत्वस्यायं प्रतिषेधः। **अभिषेधतीति**- अभिगच्छतीत्यर्थः । एवं अभिसिसेधिषतीत्यादावपि अभिजिगमिषतीत्याद्यर्थत्वाद् प्रतिषेधो ज्ञेयः । अत्र सन्नन्तस्य प्रकृतिर्धातुर्गत्यर्थ एवेति समुदायस्य धात्वन्तरत्वेऽपि निषेधः **निषेधतीति**- निवारयतीत्यर्थः । ॥६१॥

सुगः स्यसनि ।२।३।६२।

सुनोतेः सः स्ये सनि च ष् न स्यात् । अभिसोष्यति । सुसूषतेः क्विप् सुसूः ।६२।

अभिसोष्यतीति- भविष्यन्त्याः स्यति 'उपसर्गात्सुग्सु०' ।२।३।३९। इति प्राप्तस्य षत्वस्यात्र प्रतिषेधः । अटघीति वचनात् 'उपसर्गात्सुग्सु०' ।२।३।३९। इति प्राप्तं षत्वमपि अभ्यसोष्यदित्यादावनेन निषिध्यते । सुसू-

रिति– सेतुमिच्छत ति सन् 'स्वरहनगमोः सनि धुटि' ।४।१।१०४। इति दीर्घत्वम् 'क्विप्' ।५।१।१४८। 'अतः' ।४।३।८२। इति सनोऽकारलोपः। षत्व-स्य परे 'नषमसटवे' ।२।१।६०। इत्यसत्त्वात् 'सो रुः' ।२।१।७२। इति रुत्वम्। वर्णविधौ स्थानित्वाभावात् नायं षत्वभूतः सन्निति णिस्त रेवेति नियमा-भावात् 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति षत्वप्राप्तिरिति प्रतिषिध्यते। सुसूष-तीति तु नोदाहियते 'णिस्तोरेव षण षत्वे नान्यस्य इति' नियमेन व्या-वर्तितत्वात् अभिसुसूषतीत्यपि न दाहियते अद्वित्व इति व्यावृत्त्यैव निवर्तित-त्वात् ॥६२॥

रषृवर्णान्नोण एकपदे ऽनन्त्यस्यालचटतवर्गश-सान्तरे ।२।३।६३।

एभ्यः परस्यैभिस्सहैकस्मिन्नेव पदे स्थितस्यानन्त्यस्य नो णः स्यात् लचटतवर्गान् शसौ च मुक्त्वाऽन्यस्मिन्निमित्तकार्यिणोरन्तरेऽपि। तीर्णम्। पुष्णाति। नृणाम्। नॄणाम्। करणम्। बृंहणम्। अर्केण। एकपद इति किम्। अग्निर्नयति। चर्म्मनासिकः। अन-न्त्यस्येति किम्। वृक्षान्। लादिवर्जनं किम्। विरलेन। मूर्च्छ-नम्। वृद्धेन। तिर्थेन। रशना। रसना।६३।

ननु 'ॠवर्णग्रहणं किमर्थं तद्ग्रहणाभावे ॠवर्णमध्यव्यवस्थितरेफा-श्रयं णत्वं भविष्यति। अत एव पाणिनिना रषाभ्यामित्येवोक्तमिति चेत्सत्यं नहि वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते तद्भिन्नत्वात् वर्णबुद्धेरनुपादानात्, तथाहि मांसं न विक्रेयमिति सत्यपि निषेधे गावो विक्रीयन्ते, तत्र मांसबु-द्धेरभावात् तरतेः कर्मणि क्ते इरादेशे दत्वे 'रदादमूर्च्छमदः०' ।४।२।६९। इति तस्य नत्वेऽनेन णत्वे च तीर्णम्। पुष्णातीति– अत्र 'तव-र्गस्य०' ।१।३।६०। इत्यनेनैव णत्वे सिद्धेऽपि षकारग्रहणं कषणमित्यादौ व्यव-हितार्थं सति तु षग्रहणे परत्वादनेनैव षत्वम्। 'बृहु शब्दे च' इत्युदितो नाग-मेऽनटि 'शिड्ढेऽनुस्वारः' ।१।३।४०। इत्यनुस्वारेऽनेन णकारे च बृंहणमिति। 'पदे' इत्येतावतैव एकपदे लब्धे 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायाद् निषेधेऽपि

एकग्रहण नियमार्थं एकमेव यन्नित्य तत्रैव यथा स्यात् तेन चर्मनासिकः इत्यत्र समासे त्वेकविभक्तित्वादेकपद्यम् विग्रहविभक्त्यपेक्षया ऽनेकपद्यमपीति न भवति। संज्ञाया अभावादुत्तरेणापि न भवति। 'नसि कौटल्ये' नसत इति नासिका चर्मविकारो नासिका यस्येति 'गोस्त्रियो०' ।२।४।९६। इति ह्रस्वत्वे चर्मनासिकः। अधिकारश्च यमा णत्वविधेः। यद्यपि स्वणम् तक्षण मत्यादौ स्याद्युत्पत्तेः प्राक्पदत्व नास्ति तथापि भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः इति न्यायात् नामावस्थायामपि कृतणत्व नामेव प्रयोगः ।।६३।।

पूर्वपदस्थान्नाम्न्यगः ।२।३।६४।

गन्तवर्जपूर्वपदस्थात् रषृवर्णात् परस्योत्तरपदस्थस्य नो ण् स्यात् संज्ञायाम्। द्रुणसः। खरणाः। शूर्पणखा। नाम्नीति किम्। मेषनासिकः। अग इति किम्। ऋगयनम्।६४।

पूर्वपदशब्दः समासे यो रूढ स इह गृह्यते। पूर्वपदे तिष्ठति 'स्थापास्ना०' ।५।१।१४२। इति कः। पूर्वशब्देनोत्तरपदमाक्षिप्यते तदन्तरेण तस्यासम्भवात्। द्रुरिव नासिका यस्य 'अस्थूलाच्च०' ।१।३।१६१। इति नसादेशेऽनेन णत्वे च द्रुणस इति। खरा नासिका अस्य अथवा खरस्य नासिकेव यस्य स खरणाः — 'खरखुरान्नासिकाया नस्' ।७।३।१६०। इति नस देशे **खरणाः**। शूर्पइव नखा यस्या इति 'नखमुखादनाम्नि' ।२।४।४०। इति सज्ञायां ङीनिषेधात् 'आत्' ।२।४।१८। इत्यापि— **शूर्पणखा**। **मेषनासिक इति**—मेषवन्नासिका यस्येति 'गोश्च ते०' ।२।४।९६। इति ह्रस्वत्वम् सज्ञाया अभावात् णत्वं न भवति 'अत एव सज्ञायां विहितस्य नसादेशस्याप्यभावः **ऋगयनमिति**—अयतेऽनेनेत्ययनम् ऋचामयनम् ऋगयनम्। ननु 'शिक्षादेश्चाण्' ।६।३।१४८। इत्यत्र ऋगयन पाठादेव णत्वाभावः सिध्यति किम् 'अगः' इत्यनेनेति चेन्मैव 'समासान्तागम०' इति न्यायात् ज्ञापकनिर्दिष्टस्यनित्यत्वादत्रापि षत्वं प्रसज्येतेति नित्वनिषेधार्थम् 'अगः' इति वचनम्। न च देवदारुवनम्, कुबेरवनम् मनोहरवनमित्यत्र सञ्ज्ञायां णत्वं कथं न भवतीति शङ्क्यम् ? 'कोटरमिश्रक०' ।३।२।७६। इत्यत्र 'पूर्वपदस्थान्ना०' ।२।३।६५। इत्येव सिद्धे कृतणत्वस्य

वृनशब्दस्योपादानं नियमार्थम् नियमश्चैवं संज्ञायां कोटरादस्य एव वनशब्द-स्य णत्वं नान्येभ्य इति । अत्र संज्ञासत्त्वेऽपि न णत्वम् । देवप्रियं दारू, तस्य वनम्, कुबेरस्य वनम्, मनोहराः वृक्षविशेषाः तेषां वनम् संज्ञा एताः ॥६४॥

नसस्य ।२।३।६५।

पूर्वपदस्थाद्रषृवर्णात् परस्य नसस्य नो ण् स्यात् । प्रणसः ।६५।

'उपसर्गात।७।३।१६२। इति विहितस्य नसादेशस्य नसेत्यनुकरणम् । प्रगता प्रवृद्धा वा नासिका यस्येति 'उपसर्गात्' ।७।३।१६२। इति नसादेशः । अनाम्नि वचनमिदम् ॥६५॥

निष्प्राऽग्रेऽन्तः-खदिरकार्श्याम्र-शरेक्षु-प्लक्षपीयूक्षाभ्यो वनस्य ।२।३।६६।

निरादिभ्यः परस्य वनस्य नो ण् स्यात् । निर्वणम् । प्रवणम् । अग्रेवणम् । अन्तर्वणम् । खदिरवणम् । कार्श्यवणम् । आम्रवणम् । शरवणम् । इक्षुवणम् । प्लक्षवणम् । पीयूक्षावणम् ।६६।

बहुवचनं व्याप्त्यर्थं तेन संज्ञायामसंज्ञायां च भवति अन्यथा 'कोट-रमिश्रकसिध्रक०' ।३।२।७६। इत्यत्र कृतणत्ववनशब्दोपादानस्य नियमार्थत्वा-दत्र संज्ञायां न स्यात् । वनान्निष्क्रान्तं निर्वणम्, प्रकृष्टं वनम् प्रवणम् प्रादि-समासावेतौ । वनस्याग्रम् वनस्यान्तः 'पारेमध्येऽग्रे०' ।३।१।३०। इत्यव्ययीभावः तत्संनियोगे च आद्यस्यैकारान्तता सूत्रपाठबलात् निपात्यते । निष्प्राग्रेऽन्तरो नौषधिवचना नापि वृक्षविशेषा, एभ्यः संज्ञायां कोटरादिनियमेन व्यावर्तित-त्वादप्राप्तं णत्वविधानम् असंज्ञायामप्येकपदत्वाभावादप्राप्तमेव । इक्षुशर-शब्दावोषधिवचनौ शेषा वृक्षवचनाः । उत्तर-सूत्रेऽपि बहुवचनस्य व्याप्त्यर्थ-त्वात्संज्ञायां कोटरादिनियमस्य बाधे जाते उत्तरसूत्रेण विकल्पे प्राप्ते एवम्-

संज्ञायामप्युत्तरेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थमिदम् । कार्श्यशब्दः वृक्षविशेषवाची, अव्युत्पन्नः, अत्र वचनसामर्थ्यात् शकारव्यवधानेऽपि भवति । पीयुक्षाशब्दो द्राक्षापर्यायः द्रुक्षविशेषो वा । पीयुक्षाशब्दोऽव्युत्पन्नः आबन्तः ।।६६।।

द्वित्रिस्वरौषधिवृक्षेभ्यो नवा-ऽनिरिकादिभ्यः ।२।३।६७।

द्विस्वरेभ्यस्त्रिस्वरेभ्यश्चेरिकादिवर्जेभ्य ओषधिवृक्षवाचिभ्यः परस्य वनस्य नो ण् वा स्यात् । दुर्वावणम् । दुर्वावनम् । माषवणम् । माषवनम् । नीवारवणम् । नीवारवनम्—वृक्षः । शिग्रुवणम् । शिग्रुवनम् । शिरीषवणम् । शिरीषवनम् । इरिकादिवर्जनं किम् । इरिकावनम् ।६७।

> ओषध्यः फलपाकान्ताः, लताः गुल्माश्च वीरुधः ।
> फली वनस्पतिर्ज्ञेयो, वृक्षाः पुष्पफलोपगाः ॥

फलस्य पाकेनान्तो विनाशः यासां ताः ओषधय इति नाम्ना वनस्पतय उच्यन्ते यथा व्रीहिगोधूमसुद्गमाषादि अन्नौषध्ययः । लताः प्रतानवत्यो मालत्यादयः । लता वल्ली कर्कोट्यादिका गुल्मा । ह्रस्वस्कन्धास्तरवः बहुकाण्डपत्राः केतक्यादयः । उभयमेतद् वीरुधः उच्यन्ते । पुष्पं विना फलमेव यस्य स प्लक्षादिः फली । पुष्पं फलं चोपगच्छन्तीति 'नाम्नो गमः०' ।५।१।१३१। इति डे पुष्पफलोपगाः । पुनः पुनः स्वतौ पुष्पाणि फलानि चाश्रयन्ति ते वृक्षा इत उच्यन्ते । अत्र यद्यपि वनस्पतिवृक्षयोर्भेदोऽस्ति तथाप्यति बहुत्वार्थ - बहुवचनात् वृक्षग्रहणे वनस्पतीनामपि ग्रहणं भवति । अत एव यथा संख्यमपि नास्ति । तथासंज्ञायामसंज्ञायां च भवति । इरिकादिराकृतिगणः । अनिरिकादिभ्य इत्यत्र नञः पर्युदासत्वात् इरिकादिविशेष वर्जनाद्वृक्षविशेषवाचिनामेव ग्रहणं तेन वृक्षवनमित्यादौ न भवति ।।६७।।

गिरिनद्यादीनाम् ।२।३।६८।

एषां नो ण् वा स्यात् । गिरिणदी । गिरिनदी । तुर्यमाणः । तुर्यमानः ।६८।

बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । गिरिणदीति षष्ठीसमासः । **तूर्यमाण** इति— तूर्यतेरानशि श्ये मागमे च "षुवर्गान्नो णः०" ।२।३।६३। इति नित्यं प्राप्ते विकल्पः ॥६८॥

पानस्य भावकरणे ।२।३।६९।

पूर्वपदस्थाद्रादेः परस्य भावकरणार्थस्य पानस्य नो ण् वा स्यात् । क्षीरपाणं क्षीरपानं स्यात् । कषायपाणः । कषायपानः कंसः ।६९।

क्षीरपाणमिति—पीतिः पानम् । 'अनट्' ।५।३।१२४। इति भावेऽनट् ततः क्षीरस्य पानमिति षष्ठीसमासः । **कषायपाण इति**—कषायः पीयतेऽनेनेति 'करणाधारे' ।५।३।१२९। इति करणेनट् । कसः पात्रविशेषः । भावकरणे इति वचनात् पीयतेऽस्मिन्निति पानः, क्षीरपानो घोष इत्यत्र न भवति ॥६९॥

देशे ।२।३।७०।

पूर्वपदस्थाद्रादेः परस्य देशविषयस्य पानस्य नो ण् नित्यं स्यात् । क्षीरपाणा उशीनराः । देशइति किम् । क्षीरपानाः गोदुहः ।७०।

योगविभागाद् नवेति निवृत्तम् । भावकरणे इति नानुवर्तते । पीयते इति पानम् क्षीरं पानं येषां ते क्षीरपाणाः । पानमित्यत्र कर्मसाधनपानशब्दो गृह्यते भावकरण — प्रधानस्य तु पूर्वेण विकल्प एव । उशीनरा इति—तत्स्थ्यात् मनुष्याभिधानेपि देशो गम्यते । ननु क्षीरपाणादयः शब्दा मनुष्येषु वर्तन्ते तत्सामानाधिकरण्यात् उशीनरादयोऽपि मनुष्येष्वेवेति कथं देशो गम्यते इति चेत्सत्यम्-उशीनरादयः शब्दाः संज्ञात्वेन पूर्वं देशेष्वेव प्रवृत्ताः पश्चात् तत्स्थानसम्बन्धात् मनुष्येषु । न मनुष्याभिधानेपि देशाभिधानं गम्यते । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र तत्स्थानसम्बन्धात् मनुष्याभिधानेपि मञ्चाभिधानं गम्यते अन्यथा मञ्चधारविशिष्टाः पुरुषा इति न प्रतीयेरन् नागृहीतविशेषणा बुद्धिः विशेष्यमधिगच्छतीति न्यायात् । गोदुह इति—गोपाला इत्यर्थः ॥७०॥

ग्रामाग्रान्नियः ।२।३।७१।

आभ्यां परस्य नियो ण् स्यात् । ग्रामणीः । अग्रणीः ।७१।

'ग्रामं नयति अग्रं नयतीति क्विप् 'इस्युक्तं कृता' ।२।१।४९। इति समासः। ननु 'गतिकारक०' इति न्यायाद्विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समासे निमित्तनिमित्तिनोरेकपदस्थत्वात् 'रषृवर्णान्नो०' ।२।३।६३। इत्यनेनैव सिद्धः णत्वमनेनेति चेत्सत्यं नियमार्थः। नियमश्चैवं यदि नियो णत्वं स्यात्तदा ग्रामाग्राभ्यामेव तेन खरनीः, मेषनीः इत्यादौ पूर्वेणापि न भवति ॥७१॥

वाह्याद्वाहनस्य ।२।३।७२।

वाह्यवाचिनो रादिमतः पूर्वपदात्परस्य वाहनस्य नो ण् स्यात् । इक्षुवाहणम् । वाह्यादिति किम् । सुरवाहनम् ।७२।

वोढव्यं वाह्यं अर्हेऽर्थे घ्यणि वहनार्हमिति यावत्। उह्यतेऽनेनेति वहनम्। वहनमेव वाहनम् 'प्रज्ञादिभ्योऽण्' ।७।२।१६५। इति स्वार्थेऽण्

-अत्र अत एव निपातन दुपन्त्यदीर्घत्वम। इक्षूणां वाहनमिति इक्षुवाहणम्
सुखवाहन मिति—स्वस्वामि-भावसम्बन्धेऽत्र षष्ठी न तु वहनक्रियापू कि
कर्मकरणसम्बन्धे। यदा तु सुखा अपि वाह्यत्वेन विवक्ष्यन्ते तदाऽत्रापि
भवत्येव ॥७२॥

अतोऽह्नस्य ।२।३।७३।

रादिमतोऽदन्तात् पूर्वपदात् परस्याह्नस्य नो ण स्यात्। पूर्वाह्णः। अतइति किम्। दुरह्नः। अह्नस्येति किम्। दीर्घाह्नी शरत् ।७३।

पूर्वाह्णः इति— पूर्वमह्नः इति 'पूर्वपराऽधरो०' ।३।१।५२। इति समासः 'सर्वांशसङ्ख्य ०' ।७।३।११८। इत्यट् अह्नादेशः, अनेन णत्वम् च। दुरह्न इति। निन्दितमहः 'दुर्निन्दा०' ।३।१।४३। इति समासः अट् समासान्तः, अह्नादेशश्च। दीर्घाह्नी शरदिति। दीर्घाणि अहानि यस्यामिति 'अनो वा' ।२।४।११। इति ङी, 'अनोऽस्य' ।२।१।१०८। इत्यकारलोपेऽप्यह्न इत्यकारान्तनिर्देशाण्णत्वाभावः ॥७३॥

चतुस्त्रेर्हायनस्य वयसि ।२।३।७४।

आभ्यां पूर्वपादाभ्यां परस्य हायनस्य नो ण् स्यात्, वयसि गम्ये। चतुर्हायणो वत्सः। त्रिहायणी वडवा। वयसीति किम्। चतुर्हायना शाला ।७४।

चतुर्हायणो वत्स इति—चत्वारो हायनाः— संवत्सरा अस्य सः। अत्र वत्सस्य वयो गम्यते। चतुर्हायणी वडवेति—अत्र 'सङ्ख्यादेर्हायनाद्वा०' ।२ ४।९। इति ङीः। चतुर्हायना शालेति—'कालकृता प्राणिनां शरीरावस्था वयः' इति वयसः प्राणिधर्मत्वात् शालायामभावाद्वयसीति वचनादत्र णत्वं

ङी- प्रत्ययश्च न भवति ॥७४॥

वोत्तरपदान्तनस्यादेरयुवपक्वाह्नः ।२।३।७५।

पूर्व-पदस्थाद्राद्रेः परस्य उत्तरपदान्तभूतस्य नागमस्य स्यादेश्च नो ण वा स्यात् चेद्युवन्-पक्वाहन्-सम्बन्धी न स्यात् । व्रीहिवापिणौ । व्रीहिवापिनौ । माषवापाणि । माषवापानि । व्रीहिवापेण । व्रीहिवापेन । युवादिवर्जनं किम् । आर्ययूना । प्रपक्वानि । दीर्घाह्नी शरत् ।७५।

व्रीहिवापिणाविति—उत्तरपदान्तभूतस्य नस्य णत्वम् । व्रीहीन् वपते अभीक्ष्णं साधु वेति 'साधौ' ।५।१।१५५। इति 'व्रताभीक्ष्ण्ये' ।५।१।१५७। इति वा णिन् । 'ङस्युक्तं कृता' ।३।१।४९। इति समासः, 'अजातेः शीले' ।५।१।१५४। इति तु न व्रीह्यादेर्जातिवाचित्वात् । ननु 'गतिकारक०' इति न्यायाद् विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समासे सति उत्तरपदान्तभूतस्य नस्याभावात् कथमनेन विकल्प इति चेन्न रूढत्वाद्विभक्त्यन्ताभावेऽप्युत्तरपदत्वम् ततः उत्तरपदान्तभूतो नकार इति णत्वविकल्पो भवति । **माषवापाणीति**—माषाणि वपन्तीति 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। इत्यण्प्रत्ययः । **व्रीहिवापेणेति**—'टाङस्योः०' ।१।४।५। इति स्यादेः नस्य णत्वम् । **आर्ययूनेति**—'श्वन्युवन्मघोनो०' ।२।१।१०६। इति वस्योकारः, अत्रोत्तरपदान्तस्थनकारसत्त्वेऽपि युवादिवर्जनान्न णत्वम् । **प्रपक्वानीति**—'क्षैशुषिपचो मकवम्' ।४।२।७८। इति तस्य वकारः । अत्र नागमनकारसत्त्वेऽपि युवादिवर्जनात् न णत्वम् । **दीर्घाह्नी शरदिति** – दीर्घाणि अहानि यस्या सा 'अनो वा' ।१।४।११। इति ङीः, 'अनोऽस्य' ।२।१।१०८। इत्यनोऽकारलोपश्च अत्रोत्तरपदान्तस्थनकारसत्त्वेऽपि युवादिवर्जनान्न णत्वम् ॥७५॥

कवर्गैकस्वरवति ।२।३।७६।

पूर्वपदस्थाद् रादेः परस्य कवर्गवत्येकस्वरवति चोत्तरपदे सति, उत्तरपदान्तस्य नाम्नश्च स्यादेश्चनो ण् स्यात्, न चेदसौ पक्वस्य । स्वर्गकामिणौ । वृषगामिणौ । ब्रह्महणौ । यूषपाणि । अपक्वस्येत्येव । क्षीरपक्वेन ।७६।

त्रितय नुवर्तनेपि प्रतिषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात् कवर्गत्वात् पक्वशब्दस्यैव प्रतिषेध इत्याह न चेदिति । स्वर्गं कामयेते इत्येव-शीलौ 'अजातेः शीले' ।५।१।१५४। इति णिनि स्वर्गकामिनौ । वृषवत् गच्छतः इत्येव शीलौ वृषगामिनौ । ब्रह्माणं हतवन्तौ 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रात् क्विप्' ।५।१।१६१। इति क्विपि ब्रह्महणौ । यूषं पिबन्ति 'आतो डोऽह्वावामः' ।५।१।७६। इति डे यूषपाणि 'गतिकारकङस्युक्तानां विभक्त्यन्तानां ... ०' इति न्यायाद्विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समासे एकपदस्थत्वे तु 'रषृवर्णान्नो ण०' ।२।३।६३। इति नित्यं प्राप्ते गुरोर्मुखम्-तेन गुरुमुखेण इत्यादौ तु केनापि सूत्रेणाप्राप्ते 'वोत्तरपदान्तस्यादेः०' ।२।३।७ । इति विकल्पित. पुनः नियमार्थं वचनम् ।।७६।।

अदुरुपसर्गान्तरोणहिनुमीनानेः ।२।३।७७।

दुर्-वर्जोपसर्गस्थादन्तःशब्दस्थाच्च रादेः परस्यैषां नो ण् स्यात् । णेति णोपदेशा धातवः-प्रणमति । परिणायकः । अन्तर्णयति । हिनुः-प्रहिणुतः । मीना-प्रमीणीतः । आनि-प्रयाणि । अदुरिति किम् ? दुर्नयः ।७७।

णोपदेशा धातव इति—ण इति णकारादिधातोरेकदेशः । उपसर्गाण्णत्वविधानात् णेति णोपदेशाः धातवो गृह्यन्ते । उपसर्गेण धातुराक्षिप्यते धातुमन्तरेण तस्यासम्भवादित्यर्थः । उपदिश्यतेऽनेनेति उपदेशो धातुपाठः तत्र येषां णकारोऽस्ति ते णोपदेशाः, उपदेशनं वा उपदेशः प्रथममुच्चारणम्: उपदेशे येषां ते णोपदेशः व्यधिकरणबहुव्रीहिः उपदिश्यते प्रथममुच्चार्यते इति वोपदेशः णः उपदेशो येषान्ते एकदेश-विकृतस्यानन्य-

त्वात् हिनुमिनाग्रहणे प्रहिणोति प्रमीणोति इत्यादौ विकृतस्यापि भवति । प्रयाणोति – प्र + या + पञ्चम्या आनि-प्रत्ययः ॥७७॥

नशः शः ।२।३।७८।

अदुरुपसर्गान्तःस्थाद्रादेः परस्य नशः शन्तस्य नो ण् स्यात् । प्रणश्यति । अन्तर्णश्यति । श इति किम् । प्रनङ्क्ष्यति ।७८।

प्रनङ्क्ष्यतीति – 'नशौच् अदर्शने' प्रपूर्वस्य नशः स्यतिप्रत्ययः, '**नशो धुटि**' ।४।४।१०९। इति नोऽन्तः, 'यजसृजमृज०' ।२।१।८७। इति षत्वं 'षढोः कस्सि' ।२।१।६२। इति कत्वं, 'म्नां धुड्वर्गे०' ।१।३।३९। इति ङत्वे 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति षत्वम् । 'णषमसत्०' ।२।१।६०। इत्यत्र णषे तन्निर्देशापेक्षया परे षत्वे कर्तव्येऽन्तरङ्गस्यापि णत्वस्यासिद्धत्वात् षत्वे कृते च 'एकदेशविकृत०' इति न्यायात् प्राप्तावपि 'शः' इति व्यावृत्त्या साक्षाच्छकाराभावान्निषेधादत्र णत्वाभावः । नशेरणोपदेशत्वात् पूर्वेणासिद्धे विध्यर्थमिदम् ॥७८॥

नेर्ङ्मादादाघ्याप्रातिपादनदगदवपीवहीशमूचिग्यातिवाति-द्रातिप्सातिस्यतिहन्तिदेग्धौ ।२।३।७९।

अदुरुपसर्गान्तःस्थाद्रादेः परस्योपसर्गस्थ नेर्नो माङादिषु परेषु ण् स्यात् । प्रणिमिमीते । परिणिनयते । प्रणिददाति । परिणिदयते । प्रणिदधाति । प्रणिपतति । परिणिपद्यते । प्रणिनदति । प्रणिगदति । प्रणिवपति । प्रणिवहति । प्रणिशाम्यति । प्रणिचिनोति । प्रणियाति । प्रणिवाति । प्रणिद्राति । प्रणिप्साति । प्रणिष्यति । प्रणिहन्ति । प्रणिदेग्धि । अन्तर्णिमिमीते ।७९।

ङकारोपलक्षितो मा म ङ् तेन माङ् मेङोर्ग्रहणम् न तु मिनोति–मिनातेर्नाम् । ननु मिनोति–मिनात्योर्माङ्रूपाभावाद्ग्रहणाशङ्कैव नास्तीति चेन्मैव मिग्–मिगो०' ।६।१।५०। इत्यात्वविधानात् । ङकारनिर्देशो नानुबन्धार्थः किन्तु मात्यादिनिवृत्त्यर्थस्तेन प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि ग्रहणमिति न्यायात् यङ्लुप्यपि भवति । अयं भावः यया रीत्या धातु–पाठे माङित्य–पाठ तथा रीत्या यद्यत्रचरति तः स्यात्तदाऽनुबन्धार्थः स्यादत्र तु विशेषण ङकारेण पलक्षितो मा इति । दा इति संज्ञ ग्रहणात् ददाति दयति–दधात्यादेर्ग्रहणम् । प्रणिशाम्यतीत्यत्र 'शमामष्टा० ।७।३।७४। इति दीर्घः । प्रणिष्यतीति—'षोन्त् अन्तकर्मणि' 'ओतः श्यनि' ।७।३।७१। इत्योकारलोपः । वप्यादीनामनुबन्धेन तिपा च निर्देशो यङ्लुग्निवृत्त्यर्थः तेन प्रनिवावपीतीत्यादौ न भवति । पूर्वेषु तु यङ्लुग्यपि भवति प्रणिमामाति, प्रणिमामेतीत्यादि । आदिशब्दनिर्दिष्टत्वाद ङ आगमत्वात् 'आगमा यद्गुणी भूता०' इति न्यायाददङ्ग्रहणेन ग्रहणात् प्रण्यमिमीते इत्यादावपि भवति । प्रण्यस्यतीत्यादौ तु अङा व्यवधानेऽपि 'पदेऽन्तरे' ।२।३।९३। इत्यत्राङा वर्जनात् भवति । प्रणिघ्नन्तीत्यादौ हनेः 'गमहनजन०' ।४।२।४४। इत्यकारलोपे 'हनो ह्नो घ्नः' ।२।१।११२। इति हनो घ्नादेशे कृतेऽप्यनेन 'एकदेशविकृतमनन्यवद्' इति न्यायात् णत्वं सिद्धम् ॥७९॥

अकखाद्यषान्ते पाठे वा ।२।३।८०।

धातुपाठे कखादिः षान्तश्च यो धातुपाठस्ताभ्यामन्यस्मिन् धातौ परे ऽदुरुपसर्गान्तःस्थाद्रादेः परस्य नेर्नो ण् वा स्यात् । प्रणिपचति । प्रनिपचति । अकखादीति किम् । प्रनिकरोति । प्रनिखनति । अषान्त इति किम् । प्रनिद्वेष्टि । पाठइति किम् । प्रनिचकार ।८०।

प्रनिचकारेति— धातुपाठे ककारादित्वात्संप्रति चकारादित्वेऽपि प्रतिषेधो भवति । पूर्वसूत्रारम्भसामर्थ्यात्पूर्वसूत्रादिवभक्तोऽस्य विषयस्तेन प्रणिमयते, प्रणिदयते इत्यादौ पूर्वेण नित्यमेव णत्वम् । ननु कथं प्रणिष्ठ-

भ्नाति, प्रनिष्टभ्नातीत्यत्र विकल्पः स्तम्भे धांतुष्वपठादिति चेत्तस्य स्तम्भेः सौत्रेषु पाठात्पाठविषयत्वादत्र प्यनेन विकल्पः इति । सौत्राणां सूत्रमेव धातुपाठः इत्यर्थः । क्रियावाचित्वे सति पाठपठितत्वे सति सूत्रगृहीतत्वं सौत्रत्वम् ॥८०॥

द्वित्वेऽप्यन्तेऽप्यनितेः परेस्तु वा ।२।३।८१।

अगुरुसमानितः स्थाद्राद्देः परस्यानितेर्नो द्वित्वाद्वित्वयोरन्तानन्तयोश्च णः स्यात् । परिपूर्वस्य वा स्यात् । प्राणिणिषति । प्राणिति । हे प्राण । पर्यणिणिषति । पर्यनिनिषति । पर्यणिति । पर्यनिति । हे पर्यण् । हे पर्यन् ।८१।

द्वित्वेऽप्यन्तेऽप्यत्रापिनाऽद्वित्वस्यानन्तस्य च बोधः । प्राणिणिषतीति—प्राणितुमिच्छतीति सनि 'स्ताद्यशितो ऽ०' ।४।४।३२। इति टि 'स्वरादेर्द्वितीयः' ।४।१।४। इति द्वितीयावयवस्य द्वित्वम् । द्वित्वे इति वचनात् द्वयोरप्यनेन णत्वम् अत्र द्वित्वे कर्तव्ये 'णषमसत्०' ।२।१।६०। इति णत्वशास्त्रस्यासत्त्वात् द्वित्वे कृते णत्वम् । प्राणितीति—'रुत्पञ्चकाच्छिदयः' ।४।४।८८। इतीट् । हे प्राणिति—प्राणितीति क्विपि आमन्त्र्यसिलुकि 'नामन्त्र्ये' ।२।१।९२। इति नकारलोपप्रतिषेधे च सिद्धम् । अनन्त्यस्येत्यधिकारादन्ते न प्राप्नोतीति अन्तवचनम् । अनितेति निवा निर्देशो दैवादिकनिवृत्त्यर्थः, न तु यङ्लुब्निवृत्त्यर्थः यङः ऽसम्भवात् । ननु द्वित्वेऽपि कृतेऽन्तेपीति वचनाद् अन्तेऽपि शब्दादन्तेपि भविष्यतीति किं द्वित्वेऽपीत्यनेनेति चेत्तस्य द्वित्वेऽपीत्यस्याभावे प्राणिणिषतीत्यत्र प्रथमनकारेऽन्तेपीत्यस्य चरितार्थत्वाद् टवर्गेण व्यवधानाद् द्वितीयनकारस्य णत्वं न स्यात् । अन्तेपीत्यस्याप्यभावे द्वित्वेप्यन्त एव स्यात् न तु प्राणिषितीत्यादावनन्तेऽपि । ननु द्वित्वे सति अन्तस्थो नकारः क्व सम्भवतीति चेद् अत्रोच्यते प्राणितेः सनि प्राणिणिषन्तं प्रयुङ्क्ते णिगि, अल्लोपे क्विपि प्राणिणिषमाचष्टे णिजि पुनः 'अन्त्यस्वरादेः' ।७।४।४३। सूत्रेण इसिति लोपे क्विपि हे प्राणिण् । इत्यादौ आमन्त्र्यत्वाच्च नलोपाभावः ॥८१॥

हनः ।२।३।८२।

अदुरुपसर्गान्तः—स्थाद्रा—देः परस्य हन्तेर्नोण् स्यात् । प्राहण्यत । प्रहण्यते । अन्तर्हण्यते ।८२।

प्राहण्यत इति- कर्मणि अविवक्षितकर्मत्वाद् भावे वाऽऽत्मनेपदम् 'क्यः शिति' ।३।४।७०। इति क्यः । प्रघ्नन्तीत्यत्र तु 'हनो घि' ।२।३।९४। इति निषेधान्न भवति ।।८२।।

वमि वा ।२।३।८३।

अदुरुपसर्गान्तःस्थाद् रादेः परस्य हन्तेर्नो वमोः परयोर्ण् वा स्यात् । प्रहण्वः । प्रहन्वः । प्रहण्मि । प्रहन्मि । अन्तर्हण्वः । अन्तर्हन्वः । अन्तर्हण्मः । अन्तर्हन्मः ।८३।

पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ।।८३।।

निसनिक्षनिन्दः कृति वा ।२।३।८४।

अदुरुपसर्गान्तःस्थाद् रादेः परस्य निसादिधातोर्नो ण् वा स्यात्,कृत्प्रत्यये । प्रणिंसनम् । प्रनिंसनम् । प्रणिक्षणम् । प्रनिक्षणम् । प्रणिन्दनम् । प्रनिन्दनम् । कृतीति किम् । प्रणिंस्ते ।८४।

णिसुकि चुम्बने, णिक्ष चुम्बने, णिदु कुत्सायाम् एषां णोपदेशत्वात् 'अदुरुपसर्गा०' ।२।३।७७। इत्यनेन 'गतिकारकङस्युक्तानाम्०' इति न्यायाद् विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समासे एकपदस्थत्वात् 'रषृवर्णा०' ।२।३।६३। इत्यनेन वा नित्यं णत्वे प्राप्ते विकल्पार्थमिदम् । प्रणिंस्ते इति— णोपदेशत्वात् "अदुरु-

पसर्गा०' ।२।३।७ । इत्यनेन नित्यं णत्वम् ॥८४॥

स्वरात् ।२।३।८५।

अदुरुपसर्गान्तः स्थाद् रादेः परस्य स्वरादुत्तरस्य कृतो नो ण् स्यात्। प्रहाणः प्रहीणः ।८५।

कृतीति विषयसप्तमीयं न तु निमित्तसप्तमी–कृद्विषयस्य नकारस्य णो भवतीत्यर्थः । अन्यथा निमित्तसप्तम्यां धातोर्नकारस्य कृति निमित्तभूते नो भवतीति सूत्रार्थे 'न ख्यापूग्भू०' ।२।३।९०। इत्यादि- प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात्तत्र धातुनकारस्य भावाद् । प्रहाण इति– 'ओहांङ् क् गतौ' क्तप्रत्ययः 'सूयत्याद्य०' ।४।२।७०। इति तस्य नकारः । प्रहीण इति– 'ओहांक् त्यागे' क्तप्रत्ययः, 'सूयत्याद्योदित.' ।४।२।७०। इति तस्य नकारः, 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि' ।३।४।९७। इतीकारः ॥८५॥

नाम्यादेरेव ने ।२।३।८६।

अदुरूपसर्गान्तः स्थाद्-रादेः परस्य नागमे सति नाम्यादेरेव धातोः परस्य स्वरादुत्तरस्य कृतस्य नो ण् वा स्यात् । प्रेङ्खणम् । प्रेङ्खनम् । प्रेङ्खणीयम् । नाम्यादेरिति किम् ? प्रमङ्गनम् ।८६।

कृद्विषयस्य नस्य णो भवतीत्यर्थः । ने इति– सत्सप्तमी । प्रेङ्खणमित्यादि– इखु ङ्गुगतौ धातु, अनट्-अनीयप्रत्ययौ 'कवर्ग क०' ।२।३।७६। इति नागमस्य न णत्वं 'रुना घुड्वर्ग०' ।१।३।३९। इति बहुवचनेन बाधितत्वात् । पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम्, एवकार इष्टावधारणार्थः ने एव सति नाम्यादेरिति हि नियमे ईहि चेष्टायाम्, ऊहि तर्के-प्रेहणम् प्राहणमित्यत्र णो न स्यात् । न-ग्रहणं नागमादेशोपलक्षणार्थम् नकारेण व्यवधाने तु प्राप्ति-रेव नास्ति । प्रेन्वनम् । प्रमङ्गनमिति– व्यञ्जनान्तादेवायं नियमः ण्यन्तात् तु

'णेर्वा' ।२।३।८८। इति परत्वाद् विकल्प एव-प्रमङ्गणा, प्रमङ्गना। अयं भावः- प्रेङ्खणेत्यादावयं सावकाशः, प्रयापणेत्यादौ 'णेर्वा' ।२।३।८८। इति सावकाशः, प्रेङ्खणेत्यादौ तु उभयप्राप्तौ परत्वाद्विकल्प एव। अत एव प्रमङ्गणेत्यादौ नियमाप्रवृत्तिः ॥८६॥

व्यञ्जनादेर्नाम्युपान्त्याद्वा ।२।३।८७।

अदुरुपसर्गान्तः-स्थाद् रादेः परो यो व्यञ्जनादिर्नाम्युपान्त्यो धातुस्ततः परस्य कृतः स्वरात्परस्य नो ण् वा स्यात्। प्रमेहणम्। प्रमेहनम्। व्यञ्जनादेरिति किम्। प्रोहणम्। नाम्युपान्त्यादितिकिम्। प्रवपनम्। प्रवहणम्। स्वरादित्येव। प्रभुग्नः। अदुरित्येव। दुर्मेहनः। लचटादिवर्जनं किम्। प्रभेदनम्। प्रभोजनम्। स्वरादित्यनेन नित्यप्राप्ते विभाषेयम्। ।८७।

प्रभुग्न इति-'भुजोंत् कौटिल्ये' कर्मणि क्तः 'सूयत्यद्याप्वितः' ।२।३।८५। इति नत्वम्। दुर्मोहन इति-दुर्मुह्यतेऽनेनास्मिन् वा 'करणाधारे' ।५।३।१२९। इत्यनट्, दुर्मुह्यतीति नन्द्या'दम्यो वा। स्वराद्' ।२।३।८५। इत्यनेन नित्य प्राप्ते विभाषा ॥८७॥

णेर्वा ।२।३।८८।

अदुरुपसर्गान्तः-स्थाद् रादेः परस्य ण्यन्तस्य धातोर्विहितस्य स्वरात्परस्य नो ण् वा स्यात्। प्रमङ्गणा। प्रमङ्गना। विहितविशेषणं किम्। प्रयाप्यमाणः। प्रयाप्यमानः। इतिक्यान्तरेपि स्यात् ।८८।

प्रमङ्गणेति- प्रमङ्गन्तं प्रयुङ्क्ते णिगि 'णिवेत्यास०' ।५।३।१११।

इति स्त्रियामने आपि च सिद्धम् । प्रयाप्यमाण इति प्रपूर्वाद्याने: णिग् 'अर्ति-री०' ।४।२।२१। इति प्वागमः, ततः आनश्, 'क्यः शिति' ।३।४।७०। इति क्यः, 'अतो मः आने' ।४।४।११४। इति मोऽन्तः । अनाम्यादिभ्यो धातुभ्यो नागमे सति 'नाम्यादेरेव ने' ।२।३।८६। इति नियमेनाऽप्राप्ते नागमरहितेभ्यस्तु 'स्वरात्' ।२।३।८५। इत्यनेन नित्यं प्राप्ते उभयत्र विभाषेयम् ॥८८॥

निर्विण्णः ।२।३।८९।

निर्विदेः सत्तालाभविचारणार्थात् परस्य क्तस्य नो णत्वं स्यात् । निर्विण्णः ।८९।

विदेरिति—'विदिच् सत्तायाम्' 'विद्लृती लाभे' विदिप् विचारणे' इत्येषां ग्रहणम् न तु विदक् ज्ञाने' इत्यस्य ग्रहणं सेट्त्वात् इतरेषां त्वनिट्त्वाद । **निर्विण्ण इति**—प्रावाजीदिति शेषः । एते त्रयोऽपि धातवः धातूनामनेकार्थत्वादत्र वैराग्ये वर्तन्ते । ननु 'गतिकारक०' इति न्यायात् 'रषृवर्णान्नो०णः' ।२।३।६३। इति सिद्धमेव किमनेनेति चेत्सत्यमत्र 'रदादमूर्च्छ०' ।४।२।६९। इति क्तनकारस्य धातुदकारस्य च नत्वम् । अनेन 'अलचटतवर्ग०' इति व्यावृत्त्या प्रत्ययनस्य णत्वं निपात्यते धातुनस्य तु 'तवर्गस्य०' ।१।३।६०। इति 'रषृवर्णान्नो णः०' ।२।३।६३। इति वा णत्वं सिद्धमेव ॥८९॥

न ख्यापूग्भूभाकमगमप्यायवेपो णेश्च ।२।३।९०।

अदुरुपसर्गान्तः स्थाद् रादेः परेभ्यः ख्यादिभ्यो—ऽण्यन्त ण्यन्तेभ्यः परस्य कृतो नो ण् न स्यात् । प्रख्यानम् । प्रख्यापनम् । प्रपवनम् प्रपावनम् । प्रभवनम् । प्रभावनम् । प्रभायमानम् । प्रभायना । प्रकामिनी । प्रकामना । अप्रगमनिः । प्रगमना । प्रप्यानः । प्रप्या-

यना । प्रवेपनीयम् । प्रवेपना ।९०।

अण्यन्तेभ्यः 'स्वरगाद्' ।२।३।८५। इत्यनेन नित्ये प्राप्ते । वेगः 'व्यञ्जनादेर्नाम्युं०' ।२।३।८७। इत्यनेन विकल्पे प्राप्ते, ण्यन्तेभ्यस्तु 'णेर्वा' ।२।३।८८। इति विकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः । क्षया इति षित्त्वनिबन्धोपादानं चक्षा—देशस्य क्षय आदेशस्य ग्रहणार्थम् । प्रकामिनाबिति णिन् प्रत्ययः । अप्रगमनिरिति ‘स्य इनिः शापे' ।५।३।११७। इत्यनि-प्रत्ययः । प्रगमनेत्यत्र णौ 'मोऽकमियमि०' ।४।३।५५। इति वृद्धिनिषेधाभावः 'अमोऽकम्यमि०' ।४।२।२६। इति ह्रस्वः ।।९०।।

देशेऽन्तरोऽयनहनः ।९१।

अन्तःशब्दात्परस्याऽयनस्य हन्तेश्च नो देशेऽर्थे ण् न स्यात् । अन्तरयनो—ऽन्तर्हननो वा देशः । देशेइति किम् । अन्तरयणम् । अन्तर्हण्यते ।९१।

अयतेरेते—र्वा 'करणाधारे' ।५।३।१२९। इत्यनटि अन्तरयनो देशः 'स्वरात्' ।२।३।८५। इति 'हनः' ।२।३।८२। इति च यथासङ्ख्यं प्राप्ते प्रतिप्रतिषेधः । अन्तरयणम्-भावेऽनट् ।।९१।।

षात्पदे ।२।३।९२।

पदे परतो यः षस्ततः परस्य नो ण् न स्यात् । सर्पिष्पानम् । पदइति किम् । सर्पिष्केण ।९२।

सर्पिष्पानमिति—अत्र 'पानस्य भावकरणे' ।२।३।६९। इति प्राप्ते प्रतिषेधः । सर्पिष्केणेति—कुत्सिताद्यर्थे कप् ।।९२।।

पदेऽन्तरेऽनाङ् यतद्धिते ।२।३।९३।

आङन्तं तद्धितान्तं च मुक्त्वाऽन्यस्मिन् पदे निमित्तकार्यिणोरन्तरे नो ण् न स्यात् । प्रावद्धनम् रोषभीममुखेन । अनाङीति किम् । प्राणद्धम् । अतद्धितइति किम् । आर्द्रगोमयेण ।९३।

रोषेण भीमं रोषभीम रोषभीमम् । मुखं यस्य स रोषभीममुख इति विग्रहे भीमपदस्य तृतीया - समासे उत्तरपदत्वेन 'कृत्यन्तोऽसंज्ञा' ।१।१।२५। इति पदत्वनिषेधेऽपि भूतपूर्वपदत्व-माश्रीयते । भीमं च तन्मुखं च भीममुखं रोषेण भीमं मुखं यस्येति विग्रहे तु भीमपदस्य कृत्यन्तत्वाभावात्पदत्वप्रतिषेधाभावः । प्रानद्धमिति – प्रानह्यते स्मेति क्तप्रत्यये 'नहाहो र्धतौ' ।२।१।८५। इति धत्वम्, 'अदुरुपसर्गा०' ।२।३।५७। इति णत्वम् । आर्द्रगोमयेणेति—गोः पुरीषं 'गोः पुरीषे'।६।२।५०।इति गोशब्दात् मयट् । आर्द्रं च तद्गोमयं च तेन ॥९३॥

हनो घि ।२।३।९४।

हन्तेर्नो घि निमित्तकार्यिणोरन्तरे सति ण् न स्यात् । शत्रुघ्नः ।९४।

शत्रुघ्न इति—शत्रुं हन्तीति 'ब्रह्मादिभ्यः' ।५।१।८५। इति टक्, 'गमहनजन०' ।४।२।४४। इत्यकारलोपः, 'हनो ह्नो घ्नः' ।२।१।११२। इति घ्नादेशः । अत्र सञ्ज्ञायां 'पूर्वपदस्थान्ना०' ।२।३।६४। इति असंज्ञायां तु 'कवर्ग-स्वरवति' ।२।३।७६। इति च प्राप्ते प्रतिषेधः ॥९४॥

नृतेर्यङि ।२।३।९५।

नृतेर्नो यङ् विषये ण् न स्यात् । नरीनृत्यते । नरिनर्त्ति । यङीति

किम् । हरिणर्त्ती नाम कश्चित् ।९५।

नरीनृत्यते-'ऋमतां रीः' ।४।१।५५। इति रीरागमः । नरिनर्त्तीति-'रिरौ च लुपि ।४।१।५६। इति रिरागमः । अत्र 'रषृवर्णान्नो०' ।२।३।६३। इति प्राप्ते प्रतिषेधः । हरिणर्त्तीति—हरिरिव नृत्यतीति 'कर्तुर्णिन्' ।५।१।१५३। इति णिन् ।।९५।।

क्षुभ्नादीनाम् ।२।३।९६।

एषां नो ण् न स्यात् । क्षुभ्नाति । आचार्यानी ।९६।

क्षुभ्नाति आचार्यानीति—अत्र रषृवर्णा०' ।२।३।६३। इति प्राप्ते प्रतिषेधः । आचार्यस्य भार्या आचार्यानी 'मातुलाचार्यो०' ।२।४।६३। इति ङीः आनन्तश्च । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । क्षुभ्ना इति निर्देशेन क्षुभ्ना इति रूपग्रहणं न तु यङ्लुब्निवृत्त्यर्थम् धातुग्रहणे तु क्षोभणमित्यत्रापि स्यात् । ननु एवं तर्हि क्षुभ्नीतः क्षुभ्नन्ति इत्यादौ णत्वशास्त्रस्य परेऽसत्त्व दीकारादौ कृते क्षुभ्नेति रूपाभावात् निषेधो न प्राप्नोति चेन्मैवं स्वरादेशस्य स्थानिवद्भावादेकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद्वा भविष्यतीति ।।९६।।

पाठेधात्वादेर्णो नः ।२।३।९७।

पाठे धात्वादेर्णो नः स्यात् । नयति । पाठइति किम् । णकारीयति । आदेरिति किम् । रणति ।९७।

नयतीति 'णींग् प्रापणे' । णकारीयतीति-णकारमिच्छतीति 'अमाव्ययात्क्यन्' ।३।४।२३। इति क्यन् । धातूनां णोपदेशस्तु 'णहिनुमोनानेः' इत्यस्य व्यवस्थार्थः । नन्त्वादिग्रहणं किमर्थमादिग्रहणाभावेपि णोपदेशबलान्नत्वं न भविष्यति अन्यथा भनित्येव कुर्यादिति चेन्मैव णोपदेशस्य 'अदुरुपसर्गा०' ।२।३।७७। इति णत्वे फलमस्ति तथाहि उपसर्गपूर्वस्य प्रभणति

अन्यत्र तु भवतीति स्य दित्यं दिग्रहणमिति ॥९७॥

षः सोऽष्ट्यैष्ठिवष्वष्कः ।२।३।९८।

पाठेधात्वादेः षः सः स्यात् नतु ष्टचैष्ठिवष्वष्कां सम्बन्धी स्यात् । सहते । आदेरित्येव ? लषति । ष्टचादिवर्जनं किम् । ष्टचायति । ष्ठीव्यति । ष्वष्कते ।९८।

षोपदेशश्चैषां षत्वविषयव्यवस्थार्थः । यथा असीषहदित्यादौ कृतत्वात् षत्वं भविष्यति अ यत्र तु न भवतीति व्यवस्था सिध्यति । नचात्राप्यादेरित्यधिकाराभावेऽपि लषते त्यादौ प ठबलादेव षत्वं न भविष्यति अन्यथा लसिषि कुर्यादिति किमादेरित्यधि-कारेणेति वाच्यं षत्वकरणस्यान्यत् फलमस्ति यथा 'अनादेशादे०' ।४।१।२४। इत्येत्वे कृते स कारस्य कृतत्वात् षत्वे परोक्षायां षिलेषु-रित्यादि सिध्यति परन्तु प्रस्तुते लसतीसि स्यादिति ॥९८॥

ऋरलृलं कृपोऽकृपीटादिषु ।२।३।९९।

कृपे ऋ त लृत्, रस्य च ल् स्यात् । नतु कृपीटादिविषयस्य । क्लृप्यते । क्लृप्तः । कल्पते । कल्पयति । अकृपीटादिष्विति किम् ? कृपीटः । कृपाणः ।९९।

ननु 'वर्णैकदेशोऽपि वर्णग्रहणेन गृह्यते' इति न्यायात् ऋकारलृकारयो रेफलकारग्रहणेनैव ग्रहणात् किं द्वयोरुपादानेन ? कृपो 'रो लः' इत्येव क्रियतामिति चेत्सत्य वर्णैकदेशोऽपि वर्णग्रहणेन गृह्यते' इत्यस्य क्वचिदप्रवृत्तिज्ञापनार्थम् । एतच्च ,रषृ० ।२।३।६३। इति सूत्रगुणरत्नावृत्तौ विशेषेण स्पष्टीकृतम् । कल्पत इति—वर्तमानायाः ते प्रत्यये शवि गुणे रस्य लकारे च सिद्धम् । अकृपीटादिष्वित्यत्र बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥९९॥

उपसर्गस्यायौ ।२।३।१००।

उपसर्गस्थस्य रस्यायौ धातौ परे ल् स्यात् । प्लायते । प्लत्ययते ।१००।

प्लायते, प्लत्ययते इति-अयि गतौ प्रोपसर्गपूर्वकः एवं प्रत्युपसर्ग-पूर्वकोऽनेन लत्वम् ।।१००।

ग्रो यङि ।२।३।१०१।

यङि परे गिरते रो ल् स्यात् । निजेगिल्यते ।१०१।

निजेगिल्यत इति—गॄत् निगरणे 'गर्हितं निगिरतीति 'गॄलुपसद-चर०' ।३।४।१२। इति यङ्, 'ॠतां क्ङितीर्' ।४।४।११६। इतीरादेशः, द्वित्वे 'आगुणा०' ।४।१।४८। इति द्वित्वे पूर्वस्य गुणः, 'स्वादे०' ।२।१।६३। इत्यस्य परेऽसत्वात् प्रागेवानेन रेफस्य लत्वे निजेगिल्यते । ग्रः इति सामान्यनिर्देशे-ऽपि गृणातेः 'न गुणाशुभ०' ।३।४।१३। इति निषेधाद् यङभावादग्रहणम् ।।१०१।।

नवा स्वरे ।२।३।१०२।

ग्रो रः स्वरादौ प्रत्यये परे विहितस्य ल् वा स्यात् । गिलति । गिरति । निगाल्यते । निगार्यते । विहितविशेषणं किम् । गिरः ।१०२।

निगाल्यत इति – निगिरन्तं प्रयुङ्क्ते णिग्. 'नामिनोऽकलिहलेः'

।४।३।५१। इति वृद्धिः,वयश्च । विहितविशेषणादिहापि लत्वम् । गिर इति-विव-
ब्निमित्त इर्, न स्वरादिप्रत्ययनिमित्त इति न लत्वम् ॥१०२॥

परेर्घाङ्कयोगे ।२।३।१०३।

परिस्थस्य रो घादौ परे ल् वा स्यात् । पलिघः । परिघः । पल्यङ्कः । पर्यङ्कः । पलियोगः । परियोगः ।१०३।

पलिघ इति – परिहन्यतेऽनेनेति 'परेर्घः' ।५।३।४०। इत्यल् नि-पातनाच्च घादेशः अनेन वा लत्वम् । **पल्यङ्क इति**–अङ्कयतं रचि अङ्कः, अङ्कं परिगतः अङ्केन वा परिगतः 'प्रात्यवपरि नि०' ।३।१।४७। इति समासः अनेन वा लत्वम् । **पलियोग इति** – युक्तिर्योगः, योगं योगेन वा परिगतः 'प्रात्यव०' ।३।१।४७। इति समासः अनेन वा लत्वम् ॥१०३॥

ऋफिडादीनां डश्च लः ।२।३।१०४।

एषामृर लृलौ डस्य च ल् वा स्यात् । ऋफिडः । लृफिलः । ऋतकः । लृतकः । कपरिका । कपलिका ।१०४।

एषामृकारस्य लृकारः, रकारस्य लकारः, डस्य च ल् वा स्यात् । अतेर्बाहुलकात् फिडक्प्रत्यये ऋफिडः । अर्त्तेरेव क्ते कुत्सितादौ के अथवा इयर्त्ति गच्छति जनः प्रत्ययमत्रेति शोरी०' । उणा २०१ । इति तकि ऋतं सत्यं कायति 'आतो डो०' ।५।१।७६। इति डे ऋतकः । कं सुखं परं यस्यां 'शेषाद्वा' ।७।३।१७५। इति कचि आपि इत्वे च कपरिका । बहुवचनमाकृ-तिगणार्थम् ॥१०४॥

जपादीनां पो वः ।२।३।१०५।

एषां पो वो वा स्यात् । जवा, जपा । पारावतः, पारापतः ।१०५।

जप्यते इति 'व्यघज०' ।५।३।८७। इत्यलि जपेति । परात् विप्रकृष्टादापततीति क्विपि परापत् तस्यापत्यं पारापतः । जपादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्याः ॥१०५॥

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

आत्मा अभी एक ही शरीर में
नहीं, परन्तु तीन शरीर में है ।

जगत में जीव और जड के सिवा कुछ भी नहीं है ।
जो संसार है तथा संसार को उपलब्धियां हैं, वे
उसकी विद्यमानता जीव के साथ जड़ के एकमेव
जैसे योग को ही लेकर ही हैं ।

'आप इच्छा करे तो आपको मिले बिना
रहे ही नहीं' ऐसी यदि कोई भी वस्तु
हो, तो वह एक मोक्ष ही है ।

आपके पिता की परंपरा अनादिकाल है, परन्तु पिता नहीं बनना यह आपके हाथ की बात है । वैसे आत्मा के साथ अनादिकालीन कर्म के योग के बारे में यदि आप सोचे और मेहनत करे, तो जरुर अन्त ला सकते हैं ।

-लेखक-

पू० परम शासनप्रभावक, व्याख्यान-वाचस्पति आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा

भगवान श्री जिनेश्वरदेवों के जैसा
अन्य कोई उपकारी है ही नहीं ।

जो हमारे साथ वैरविरोध को छोड़े नहीं,
उनके प्रति वैरविरोध को भी हमें तो छोड़
ही देना चाहिये, क्योंकि अपने खुद के
भले के लिये ही उपशान्त बनना है, न कि– सिर्फ
दूसरे किसी के भले के लिये उपशान्त बनना है ।

श्री पर्यूषण पर्व: यह वर्ष भर में लगे हुए
दोषों से और हुए अनबनावों से आत्मा को
मुक्त बनाने वाला वार्षिक पर्व है ।

वैरविरोध से फायदा कुछ नहीं होता और नुकसान अवश्य
होता है । फिर भी ऐसी मूर्खता करने वाले बहुत है
और ऐसी मूर्खता करना यह समझदारी है ऐसा समर्थन
करने वाली आत्माओं की भी इस जगत में कमी नहीं है ।

–लेखक–

पू. परम शासन–प्रभावक, व्याख्यान–वाचस्पति आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा

॥ अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

स्त्रियां नृतोऽस्वस्रादेर्ङीः ।२।४।१।

स्त्रीवृत्तेर्नान्तादृदन्ताच्च स्वस्रादिवर्जाङ्ङीः स्यात् । राज्ञी । अतिराज्ञी । कर्त्री । स्त्रियामिति किम् । पञ्च नद्यः । अस्वस्रादेरिति किम् । स्वसा । दुहिता ॥१॥

अतिराज्ञी—पूजितो राजा स्त्री चेदतिराज्ञी 'पूजा-स्वतेः० ।७।३।७२। सूत्रात् समासान्त-प्रतिषेधः । **पञ्च नद्यः**—पञ्चन्शब्दस्य नकारान्तत्वेऽपि स्त्रियां वर्तमानत्वा-भावात् न ङीः । उक्तं च नान्तायाः संख्याया अलिङ्गत्वं 'नन्ता संख्या युष्मदस्मच्च स्युरलिङ्गका इति लिङ्गानुशासनवचनात् । स्वसा, अतिस्वसा, परमस्वसा, दुहिता, ननान्दा, याता, माता, तिस्रः, चतस्रः एते स्वस्रादयः । तिसृचतस्रादेशस्य विभक्त्यानन्तर्यनिमित्तत्वात् सन्निपात-लक्षणत्वात् तद्विघातका-भावादेव ङी-निवृत्तौ सिद्धायां स्वस्रादिगणे एतयोः पाठः 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' इति न्यायस्यानित्य-ताज्ञापनार्थः ।१।

अधातूदृदितः ।२।४।२।

अधातुर्यउदिदृदिच्चतदन्तात् स्त्रीवृत्तेर्ङीः स्यात् । भवती । अति-महती । पचन्ती । अधात्विति किम् । सुकन् स्त्री ॥२॥

भवती—भांक् दीप्तौ 'भातेर्डवतुः । उणा-८८६। डवतुप्रत्ययः, उदित्त्वाद-नेन ङीः । **अतिमहती**–'द्रुहिवृहिमह्रि० । उणा० ८८४ इति किदतृप्रत्ययः, प्रत्ययस्यर्दित्त्वम् । अवयवधर्मेण समुदायस्य व्यपदेशात्, अवयवस्य ऋदि-त्वात् महच्छब्दोऽपि ऋदित् तेन तदन्तं समासनाम । पचन्तीत्यत्र शतृप्र-त्ययः, प्रत्ययस्यर्दित्त्वात् अनेन ङीः । अव्युत्पत्तिपक्षे तु अतिमहतीत्यत्र महच्छब्दः ऋदित् तदन्तं समासनाम, भवतीति तु व्यपदेशिवद्भावेन ।

सुकन्निति—'कसुकि गतिशातनयोः' सूपसर्ग-पूर्वकस्य कसुकि-धातोः क्विबन्तस्य रूपमिदम्. अत्र धातोरुदित्त्वम् 'न्समहतोः' ।१।४।८६। इत्यत्र महत्साहचर्यात् शुद्धधातोः क्विबन्तस्याग्रहणात् सुकन्नित्यत्र न दीर्घः । तत्र शुद्धधातोः क्विबन्तस्याग्रहणान्नामधातोस्तु भवत्येव श्रेयस्यति, महस्यतीति श्रेयान्, महान् ।।२।।

अञ्चः ।२।४।३।

अञ्चन्तात् स्त्रियां ङीः स्यात् । प्राची । उदीची ।।३।।

'अञ्चोऽनर्चायाम्' ।४।२।४६। इति नलोपेऽनेन ङ्यां 'अच्च प्राग्दीर्घश्च' ।२।१।१०४। 'उदच उदीच्' ।२।१।१०३। इति कृते प्राचीत्यादि । अञ्च इति धातुरुपस्य निर्देशादर्चाविवक्षायां न-लोपाभावे अनर्चाविवक्षायां तु नलोपेऽपिच ङीः भवति । अचः इति निर्देशे तु,अच्च् प्राग्दीर्घश्च ।२।।११४। इति-वत्' कृतनलोपादेव ङीः स्यात्तेन प्राञ्ची उदञ्चीत्यादिर्न सिध्येत् ।।३।।

णस्वराऽघोषाद्वनो रश्च ।२।४।४।

एतदन्तात् विहितो यो वन्, तदन्तात् स्त्रियां ङीः स्यात्। तद्योगे वनोऽन्तस्य रश्च । अवावरी । धीवरी । मेरुदृश्वरी । णस्वराऽघोषादिति किम् । सहयुध्वा स्त्री । विहितविशेषणं किम् । शर्वरी ।।४।।

विहितविशेषणेऽत्र पञ्चमीत्याह-विहित इति । वन इति 'निरनुबन्धग्रहणेन सामान्येनइति न्यायाद् वन् क्वनिप्-ङ्वनिपां ग्रहणम् **वनोऽन्तस्येति**-ननु 'प्रत्ययस्य' ।७।४।१०८। इति सर्वस्य स्यादिति-कथमुक्तमन्तस्येति चेत्सर्वात् न इति कृते सिध्यतीत्यदोषः। 'ओणृ अपनयने''ओणतेः मन्वन्क्वनिप्०' ।५।१।१४७। इति वनि 'वन्याङ् पञ्चमस्य' ।४।२।६५। इति णकारस्यात्वेऽवादेशेऽनेन ङ्यां रेफे च **अवावरी** । दधातीति क्वनिपि 'ईर्व्यञ्जनेऽयपि'

।४।३।६७। इतीत्वेऽनेन ङ्यां रेफे च धीवरी। मेरुं दृष्टवतीति 'दृशः क्वनिप्' ।५।१।१६६। इति क्वनिपि ङ्यां रेफे च मेरुदृश्वरी। सहयुध्वेति-सह योधितवतीति 'सहराजभ्यां०' ।५।१।१६७। इति क्वनिप्। अघोषान्ताद्विहितत्वादस्याप्रवृत्तिः। शर्वरीति-शृणातीति शर्वरी स्वरान्ताद्विहितत्वाद्गुणे कृते घोषवतोऽपि भवति। नान्तत्वात् 'स्त्रियां नृतो०' ।२।४।१। इति ङीः सिद्ध एव णस्वराघोषादेव वनो ङी-र्भवतीति नियमार्थं रविधानार्थं च वचनम्। तेन सहयुध्वेत्यादौ 'स्त्रियां नृतो०' ।२।४।१। इत्यनेनापि न भवति। विपरीतनियमस्तु 'स्त्रियां नृतो०' ।२।४।१। इत्यस्यारम्भान्न भवति। अन्यथा राज्ञीत्यादौ स्वरात्परस्य नकारस्यावस्थानाद् 'स्त्रियां नृतो०' ।२।४।१। इति ङीर्न स्यात्। ननु वनिति प्रत्ययग्रहणं कृद्ग्रहणं वा तत्र प्रत्ययग्रहणे 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः०'।७।४।११५। इति, कृद्ग्रहणे 'कृत्सगति० ।७।४।११७। इति बहुधीवरीत्यादि न सिध्यतीति चेत्सत्यं 'अजादेः' ।२।४।१६। इत्यत्रावृत्तिव्याख्यानस्य अत्र स्त्रीप्रकरणे तदन्तविधिज्ञापकत्वात्तदन्तस्यापि विधिरिति बहुधीवरीत्यादि सिध्यतीत्यदोषः ॥४॥

वा बहुव्रीहेः ।२।३।५।

णस्वराघोषाद्विहितो यो वन्तदन्तात् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्वास्यात्। रश्चान्तस्य। प्रियावावरी। प्रियावावा। बहुधीवरी। बहुधीवा। बहुमेरुदृश्वरी। बहुमेरुदृश्वा ॥५॥

प्रियावावरीति—प्रियोऽवावा यस्याः सा। **बहुधीवरीति**—बहवो धीवानो यस्याः सा **मेरुदृश्वरीति**—बहवो मेरुदृश्वानो यस्यां सा। पक्षे बहुमेरुदृश्वा स्त्री ।५।

वा पादः ।२।४।६।

बहुव्रीहेस्तद्धेतुकपाच्छब्दान्तात् स्त्रियां ङीर्वा स्यात्। द्विपदी। द्विपात्। बहुव्रीहिनिमित्तो यः पादिति विशेषणादिह न स्यात्।

पादमाचष्टे । विवपि पाद् । त्रयः पादोऽस्याः सा त्रिपात् ॥६॥

द्विपदीति—द्वौ पादावस्या इति 'सुसंख्यात्' ।७।३।१५०। इति सूत्रेण ,पादस्य पादादेशः अनेन वा ङीः 'यस्वरे पादः०' ।२।१।१०२। इति पदादेशः ङ्यभावपक्षे द्विपात् ॥६॥

ऊध्नः ।२।४।७।

ऊधन्नताद्बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीः स्यात् । कुण्डोध्नी ॥७॥

नाम्नो विशेषणत्वात्तदन्तविधिः । ऊधन्निति कृतनकारादेशस्योधसो ग्रहणम् कुण्डवदूधसो यस्याः सा कुण्डोघ्नी । 'स्त्रियामूधसो न्' ।७।३।१६६। इति इति सस्य न् 'ईङौ'० ।२।१।१०६। इत्यनोऽकारलोपः । 'अनो वा' ।२।४।११। इति विकल्पे प्राप्ते वचनम् ॥७॥

अशिशोः ।२।४।८।

अशिशुइति बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीः स्यात् । अशिश्वी॥८॥

अविद्यमानः शिशुर्यस्या सा अशिश्वी । नचोधन्शब्दस्याशिशुशब्दस्य च बहुव्रीहिविषयत्वात्पूर्वेण सहैकयोग एव क्रियतां किं पृथग्योगेनेति वाच्यं द्वयोरपि बहुव्रीहिविषयत्वेऽप्यूध्नः तदन्तस्य विधिः, अशिशोस्तु स्वरूपस्येति योगविभागस्यावश्यककत्वात् । ॥८॥

संख्यादेर्हायनाद्वयसि ।२।४।९।

संख्यादेर्हायनान्ताद्बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीः स्यात् । वयसि गम्ये त्रिहायणी । । चतुर्हायणी वडवा । वयसीति किम् । चतुर्हायना शाला ॥९॥

त्रिहायणीत्यादि—'चतुस्त्रेर्हायनस्य वयसि' ।२।३।७४। इति णत्वम् । चतुर्हायना शालेति—'कालकृता प्राणिनां शरीरावस्था वयः' इति वयसः प्राणिधर्मत्वात् शालायामभावात् ङी-णत्वं च न भवति ॥९॥

दाम्नः ।२।४।१०।

संख्यादेर्दाम्नन्तादबहुव्रीहेः स्त्रियां ङीः स्यात् । द्विदाम्नी । संख्यादेरित्येव । उद्दामानं पश्य ॥१०॥

द्वे दामनी यस्यां सा **द्विदाम्नी** । उद्गतं दामास्या सा उद्दामा ताम् । अत्र त्रैरूप्यम्-उद्दामानम्, उद्दामाम्, उद्दाम्नीं० वडवां पश्य । 'अनो वा' ।२।३।११। इति विकल्पस्यापवादोऽयं योगः ॥१०॥

अनो वा ।२।४।११।

अन्नन्तादबहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । बहुराज्यौ । बहुराजे । बहुराजानौ ॥११॥

'ताभ्यां वाप् डित्' ।२।३।१५ इति डापि बहुराजे । उत्तरोपान्त्यवतः प्रतिषेधादुपान्त्यलोपिन एवायं विधिः ॥११॥

नाम्नि ।२।४।१२।

अन्नन्तादबहुव्रीहेः स्त्रियां संज्ञायां नित्यं ङी स्यात् । अधिराज्ञी, सुराज्ञी नाम ग्रामः ॥१२॥

अधिको राजा यस्याः, शोभनो राजा यस्या सा अधिराज्ञी, सुराज्ञी । अयमप्युपान्त्यलोपवत एवायं विधिः, नित्यार्थं वचनम्, तेन पक्षे डाप् विकल्पेन न भवति ॥१२॥

नोपान्त्यवतः ।२।४।१३।

यस्योपान्त्यल् -ग्नास्ति तस्मादन्नन्ताद्बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्न स्यात् । सुपर्वा । सुशर्मा । उपान्त्यवतइति किम् । बहुराज्ञी ॥१३॥

अन्तस्य समीपमुपान्त्यम् । उपान्त्यलुग्नास्तीति 'न वमन्तसंयोगात्' ।२।१।११। इति निषेधेनेत्यर्थः । अन्यथा अनोनुपान्त्यवतो वा इति एकयोगः क्रियेत योगविभागकरणान्नायं 'अनो वा' ।२।४।११। इति सूत्रविहितस्यैव प्रतिषेधः किन्तु 'स्त्रियां नृतो०' ।२।४।१। इत्यस्यापि । पिपर्तेः पृणातेर्वा वनि शृणोतेश्च मनि शोभनं पर्व शर्म यस्या सा सुपर्वा सुशर्मा । बहुव्रीहेरित्युक्तत्वाद् पर्वाण-मतिक्रान्तेत्यतिपर्वणीत्यत्र 'स्त्रियां नृतो०' ।२।४।१। इति सूत्रेण ङीः भवति किन्त्वव्युत्पत्तिपक्षाश्रयणाद् 'णस्वरा०' ।२।४।४। इति ङी रत्र न भवति । ॥१३॥

मनः ।२।४।१४।

मन्नन्तात् स्त्रियां ङीर्न स्यात् । सीमानौ ॥१४॥

'न मन्नुपान्त्यवद्भ्याम्' इत्येकयोगाकरणाद्बहुव्रीहेरिति निवृत्तम् । मन्नन्ते बहुव्रीहौ तु अन्नन्तद्वारा ङी-भवत्येव । यथा 'महत्त्वयोगाय महामहिम्ना-माराधनीं तां नृप ! देवतानाम् । दातुं प्रदानोचित ! भूरिधाम्नीमुपागतः सिद्धिमिवास्मि विद्याम् । (किराता सर्ग३ श्लोक २३) महतोभावः 'पृथ्वादे-रिमन्वा' ।७।१।५८। इतीमनि अनोऽ-नर्थकत्वेपि 'अनिनस्मिन् ग्रहणान्य०' इति न्यायात् महिमानमतिक्रान्ता-अतिमहिमेत्यादौ ङी-प्रतिषेधो भवति अतिक्रान्तो महिमा ययेति बहुव्रीहौ तु 'अनो वा' ।२।४।११। इत्यस्य 'मनः' ।२।४।१४। इत्यस्य च द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वात् परत्वात् प्राप्तमपि निषेधं बाधित्वा विशेषविहितत्वात् 'अनो वा' ।२।४।११। इति विकल्प एव ॥१४॥

ताभ्यां वाप् डित् ।२।४।१५।

मन्नन्ताद्बहुव्रीहेश्चान्नन्तात् स्त्रियामाप्वा स्यात् । सच डित् । सीमे । सुपर्वे । पक्षे । सीमानौ । सुपर्वाणौ ॥१५॥

'डाप्' इत्यकरणमुत्तरत्र 'आप्' इत्यस्यैवानुवृत्त्यर्थम् । **सीमानौ सुपर्वाणौ** इति-पक्षे पूर्वाभ्यां प्रतिषेधाद् ङीर्न भवति उपान्त्यलोपवति बहुव्रीहौ तु ङी-रपि भवतीति त्रैरूप्यम्-बहुराजे बहुराजानौ बहुराज्ञ्यौ 'वा बहुव्रीहेः' ।२।४।५। इति वचनात् वन्नन्तस्यापि त्रैरूप्यम् बहुधीवे, बहुधीवानौ, बहुधीवर्यौ । डित्करणमन्त्यस्वरादिलोपार्थम् ॥१५॥

अजादेः ।२।४।१६।

अजादेस्तस्यैव स्त्रियामाप् स्यात् । अजा । बाला । ज्येष्ठा । क्रुञ्चा ॥१६॥

अजादेरिति—अत्र पञ्चमी अजादेः स्त्रियामाप् स्यादित्यर्थः । **तस्यैवेति** आवृत्त्या व्याख्यानात् षष्ठीसम्बन्ध अजादिसम्बन्धिन्यामेव स्त्रियामभिधेयायामाप् स्यादित्येवमर्थस्तेन पञ्चानामजानां समाहारः पञ्चाजी, दशाजी इत्यत्र समाहारः समासार्थः स्त्री नासावजशब्दसम्बन्धिनी-त्याप् न भवति किन्तु 'द्विगोः समाहारात्' ।२।४।२२। इति समाहारलक्षणः ङी-र्भवति । अत एव च ज्ञापकादत्र स्त्रीप्रकरणे तदन्तादपि विधिर्भवति तेन महांश्चासावजश्च महाजा परमाजेति सिद्धम् एव-मतिमहती, बहुधीवरीत्यादि । **अजेति**—'आत्' ।२।४।१८। इत्यापि सिद्धेऽपि 'जातेरयान्त०' ।२।४।५४। इति बाधनार्थोऽजादिपाठः । **बालेति**–'वयस्यनन्त्ये' ।२।४।२१। इति वयोलक्षणस्य ङी-प्रत्ययस्यापवादः आप् । **ज्येष्ठेति**—'धवाद्योगाद०' ।२।४।५९। इति धवयोगलक्षणस्य ङी-प्रत्ययस्यापवादः आप् । **कुञ्चेति**—व्यञ्जनान्तत्वात् 'आत्' ।२।४।१८। इत्यप्राप्ते-ऽजादिपाठः । कश्चिदस्माद्विकल्पेनेच्छति तन्मते क्रुङ् । अन्ये तु क्रुञ्चानालभेतेति प्रयोगदर्शनादकारान्त एवेति मन्यन्ते ।

ऋचि पादः पात्पदे ।२।४।१७।

कृतपा-दभावपादस्य ऋच्यर्थे पात्पदेतिनिपात्यते । त्रिपदा । त्रिपाद् गायत्री । ऋचीति किम् । द्विपात् । द्विपदी ॥१७॥

ऋच् वेदवाक्यमित्यर्थः । त्रयः पादा यस्याः सा त्रिपदेत्यादि 'सुसंख्यात्' ।७।३।१५४। इति पादादेशः अनेन स्त्रीप्रत्ययविशिष्टस्य पात्पदेति निपातनम् 'वा पादः' ।२।४।६।इति ङीप्रत्ययस्या-पवादोऽयम्॥१७॥

आत् ।२।४।१८।

अकारान्तात् स्त्रियामाप् स्यात् । खट्वा । या । सा ॥१८॥

खट काङ्क्षे 'खट्यते काङ्क्ष्यते शयालुभिरिति 'लटिखटि०' । उणा५०५। इति वे खट्वा । ननु खट्वाशब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गत्वात् अकारान्त-प्रयोगा दर्शनात्कथमकारान्ततानिर्णय इति चेत्सत्यम् अतिखट्वः,प्रियखट्वः,पञ्चभिः खट्वाभिः क्रीतः पञ्चखट्वः इत्यादिप्रयोगदर्शनाद्स्या-कारान्तता निर्णीयतेऽन्यथाऽकारान्तत्वा-भावान्नाबन्त इति'गोश्चान्ते०'।२।४।९६। इति 'ङ्यादेगौं०' ।२।४।९५। इत्याब् द्वारेण ह्रस्वोऽपि न स्यादिति । आदित्य-धिकारः उत्तरत्र यथा-सम्भवं योजनीयम् ।१८।

गौरादिभ्यो मुख्याङ्ङी ।२।४।१९।

गौरादिगणान्मुख्यात् स्त्रियां ङीः स्यात् । गौरी । शबली । मुख्यादिति किम् । बहुनदा भूमिः ॥१९॥

गौरीशबलीति—अनयोर्गुणवचनत्वादजातिवचनत्वादप्राप्ते पाठः । 'अस्य ङ्यां लुक्' ।२।४।८६। इत्यकारलोपः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥१९॥

अणञे-येकण्-नञ्-स्नञ्-टिताम् ।२।४।२०।

अणादीनां यो-ऽत्तदन्तात्तेषामेव स्त्रियां ङीः स्यात् ।औप गवी।

बैदी। सौपर्णेयी। आक्षिकी। स्त्रैणी। पौंस्नी। जानुदघ्नी।२०।

औपगवीति—उपगोरपत्यम् स्त्री 'ङसोऽपत्ये' ।६।१।२८। इत्यण्, 'वृद्धिः स्वरेष्वा०' ।७।४।२। इति वृद्धिः,'अस्वयम्भुवोऽव्' ।७।४।७०। इत्यवादेशः, बैदीति–बिदस्यापत्यं पौत्री 'बिदादेर्वृद्धे' ।६।१।४१। इत्यञ् । सौपर्णेयीति-सुपर्ण्या अपत्यं स्त्री सौपर्णेयी 'ङ्याब्त्यूङ् ।६।१।७१। इत्येयण् । आक्षिकीति-अक्षै-र्दीव्यतीति 'तेन जित०' ।६।४।२। इतीकण् । स्त्रैणीति-स्त्रिया अपत्यं स्त्रैणी पुंसोऽपत्यं पौंस्नी 'प्राग्वतः स्त्रीपुंसान्नञ्०' ।६।१।२५। इति नञ्-स्नञौ । जानुदघ्नीति–जानु ऊर्ध्वं प्रमाणमस्या 'वोर्ध्वं दघ्नट्०' ।७।१।१४२। इति दघ्नट्, टित्त्वादनेन ङीः । प्रत्ययसाहचर्यादागमटितो न भवति-पठिता विद्या। अणादीनां षष्ठीनिर्देशेन अकारस्य विशेषणादणादीनां योऽकारस्तत एव ङीप्रत्ययो भवति। तेन पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् 'तद्वेत्त्यधीते' ।६।२।११७।इत्यण्;'प्रोक्तात्'।६।२।१२६।इति लो॰ पाणिनीया कन्येत्यत्र न भवति - पाणिनोऽपत्यं 'ङसोऽपत्ये ।६।१।२८। इत्यण् 'गाथिविदथि०' ।७।४।५०। इत्यन्त्यस्वरादिलोपः तदनन्तरं पाणिनस्यापत्यं पाणिनिः "अतः इञ्' ।६।१।३१। इतीञ् ॥२०॥

वयस्यनन्त्ये ।२।४।२१।

कालकृता शरीरावस्था वयस्तस्मिन्नचरमे वर्त्तमानादकारान्तात् स्त्रियां ङीः स्यात् । कुमारी । किशोरी । वधूटी । अनन्त्यइति किम् । वृद्धा ॥२१॥

वयोगाभावविशिष्ट—वयः कुमारी–शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् चत्वारि वयांसि-कुमार-यौवन-मध्यम-वृद्धत्वानि—

तथा चाहुः— प्रथमे वयसि नाधीतं, द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये न तपस्तप्तं, चतुर्थे किं करिष्यति॥

कुमारयति क्रीडयतीति कुमारी कुत्सितो मारो मन्मथो यस्या वाऽनूढत्वात् बध्नातिकटाक्षैरिति'बन्धे'।उणा-१५७ इति किदूटिअनेन ङ्यां च वधूटी। ननु आकृतिग्रहणत्वात् कुमारी-शब्दस्य जातित्वात् जाति-लक्षणेनैव ङीप्रयत्येन

भवितव्यम्— "आकृति-ग्रहणा जातिः, अग्निलिङ्गा च यान्विता।
आजन्मनाशमर्थानां, सामान्यमपरे विदुः ॥

आकृतिग्रहणा जातिरिति प्रथमलक्षणानुसारेणायावद्द्रव्यभाविनोऽपि कुमारीत्वस्याकृतिग्रहणत्वाज्जातित्वे सिद्धे प्रपञ्चार्थमिदम्। अग्निलिङ्गा च यान्विता आजन्मनाशमर्थानामिति द्वितीयलक्षणानुसारेण तु जातित्वस्य यावद्द्रव्यभावित्वान्नायं जातिरिति पुनर्वचनमर्थवदित्यलम् ॥२१॥

द्विगोः समाहारात् ।२।४।२२।

समाहारद्विगोरदन्तात् स्त्रियां ङीः स्यात्। पञ्चपूली, दशराजी ॥२२॥

पञ्चपूलीति-पञ्चानां पूलानां समाहारः। **दशराजीति**—दशानां राज्ञां समाहारः 'राजन्सखेः' ।७।३।१०६। इत्यट्। अत्र 'पात्रादि०' इत्यादिलिङ्गानुशासनेन स्त्रीत्वम् ॥२२॥

परिमाणात्तद्धितलुक्यबिस्ताचित-कम्बल्यात् ।२।४।२३।

परितः सर्वतो मानं परिमाणं, रूढेः प्रस्थादिबिस्तादिवर्जपरिमाणान्ताद् द्विगोरदन्तात् तद्धितलुकि स्त्रियां ङीः स्यात्। द्वाभ्यां कुडवाभ्यां क्रीता द्विकुडवी। परिमाणादिति किम्। पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा। तद्धितलुकीति किम्। द्विपण्या। बिस्तादवर्जनं किम्। द्विबिस्ता। द्व्याचिता। द्विकम्बल्या ॥२३॥

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं, परिमाणं तु सर्वतः।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात्, संख्या बाह्या तु सर्वतः॥

सर्वतः आरोहपरिणाहाभ्यां मीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति अर्थः।

कार्यासंभवात् परिमाणवाची यः शब्दस्तदन्तादित्यर्थः । **द्विकुडवीति**-'मूल्यैः क्रीते' ।६।४।१५०। इतीकण् 'अनाम्न्यद्विः प्लुप्' ।६।४।१४२। इति लुप् । **द्विपण्येति**—द्वाभ्यां पणाभ्यां क्रीतेति 'पणपदमाषाद्यः ।६।४।१४८। इति यः तस्य च विधानसामर्थ्यादलुप् **द्विबिस्तेत्यादि**—द्वाभ्यां बिस्ताभ्यां क्रीतेत्यादि ॥२३॥

काण्डात् प्रमाणादक्षेत्रे ।२।४।२४।

प्रमाणवाचिकाण्डान्तादक्षेत्रविषयाद् द्विगोस्तद्धितलुकि स्त्रियां ङीः स्यात् । आयामः प्रमाणम् । द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः द्विकाण्डी रज्जुः । प्रमाणादिति किम् । द्विकाण्डा शाटी । अक्षेत्र इति किम् । द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः ॥२४॥

द्विकाण्डी रज्जुरिति—'प्रमाणान्मात्रट्' ।७।१।१४०। इति मात्रट् 'द्विगोः संशये च' ।७।४।१४४। इति मात्रट्लोपः । षोडशहस्तप्रमाणं काण्डम् । **द्विकाण्डा शाटीति**—द्वाभ्यां काण्डाभ्यां क्रीतेति 'मूल्यैः क्रीते' ।६।४।१५०। इतीकण् तस्य च 'अनाम्न्यद्विः प्लुप्' ।६।४।१४१। इति लोपः । **क्षेत्रभक्ति-रिति**–क्षेत्रविभाग इत्यर्थः । भक्ति-ग्रहणं तद्धितान्तस्य स्त्रीत्वार्थम् ॥२४॥

पुरुषाद्वा ।२।४।२५।

प्रमाणवाचिपुरुषान्ताद् द्विगोस्तद्धितलुकि स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । द्विपुरुषी । द्विपुरुषा परिखा । तद्धितलुकीत्येव । पञ्चपुरुषाः समाहृताः पञ्चपुरुषी ॥२५॥

द्विपुरुषीति—चतुर्हस्तः पुरुषः द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्या इति मात्रटो 'हस्ति-पुरुषाद्वाण्' ।७।१।१४१। इत्यणो वा 'द्विगोः संशये च' ।७।१।१४४। इति लुप् । **पञ्चपुरुषीति**–'द्विगोः समाहारात्' ।२।४।२२। इति नित्यमेव ॥२५॥

रेवतरोहिणाद्भे ।२।४।२६।

आभ्यां नक्षत्रवृत्तिभ्यां स्त्रियां ङीः स्यात् । रेवती । रोहिणी । रेवत्यां जाता रेवती । भ इति किम् । रेवता ॥२६॥

रेवत्यां जाता रेवतीति—'चित्रारेवती०' ।६।३।१०८। इत्यणो लुप्, 'ङ्यादेर्गौ-णस्या०' ।२।४।९५। इति ङी-प्रत्ययस्य लोपः । रेवतीशब्देन कन्याया वाच्यत्वाद् गौणस्यापि रेवतीशब्दस्य नक्षत्रे वर्तमानत्वादनेन ङीः । नन्वत्र "गौरादिभ्यः" ।२।४।१९। इति सूत्राद् मुख्याधिकाराद् गौणान्न भविष्यतीति चेन्मैवं मुख्याधिकारेऽपि क्वचिच्छाब्द्या वृत्त्या प्राधान्यं ग्राह्यं क्वचिदार्थ्या वृत्त्या अत्र तु यदि रेवतीशब्दस्य नक्षत्रलक्षणोऽर्थो वाच्यो न भवेतर्हि तद्विशिष्टः कालोऽपि वाच्यो न स्यात् रेवतेति—'आत्' ।२।४।१८। इत्याप् प्रत्ययः ॥२६॥

नीलात्प्राण्यौषध्योः ।२।४।२७।

प्राण्यौषधौ च नीलात् स्त्रियां ङीः स्यात् । नीली गौः । नीली औषधिः । नीलाऽन्या ॥२७॥

नीली **औषधिरिति**—नीली औषधिजातिरिति जातिशब्दात् जातौ नित्यस्त्रीत्वात् 'जाते०' ।२।४।५४।इत्यप्राप्तेऽनेनैव ङीः, ये तु नीलः पटः इत्यर्थान्तरेऽपि वृत्तिदर्शनादनित्यं स्त्रीत्वमभ्युपगच्छन्ति तेषां गुणशब्दस्यैवोदाहरणम् जातिशब्दात्तु 'जाते०' ।२।४।५४। इत्यनेन ङीः सिद्ध एव॥२७।

क्ताच्च नाम्नि वा ।२।४।२८।

नीलात् क्तान्ताच्च स्त्रियां संज्ञायां ङीर्वा स्यात् । नीली। प्रवृद्धविलूनी । नीला । प्रवृद्धविलूना ॥२८॥

प्रवृद्धविलूनीति—प्रवृद्धा चासौ विलूना चेति प्रवृद्धविलूनी औषधिविशेषः अखण्डः सञ्ज्ञा-शब्दः व्युत्पत्तिमात्रमिदम् । प्रवृद्धा चासौ विलूनीति त्वर्थकथनमात्रं विग्रहस्तु प्रवृद्धश्चासौ विलूनश्च स्त्री चेत्प्रवृद्धविलूनीति

कार्योऽन्यथा गौणत्वाभावात् 'गोश्त्रान्ते' ।२।४।९६। इत्यप्रवृत्तावदन्तत्वा-भावाद् ङीर्न स्यात् ॥२८॥

केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्यकृतसुमङ्गलभेष-जात् ।२।४।२९।

एभ्यो नाम्नि स्त्रियां ङीः स्यात् । केवली ज्योतिः । मामकी । भागधेयी । पापी । अपरी । समानी । आर्यकृती । सुमङ्गली । भेषजी । नाम्नीत्येव । केवला ।२९।

ममेयं 'वा युष्मदस्मदो०' ।६।३।६७। इति सूत्रेणाञ् - प्रत्यये ममकादेशे-चानेन ङ्यां च **मामकीति** । ननु मामकशब्दस्याञन्तत्वेन 'अणञे०'।२।४।२० इति सूत्रेणैव ङी-सिद्धौ संज्ञायां नियम्यते मामकशब्दस्य नाम्न्येवेति तेना-संज्ञायां मामिका बुद्धिरित्यत्राञन्तलक्षणोऽपि ङीर्न भवति । भागशब्दात् 'नामरूपभागाद्धेयः' ।७।२।१५८। इति स्वार्थे धेयप्रत्यये **भागधेयीति** मामकी मातुलानी, भागधेयी, बलिः, पापी अपरी ओषध्यौ। समानी-छन्दः, आर्यकृती क्रियाविशेषः, सुमङ्गली छन्दः ओषधिर्वा, भेषजी ओषधिः। ॥२९॥

भाजगोणनागस्थलकुण्डकालकुशकामुककटकबरात् पक्वावपनस्थूलाऽकृत्रिमाम-त्रकृष्णायसीरिरंसुश्रोणि-केशपाशे ।२।४।३०।

एभ्यो यथासंख्यं पक्वादिष्वर्थेषु स्त्रियां नाम्नि ङीः स्यात् । भाजी पक्वा चेत् । भाजाऽन्या । गोणी आवपनम् । गोणाऽन्या । नागी स्थूला । नागाऽन्या । स्थली अकृत्रिमा । स्थलाऽन्या । कुण्डी अमत्रम् । कुण्डाऽन्या । काली कृष्णा । कालाऽन्या । कुशी

आयसी । कुशाऽन्या । कामुकी रिरंसुः । कामुकाऽन्या । कटी श्रोणिः । कटाऽन्या । कबरी केशपाशः । कबराऽन्या ।।३०।।

यथासंख्यमिति—सम्यक् ख्यायतेऽनयेति-संख्या क्रमवैशिष्टयेन ज्ञानम् तामनतिक्रम्य-यथासंख्यम्, मिथः साकाङ्क्षाणां पदार्थानां येन क्रमेण ज्ञानंतेन क्रमेणान्वय इति तदर्थः। आवपन्ति धान्यानि यत्र तद् आ-**वपनम्** । करणेन निर्वृत्ता 'ड्वितस्त्रिमक्०'।५।३।८४।इति त्रिमकि कृत्रिमा न कृत्रिमा **अकृत्रिमाअन्या-** । **अमत्रम्**-भाजनम् । कुशा=काष्ठमयी तदाकृतिर्वल्या वा । **रिरंसुः**-रन्तुमिच्छुः,-मैथुने च्छुरित्यर्थः । **केशपाशः**–केशरचनाविशेषः इत्यर्थः, अन्या-कबरवर्णेत्यर्थः ।।३०।।

नवा शोणादेः ।२।४।३१।

शोणादेः स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । शोणी । शोणा । चण्डी । चण्डा। ।।३१।।

शोण् वर्णे अस्याच्चि–शोण उज्ज्वलो वर्णः, निर्दोषरक्तः वर्ण इत्यर्थः । चण्डी–कोपनायामनेनैव विकल्पः, गौर्यां तु गौरादिपाठान्नित्यं ङीः ।।३१।।

इतोक्त्यर्थात् ।२।४।३२।

क्त्यऽर्थप्रत्ययान्तवर्जादिदन्तात् स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । भूमी । भूमिः । धूलीः । धूलिः । अक्त्यर्थादिति किम् । कृतिः । अकरणिः । हानिः ।।३२।।

भूधातोः 'कृभूम्यां कित्' । उणा० ६९०। इति मिप्रत्यये **भूमिः** । 'धूग् कम्पने' 'धू-मूभ्यां लिक् उणा० ७०१। इति लिकि **धूलिः** । **अकरणिरिति** 'नञोऽनिः शापे' ।५।३।११७। इत्यनिः हानिरिति 'ग्ला-हा-ज्यः' ।५।३।११८। इत्यनिः ।।३२।।

पद्धतेः ।२।४।३३।

अस्मात् स्त्रियां ङीर्वा स्यात्। पद्धती। पद्धतिः।३३।

क्तिप्रत्ययान्तत्वादप्राप्ते वचनम्। पादाभ्यां हन्यत इति 'श्वादिभ्यः' ।५।३।९२। इति क्तिः, 'हिमहति०' ।३।२।९५। इति पदादेशः। अथवा हननं इतिः, पादस्य हतिः ॥३३॥

शक्तेः शस्त्रे ।२।४।३४।

अस्माच्छस्त्रे स्त्रियां ङीर्वा स्यात्। शक्ती। शक्तिः। शस्त्र इति किम्। शक्तिः सामर्थ्यम् ॥३४॥

शक्यतेऽनया हन्तुमिति श्वादित्वात् क्तौ ङ्यां च **शक्ती**। शक्तिशब्दस्य क्त्यन्तत्वादक्त्यर्थादिति निषेधे प्राप्ते शस्त्रवाचिनो विकल्प आरभ्यते ॥३४॥

स्वरादुतो गुणादखरोः ।२।४।३५।

स्वरात्परो य उस्तदन्ताद् गुणवचनात् खरुवर्जात् स्त्रियां ङीर्वा स्यात्। पट्वी। पटुः। विभ्वी। विभुः। स्वरादिति किम्। पाण्डु- भूमिः। गुणादिति किम् आखुः स्त्री। अखरोरिति। खरुरियम् ॥३५॥

स्वरादिति पञ्चम्यन्तस्याव्यवहितोत्तरत्वमर्थः 'पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य' ।७।४।१०४। इति न्यायात्। स्वरादव्यव- हितोत्तरत्वं केवलं 'तितउ' शब्दे दृश्यते किन्तु स न गुणवाचीति गुण-वाचकशब्दे स्वराव्य व-हितोत्तरस्यो-कारस्या–सम्भवात् 'येन नाव्य-वधानम्०', इति न्यायात् स्वरोकारयोर्मध्ये एकस्य व्यञ्जनस्य व्यवधानेऽपि स्वरोत्तरत्वविशिष्टोकारान्तात् गुण-वाचकात् स्त्रियां ङी-र्भवतीति सूत्रार्थः निष्पन्नः। अर्थे कार्यसम्भवादुत इत्यादि-विशेषणायोगाच्चोपचाराद् गुणवचन-शब्दः गुण इत्युच्यते। अथ ग्रन्थकृदभिमतं गुणस्य स्वरूपं प्रदर्श्यते—

सत्वे निविशतेऽ-पैति, पृथग्जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च, सोऽ -सत्वप्रकृतिर्गुणः ॥

सत्त्वं द्रव्यं तत्र निविशते तदेवाश्रयति यः स गुणः । द्रव्यादपैत्य-पगच्छति । यथाऽऽ-म्राग्नीलता पीततायामुपजातायां पृथग्जातिषु भिन्नजातीयेषु दृश्यते, यथा सैव नीलता आम्रे दृष्टा तरुणतृणेषु दृश्यते । एतेन सर्वेण जातिर्गुणो न भवतीत्युक्तम् । आधेय उत्पाद्यः यथा कुसुम-संयोगाद् गन्धो वस्त्रे यथा वाऽ-ग्निसंयोगाद्घटे रक्तता । अक्रियाजः-नित्यः यथाऽऽ-काशादिषु क्रियाया महत्त्वादि एवमुत्पाद्यानुत्पाद्यत्वप्रकारद्वयप्रदर्शनेन उत्पाद्यत्वैकप्रकारायाः क्रियायाः व्यवच्छेदः । असत्त्वप्रकृतिः द्रव्यस्वभावरहितः, अनेन द्रव्यस्य व्यवच्छेदः तथा च द्रव्यभिन्नत्वे सति क्रियाभिन्नत्वे सति जातिभिन्नत्वे सति द्रव्याश्रितत्वं गुणस्यलक्षणमित्यायाति । गुणादिति सामान्योक्तावपि केवलगुणवृत्तेः स्त्रीत्वायोगात्त-तो द्रव्यवृत्तेः प्रत्ययः । आखुः-स्त्रीति जाति-शब्दोऽयम् । खरुरिति-क्रूरा मुर्खा दर्पिष्टा श्वेता वा स्त्र्युच्यते

श्येतैतहरितभरितरोहिताद्वर्णात्तो नश्च ।२।४।३६।

एभ्यो वर्णवाचिभ्यः स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । तद्योगे तो न् च । श्येनी । श्येता । एनी । एता । हरिणी । हरिता । भरिणी । भरिता । रोहिणी । रोहिता । वर्णादिति किम् । श्येता । एता ॥३६॥

श्येनादीनां शब्दानां वर्णत्वमनुपपन्नमतोऽ-यमर्थो विज्ञायते इत्याह **वर्णवाचिभ्यः** इति । वाऽ धिकारः प्रधानत्वात् प्रत्ययविधिनैव सम्बध्यते । श्येनी-शुभ्रा, एनी-कर्बुरा शुभ्रा वा, हरिणी-नीला । भरणी-पाटला धूसरा घृतवर्णा वा । रोहिणी रक्ता इत्यर्थः । चकारो नकारस्य ङी-सन्नियोगशिष्टतार्थः-अयं भावः-चकारः यस्मात्परः श्रूयते तस्य भावे द्वितीयापेक्षा प्रतीयते तेन केवलो नकारो न भवति, सन्नियोगे एव भवति, असति च-ग्रहणे तु अयमर्थो न लभ्येत ॥३६॥

क्नः पलितासितात् ।२।४।३७।

त इतिचेतिचानुवर्तते । आभ्यां स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । तद्योगे तः क्नः । पलिक्नी । पलिता । असिक्नी । असिता ।।३७।।

पलितशब्दः केशरोग-विषये वर्णे वर्तते । पलितमस्यास्तीति 'अभ्रादिभ्यः' ।७।२।४६। इत्य-प्रत्यये ङ्यां च पलिक्नी वृद्धा । असिक्नी-अन्तः-पुरदूती । असितशब्देन सितप्रतिपक्षो वर्ण उच्यते तदा ङीः, यदा तु सिता-बद्धा । तदा न सा वर्ण इति तत्र द्वयमपि ङीः कनश्च न भवति ।।३७।।

असहनञ्-विद्यमानपूर्वपदात् स्वाङ्गादक्रोडादिभ्यः ।२।४।३८।

सहादिवर्जपूर्वपदं यत् स्वाङ्गं तदन्तात् क्रोडादिवर्जाददन्तात् स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । पीनस्तनी । पीनस्तना । अतिकेशी । अतिकेशा माला । सहादिवर्जनं किम् । सहकेशा । अकेशा । विद्यमानकेशा । क्रोडादिवर्जनं किम् । कल्याणक्रोडा । बहुगुदा । दीर्घवाला । स्वाङ्गादिति किम् । बहुशोफा । बहुज्ञाना । बहुयवा ।३८।

अविकारोऽ-द्रवं मूर्तं, प्राणिस्थं स्वाङ्गमुच्यते ।
च्युतं च प्राणिनस्तत्तन्निभं च प्रतिमादिषु ।।

इति पारिभाषिकं स्वाङ्गमिह गृह्यते । विकारः वातादिक्षोभजन्मा शोफादिस्तत् स्वाङ्गं न भवति । रूपादियोगो मूर्तिः तद्योगान्मूर्तं पुद्गलद्रव्यम् अक्रोडादिभ्य इत्यत्र बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । **बहुशोफेति**— विकारत्वान्न भवति । **बहुज्ञानेति**-मूर्ताभावान्न भवति ।।३८।।

नासिकोदरोष्ठजङ्घादन्तकर्णश्रृङ्गाङ्गगात्रकण्ठात् ।२।४।३९।

सहादिवर्जपूर्वपदेभ्य एभ्यः स्वाङ्गेभ्यः स्त्रियां ङीर्वा स्यात् ।

तुङ्गनासिकी । तुङ्गनासिका । कृशोदरी । कृशोदरा । बिम्बोष्ठी । बिम्बोष्ठा । दीर्घजङ्घी । दीर्घजङ्घा । समदन्ती । समदन्ता । चारुकर्णी । चारुकर्णा । तीक्ष्णशृङ्गी । तीक्ष्णशृङ्गा । मृदुवङ्गी । मृदुवङ्गा । सुगात्री । सुगात्रा । सुकण्ठी । सुकण्ठा । पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम् । तेन बहुस्वरसंयोगो-पान्तेभ्योऽ न्येभ्यो माभूत् । सुललाटा सुपार्श्वा ॥३९॥

कृशमुदरं यस्याः सा । बिम्ब इव ओष्ठौ यस्या सा बिम्बोष्ठी । 'वोष्ठौतौ समासे' ।१।२।१७। इति सूत्रेण विकल्पेन बिम्बाकारलोपः । पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम्, तेन नासिकोदराभ्यामेव बहुस्वराभ्याम् ओष्ठादिभ्य एव च संयोगोपान्तेभ्यः भवति नान्येभ्य ॥३९॥

नखमुखादनाम्नि ।२।४।४०।

सहादिवर्जपूर्वपदाभ्यां स्वाङ्गाभ्यामाभ्यामसंज्ञायामेव स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । शूर्पनखी । शूर्पनखा । चन्द्रमुखी । चन्द्रमुखा । अनाम्नीति ? किम् शूर्पणखा । कालमुखा ॥४०॥

शूर्पनखीति –शूर्प इव नखोऽस्या इति समासः शूर्पाकारनखयोगोऽत्र न तु सञ्ज्ञाऽत्र विकल्पेन ङीः । शूर्पणखेत्यादि–संज्ञाशब्दावेतौ न तु यौगिकौ 'पूर्वपदस्थान्ना०' ।२।३।६४। इति णत्वम् ॥४०॥

पुच्छात् ।२।४।४१।

सहादिवर्जपूर्वपदात् स्वाङ्गात् पुच्छात् स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । दीर्घपुच्छी । दीर्घपुच्छा ॥४१॥

नासिकादिनियमान्निवृत्तौ वचनम् । नन्वेवं तर्हि नासिकादिसूत्र एव पठ्यतां किं पृथक्पाठेनेति चेत्सत्यम् पुच्छादित्यस्यैवोत्तरत्रानुवृत्त्यर्थम् । दीर्घं पुच्छमस्याः सा दीर्घपुच्छी ॥४१॥

कबरमणिविषशरादेः ।२।४।४२।

एतत्पूर्वपदात् पुच्छात् स्त्रियां ङीर्नित्यं स्यात् । कबरपुच्छी । मणिपुच्छी । विषपुच्छी । शरपुच्छी ॥४२॥

विकल्पस्तु पूर्वे-णैव सिद्धः किन्तु नित्यार्थं पुनर्विधानम् । कबरं-कर्बुरं कुटिलं वा पुच्छमस्या कबरपुच्छी । मणिः पुच्छेऽ-स्याः मणि-पुच्छी, विषं पुच्छेऽ-स्या विषपुच्छी, शरं पुच्छेऽ स्या शरपुच्छी । मणिच्पुछीत्यादिषु 'न सप्तमीन्द्वादिभ्यश्च' ।३।१।१५५। इति सूत्रादिन्द्वादित्वात् मण्यादिशब्दानां पूर्वनिपातः ॥४२॥

पक्षाच्चोपमानादेः ।२।४।४३।

उपमानपूर्वात् पक्षात् पुच्छाच्च स्त्रियां ङीः श्यात् । उलूकपक्षी शाला । उलूकपुच्छी सेना ॥४३॥

उलूकस्य पक्षाविव पक्षावस्याःसा उलूकपक्षी शाला।उपमीयतेऽनयेति बाहुलकात्'उपसर्गादातः'।५।३।११०।इत्यङ्'कबर-मणि-विषशरादेः पक्षाच्चोपमादेस्तु' इत्येकयोगाकरणात् स्वाङ्गादेरिति निवृत्तम् । उलूकस्य पक्षाविव पक्षावस्या उलूकपक्षी शाला । उलूकस्य पुच्छमिव पुच्छमस्याः-उलूकपुच्छी सेना ।४३।

क्रीतात् करणादेः ।२।४।४४।

करणादेः क्रीतान्ताददन्तात् स्त्रियां ङीः स्यात् । अश्वक्रीती । मनसाक्रीती । आदेरिति किम् । अश्वेन क्रीता ॥४४॥

अश्वेन क्रीयते स्म अश्वक्रीती 'गतिकारकङस्युक्तानाम्०' इति न्यायात् विभक्त्युत्पत्तेः पूर्वमेव कृदन्तेन'कारकं कृता'।३।१।६८।इति समासःअन्यथा विभक्त्यन्तस्य समासेऽन्तरङ्गे 'आत्' ।२।४।१८। इत्यापि विभक्तौ चाद-न्तत्वा भावात् ङीर्न स्यात् । मनसा क्रीतीत्यत्र 'नाम्नि' ।३।२।१६। इत्य-

लुप्समासः । अश्वेन क्रीतेत्यत्र ऐकपद्याभावात् करणं क्रीतान्तस्य नाम्नः आदिरवयवो न भवति ॥४४॥

क्तादऽल्पे ।२।४।४५।

क्तान्तात् करणादेरल्पेऽर्थे स्त्रियां ङीः स्यात् । अभ्रविलिप्ती द्यौः । अल्पाभ्रेत्यर्थः । अल्प इति । चन्दनानुलिप्ता स्त्री ॥४५॥

अभ्रविलिप्तीति—पूर्ववदस्याद्यन्तेन समासः । **अल्पाभ्रा द्यौरिति**-अल्पाभ्रमाकाशमित्यर्थः । अल्पार्थस्य गम्यमानत्वादल्पशब्दस्याप्रयोगः । **चन्दनानुलिप्तेति**-अनल्पेन चन्दनेन लिप्तेत्यर्थः । स्तोकेन चन्दनेन लेपासम्भवान्न तस्याल्पत्वमुपाधिविवक्ष्यते इत्यल्पत्वाभावात् ङीर्न भवति ॥४५॥

स्वाङ्गादेरकृतमितजातप्रतिपन्नाद्बहुव्रीहेः ।२।४।४६।

स्वाङ्गादेः कृतादिवर्जात् क्तान्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीः स्यात् । शङ्खभिन्नी । उरुभिन्नी । कृतादिवर्जनं किम् । दन्तकृता । दन्तमिता । दन्तजाता । दन्तप्रतिपन्ना ॥४६॥

पूर्ववत्पारिभाषिकं स्वाङ्गं ग्राह्यम् शङ्खौ भिन्नौ यस्याः सा शङ्खभिन्नी उरू भिन्नौ यस्या सा उरुभिन्नी ॥४६॥

अनाच्छादजात्यादेर्नवा ।२।४।४७।

आच्छादवर्जा या जातिस्तदवयवात् कृतादिवर्जात् क्तान्ताद् बहुव्रीहे स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । शाङ्गरजग्धी शाङ्गरजग्धा । आच्छादवर्जनं किम् ? वस्त्रच्छन्ना । जात्यादेरिति किम् । मासजाता । अकृताद्यन्तादित्येव । कुण्डकृता ॥४७॥

मासयातेति—मासशब्दः कालवचनः ।।४३।।

पत्युर्नः ।२।४।४८।

पत्यन्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । तद्योगेऽन्तस्य न् च । दृढपत्नी । दृढपतिः । मुख्यादित्येव । बहुस्थूलपतिः पुरी ।।४८।।

बहुस्थूलपतिः पुरीति—स्थूलाः पतयो यासां ताः स्थूलपतयः इति कृते 'पत्युर्नः ।२।४।४८। इति नविकल्पाद् बहवः स्थूलपतयः यस्यां सा बहुस्थूलपतिःपुरी। अत्र पत्यन्तबहुव्रीहिर्मुख्यो न भवति किन्तु स्थूलपत्यन्तो बहुव्रीहिः मुख्यो भवति यदा तु स्थूलश्च चासौ पतिश्च स्थूलपतिः ततः बहवः स्थूलपतयो यस्यां साबहुस्थूलपतिः पुरी तदापि स्थूलपत्यन्तो बहुव्रीहिः न तु पत्यन्तः इति न भवति ।।४८।।

सादेः ।२।४।४९।

सपूर्वपदात्पत्यन्तात् स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । तद्योगेऽन्तस्य न् च । ग्रामस्य पतिः । ग्रामपत्नी । ग्रामपतिः । सादेरिति किम् । पतिरियम् । ग्रामस्य पतिरियम् ।।४९।।

पूर्वेणैव सिद्धे पुनर्वचनं बहुव्रीहि-निवृत्त्यर्थम् ।।४९।।

सपत्न्यादौ ।२।४।५०।

एषु पतिशब्दात् स्त्रियां ङीः स्यात् । अन्तस्य न् च । सपत्नी । एकपत्नी ।।५०।।

पुनर्विधानं नित्यार्थम् । समानःपतिरस्याः समानस्य पतिरिति वा सपत्नी। समानादेरित्यकृत्वा समुदायनिपातनं समानस्य सभावार्थं पुंवद्भावप्रतिषेधार्थं च तेन 'समानस्य धर्मादिषु' ।३।२।१४८। इति धर्मादिषु पत्नीशब्दस्यापाठेऽपि समानस्य सभावः सिद्धः एवं सपत्नीभार्यः, सपत्न्या अयं सापत्न इत्यत्र 'परतः स्त्री०' ।३।२।४९। इति 'जातिश्च०' ।२।३।५१। इति च प्राप्तस्य पुंवद्भावस्य प्रतिषेधः सिद्धः ।।५०।।

ऊढायाम् ।२।४।५१।

पत्युः परिणीतायां स्त्रियां ङीः स्यात् । न् चान्तस्य । पत्नी, वृष-लस्य पत्नी ।।५१।।

याऽग्निसाक्षिपूर्वकेण परिणीता सेह गृह्यते । नामग्रहणे तदन्तविधिश्च ना-श्रीयते अतः केवलात्पत्युः परिणीतायां स्त्रियां ङी-रित्यर्थः । पत्युर्भार्या पत्नी ।।५१।।

पाणिगृहीतीति ।४।२।५२।

पाणिगृहीतीतिप्रकाराः शब्दा ऊढायां स्त्रियां ङ्यन्ता निपा-त्यन्ते । पाणिगृहीती । करगृहीती । ऊढायामित्येव । पाणि-गृहीताऽन्या ।।५२।।

इति शब्दः प्रकारार्थः सदृशार्थः इति यावत् । पाणिगृहीती इति प्रकारो येषान्ते सूत्रत्वाज्जसो लोपः । पाणिगृहीती-सदृशा इत्यर्थः । यस्या यथा-कथञ्चित्पाणिः गृहीतः सा पाणिगृहीता ।।५२।।

पतिवत्न्यन्तर्वत्न्यौ भार्यागर्भिण्योः ।२।४।५३।

भार्या अविधवा स्त्री । तस्यां गर्भिण्यां च यथासंख्यमेतौ निपा-त्येते । पतिवत्नी । अन्तर्वत्नी ।।५३।।

निपातनात् पतिमच्छब्दात् ङीरस्य पतिवत्नादेशः एवं अन्तर्वत्शब्दात् ङीरस्यान्तर्वत्नादेशश्च सिद्धः । विगतो धवो यस्याः सा विधवाः न विधवा अविधवा जीवत्पतिरित्यर्थः । गर्भः कुक्षिगतोऽ-स्यास्तीति गर्भिणी ।।५३।।

जातेरयान्तनित्यस्त्रीशूद्रात् ।२।४।५४।

जातिवाचिनोऽदन्तात् स्त्रियां ङीः स्यात् । नतु यान्तनित्यस्त्री-शूद्रात् । कुक्कुटी । वृषली । नाडायनी । कठी । जातेरिति किम् । मुण्डा । [illegible]न्तवर्जनं किम् । क्षत्रिया । नित्यस्त्रीवर्जनमिति किम् । खट्वा । शूद्रवर्जनं किम् । शूद्रा । आदित्येव । आखुः ।।५४।।

आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या, गोत्रं च चरणैः सह ।।

जातिः काचित् आकृतिः अवयवरचना ग्रहणं यस्याः सा यथा गोत्वादिः । सकृदुपदेशव्यङ्ग्यत्वे सति अत्रिलिङ्गा द्वितीया यथा ब्राह्मणत्वादिः । अत्रिलि[illegible]त्वं देवदत्तादेरप्यस्त्यतः सकृदुपदेशव्यङ्ग्यत्वे सतीत्युक्तम् । गोत्रचरण-लक्षणा च तृतीया । कुक्कुटीति-प्रथमजाति-भेदे उदाहरणम् । वृषलीति द्वितीय जाति-भेदे उदाहरणम् । गोत्रमपत्यम् । अपत्यं त्रेधाऽनन्तरापत्यं वृद्धापत्यं युवापत्यं च । चरणः वेदशाखाध्येता तथा चापत्यप्रत्ययान्तः, शाखाध्येतृवाची च जातिकार्यं लभते । नाडायणीति-नडस्यापत्यं वृद्धं स्त्री नाडायनी 'नडादिभ्यः आयनण्' ।६।१।५३। इत्यायनण् । **कठीति-**कठेन प्रोक्तं वेदं वेत्त्यधीत इति 'तेन प्रोक्ते' ।६।३।१८१। इत्यणः 'कठादिभ्यो वेदे लुप्' ।६।१।१८३। इत्यनेन लुपि 'तद्वेत्त्यधीते' ।६।२।११७। इत्यणः प्रोक्तात्' ।६।२।१२९। इति लुपि ङ्यां च सिद्धम् । एते द्वे तृतीयजातिभेदे उदाहरणे । **मुण्डेति** मुण्डगुणयोगान्मुण्डा ।।५४।।

पाककर्णपर्णवालान्तात् ।२।४।५५।

पाकाद्यन्ताया जातेः स्त्रियां ङीः स्यात् । ओदनपाकी । आखुकर्णी । मुद्गपर्णी । गोवाली । जातेरित्येव । बहुपाका यवागूः ।।५५।।

ओदनपाकीति-ओदनस्येव पाकोऽस्या सा । **आखुकर्णीति**-आखोः कर्ण इव कर्णः पत्रं यस्या सा । **मुद्गपर्णी**ति-मुद्गस्येव पर्णान्यस्या सा । एता ओषधिजातीनां सञ्ज्ञाः । आसां जातीनां नित्यस्त्रीरूपत्वात् पूर्वेणाप्राप्ते वचनमेवमुत्तरसूत्रत्रयेऽपि । बहुपाकेति-बहुः पाकोऽस्याः । नायं जातिप्रवृत्तिनिमित्तः किन्तु क्रियासम्बन्धनिमित्त इति न भवति ।।५५।।

असत्काण्डप्रान्तशतैकाञ्चः पुष्पात् ।२।४।५६।

समादिवर्जेभ्यः परो यः पुष्पशब्दस्तदन्ताज्जातेः स्त्रियां ङीः स्यात् । शङ्खपुष्पी । सदादिवर्जनं किम् । सत्पुष्पा । काण्डपुष्पा । प्रान्तपुष्पा । शतपुष्पा । एकपुष्पा । प्राक्पुष्पा ।।५६।।

शङ्खवर्णे शङ्खशब्दः शङ्खं पुष्पं यस्या सा **शङ्खपुष्पी** । **सत्पुष्पेत्यादि**-सन्ति काण्डे प्रान्ते शतमेकं प्राक् पुष्पं पुष्पाणि वा यस्याः ।।५६।।

असम्भस्त्राजिनैकशणपिण्डात्फलात् ।२।४।५७।

समादिवर्जेभ्यो यः फलशब्दस्तदन्ताज्जातेः स्त्रियां ङीः स्यात् । दासीफली । समादिप्रतिषेधः किम् । संफला । भस्त्रफला । अजिनफला । एकफला । शणफला । पिण्डफला ओषधिः ।।५७।।

दासीव फलं यस्या सा । **सम्फलेत्यादि**—संगतं भस्त्रेव अजिनमिव एकं च फलमस्याः । **शणफलेति**-शणस्येव फलान्यस्याः । **पिण्डफलेति**-पिण्डाकाराणि फलान्यस्या पिण्डफला कटुतुम्बी । ओषधिविशेषजातीनां सञ्ज्ञा एताः ।।५७।।

अनञो मूलात् ।२।४।५८।

नञ्वर्जितपरो यो मूलशब्दस्तदन्ताज्जातेः स्त्रियां ङीः स्यात् । दर्भमूली शीर्षमूली । अनञ इति किम् ? अमूला ॥५८॥

दर्भमूलीत्यादि-दर्भस्येव, शीर्षे वा मूलमस्याः । **अमूलेति**-न विद्यते मूलानि यस्याः ॥५८॥

धवाद्योगादपालकान्तात् ।२।४।५९।

धवो भर्ता, तद्वाचिनः सम्बन्धात् स्त्रीवृत्तेः पालकान्तशब्दवर्जात् ङीः स्यात् । प्रष्ठी । गणकी । धवादिति किम् । प्रसूता । योगादिति किम् । देवदत्तो धवः । देवदत्ता स्त्री स्वतः । अपालकान्तादिति किम् । गोपालकस्य स्त्री गोपालिका । आदित्येव । सहिष्णोः स्त्री सहिष्णुः ॥५९॥

सम्बन्धादिति-योगः सम्बन्धश्च सम्बन्धिन-मपेक्षते स च प्रत्यासन्नत्वात् धवस्येव विज्ञायते, धवेन स्त्रियाः सम्बन्धा-दित्यर्थः । प्रष्ठस्य भार्या प्रष्ठी प्रष्ठः अग्रसर एवं गणक्यपि । **प्रसूतेति**—विनिलुंठित-गर्भेत्यत्र । अस्त्यत्र योगस्तेन विना प्रसवाभावात् न तु धववाचि नाम । न हि पुंसो गर्भो विलुठतीति । **देवदत्तेति**—अयं तु संज्ञाशब्दः स्वत एव स्त्रीवृत्तिः न तु धवयोगात् । पालयतीति पालकः, गवां पालकः 'अकेन० ।३।१।८२। इति समास ॥५९॥

पूतक्रतुवृषाकप्यग्निकुसितकुसीदादै च ।२।४।६०।

एभ्यो धववाचिभ्यस्तद्योगात् स्त्रीवृत्तिभ्यो ङीः स्यात् । ङीयोगे चैषामैरन्तस्य । पूतक्रतायी । वृषाकपायी । अग्नायी । कुसितायी । कुसीदायी ॥६०॥

ननु प्रत्ययप्रकरणा-दैकारः इति विज्ञायते ततश्च समानप्रत्ययेन सह ङी-

प्रत्ययस्य पाक्षिकी प्रवृत्तिः स्यादिति ऐरन्तस्येति कथनम-सङ्गतमिति चेन्मैवम्'एयेऽग्नायी' ।३।२।५१। इति निर्देशात् ऐकारस्य प्रत्ययत्वे अग्नायीति न स्यात् । पूतक्रतोर्भार्या पूतक्रतायी एवं वृषाकपायीत्यादि । वृषं दानवमावकम्पितवानिति'अभि-कुण्ठ०' । उणा० ६१४ । इति डः । कुसितकुसिदौ ऋषी ।।६०।।

मनोरौ च वा ।२।४।६१।

धववृत्तेर्मनोर्योगात् स्त्रीवृत्ते-र्ङीर्वा स्यात् । ङीयोगे चास्य औरैश्चान्तस्य । मनावी । मनायी । मनुः ।।६१।।

वाकारः प्रथम-विधेयतया ङी-प्रत्ययेन सम्बध्यतेन त्वौकारेण तत्सन्निधानेनाप्रधानत्वात् । चकारेणैकारोऽनुकृष्यते-इत्याह औरैश्चेति । मनोभार्या-मनावी, मनायी । औकारेण सम्बन्धे तु ङी-प्रत्ययस्य नित्यत्वे मनावी-मनायी, मन्वीत्याद्यनिष्टं रूपं स्यात् ।।६१।।

वरुणेन्द्ररुद्रभवशर्वमृडादान् चान्तः ।२।४।६२।

एभ्यो धववाचिभ्यो योगात्स्त्रीवृत्तिभ्यो ङीःस्यात् । ङीयोगे आन् चान्तः । वरुणानी । इन्द्राणी । रुद्राणी । भवानी । शर्वाणी । मृडानी ।।६२।।

अकारकरणसामर्थ्यादेव 'लुगस्या०' ।२।१।१२३। इत्यस्याप्रवृत्तेः आनितिदीर्घोच्चारणं मतसंग्रहार्थम् । आन् चेत्यविकारनिर्देशोऽसन्देहार्थः अन्तग्रहणाभावे आनपि भिन्नप्रत्ययः स्यात् । किञ्चान्तग्रहणाभावे 'अनेकवर्णः सर्वस्य' ।७।४।१०७। इति सर्वस्यादेशः स्यात् ।।६२।।

मातुलाचार्योपाध्यायाद्वा ।२।४।६३।

एभ्यो धववाचिभ्यो योगात्स्त्रीवृत्तिभ्यो ङीः स्यात् । ङीयोगे चानन्तो वा । मातुलानी । मातुली । आचार्यानी । आचार्यी । उपाध्यायानी । उपाऽध्यायी ॥६३॥

आचार्यानीति—क्षुभ्नादित्वाणत्वा-भावः । ङीप्रत्ययस्य धवयोगे पूर्वेणैव सिद्धत्वादनूद्यमानत्वादान एव विधीयमानत्वात् तस्यैव सम्बन्ध इत्याह-ङीयोगे आनन्तो वेति ॥६३॥

सूर्याद्देवतायां वा ।२।४।६४।

सूर्याद्धववाचिनो योगाद्देवतास्त्रीवृत्तेर्ङीर्वा स्यात्। ङीयोगे चानन्तः सूर्याणी । सूर्या। देवतायामिति । किम् । मानुषी सूरी ॥६४॥

सूर्येति-पक्षे आबेव । **मानुषी सूरीति**-सूर्यस्याऽऽदित्यस्य वरप्रदानेन या मानुषीभार्या सा सूरी इत्युच्यते यथा कुन्ती । 'सूर्यागस्त्ययो०'।२।४।८६। इति यलोपः ।६४।

यवयवनारण्यहिमाद्दोषलिप्युरुमहत्त्वे ।२।४।६५।

एभ्यो यथासंख्यं दोषादौ गम्ये स्त्रियां ङीः स्यात्। ङीयोगे चानन्तः । यवानी । यवनानी लिपिः । अरण्यानी । हिमानी ॥६५॥

दोषाद्यर्थविशेषोपादानाद् धवाद्योगादिति च निवृत्तम् । दुष्टो यवो-यवानी अवयवार्थोऽसन्ने-वएवंविधो व्युत्पत्तये परिकल्प्यते । वस्तुतस्तु यवजातेर्हि जात्यन्तरं रालकाभिधानं यवानीत्युच्यते यवानां दोषकारि रालक इति नाम्ना द्रव्यान्तरमिति भावः । यवनानामियं लिपिः-यवनानी एतद्विषये ङीप्रत्यय-विधानादुक्तार्थत्वात् 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायात् 'तस्ये-दम्' ।६।३।१६०। इत्यण् न भवति । अर्थप्रत्यायनार्थमेव हि प्रकृतिप्रत्ययाः प्रयुज्यन्ते सोऽर्थो यद्यन्यैरुक्तः तदाऽर्थप्रत्यायनरूपप्रयोजनस्य नष्टत्वात्तेषां प्रयोगो न भवति । उरु अरण्यम्-अरण्यानी । महद्धिमं हिमानी । उरुमह-

स्त्रयोरेकार्थत्वेऽपि पृथगुपादानम 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् इति न्यायात् यथासङ्ख्यार्थम् । न्यायार्थस्त्वित्थम्-सङ्ख्यया एकद्व्यादिवचननिर्देशेन च समानां तुल्यानां यथासङ्ख्यं सम्यक् ख्यानं बुद्धिज्ञानमित्यर्थः । सङ्ख्या बोधक्रममनतिक्रम्य आद्यमाद्येन द्वितीयं द्वितीयेनेत्यादिरीत्याऽनुकूलं देशनं कथनं कार्यमित्यर्थः ।

अर्यक्षत्रियाद्वा ।२।४।६६।

आभ्यां स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । ङीयोगे चानन्तः । अर्याणी । अर्या । क्षत्रियाणी । क्षत्रिया ।।६६।।

अधवयोगेऽ-यंविधिः । धवयोगे तु 'धवाद्योगाद०' ।२।४।५९। इति नित्यमेव ङीः । अर्य आर्य इत्येकार्थौ । कुत्रचिदार्य इति पाठः ।।६६।।

यञो डायन् च वा ।२।४।६७।

यञन्तात् स्त्रियां ङीः स्यात् । ङीयोगे च डायनन्तो वा स्यात् । गार्गी । गार्ग्यायणी ।।६७।।

डायन् इति डित्करणम् आसुरायणीत्यत्रा-सुरिशब्देकारलोपार्थमन्यथा तु समानानां०' ।१।२।१। इत्यनेनैव सिद्धः । वाशब्दस्य साक्षान्निर्दिष्टेन डायना सहैव सम्बन्धः न त्वनुमितेन ङीप्रत्ययेन प्रत्यासत्तेः अथवा 'षावटाद् वा' ।२।४।६९। इति सूत्रकरणाद्वा । गार्गीति—'अस्य ङ्यां लुक्' ।२।४।८६। इति 'व्यञ्जनात्तद्धितस्य' ।२।४।८८। इत्यकारयकारयोर्लोपः ।।६७।।

लोहितादिशकलान्तात् ।२।४।६८।

लोहितादेः शकलान्तात् यञन्तात् स्त्रियां ङीः स्यात् । तद्योगे च डायनन्तः । लौहित्यायनी । शाकल्यायनी ।।६८।।

"गर्गादि:" ।६।१।४२। इति सूत्रे लोहि–तादय: शकलान्ता: शब्दा ज्ञेया: ।

षावटाद्वा ।२।४।६९।

षान्तादवटाच्च यञन्तात् स्त्रियां ङी:वा स्यात् । ङीयोगे च डायनन्त: । पौतिमाष्यायणी । पौतिमाष्या । आवट्यायनी । आवट्या ॥६९॥

ङी- डायनोरु भयोरनुवर्तमानेपि- वाशब्दस्य प्रधानेन ङीप्रत्ययेन सह सम्बन्ध: न त्वन्वाचीयमानेन डायने त्याह ङीर्वा स्यादिति–पूतिमासस्यापत्यं वृद्धं स्त्री 'गर्गादिर्यञ्' ।६।१।४२। इति यञ्, 'वृद्धि: स्वरेष्वादे०' ।७।४।१। इत्यादिवृद्धि: ॥६९॥

कौरव्यमाण्डूकासुरे: ।२।४।७०।

एभ्य: स्त्रियां ङी: स्यात् । ङीयोगे च डायनन्त: । कौरव्यायणी । माण्डूकायनी । आसुरायणी ॥७०॥

कुरोर्ब्राह्मणस्यापत्यं 'कुर्वादेर्ञ्य:' ।६।१।१००। इति ञ्ये कुरूणां जनपदस्य राज्ञीति वा 'दुनादि०' ।६।१।११८। इति ञ्ये । अयं चानयोर्विशेष: दुनादि० ।६।१।११८। इत्यस्य द्रिसंज्ञत्वाद् बहुषु० ।६।१।१२४। इति लुप् भवति । मण्डूकस्यापत्यं 'पीलासाल्वा०' ।६।१।६८। इत्यण् 'अणञेये०' ।२।४।२०। इति ङीप्राप्तौ डायनर्थमनेन ङी: । असुरस्य ऋषेरपत्यं स्त्री 'बाह्वादि०' ।६।१।३२। इतीञ् ॥७०॥

इञ इत: ।२।४।७१।

इञन्तादिदन्तात् । स्त्रियां ङी: स्यात् । सौतङ्गमी इत इति । किम् । कारीषगन्ध्या ॥७१॥

'प्राकणिकाप्राकरणिकयोः०' इति न्यायात् 'यञो डायन्च वा' ।२।४।६७। इति सूत्रात्प्रारब्धात् तद्धिताधिकारात्तद्धितीय एवेञ् गृह्यते न तु 'प्रश्नाख्याने वेञ्' ।५।३।१२९। इति कृत्सूत्रोक्तः तस्याप्राकरणिकत्वात् । सुतङ्गमेन निर्वृत्तेति-'सुतङ्गमादेरिञ्' ।६।२।८५। इतीञ्यनेन ङ्यां च सौतङ्गमी । करीषस्येव गन्धोऽस्या इति 'वोपमानात्' ।७।३।१४७। इतीत्समासान्तस्य पाक्षिकत्वात् करीषगन्धः । तस्यापत्यमिति 'अत इञ्' ।६।१।३१। इतीञः 'अनार्षे वृद्धे०' ।२।४।७८। इति ष्यादेशे सति इदन्तत्वाभावान्न भवति । अ-पत्येञन्तस्य मनुष्यजातिवचनत्वादुत्तरेणैव सिद्धेऽ जात्यर्थोऽयमारम्भः । नन्वनपत्ये-ञन्तस्ये-कारा-न्तत्वाव्यभि-चाराद् 'इतः' इति विशेषणमनर्थकमिति चेत्स-त्यमुत्तरार्थ-मिदमुत्तरत्र व्यञ्जनान्तमन्यस्वरान्तं चानेन व्यवच्छिद्यते । व्यञ्जनान्तं दरदित्यादि तत्रैवोदाहृतम् इह तु स्पष्टार्थमेवेत इत्युपादानम् ।।७१।।

नुर्जातेः ।२।४।७२।

मनुष्यजातिवाचिन इदन्तात् स्त्रियां ङीः स्यात् । कुन्ती । दाक्षी । इत इत्येव । दरत् । नुरिति किम् । तित्तिरिः । जातेरिति किम् । निष्कौशाम्बिः ।।७२।।

"गोत्रं च चरणैः सह" इति जातित्वम् । **कुन्तीति**—'दुनादि०' ।६।१।११८। इति ञ्यस्य 'कुन्त्यवन्तेः०' ।६।१।१२१। लोपः । **दाक्षीति**-दक्षस्यापत्यमिति 'अत इञ्' ।६।१।३१। इतीञ् । **दरदिति**-दरदोऽपत्यं 'पुरु-मगध०' ।६।१।११६। इत्यणः 'द्रेरञणो' ।६।१।१२३। इति लोपः । **तित्तिरिरिति**—पक्षिजातिर्न मनुष्यजातिरिति न भवति । **निष्कौशाम्बिरिति**—कौशाम्ब्या निर्गतेति क्रियाशब्दत्वात् जातेरिति वचनादिह न भवति ।।७२।।

उतोऽप्राणिनश्चायुरज्ज्वादिभ्य ।२।४।७३।

उदन्तान्नृ.जातेअ-प्राणिजातिवाचिनश्च स्त्रियामूङ् स्यात् । नतु य्वन्ता-द्रज्ज्वादिभ्यश्च । कुरूः । ब्रह्मबन्धूः ।अलाबूः । कर्कन्धूः । उतइति किम् । वधूः । अप्राणिनश्चेति किम् । आखुः । जातेरि-त्येव । पटुः स्त्रीः । युरज्ज्वादिवर्जनं किम् । अध्वर्युः स्त्री । रज्जुः । हनुः ॥७३॥

ऊङिति दीर्घनिर्देशः उत्त रार्थः, तेन 'नारी-सखी०' ।२।४।७६। इत्यत्र श्व-श्रूरिति दीर्घान्तो निपातःसिद्धः । **कुरूरिति**–'दुनादि०'।६।१।११७। इतिञ्य स्य'कुरोर्वा६।१।११९'इति लोपः,लोपाभावपक्षे तु 'कौरव्यमाण्डूका०'।२।४।७० इति सूत्रेण कौरव्यायणीति भवति । गोत्रत्वाज्जातित्वम् । **ब्रह्मबन्धूरिति**-समासान्त-प्रकरणे बहुलाधिकारात् ब्रह्मा बन्धूरस्या सेत्यतो ङः पूर्वं शेषाद्वा' ।७।३।१७५।इति परोऽपि कच्प्रत्ययो न भवति । लिङ्गानाञ्च न सर्वभागिति जातित्वम् । नपः श्रुतादिगुणविहीनत्वादधमा द्विजजातिरनेनोच्यते । अला-बूःतुम्बी, कर्कन्धूः बदरी एतौ शब्दौ अप्राणिजातिवचनौ 'प्राण्यौषधि०' ।६।२।३१। इति ज्ञापकादिह शास्त्रे प्राणिशब्देन त्रसा एव ग्राह्या नतु स्था-वरा इति। **अध्वर्युरिति**–चरणत्वान्मनुष्यजाति-वाची । बहुवचनमाकृतिग-णार्थम् यद्वा ऊञ्चासावङ चेति ब्रह्मबन्धूरित्यत्र कच न भवति ॥७३॥

बाह्वन्तकद्रुकमण्डलोर्नाम्नि ।२।४।७४।

बाह्वन्तात् कद्रुकमण्डलुभ्यां च संज्ञायां स्त्रियामूङ् स्यात् । भद्र-बाहूः । कद्रूः । कमण्लूः । नाम्नीति किम् । वृत्तबाहुः ॥७४॥

अप्राणिजाति-वाचिनः कमण्डलुशब्दात् अप्राणिनश्चेत्यनेन प्राप्ते नियमः क्रियते । रज्ज्वादिपाठेन ऊङनिषेधे च प्राप्ते विधिः क्रियते इति । कथं कामण्डलेयः 'चतुष्पा० ।६।१।८३। इति चतुष्पात्प्राणिजातिवाचिशब्दान्तर-मेतद् शब्दानामानन्त्यात् ॥७४॥

उपमानसहितसंहितसहशफवामलक्ष्मणाद्यूरोः ।२।४।७५।

एतत्पूर्वपदादूरोः स्त्रियामूङ् स्यात् । करभोरूः । सहितोरूः ।

संहितोरूः । सहोरूः । सफोरूः । वामोरूः । लक्ष्मणोरूः । उपमानादेरिति किम् । पीनोरुः ॥७५॥

उपमानादिरादिर्यस्येति लुप्तपञ्चमीकं समस्तं वा पदमिति । आदिशब्दः पूर्वावयववचनः तेन च समासलाभादूरोरुत्तर-पदत्वं गम्यते । संधीयते स्मेति क्ते 'धागः'।४।४।१५।इति हौ कृते'समस्ततहिते वा' ।३।२।१३९।इति विकल्पेन मकारलोपे सहितः,सह हितेन वर्तते इति वा सहितः,सहते इत्यचि सहः सहशब्दः अव्ययो वा विद्यमानार्थः, सफशब्दः संक्लिष्टार्थोऽव्युत्पन्नः दन्त्यादिः । वमतीति ज्वलादित्वाण्णे वामः । लक्ष्मीरस्यास्तीति 'लक्ष्म्या अनः' ।७।२।३२। इत्यने लक्ष्मणः । सहितौ, संहितौ, सहौ (विद्यमानौ), सफौ,वामौ, लक्ष्मणौ ऊरू यस्या इति विग्रहः ॥७५॥

नारीसखीपङ्गूश्वश्रू ।२।४।७६।

एते ङ्यन्ता ऊङन्ताश्च निपात्यन्ते। ।७।६।

नृब्दात् 'स्त्रियां नृतोऽ०' ।२।४।१। इति ङ्यां नरशब्दात् जाति-लक्षणे 'जातोरयान्त०' ।२।४।५४। इति धवयोगलक्षणे वा 'धवाद्योगाद०'।२।४।५९। इति ङीरस्त्येव नारादेशार्थं निपातनम् । सखिशब्दात् 'इतोऽक्त्यर्थात्' ।२।४।३२। इति विकल्पे प्राप्ते, धवयोगेऽप्यप्राप्ते, सखशब्दाच्च सह खेन वर्तते येति बहुव्रीहेरपि प्राप्तेऽनेन ङीः । पङ्गु शब्दो गुणवचनः । नात्रैक, वर्णव्यवहित-स्वरात्परः उकार इति 'स्वरादुतो०' ।२।४।२५।इत्यप्राप्तेऽनुष्यजातित्वादप्राणिजात्य-भावाच्च 'उतोऽ०' ।२।४।७३। इत्यप्राप्तेऽर्थात्कस्मिंश्चिदपि स्त्रीप्रत्ययेऽप्राप्तेऽनेनोङ्विधानम् । श्वशूरशब्दाच्च जातिलक्षणे धवयोगलक्षणे च ङीप्रत्यये प्राप्ते ऊङ्,उकाराकारयोलोपश्च । अयं च यदा सञ्ज्ञाशब्दः तदा आपि श्वशुरा इत्येव भवति न तु श्वश्रूरिति ॥७६॥

यूनस्तिः ।२।४।७७।

यूनः स्त्रियां तिः स्यात् । युवतिः । मुख्यादित्येव ? नियू नी ॥७७॥

नकारान्तत्वात् ङीप्रत्यये प्राप्ते तदपवादोऽयं योगः । नियू नीति-'स्त्रियां नृतोऽ०' ।२।४।१। इति ङीः, 'श्वन्-युवन्०' ।२।१।१०६। इति वस्योकारः ॥७७॥

अनार्षे वृद्धेऽणिञो बहुस्वरगुरूपान्त्यस्यान्तस्य ष्यः ।२।४।७८।

अनार्षे वृद्धे विहितौ यावणिञौ तदन्तस्य सतो बहुस्वरस्य गुरूपान्त्यस्य नाम्नोऽन्तस्य ष्यः स्यात् । कारीषगन्ध्या । बालाक्या । अनार्षइति किम् । वासिष्ठी । वृद्धइति किम् । आहिच्छत्री । अणिञ इति किम् । आर्त्तभागी । बहुस्वरेति किम् । दाक्षी । गुरूपान्त्यस्येति किम् । औपगवी । अणिञन्तस्य सतो बहुस्वरादिविशेषणं किम् । दौवार्या । औडुलोम्या ॥७८॥

गुरुग्रहणादनेकव्यञ्जनव्यवधानेऽपि भवति । गुरुग्रहणं हि दीर्घ-परिग्रहा-र्थं संयोगपरपरिग्रहार्थं च अन्यथा दीर्घोपान्त्येत्युच्येत । **कारीषगन्ध्येति**-करीषस्येव गन्धो यस्य स करीषगन्धिः, 'वोपमानात्' ।७।३।१४७। इतीत्समासान्तः । करीषगन्धे-र्वृद्धमपत्यं स्त्री 'ङसोऽपत्ये' ।६।१।२८। इत्यण्, अनेन ष्यादेशः, षकार इत् । शब्दशक्ति-स्वाभाव्यात् ष्यादेश आबन्तसहित एव स्त्रीलिङ्गमभिव्यनक्ति । **बालाक्येति**-बलाकाया अपत्यं स्त्री 'बाह्वादिभ्यो गोत्रे' ।६।१।३२। इतीञि इञन्तत्वादनेन ष्यादेशः । **वाशिष्ठीति**-'ऋषि-वृष्ण्य०' ।६।१।६१। इत्यण् । **आहिच्छत्रीति**-अहिच्छत्रे जाता 'जाते' ।६।३।९८। इत्यण् । **आर्तभागीति**-ऋतभागस्यापत्यमिति 'बिदादेर्वृद्धे' ।६।१।४१। इत्यञ् । **दाक्षीति**-दक्षस्यापत्यम् 'अत इञ्' ।६।१।३१। इतीञ्, 'नुर्जातेः' ।२।४।७२। इति ङीः । **औपगवीति**-उपगोरपत्यं स्त्री औपगवी । **दौवार्यस्यादि**-द्वारस्यापत्यं स्त्री 'अत इञ्' ।६।१।३१। इतीञ्, 'द्वारादेः' ।७।४।६। इत्यौकारः ष्यादेशश्च । अत्रेञः पूर्वमबहुस्वरत्वेऽपीञि सति

बहुस्वरत्वादादेशो भवति । उडुलोम्नोऽपत्यं बाह्वादित्वादिञि 'नोपदस्य तद्धिते' ।७।४।६१। इत्यन्त्यस्वरादेर्लुकि च औडुलोम्या, अत्रेञः पूर्वं नकारस्यान्त्यत्वादकारस्याऽ गुरूपान्त्यत्वे च सत्यपीञि सत्यनो लोपे ओकारस्य गुरूपान्त्य-त्वा-दादेशो भवति । तदर्थमेवाणिञन्तस्य सतो बहुस्वरादिविशेषणं कृतम् ।।७८।।

कुलाख्यानाम् ।२।४।७९।

कुलमाख्यायते यकाभिः तासामनार्षवृद्धाणिञन्तानामन्तस्य स्त्रियां ष्यः स्यात् । पौणिक्या । गौप्त्या । अनार्ष इत्येव गौतमी ।।७९।।

कुलमाचक्षन्ते व्यपदिशन्तीति कुलाख्याः यद्वा कुलमाख्यायते आभिरिति 'स्थादिभ्यः कः' ।५।३।८२। इति के कुलाख्याः । बाहुलकात्स्त्रीत्वम् । स्वप्रभवस्यापत्यसन्तानस्य व्यपदेशकाः पुणिकप्रभृतयः । अबहुस्वरागुरूपान्त्यार्थं वचनम् । यकाभिरिति 'त्यादि-सर्वादेः' ।७।३।२९। इत्यक् । **पौणिक्येति** पुणिकस्यापत्यं पौत्रादि 'शिवादेरण्' ।६।१।६०। इत्यणः स्थाने ष्यादेशः । **गौप्त्येति**—'गुप्तस्यापत्यं 'अत इञ्' ।६।१।३१। इतीञ्, अनेन ष्यादेशः । **गौतमस्येति**-'ऋषिवृष्ण्य०' ।६।१।६१। इत्यण्, 'अणञेये०' ।२।४।२०। इति ङीः ।।७९।।

क्रौड्यादीनाम् ।२।४।८०।

क्रौडि इत्यादीना-मणिञन्तानामन्तस्य ष्यः स्यात् । क्रौड्या । लाड्या ।।८०।।

अबहुस्वरागुरूपान्त्यार्थोऽनन्तरापत्यार्थश्चारम्भः । क्रोडस्यापत्यं क्रौडिः । स्त्री क्रौड्या । क्रौडिः लाडिः एताविञन्तौ ।।८०।।

भोजसूतयोः क्षत्रियायुवत्योः ।२।४।८१।

अनयोरन्तस्य यथासंख्यं क्षत्रियायुवत्योः स्त्रियां ष्यः स्यात् । भोज्या क्षत्रिया । सूत्या युवतिः । अन्या तु भोजा । सूता ॥८१॥

भोज्या—भोजवंशजा क्षत्रियेत्यर्थः यदा भोजशब्देन क्षत्रिया क्षत्रियवंशजा स्त्री प्रतिपाद्यते तदा 'जातेः०' ।२।४।५४। इति ङीप्रत्ययस्यापवादोऽनेन ष्यादेशः । सूत्या प्राप्तयौवना मानुषीत्यर्थः । यदा सूतशब्देन प्राप्तयौवना स्त्री प्रतिपाद्यते तदाऽनेन ष्यादेशोऽन्यत्र त्वाबेव ॥८१॥

दैवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्यमुग्रिकाण्ठे–विद्धेर्वा ।२।४।८२।

एषामिञन्तानां स्त्रियामन्तस्य ष्यो वा स्यात् । दैवयज्ञ्या । दैवयज्ञी । शौचिवृक्ष्या । शौचिवृक्षी । सात्यमुग्र्या । सात्यमुग्री । काण्ठेविद्ध्या । काण्ठेविद्धी ॥८२॥

इञन्तमात्रनिर्देशात् पौत्रादौ प्राप्ये प्रथमापत्ये त्वप्राप्ते विभाषा । देवः एव यज्ञः पूजनीयः यस्य स देवयज्ञः । शुचिर्वृक्षो यस्य स शुचिवृक्षः । सत्यमुग्रं यस्य स, अत एव निर्देशान्मोन्तः । कण्ठे विध्यते स्म, तदा 'तत्पुरुषे कृति' ।३।२।२०। इत्यलुप् यदा तु कण्ठे विद्धमनेन तदा 'अमूर्द्ध मस्तकात्' ।३।२।२२। इत्यलुप् । दैवयज्ञस्य शुद्धिवृक्षस्य सत्यमुग्रस्य कण्ठेविद्धस्य वाऽपत्यमिति 'अत इञ्' ।६।१।३१। इतीञ् ॥८२॥

ष्या पुत्रपत्योः केवलयोरीच् तत्पुरुषे ।२।४।८३।

मुख्यऽऽबन्तस्य ष्यः पुत्रपत्योः केवलयोः परयोस्तत्पुरुषे समासे ईच् स्यात् । कारीषगन्धीपुत्रः । कारीषगन्धीपतिः । ष्येति किम् । इभ्यापुत्रः । केवलयोरिति किम् । कारीषगन्ध्यापुत्रकुलम् ॥८३॥

ष्या इत्यत्र 'दीर्घङ्याब्' ।२।४।४५। इति, सूत्रत्वाद्वा सेर्लुप् । पुत्रपत्योरित्यत्र राजदन्तादित्वात् सौत्रनिर्देशाद्वा 'लघ्व०' ।३।१।१६०। इति पति-शब्दस्य न

पूर्वनिपातः । इभमर्हतीति—'दण्डादेयः ।६।४।१७८। 'गोणो ङ्यादिः' ।७।४।११६। इति गोणस्य प्रकृत्यादेः समुदायस्य विशेषणेन भावात् अतिकारीषागन्ध्यापुत्र इत्यत्र ई-च् न भवति मुख्यस्य त्वधिकस्यापि विशेषणेन भावात् परमकारीषगन्धीपुत्र इत्यत्र ईच् भवत्येव ॥८३॥

बन्धौ बहुव्रीहौ ।२।४।८४।

मुख्यऽऽबन्तस्य ष्यो बन्धौ केवले परे बहुव्रीहावीच् स्यात् । कारीषगन्धीबन्धुः । केवल इत्येव । कारीषगन्ध्याबन्धुकुलम् । मुख्यइत्येव ? अतिकारिषगन्ध्या बन्धुः ॥८४॥

कारीषगन्ध्या बन्धुरस्य कारीषगन्धीबन्धुः । बन्धोः कुलम् बन्धुकुलम्, कारीषगन्ध्या बन्धुकुलम् कारीषगन्ध्याबन्धुकुलम् । अतिकारीषगन्ध्या बन्धुरस्येति अतिकारीषगन्ध्याबन्धुः ॥८४॥

मातमातृमातृके वा ।२।४।८५।

मुख्यऽऽबन्तस्य ष्यो मातादिषु केवलेषु परेषु बहुव्रीहावीज् वा स्यात् । कारीषगन्धीमातः । कारीषगन्ध्यामातः । कारीषगन्धीमाता । कारीषगन्ध्यामाता । कारिषगन्धीमातृकः । कारीषगन्ध्यामातृकः ॥८५॥

मातेति निर्देशात् पुत्रप्रशंसामामन्त्र्यमन्तरेणापि पक्षे मातादेशः । अन्यथा मातृशब्देनैवगतार्थत्वात् मातशब्दोपादानमर्थकं स्यात् मातृमातृकशब्दयोश्च भेदेनोपादानात् "ऋन्नित्यदितः" ।७।३।१७१। इति ऋदन्तलक्षणः कच्प्रत्ययोऽपि विकल्प्यते ॥८५॥

अस्य ङ्यां लुक् ।२।४।८६।

ङ्यां परे ऽस्य लुक् । स्यात् । मद्रचरी ॥८६॥

मद्रेषु देशेषु चरतीति 'चरेष्टः' ।५।१।१३८। 'अणञेये०' ।२।४।२०। इति टित्वात् ङीः, अनेनाकारलोपः ॥८६॥

मत्स्यस्य यः ।२।४।८७।

मत्स्यस्य यो ङ्यां लुक् स्यात् । मत्सी ॥८७॥

ननु ङ्यामिति 'सप्तम्याः पूर्वस्य' ।७।४।१०५। तच्चानन्तरस्येति परे 'स्वरस्य प्राग्विधौ' ।७।४।११०। इत्यकारलुचः स्थानिवद्भावाद् व्यवधानाद्यकारलोपो प्राप्नोतीति चेत्सत्यं वचनादेकेन वर्णेन व्यवधानमाश्रीयत इति ॥८७॥

व्यञ्जनात्तद्धितस्य ।२।४।८८।

व्यञ्जनात्परस्य तद्धितस्य यो ङ्यां लुक् स्यात् । मनुषी । व्यञ्जनादिति किम् । कारिकेयी । तद्धितस्येति किम् ? वैश्यी ॥८८॥

मनुषीति—मनोरपत्यं स्त्री मनुषी 'मनोर्याणौ षश्चान्तः' ।६।१।६४। इति ये षागमे च गौरादित्वाद् ङ्याम् 'अस्य ङ्यां लुक्' ।२।४।८६: इत्यकारलोपेऽनेन यलोपः । कारिकेयीति–कारिकाया अपत्यं स्त्री 'ङ्याप्त्यु०' ।६।१।७०। इत्येयणि 'अणञेये०' ।२।४।२०। इति ङीः । वैश्यीति—वैश्यस्य भार्या वैश्यी 'धवाद्योगाद०' ।२।४।५९। इति ङीः अत्र यकारो न तद्धितसम्बन्धी अपि त्वौणादिकः ॥८८॥

सूर्यागस्त्ययोरीये च ।२।४।८९।

अनयोर्यो ङ्यामीये च प्रत्यये लुक् स्यात् । सूरी । आगस्ती ।

सौरीयः । आगस्तीयः ॥८९॥

सूर्यस्य भार्या सूरी 'धवाद्यो०' ।२।४।५९। इति ङीः । अगस्त्यस्येयम् 'तस्येदम्' ।६।३।१६। इत्यणि 'अणञे०' ।२।४।२०। इति ङ्याम् आगस्ती । सौरीयाऽऽगस्तीयशब्दयोः प्रथमं देवतार्थेऽण् पश्चादिदमर्थे 'दोरीयः' ।६।३।३२। इतीयः, 'अवर्णेवर्णस्य' ।७।४।६८। इत्यकारलोपोऽनेन यलोपः 'एक-देशविकृतमनन्यवत्' इति न्यायात् सौर्या-गस्त्ययोरपि सूर्याऽगस्त्य-शब्दाभ्यां ग्रहणम् ॥८९॥

तिष्यपुष्ययोर्भाणि ।२।४।९०।

भं नक्षत्रं तस्याणि परे ऽनयोर्यो लुक् स्यात् । तैषी रात्रिः, पौष-महः । भाणीति किम् । तैष्यश्चरुः ॥९०॥

तिष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्ता-तैषीरात्रिः । पुष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्तमहः पौषमहः, अत्र 'चन्द्रयुक्तात्काले०' ।६।२।६। इत्यण् 'अवर्णेवर्णस्य' ।७।४।६८। इत्यका-रलोपेऽनेन यलोपः । तैष्यश्चरुरिति-तिष्यो देवताऽस्य तैष्यश्चरुः, देवता-र्थेऽण् ॥९०॥

आपत्यस्य क्यच्च्व्योः ।२।४।९१।

व्यञ्जनात्परस्यापत्यस्य यः क्ये च्वौ च परे लुक् स्यात् । गार्गी-यति । गार्गायते । गार्गीभूतः । आपत्यस्येति किम् । साङ्काश्यी-यति । व्यञ्जनादित्येव । कारिकेयीयति ॥९१॥

पतनं पतः ततोऽन्यत् अपतः, तत्र साधु अपत्यम् अपत्ये भवः आपत्यः तस्य स्थानसम्बन्धे षष्ठी । गार्गीयतीति-गार्ग्यमिच्छतीति गार्गीयति । 'क्यनि' ।४।३।११२। इतीकारः 'येन नाव्यवधानं०' इति न्यायादीकारादि-व्यवधानेपि भवति । गार्ग्य इवाचरति गार्गायते । अगार्गो गार्ग्यःभूतः गार्गीभूतः ।'कृभ्वस्तिभ्यां०' ।७।२।१२६ इति च्विः 'ईश्चा०' ।४।३।११२। साङ्काश्यीयतीति-संकाशेन निर्वृत्तं 'सुपन्थ्यादेर्ञ्यः' ।६।२।८४। इति ञ्यः

सांकाश्यमिच्छतीति सांकाश्यीयति। कारिकेयीयतीति–कारिकाया अपत्यं कारिकेयमिच्छतीति ।६१॥

तद्धितयस्वरेऽनाति ।२।४।९२।

व्यञ्जनात्परस्यापत्यस्य यो यादावादादिवर्जस्वरादौ च तद्धिते लुक् स्यात । गार्ग्यः। गार्गकम् । आपत्यस्येत्येव । काम्पीन्यकः। तद्धितेति किम् । वात्स्येन। अनातीति किम्? गार्ग्यायणः ॥९२॥

गर्गाणां इति–गार्ग्यं साधुः 'तत्र साधौ' ।७।१।१५। इति यः । गार्गकमिति-गर्गाणां समूहो गार्गकम् 'गोत्रोक्ष०' ।६।२।१२। इत्यकञ् । काम्पील्यक इति–कम्पीलेन निर्वृत्तं 'सुपन्थ्यादेर्ञ्यः ।६।२।८४। इति ञ्यः । काम्पील्ये भवः काम्पील्यकः 'प्रस्थपुरवहान्त० ।६।३।४३। इत्यकञ् । वात्स्येनेति—वत्सस्यापत्यं वात्स्यः तेन अत्र टायाग्निादेशः । गार्ग्यायण इति—गार्ग्यस्यापत्यं 'यञिञः' ।६।१।५४। इत्यायनण् ॥९२॥

बिल्वकीयादेरीयस्य ।२।४।९३।

नडादिस्था बिल्वादयः। तेषां कीयप्रत्ययान्तानामीयस्य तद्धितयस्वरे लुक् स्यात् । बैल्वकाः । वैणुकाः । बिल्वकीयादेरिति किम् । नाडकीयः ॥९३॥

नडादिषु बिल्वादीनां पाठः तेषांमि कीयप्रत्ययान्तामिह बैल्वका ग्रहणम् । इति–बिल्वा सन्त्यस्यामिति 'नडादेः कीयः' ।६।२।९२। इति कीये बिल्वकीया तस्यां नद्यां भवाः बैल्वकाः 'भवे' ६।३।१२३। इत्यण् । वेणवः सन्त्यस्यामिति वेणुकीया नाम नदी तस्यां भवाः वैणुकाः। नाडकीय इति-नायं बिल्वकीयादिरिति कीयप्रत्ययान्तस्याणरूपस्वरादिप्रत्यये परेऽपि न भवति ॥९३॥

न राजन्यमनुष्ययोरके ।२।४।९४।

अनयोर्यो-ऽके परे लुग् न स्यात् । राजन्यानां समूहो राजन्यकम् । एवं मानुष्यकम् ॥९४॥

राज्ञोऽपत्यं राजन्यः 'जातौ राज्ञः' ।६।१।६२। इति यः, 'अनोऽट्ये ये' ।७।४।५१। इति निषेधादनो लुगभावः । राजन्यानां समूहः 'गोत्रोक्ष०' ।६।२।१२। इत्यकञ् । 'मनोरपत्यं 'मनोर्याणौ षश्चान्तः' ।६।१।६४। इति ये षागमः, मनुष्याणां समूहः 'गोत्रो०'।६।३।१२। इत्यकञ् । 'तद्धितयस्वरे०' ।२।४।९२। इति यलोपे प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् ॥९४॥

ङ्यादेर्गौणस्याक्विपस्तद्धितलुक्यगोणीसूच्योः ।२।४।९५।

ङ्यादेः प्रत्ययस्य गौणस्याक्विबन्तस्य तद्धितलुकि लुक् स्यात् । नतु गोणीसूच्योः । सप्तकुमारः । पञ्चेन्द्रः । पञ्चयुवा । द्विपङ्गुः । गौणस्येति किम् । अवन्ती । अक्विपइति किम् । पञ्चकुमारी । अगोणीसूच्योरिति किम् । पञ्चगोणिः । दशसूचिः ॥९५॥

सप्तकुमार इत्यादि सप्त कुमार्यो देवताऽस्य 'संख्या समाहारे०' ।३।१।९९। इति द्विगुसमासः, देवतार्थस्याणः 'द्विगोरन०' ।६।१।२४। इति लोपेऽनेन ङीप्रत्ययस्यापि लोपः, 'निमित्ताभावे०' इति न्यायात् 'अस्य ङ्यां लुक्' ।२।४।९६। इति ङ्यभावे तन्नैमित्तिकस्याल्लुकोऽप्य-भावेऽकारः प्रत्यावृत्तः एवं पञ्चेन्द्राण्यो देवताऽस्य पञ्चेन्द्रः । 'सन्नियोगशिष्टानामेकापायेऽन्यतरस्याप्यपाय' इति न्यायात् ङीनिवृत्तौ तत्संनियोगशिष्ट: आनपि निवृत्तः । पञ्चभिः युवतिभिः क्रीतः पञ्चयुवा 'मूल्यैः क्रीते' ।६।४।१५०। इतीकण् 'अनाम्न्यद्विः प्लुप्' ।६।४।१४१। इति लोपे स्त्रीविहित-तिप्रत्ययस्यापिनिवृत्तिः । एवं द्वाभ्यां पङ्गु-भ्यक्री-द्विपङ्गुः । अवन्तीति-अवन्तेरपत्यं स्त्री 'दुनादि०' ।६।१।११८। इति ञ्यस्य 'कुन्त्यवन्तेः०' ।६।१।१२१। इति लोपः,पञ्चकुमारीति-कुमारीमिच्छतीति क्यनि कुमारीयतीति ततःक्विपि

कुमारी ततः पञ्च कुमार्यो देवताऽस्य पञ्चकुमारी। पञ्चगोणिरिति–पञ्चभिः गोणीभिः क्रीतः 'मूल्यैः क्रीते' ।६।४।१५०। इतीकणः 'अनाम्न्यद्विः०' ।६।४।१४१। इति लोपः। गौरादिङीप्रत्ययस्य निवृत्त्यभावे 'गोश्चान्ते०' ।२।४।९६। इति ह्रस्वत्वम् एवं दशभिः सूचीभिः क्रीतः दशसूचिः ॥९५॥

गोश्चान्ते ह्रस्वो ऽनंशिसमासेयो-बहुव्रीहौ ।२।४।९६।

गौणस्याक्विपो गोङ्याद्यन्तस्य चान्ते वर्त्तमानस्य ह्रस्वः स्यात्। न चेदसावंशिसमासान्तइयस्वन्तबहुव्रीह्यन्तो वा। चित्रगुः। निष्कौशाम्बिः। अतिखट्वः। अतिब्रह्मबन्धुः। गौणस्येत्येव? सुगौः। राजकुमारी। अक्विप इत्येव? प्रियगौः। प्रियकुमारी चैत्रः। गोश्चेति किम्। अतितन्त्रीः। अन्त इति किम्। गोकुलम्। कुमारीप्रियः। कन्यापुरम्। अंशिसमासादिवर्जनं किम्। अर्द्धपिप्पली। बहुश्रेयसी ना॥९६॥

सुगौरित्यादि–शोभना गौः सुगौः। राज्ञः कुमारी राजकुमारी। प्रियगौरित्यादि–गामिच्छति, क्यन्, गव्यतीति क्विप्, ततः प्रिया गौरस्य प्रियगौः। कुमारीमिच्छतीति क्विप् ततः प्रियश्चासौ कुमारी च प्रियकुमारी चैत्रः। अर्द्धपिप्पलीति-अर्द्धं पिप्पल्याः 'समेंऽशेऽर्द्धं०' ।३।१।५४। इत्यंशितत्पुरुषः। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी ईयस्वन्तबहुव्रीहित्वादत्र न ह्रस्वः ।९६।

क्लीबे ।२।४।९७।

नपुंसकवृत्तेः स्वरान्तस्य नाम्नो ह्रस्वः स्यात्। कीलालपम्। अतिनु कुलम्॥९७॥

कीलालपमिति–कीलालं पिबति यत्कुलं तत्कीलालपम्। नावमतिक्रान्तम् अतिनु। ॥९७॥

वेदूतोऽनव्ययय्वृदीच्ङीयुवः पदे ।२।४।९८।

ईदूतोरुत्तरपदे परे ह्रस्वो वा स्यात्। न चेत्तावव्ययौ य्वृतौ ईचौ ङ्यौ इयुव्स्थानौ च स्याताम्। लक्ष्मीपुत्रः। लक्ष्मिपुत्रः। खलपूपुत्रः। खलपुपुत्रः। अव्ययादिवर्जनं किम्। काण्डीभूतम्। इन्द्रहूपुत्रः। कारीषगन्धीपुत्रः। गार्गीपुत्रः। श्रीकुलम्। भ्रूकुलम्।'९८॥

काण्डीभूतमिति—'कृभ्वस्ति०' ।७।२।१२६। इति च्विः, 'ईश्चावर्णं०' ।४।३-।१११। इतीकारः। 'ऊर्यादि०' ।३।१।२। इति गतिसञ्ज्ञा, 'गतिः' ।१।१।३६। इत्यव्ययसंञ्ज्ञा। इन्द्रहू—पुत्रइति—इन्द्रं ह्वयतीति क्विप् 'यजादि०'।४।१।७१। इति य्वृत् 'दीर्घमवो०'।४।१।१०३। इति दीर्घत्वं पुत्रशब्देन षष्ठीसमासश्च। गार्गीपुत्र इति-गर्गस्य वृद्धमपत्यं स्त्रीति .गर्गादियञः 'यञो डायन् च वा' ।२।४।६७। इति ङीः 'व्यञ्जनात्त०' ।२।४।८८। इति यलुक्, गार्ग्याः पुत्र इति षष्ठीसमासश्च ॥९८॥

ङ्यापो बहुलं नाम्नि ।२।४।९९।

ङ्यन्तस्याबन्तस्य चोत्तरपदे संज्ञायां ह्रस्वः स्याद्, बहुलम्। भरणिगुप्तः। भरणीगुप्तः। रेवतिमित्रः। रेवतीमित्रः। शिलवहम्। शिलावहम्। गङ्गमहः। गङ्गामहः ॥९९॥

ङीप्रत्ययसाहचर्यात् आपः प्रत्ययस्य ग्रहणं न त्वाप्नोतेः क्विबन्तस्येत्याह-आबन्तस्येति—

क्वचित्प्रवृत्ति, क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चातुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

भरणीभिर्गुप्तः 'कारकंकृता' ।३।१।६८। इति समासः। वहतीति वहम् शिलाया वहं शिलावहम्। गङ्गायाः महः-गङ्गमहः,गङ्गामहः। संज्ञा-शब्दाः एते ॥९९॥

त्वे ।२।४।१००।

ङ्याबन्तस्य त्वे परे बहुलं ह्रस्वः स्यात् । रोहिणित्वम् । रोहिणीत्वम् । अजत्वम् । अजात्वम् ॥१००॥

'भावे त्वतल्' ।७।१।५५। इति त्वप्रत्ययः ॥१००॥

भ्रुवोऽच्च कुंसकुटयोः ।२।४।१०१।

अनयोः परयोर्भ्रुवो ह्रस्वो-ऽच्चस्यात् । भ्रकुंसः । भ्रुकुंसः । भ्रकुटिः । भ्रुकुटिः ॥१०१॥

भ्रुवौ कुंसयतीति 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। इत्यण्। भ्रुवः कुटिः कौटिल्यमित्यर्थः ॥१०१॥

मालेषीकेष्टकस्यान्ते-ऽपि भारितूलचिते ।२।४।१०२।

एषां केवलानामन्तस्थानां च भार्यादिषु परेषु यथासंख्यं ह्रस्वः स्यात् । मालभारी । उत्पलमालभारी । इषीकतूलम् । इष्टकचितम् ॥१०२॥

माला च इषीका च इष्टका चेति समाहारद्वन्द्वः । मालादिभिः प्रकृतस्य नाम्नो विशेषणात् तदन्तलाभात् केवलस्य व्यपदेशिवद्भावाद्ह्रस्वसिद्धावन्त-ग्रहणम्-'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः' इति न्यायस्य ज्ञापकम् तेन दिग्धपादोपहतः, सौत्रनाडिरित्यादौ पदादेराऽऽयनण्प्रत्ययादयो न भवन्ति । मालां बिभर्तीत्येवं शीलः 'अजातेः शीले' ।५।१।१५४। इति णिन् मालभारी उत्पलानां माला तां बिभर्तीति । इषीकायास्तूलम्-इषीकतूलम्। चीयत इति चितम् इष्टकाभिश्चितम् 'कारकं कृता' ।३।१।६८। इति समासः ॥१०२॥

गोण्या मेये ।२।४।१०३।

गोण्या मानवृत्तेरुपचारान्मेयवृत्तेर्ह्रस्वः स्यात् । गोण्या मितो । गोणिः ॥१०३॥

गोण्या मितो धान्यादिर्गोणिः । विनैव तद्धितेन गोणीशब्दो गोणीप्रमितेऽर्थे व्रीह्यादावुपचारात् वर्तते यथा प्रस्थ-प्रमिते प्रस्थ इति । तस्य चायं ह्रस्वः इति सूत्रारम्भः अथवा कृतेपि तद्धिते तल्लुकि 'ङ्यादेर्गौणस्या० ।२।४।९५। इत्यत्र अगोणीसूच्योरिति प्रतिषेधे 'गोश्चान्ते० ।२।४।९६। इति च समासे एव विधानात् अत्र तदभावात् ह्रस्वार्थ-मिदं सूत्रम्॥१०३॥

ङ्यादीदूतः के ।२।४।१०४।

ङ्यादीदूदन्तानाञ्च के प्रत्यये ह्रस्वः स्यात् । पट्विका । सोमपका । लक्ष्मिका । वधुका ॥१०४॥

पट्विकेति-कुत्सिताऽल्पाऽज्ञाता वा पट्वी-'प्रागित्यात्कप्' ।७।३।२५। इति कप् एवं सोमपिकेत्यादावपि । 'अस्यायत्तत्क्षिपका०' ।२।४।१११। इत्यकारस्येत्वम् । ननु पट्विकेत्यत्र 'ङ्यादीदूतः के' ।२।४।१०४। इति ह्रस्वस्य प्राप्तिः, 'क्यङ्मानि०' ।३।२।५०। इति पुंवद्भावस्य च प्राप्ति-रित्युभयप्राप्तौ परत्वात् पुंवद्भावो भविष्यतीति पट्विकेति न सिध्यतीति चेत्सत्यमिदं ङीग्रहणं निरवकाशं सत् पुंवद्भावं बाधते। 'प्रत्ययाप्रत्यययोः० इति न्यायात् काकः पाकः इत्यादौ ह्रस्वो न भवति । ककि लौल्ये ककति लोलो भवतीत्यचि पृषोदारादित्वाच्चकाकः। पचनं पाकःघञि'क्तेऽनिटश्च'०।४।१।-१११।इति कत्वमिति ककारस्य प्रत्ययत्वा-भावात् ह्रस्वत्वं न भवति । यदा तु कायतेःपिबतेश्च'भीण्शलि-वलि०' ।उणा० २१। इति कःतदा उणादीना मव्युत्पन्नत्वान्न भवतिव्युत्पत्तिपक्षे तु बहुलवचनान्न भवतीति भावः ॥१०४॥

न कचि ।२।४।१०५।

ङ्यादीदूतां कचि परे ह्रस्वो न स्यात् । बहुकुमारीकः । बहुकीलालपाकः । बहुलक्ष्मीकः । बहुब्रह्मबन्धूकः ॥१०५॥

बहुकुमारीक इत्यादि—बह्व्यः कुमार्यो यस्मिन्निति 'ऋन्नित्यदितः' ।७।३।१७१। इति कच् एवं बहु-ब्रह्मबन्धूक इत्यत्रापि। बहुकीलालपाक इत्यत्र'शेषाद्वा' ।७।३।१७५।इति कच् । 'बहुलक्ष्मीक इत्यत्रैकत्वे'पुमनडुन्नौ०' ।७।३।१७३। इति बहुत्वे तु 'शेषाद्वा' ।७।३।१७५। इति कच् । 'न कचि' ।२।४।१०५। इति प्रतिषेधः पूर्वसूत्रे 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य' इति न्यायस्याभावज्ञापनार्थस्तेन शबरोपलक्षिता जम्बूः शबरजम्ब्वां भवः शाबरजम्बुकः 'उवर्णादिकण्' ।६।३।३९। इतीकण् 'ऋवर्णोवर्ण०' ।७।४।७१। इति सूत्रेणेकण इकारस्य लोपः ततोऽनेन ह्रस्वः सिद्धः । अन्यथा 'तस्य तुल्ये० ' ।७।१।१०८। इति विहितस्य कस्यैव ग्रहणं स्यात् न तु कपादेः ॥१०५॥

नवाऽऽपः ।२।४।१०६।

आपः परे ह्रस्वो वा स्यात् । प्रियखट्वकः । प्रियखट्वाकः । ॥१०६॥

पूर्वेण प्रतिषेधे प्राप्ते पक्षे ह्रस्वार्थमिदम् । प्रिया खट्वा यस्येति बहुव्रीहौ 'शेषाद् वा' ।७।३।१७५। इति कचि पक्षेऽनेन ह्रस्वत्वे प्रियखट्वक इत्यादि ॥१०६॥

इच्चापुंसो ऽनित्क्याप्परे ।२।४।१०७।

आबेव परो यस्मान्न विभक्तिस्तस्मिन्ननितः प्रत्ययस्यावयवे के परेऽ-पुल्लिङ्गार्थाद्विहितस्यापस्स्थाने इह्रस्वौ वा स्याताम् । खट्विका । खट्वका । खट्वाका । अपुंस इति किम्। सर्विका । अनिदिति किम् । दुर्गका । आप्पर इति किम् । प्रियखट्वाको

ना । अतिप्रियखट्वाका स्त्री । आप इत्येव । मातृका ॥१०७॥

न इत् अनुबन्धो यस्य स नित् न निदनित्तस्य सम्बन्धी क् अनित्क् तस्मिन्। अनित् इति पर्युदासेन प्रत्ययस्यैव कस्य ग्रहणं तेन 'नरिका—मामिका' ।२।४।११२। सूत्रादिस्त्वशासनमर्थवद् भवति । अन्यथा नरान् कायति, ममेयं मामिका इत्यत्र इत्त्वनिपातनमनर्थकं स्यादनेन प्रकृतसूत्रेणैव सिद्धेः। आपीति उपश्लेषसप्तम्यैव आबुपश्लिष्टे ककारे इत्यर्थस्य सिद्धे परग्रहणं नित्यार्थमित्याह—आबेव पर इति । ननु आबादेः स्त्रीवाचिशब्दादेव विधानात्, पुल्लिङ्गार्थादापोऽभावाद् विशेषणमिदं निरर्थकमिति चेन्न शब्दस्य यत्प्रवृत्तिनिमित्तं तदेव पुंस्त्वस्य स्त्रीत्वस्य वान्वयितावच्छेदकं भवति तादृशशब्दभिन्नश्शब्दोऽपुल्लिङ्गार्थ उच्यते । सर्वशब्दस्य च यत्प्रवृत्तिनिमित्तं पुंस्त्वस्यान्वयितावच्छेदकं तदेव च स्त्रीत्वस्यापीति नाऽपुल्लिङ्गार्थत्वम्, खट्वाशब्दस्यैतादृशम् अपुंल्लिङ्गार्थत्वम् । खट्विकेत्यादि-'कुत्सिताल्पाज्ञाते ।७।३।३३। सूत्रात् कप्, 'ङ्यादीदूतः के।२।४।१०४। सूत्रान्नित्यं ह्रस्वे प्राप्तेऽनेन इकारो ह्रस्वश्च विकल्पेन तद्विमुक्ते चाकार इति । सर्विकेति—सर्वशब्दस्य यत्प्रवृत्तिनिमित्तं तदेव पुंस्त्वस्यान्वयितावच्छेदकं तदेव च स्त्रीत्वस्यापीति नापुंल्लिङ्गार्थत्वम् । सर्वा नाम काचित् ततः 'यावादिभ्यः ।७।३।१५। सूत्रात्के 'ङ्यादीदूतः के' ।२।४।१०४। सूत्रात् ह्रस्वत्वे 'अस्यायत्त० ।२।४।१११। सूत्रादिकारः, सर्वादेः सर्वशब्दस्य तु 'त्यादिसर्वादेः० ।७।३।२६। सूत्रेणान्त्यस्वरात् प्रागकि सर्विका । प्रत्युदाहरणं त्वाद्यमेव न तु द्वितीयं कात्पूर्वमापोऽभावेन द्वयङ्गविकलत्वात् । दुर्गकेति-अनुकम्पिता दुर्गादेवीति 'लुक्युत्तरपदस्य कपन् ।७।३।३८। सूत्रात् कपन् 'ङ्यादीदूतः० ।२।४।१०४। सूत्रात् ह्रस्वः । प्रियखट्वाकः—अत्र नाप्परः कः । प्रियखट्वाकमतिक्रान्ता अतिप्रियखट्वाका, अत्राप्याप्परो न कः, प्रथमं द्वितीया पश्चादाबिति न भवति । लुप्तद्वितीयाविभक्तिव्यवहितत्वात् । मातुस्तुल्या मातृका, 'तस्य तुल्ये० ।७।१।१०८। सूत्रेण कप्रत्ययः, जननीवचन एवात्र मातृशब्दः, न तु धान्यमाता मिमीते इति व्युत्पन्नो मातृशब्दः। तस्याऽपुंस इत्यनेनैव व्यावृत्तत्वात्, आबित्येवेत्यस्य प्रत्यदाहरणता न स्यात् ।१०७।

स्वज्ञाऽजभस्त्राऽधातुत्ययकात् ।२।४।१०८।

स्वज्ञाऽजभस्त्रेभ्यो धातुत्यवर्जस्य यौ यकौ ताभ्यां च परस्यापः स्थाने ऽनित्क्याप्परे परत इकारो वा स्यात् । स्विका । स्वका । ज्ञिका । ज्ञका । अजिका । अजका । भस्त्रिका । भस्त्रका । इभ्यिका । इभ्यका । चटकिका । चटकका । धातुत्यवर्जनं किम् । सुनयिका । सुपाकिका । इहत्यिका । आप इत्येव । काम्पोल्यिका ॥१०८॥

कुत्सिता स्वा ज्ञातिः स्विका स्वका.ज्ञातिधनाख्यामामसर्वादित्वात्अकोऽभावे कप्प्रत्ययान्तोऽयम । इभमर्हतीति–'दण्डादेर्यः' ।६।४।१७८। इति ये कुत्सिताद्यर्थे कपि आपि विकल्पेनेत्त्वे इभ्यिका इभ्यका । शोभनो नयो यस्याः सा सुनया 'ङ्यादीदूतः' ।२।४।१०४। इति ह्रस्वत्वे 'अस्या०' ।२।४।१११। इतीकारे च सुनयिका । इहत्यिकेति–इह भवा इहत्या । 'क्वेहा०' ।६।३।१६। इति त्यच् । काम्पील्यिकेति–कम्पीलेन निर्वृत्तं काम्पील्यम् सुपन्थ्यादेर्ञ्यः' ।६।२।८४। इति ञ्यः । तत्र भवा 'प्रस्थपुर०' ।६।३।८३। इति योपान्त्यलक्षणेऽकञ् उत्तरसूत्रेणेह नित्यमिकारः ॥१०८॥

द्वेषसूतपुत्रवृन्दारकस्य ।२।४।१०९।

एषामन्तस्यानित्क्याप्परे इर्वा स्यात् । द्विके । द्वके । एषिका । एषका । सूतिका । सूतका। पुत्रिका । पुत्रका । वृन्दारिका । वृन्दारका ॥१०९॥

आप इति निर्वृत्तं पृथग्योगात् 'त्यादिसर्वादेः' ।७।३।२९। इत्य कित्यकाद्यत्वे आपि 'औता' ।२।४।२०। इत्येत्त्वे विकल्पेऽनेनेत्त्वे च द्विके द्विके इति पुत्रिकेति-पुत्रशब्दात् कुत्सितादौ कपि आबादौ च, कृत्रिमः पुत्र इति वा 'तनुपुत्राऽण०' ।७।३।२३। इति कः । प्रशस्तं वृन्दमस्या अस्तीति वृन्दात्०' ।७।२।११। इत्यारके वृन्दारिकेत्यादि, ततः आप् । द्विशब्दसाहचर्यादिषेति सर्वादेः कृतविकारस्यैतदो निर्देशः तेनेषणकादिप्रत्ययान्तस्या-विकृतस्यै-तच्छब्द-स्य च न भवति । इच्छतीति-एषिका । एता एव एतिकाः ॥१०९॥

वौ वर्त्तिका ।२।४।११०।

शकुनावर्थे वर्त्तिकाया इत्वं वा स्यात् । वर्त्तिका । वर्त्तका । वाविति किम् । वर्त्तिका भागुरिः ११०॥

वर्तयतीति णकः, आप् 'अस्यायत्त० ।२।४।१११। सूत्रादिकारे । वर्त्तिका=शकुनिः । वर्त्तिका चटिका उच्यते लोके चिडीयां इति च । भागुरिः=लोकायतस्य व्याख्यात्री । लोके आयतं लोकायतम्=नास्तिकशास्त्रम् तस्य व्याख्याता आचार्यं=भागुरिशब्देनोच्यते, बाहुलकात्स्त्रीलिङ्गः ॥११०॥

अस्या-यत्तत्क्षिपकादीनाम् ।२।४।१११।

यदादिवर्जस्यातोऽनित्क्याप्परे इः स्यात् । पाचिका । मद्रिका । अनित्कीत्येव । जीवका । आप्पर इत्येव ? बहुपरिव्राजका । यदादिवर्जनं किम् । यका । सका । क्षिपका । ध्रुवका ॥१११॥

पृथग्योगाद् नवेति निवृत्तम् । यद्यत्रापि विकल्पः स्यात्तदा 'स्विका, स्वका' इत्यादौ 'ङ्यादीदूतः०' ।२।४।१०४। सूत्रात् ह्रस्वत्वेऽनेन वैकल्पिकस्य इत्वस्य सिद्धत्वात् 'स्वज्ञाज-भस्त्रा०' ।२।४।१०८। इत्यादीनां पृथगुपादानमनर्थकं स्यादिति । पचतीति पाचकः, 'णकतृचौ' ।५।१।४८। स्त्री चेत् पाचिका । आप्, पश्चात् इत्वम् । मद्रेषु भवा मद्रिका । 'वृजिमद्राद् देशात्कः ।६।३।३८। सूत्रेण कप्रत्ययः । जीवतादित्याशास्यमाना या सा जीवका 'आशिष्यकन्' ।५।१।७०। सूत्रादकन् । बहवः परिव्राजका यस्यां सा बहुपरिव्राजका नगरी । अत्र विभक्त्यन्तात् आप्, अतो न ककारात्पर आप्, विभक्त्या व्यवहितत्वात् । क्षिपका-प्रहरणविशेषः । ध्रुवकाऽऽवपनभाजन-विशेषः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥१११॥

नरिका-मामिका ।२।४।११२।

नरिकामामिकयोरित्वं निपात्यते । नरिका । मामिका ॥११२॥

नरान् कायतीति नरिका 'आतो डोऽह्वावामः ।५।१।७६। सूत्रात् डः, आप् । ममेयं मामिका 'वा युष्म०' ।६।३।६७। सूत्रात्आप् अञ्प्रत्ययः, अस्मदो ममक आदेशश्च, आत् ।२।४।१८। सूत्रात् । संज्ञाया तु 'केवल०' ।२।४।२६। सूत्रात् नित्यं ङीः । ककारस्याप्रत्ययसम्बन्धित्वापूर्वेणाप्राप्ते वचनम् ॥११२॥

तारकावर्णकाऽष्टका ज्योतिस्तान्तव-पितृदेवत्ये २।४।११३।

एतेष्वर्थेषु यथासंख्यमेते इवर्जा निपात्यन्ते । तारका ज्योतिः । वर्णका प्रावरणविशेषः । अष्टका पितृदेवत्यं कर्म्म ॥११३॥

तरोणके तारका ज्योतिः, तच्च नक्षणं कनीनिका च, नक्षत्रमेवेत्यन्ये, अन्यत्र तारिका। वर्णयतीति णके वर्णका-तान्तवः प्रावरणविशेषः, अन्यत्र वर्णिका भागुरिः लोकायतस्य । अश्नोतेरौणादिके तककि, अष्टका पितृदैवत्यं कर्म, अन्यत्राष्टौ द्रोणाः परिमाणमस्या इति के अष्टिका खारी संख्या०' ।६।४।१३०। सूत्रात्कः, 'अस्या०' ।२।४।१११। सूत्रादिकारः । पितृदैवतार्थं कर्मेति 'देवतान्तात् तदर्थे ।७।१।२२। सूत्रात् ये पितृदेवत्य-सिद्धम् ॥११३॥

"इति द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः समाप्तः"

श्री पर्युषण में योजी जाती हुई भाषण-श्रेणी

आज ऐसे मंगलमय और मन्त्राक्षरों से परिपूर्ण श्री कल्पसूत्र के श्रवण से जैन वंचित रह जाय, ऐसा प्रचार और ऐसी प्रवृत्तियां भी चल रही है और (सेवा समिति) युवक संघ आदि के नाम से योजित की जाती भाषण-श्रेणी, यह इसी के ही एक प्रतीकरूप है। पहले तो, यह श्री कल्पसूत्र, श्रावक श्राविकाओं को सुनने भी नहीं मिलता था। जबकि आज यह महाभाग्य से यह शक्य बना है, जबकि इसी के श्रवण से वंचित

रहना यह भाग्यहीनता की निशानी है। कोई कहेगा कि 'प्रति वर्ष ये ही बातें सुननी कैसे पसन्द पड़े ? यह प्रश्न ही, मूल वस्तु की प्रीत का अभाव है, ऐसा सूचित करना है। परमतारक और परम-शुद्ध देवों के चरित्र बारह महीने से सुनने का मौका मिले, उसमें बेचैनी किसको आवे ? सभी पापप्रवृत्तियों से मुक्त और केवलधर्मचारी ऐसे महापुरुषों के चरित्र और गुरु-वर्ग की परम्परा आदि के श्रवण का बारह महीने में मौका मिले, तब इस तरफ अरुचि किसको होवे ? देव के स्वरूप का और गुरु के स्वरूप का चिन्तन तो आत्मा को रोज करना चाहिये। इसी के योग से भी आत्मा की बहुत शुद्धि शक्य है और सद्धर्म के सुन्दर आचारों को अपने जीवन में जीने की रणा मिलती है। शुद्ध देवतत्त्व पर, शुद्ध गुरुतत्त्व पर और धर्मतत्त्व पर श्रद्धा को बनाने का एवं आत्मा में श्रद्धा बनी हो तो उसको निर्मल बनाने का यह सुन्दर उपाय है। ऐसे सुन्दर संयोगो से कोई भी आत्मा वंचित रहे अथवा तो वचित बने, ऐसी प्रवृत्ति को तो वे ही आत्मा कर सकती है कि जिन आत्माओं को मोक्ष की अभिलाषा न हो। जो आज एक की एक बात से बेचैनी की बात करते हैं, वे इसका उत्तर दे सकेंगे क्या ? कि उनको श्रीकल्पसूत्र में आने वाली सभी बातों की सच्ची ओर शक्य जितनी पूर्ण जानकारी है और इसी कारण अब वे नई कौन सी शोध में निकले हैं ? जिन लोगों को यह लगता हो कि 'श्रीकल्पसूत्र के वाचन में जो बातें देवसम्बन्धी, गुरु सम्बन्धी और धर्म सम्बन्धी कही जाती हैं, उसमें कुछ कस नहीं है, हम इससे भी अच्छा कह सकते हैं, ऐसी मनोवृति वाले मनुष्यों के लिये तो कहना ही क्या ? ऐसे मनुष्यों को श्रीपर्यु-षण पर्व में मानने वाले भी कैसे कहा जाय ? तो उन्होंने उनका नया कोई पर्व शोध निकालने के बदले, श्रीपर्युषण पर्व में ही और श्रीपर्युषणपर्व के नाम से ही भाषणश्रेणि योजने का क्यो पसंद किया ? यह तो सूचना मात्र दी है, इस पर कहने जैसा तो बहुत ही है। यहां तो बात इतनी ही है कि—श्रीपर्युषण में श्रीकल्पसूत्र का श्रवण यह अवश्यकर्तव्य है।

प०पू० कलिकाल—कल्पतरु आचार्य—
देव श्री विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा

।। अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः ।।

धातोः पूजार्थस्वतिगतार्थाधिपर्यति-क्रमार्थाऽतिवर्जः प्रादिरुपसर्गः, प्राक् च ।३।१।१।

धातोः सम्बन्धी तदर्थद्योती प्रादिरुपसर्गः स्यात् । स च धातोः प्राक् न परो न व्यवहितः पूजार्थौ स्वती गतार्थाधिपरी अति-क्रमार्थमतिञ्च वर्जयित्वा । प्रणयति । प्ररिणयति । धातोरिति किम् । वृक्षं वृक्षमभिसेकः पूजार्थस्वत्यादिवर्जनं किम् । सुसिक्तम् । अतिसिक्तम् । भवता । अध्यागच्छति आगच्छत्यधि । पर्यागच्छति । आगच्छति परि । अतिसिक्त्वा । धातोरिति प्राक् चेति च गतिसंज्ञां यावत् ।।१।।

प्र परा अप सम् अनु अव निस् दुस् निर् दुर् वि आङ् नि अधि प्रति परि उप अति अपि सु उत् अभि इति प्रादिः । अध्यागच्छति आगच्छत्यधि इत्यत्र उपरिभावः, सर्वतोभावश्च प्रकरणादेः प्रतीयते इति गतार्थत्वम् । प्राक्-शब्दस्याव्यवहिते वर्तनादाह न पर इत्यादि । धातोरिति प्राक् इति च गतिसंज्ञां यावदनुवर्तते ।।१।।

ऊर्याद्यनुकरणच्विडाच-श्च-गतिः ।३।१।२।

एते उपसर्गाश्च धातोः सम्बन्धिनो गतयः स्युस्ते च प्राग् धातोः । ऊर्यादिः—ऊरीकृत्य । उररीकृत्य । अनुकरणम्-खाट्कृत्य । च्व्यन्तः—शुक्लीकृत्य । डाजन्तः—पटपटाकृत्य । उपसर्गः प्रकृत्य ।।२।।

ऊरीउररी अंगीकरणे विस्तारे च । खाडिति कृत्वा खाट्कृत्य गता

विद्युत् । पटपटाकृत्येति–अव्यक्ता० ।७।२।१४५। इति डाच्प्रत्यये प्रकृते-र्द्विभावश्च । खाट् इत्यनुकरणशब्दोऽ त्युत्पन्नः एवमन्यत्र ज्ञेयम् ।।२।।

कारिका स्थित्यादौ ।३।१।३।

स्थित्यादावर्थे कारिका गतिः स्यात् । स्थितिर्मर्यादा वृत्तिर्वा । कारिकाकृत्य ।।३।।

करणं कारिका भावे णकः । कारिका-करणं पूर्वम् इति वाक्येऽपि अनेन गति संज्ञायाम् । अव्ययस्य ।३।२।७। इति षष्ठ्या लुप् । स्थित्यादिरित्यत्रादिशब्दात् यत्न-धात्वर्थ-निर्देशौ गृह्येते । कारिकाकृत्य–स्थितिं यत्नं क्रियां वा कृत्वे-त्यर्थः । गतिसंज्ञया समास–यबादेश–तागमा–बोद्धव्याः । स्थित्याद्यर्थाभावे तु न भवति कारिकां कृत्वा कर्त्रीं कृत्वेत्यर्थः । श्लोकवाचिनः कारिका-शब्दस्य तु सत्यपि धातुसम्बन्धसम्भवे प्रयोगादर्शनाद् ग्रहणाभाव इति ।।३।।

भूषादरक्षेपेऽलं-सदसत् ।३।१।४।

एष्वर्थेष्वेते यथासंख्यं गतयः स्युः । सत्कृत्य, असत्कृत्य । अलङ्कृत्य । भूषादिष्विति किम् । अलङ्कृत्वा मा कारीत्यर्थः

भूषा – मण्डनम्, प्रीत्या संभ्रमः = आदरः, क्षेपोऽ नादरः । अल-ङ्कृत्वा अत्र निषेधार्थोऽलंशब्दः, माङा योगेऽ द्यतन्यां 'कारि' इति प्रयोगः, एवं सत्कृत्वा विद्यमानं कृत्वेत्यर्थः असत्कृत्वा अविद्यमानं कृत्वेत्यर्थः, अत्रापि भूषाद्यर्था-भावान्न भवति ।।४।।

अग्रहाऽनुपदेशे ऽन्तरदः ।३।१।५।

अनयोरर्थयोरेतौ यथासंख्यं गती स्याताम् । अन्तर्हत्य । अदः-कृत्यैतत्कर्त्तेति ध्यायति ।।५।।

अग्रहोऽ स्वीकारः, अन्तर्हत्य–मध्ये हिंसित्वा शत्रून् गत इत्यर्थः। स्वयं परामर्शोऽ–नुपदेशः विशेषाऽ–नाख्यानं वा। अदः कृत्यैतत्कर्तेति ध्यायति चिन्तयतीत्यर्थः। निर्दिष्टार्था-भावे तु न भवति-अन्तर्हत्वा मूषिकां श्येनो गतः परिगृह्य गत इत्यर्थः, अदः कृत्वा गत इति परस्य कथयति। अदस्शब्दस्त्यदादौ, अव्ययमिति केचित् ॥५॥

कणेमन-स्तृप्तौ ।३।१।६।

एतावव्ययौ तृप्तौ गम्यमानायां गती स्याताम्। कणेहत्य। मनोहत्य पयः पिबति। तृप्ताविति किम् ? तण्डुलावयवे कणे हत्वा ॥६॥

कणेहत्य मनोहत्य पयः पिबतीति कणे इति सप्तम्यन्त-प्रतिरूपकमव्ययमभिलाषातिशये वर्तते एवं मनः-शब्दोऽ-प्यत्रैव। अत्यन्तमभिलष्य तन्निवृत्तिपर्यन्तं पिबतीत्यर्थः। तण्डुलावयवे कणे हत्वेति–तण्डुलस्य सूक्ष्मांशं विनाश्ये गत इत्यर्थः। मनो हत्वा गतः, चेतो हत्वेत्यर्थः ॥६॥

पुरोऽस्तमव्ययम् ।३।१।७।

एतावव्ययौ गती स्याताम्। पुरस्कृत्य। अस्तङ्गत्य। अव्ययमिति किम्। पुरः कृत्वा नगरीरित्यर्थं ॥७॥

पूर्वपर्यायः पुरः—शब्दः-अनुपलब्ध्यर्थोऽ-स्तंशब्दः अस्तंगत्य पुनरुदेति सविता। पुरः कृत्वा नगरीरित्यर्थः इति। 'नमस्पुरसो०' ।२।३।१। इति सकारोऽप्यत्र न भवति ॥७॥

गत्यर्थवदो-ऽच्छः ।३।१।८।

अच्छेत्यव्ययं गत्यर्थानां वदश्च धातोः सम्बन्धि गतिः स्यात्।

अच्छगत्य । अच्छोद्य ॥८॥

अच्छेत्यव्ययमाभिमुख्ये दृढार्थे च वर्तते । अच्छगत्येति-अभिमुखं गत्वेत्यर्थः । अच्छोद्येति-अभिमुखं दृढं वा उक्त्वेत्यर्थः ॥८॥

तिरोऽन्तर्द्धौ ।३।१।९।

तिरोऽन्तर्द्धौ गतिः स्यात् । तिरोभूय ॥९॥

तिरः-शब्दोऽन्तर्द्धौ व्यवधाने वर्तमानो गतिसंज्ञो भवति । तिरस् अन्तर्द्धौ च-वज्ञातिर्यग्भावेषु । अन्तर्द्धौ च, पचारात् अवज्ञा-ऽप्यन्तर्द्धिरित्यर्थद्वय-मस्यात्र विज्ञेयम् । तिरो-भूयेति-व्यवहितो भूत्वा तिरोधानं व्यवधानं कृत्वेति तदर्थः । तिर्यग्भावेऽर्थे तु न गतिसञ्ज्ञा भवति । तिरो भूत्वा ऊर्ध्व-स्थितस्तिर्यग्वलित्वेत्यर्थः ॥९॥

कृगो नवा ।३।१।१०।

तिरोऽन्तर्द्धौ कृगः सम्बन्धि गतिर्वा स्यात् । तिरस्कृत्य । तिरः-कृत्य । पक्षे तिरः कृत्वा ॥१०॥

तिरः कृत्वेति-अत्र गतिसंज्ञाभावपक्षे न समासादिः न वा सकारः । तिर्यग्भावे तु न भवति—तिरः कृत्वा काष्ठं गतः ऊर्ध्वं स्थितं काष्ठं तिर्यक् कृत्वेत्यर्थः ॥१०॥

मध्येपदेनिवचनेमनस्युरस्यनत्याधाने ।३।१।११।

अनत्याधानमनुपश्लेषोऽनाश्चर्यं वा । तद्वृत्तय एते ऽव्ययाः कृग्-योगे गतयो वा स्युः । मध्येकृत्य । मध्ये कृत्वा । पदेकृत्य । पदे कृत्वा । निवचनेकृत्य । निवचने कृत्वा । मनसिकृत्य । मनसि कृत्वा । उरसिकृत्य । उरसि कृत्वा ॥११॥

मनसि-कृत्येत्यादि—उभयत्र निश्चित्येत्य-र्थः । अत्याधानेऽर्थे तु न भवति मध्ये कृत्वा धान्यराशिं स्थिता हस्तिनः धानिराशिमुपश्लिष्येत्यर्थः, पदे कृत्वा शिरः शेते पदमुपश्लिष्येत्यर्थः, मनसि कृत्वा सुखं शेते–मनसि सुखंधृत्वेत्यर्थः, उरसि कृत्वा पाणिं शेते उरोदेशं पणिना उपस्पृश्येत्यर्थ । अव्ययमित्येव–मध्ये कृत्वा वाचं तिष्ठतीत्यादौ अन्तराले कथयित्वेत्यर्थः। अत्र मध्यशब्दस्य सप्तम्येकवचने 'मध्ये' इति रूपं न त्वव्ययमिति गति सञ्ज्ञा न भवति ।।११।

उपाजेऽन्वाजे ।३।१।१२।

एतावव्ययौ दुर्बलस्य भग्नस्य वा बलाधानार्थौ कृग्योगे गती वा स्याताम् । उपाजेकृत्य । उपाजे कृत्वा । अन्वा-जे—कृत्य । अन्वाजे कृत्वा ।।१२।।

एते अव्यये सप्तम्येकवचनान्तप्रतिरूपके । उपाजे-कृत्येत्यादि–दुर्बलस्य भग्नस्य वा बलाधानं कृत्वेत्यर्थः । दुर्बलस्य बलाधानं वचनादिना प्रोत्साह-नादि, भग्नस्य परेण पराजितस्य च बलाधानमपि तदुत्साहसम्पादनादि-क्रिया ।।१२।।

स्वाम्येऽधिः ।३।१।१३।

स्वाम्ये गम्ये-ऽधीत्यव्ययं कृगयोगे गति–र्वा स्यात् । चैत्रं ग्रामे ऽधिकृत्य । अधिकृत्वा वा गतः । स्वाम्य इति किम् । ग्राममधि-कृत्य उद्दिश्येत्यर्थः ।।१३।।

स्वामी-ईश्वरः तस्य भावः स्वाम्यं तस्मिन् इत्यर्थः । चैत्रं ग्रामेऽधिकृत्याधि कृत्वा वा गतः स्वामिनं कृत्वेत्यर्थः । ग्राममधिकृत्येति-चिन्तया ग्राममुद्दिश्ये-त्यर्थः । उपसर्गसंज्ञकत्वाद् 'ऊर्याद्य०' ।३।१।२। इति नित्यं गति-संज्ञा ततश्च समासो यबादेशश्च सिद्धः ।।१३।।

साक्षादादिश्च्व्यर्थे ।३।१।१४।

एते च्व्यर्थवृत्तयः कृग्योगे गतयो वा स्युः । साक्षात्कृत्य । साक्षात्कृत्वा । मिथ्याकृत्य । मिथ्याकृत्वा ॥१४॥

साक्षात्कृत्य साक्षात्कृत्वेति–असाक्षाद्भूतं साक्षाद्भूतं कृत्वेत्यर्थः । मिथ्याकृत्य मिथ्याकृत्वेति–अमिथ्याभूतं मिथ्याभूतं कृत्वेत्यर्थः । यदा साक्षाद्भूतमेव किंचित् करोति तदा च्व्यर्थाभावात् साक्षात्कृत्वेत्येव भवति । च्विप्रत्ययो विकल्पेन भवति । च्व्यन्तानां तु 'ऊर्यादिच्वि०' ।३।१।२। इति नित्यमेव गतिसंज्ञा तेन लवणी कृत्य–उष्णीकृत्येत्यादौ मान्तत्वं न भवति एतत्सूत्रविहितगति-संज्ञासन्नि-योग एव मान्तत्वस्य निपातनात् । लवणम्, उष्णमपि साक्षादादिः ॥१४॥

नित्यं हस्तेपाणावुद्वाहे ।३।१।१५।

एतावव्ययावुद्वाहे गम्ये नित्यं कृग्योगे गती स्याताम् । हस्तेकृत्य । पाणौकृत्य । उद्वाहइति किम् । हस्ते कृत्वा काण्डं गतः ॥१६॥

एतौ सप्तम्यन्तप्रतिरूपकावव्ययौ । उद्वाहे विवाहः पाणिग्रहणमिति यावत् । हस्ते-कृत्य पाणौ-कृत्येति–भार्यां कृत्वेत्यर्थः । हस्ते कृत्वा काण्डं गतः इति काण्डं शरं स्वीकृत्येत्यर्थः । नित्यग्रहणाद् वानिवृत्तिः ॥१५॥

प्राध्वं बन्धे ।३।१।१६।

प्राध्वमित्यव्ययं बन्धार्थं कृग्योगे गतिः स्यात् । प्राध्वंकृत्य । बन्ध इति किम् । प्राध्वंकृत्वा शकटं गतः ॥१६॥

'प्राध्वम्" इत्येतन्मकारान्तमव्ययमानुकूल्ये वर्तते तच्चानुकूल्यं बन्धहेतुकं भवति तदा कार्यकारणयोरभेदोपचाराद् बन्ध इत्युच्यते अनेकार्थत्वाद् वा मुख्य एवास्य बन्धोऽर्थः । प्राध्वङ्कृत्येति—बन्धनेनानुकूल्यं कृत्वेत्यर्थः । प्रार्थनादिना त्वानुकूल्यकरणे प्राध्वं कृत्वेति । प्राध्वं कृत्वा शकटं गत इति—प्रगतम—ध्वानं प्राध्वम् अध्व-

गमने समर्थमध्वाभिमुखं । वा कृत्वेत्यर्थः 'उपसर्गाद०' ।७।३।७८। इति सूत्रेणात्समासान्तः 'नोऽ पदस्य०' ।७।४।६१। इति सूत्रेण न-लोपः ततोऽम् 'अतः स्यमोऽ-म्' ।१।४।५७। ॥१६॥

जीविकोपनिषदौपम्ये ।३।१।१७।

एतावौपम्ये कृग्योगे गती स्याताम् । जीविकाकृत्य । उपनिषत्कृत्य ॥१७॥

जीविका—जीवनोपायः उपनिषत् रहस्यम् । जीविकामिव उपनिषदमिव कृत्वेत्यर्थः । जीवत्यनया जीविका 'नाम्नि पुंसि च' ।५।३।१२१। इति नाम्नि स्त्रियां णकः 'अस्या०' ।२।४।१११। इत्यस्येकारः। षद्लृं विशरणादौ' अतः सम्पदादित्वात्क्विपि 'सदोऽप्रते०' ।२।३।४४। इति षत्वे च उपनिषद् । जीविका च ऽपनिषच्चानयोः समाहार इति जीविकोपनिषद्, सौत्रत्वात् समासान्तविधेरनियतत्वाद् वा 'चवर्गद०' ।७।३।९८। इत्यत्समासान्तो न विहितः । उपमानमुपमा, भिदादित्वाङ् उपमैब औपम्यं भेषजादित्वाट् ट्यण् तस्मिन् । औपम्याभावे तु न भवति जीविकाम् उपनिषदं कृत्वा गतः ॥१७॥

नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम् ।३।१।१८।

नाम नाम्ना सहैकार्थ्ये सामर्थ्यविशेषे सति समासो बहुलं स्यात्। लक्षणमिदमधिकारश्च तेन बहुव्रीह्यादिसंज्ञाऽभावे यत्रैकार्थता । तत्रानेनैव समासः । विस्पष्टपटुः । दारुणाध्यायकः । सार्वचर्म्मोणो रथः । कन्येइव । श्रुतपूर्वः । नामेति किम् । चरन्ति गावो धममस्य नाम्नेति किम् ? चैत्रः पचति ॥१८॥

विस्पष्टं पटु—विस्पष्टपटुः अत्र गुणविशेषणस्य गुणवचनेन समासः। पटुशब्दः पाटवविशिष्टद्रव्यस्य वाचकः तत्र पाटवस्य विस्पष्टमिति विशेषणम्

न तु द्रव्यस्य । विस्पष्टमिति नपुंसकम्। अत एव मुख्यस्य सामानधिक-रण्यंनास्तीति कर्मधारयतत्पुरुषाभावः। दारुणमध्यायकःदारुणाध्यायकः। अत्र क्रियाविशेषणस्य क्रियावता समासः। सर्वश्चर्मणा कृतः सर्वचर्मीणः'सर्वचर्मणः ईनेनञौ' ।६।३।१६५। इति ईने 'नोऽपदस्य तद्धिते' ।७।४।६१। इत्यन्त्यस्वरादेरनो लोपे नस्य णत्वे च सर्वचर्मीणः। सर्वश्चर्मणा कृत इत्यत्र सर्वशब्दस्य कृतः इत्यनेन सम्बन्धो न तु चर्मणा। समासस्तु सर्व-चर्मणोरिति सामर्थ्याभावान्न केनाऽपि समासप्राप्तिरित्यनेन समासः । कण्ठेइव इत्यत्र केनापि सूत्रान्तरेणाप्राप्तौअनेन समासो विभक्तेर्लोपाभावश्च विज्ञेयः । 'ईदूदे०' ।१।२।३४। इत्यसन्धिः। श्रुतः पूर्वमिति श्रुतपूर्वः। बहुलवचनात् अनुव्यचलत् अनुप्रावर्षत् इत्यत्रानाम्नाऽपि समासो भवति। नित्यसंध्यादि समासफलम् समासस्य च नामत्वेऽपि संख्यायास्त्यादिभिरेवोक्तत्वात् स्यादयो न भवन्ति पदत्वार्थमुत्पन्नस्य वा प्रथमैकवचनस्य त्याद्यन्तार्थप्राधान्यात् नपुंसकत्वे लोपो भवति ।।१८।।

सुज्वार्थे सङ्ख्या सङ्ख्येये सङ्ख्यया बहुव्रीहिः।३।१।१९।

सुजऽर्थो वारो, वाऽर्थो विकल्पः संशयो वा। तद्वृत्तिसङ्ख्यावाचिनामसङ्ख्येयार्थेन सङ्ख्यानाम्ना सहैकार्थे समासो बहुव्रीहिश्च स्यात्। द्विदशाः। द्वित्राः। सङ्ख्येति किम्। दश वा गावो वा। सङ्ख्ययेति किम् ? दश वा गावो वा। सङ्ख्येय इति किम् ? द्विविंशतिर्गवाम् ।।१९।।

सुजिति-'द्वित्रि०'।७।२।११०।इति द्विर्दश=दिर्दशाः। द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः। अत्र 'प्रमाणीसंख्याः०' ।७।३।१२८। इति डप्रत्ययः 'आदशभ्यः सङ्ख्या संख्येये वर्तते तु संख्याने' इति न्यायात् यावद् दशशब्दश्रवणं तावत्पर्यन्तं संख्या=तद्वाचकशब्दः सख्येये संख्याविशिष्टे द्रव्यादौ न तु संख्याने परिच्छेदे इत्यर्थः, ततः परम् एकोनविंशत्यादिसंख्या संङ्ख्येये संख्याने च वर्तते। तस्मात् अष्टादशपर्यन्तं संख्यावाचकस्य शब्दस्य संख्येयेन सह सामानाधिकरण्येनैव प्रयोगः ततः परं सामानाधिकरण्येन वैयधिकरण्येन च। एको घटः, द्वौ घटौ, त्रयो घटाः,इत्यादि यावदष्टादश घटा न तु घटानां

त्रय इत्यादि: । ऊनविंशत्यादिषु च ऊनविंशतिर्विंशतिर्वा घटा:, घटानामूनविंशतिरिति च भवति ॥१६॥

आसन्नादूराधिकाध्यर्द्धार्द्धादिपूरणं द्वितीयाद्यन्यार्थे ।३।१।२०।

आसन्नादि अर्द्धपूर्वपदं च पूरणप्रत्ययान्तं नाम सङ्ख्यानाम्नैकार्थ्ये समासः स्यात् । द्वितीयाद्यन्तस्यान्यपदस्यार्थे सङ्ख्येये वाच्ये, स च बहुव्रीहिः । आसन्नदशाः । अदूरदशाः । अधिकदशाः । अध्यर्द्धविंशाः । अर्द्धपञ्चमविंशा ॥२०॥

अर्धपूर्वपदञ्च पूरणप्रत्ययान्तं नामेति-अर्धशब्द: आदि पूर्वपदं यस्य स चासौ पूरणश्च 'सङ्ख्यापूरणे०' ।७।१।१५५।इत्यधिकृत्य विधीयमान:पूरणार्थक: प्रत्यय:,प्रत्यये च तदन्तविज्ञानादुक्तं पूरणप्रत्ययान्तमिति । नाम्नो विशेषणत्वात् नपुंसकत्वम् । आसन्नदशा:इति–आसन्ना दश दशत्वं येषां येभ्यो वा 'प्रमाणीसंख्या० ।७।३।१२८। इति ड: नवैकादश वेत्यर्थ: । 'आदशभ्य: संख्या०' इति न्यायस्य प्रायिकत्वादत्र दशशब्द: सङ्ख्यायां वर्ततेऽत एव दशत्वमिति पर्याय: प्रदर्शित: एवम-दूरदशा: । अधिकदशा: इति–अधिका दश येभ्यो येषु वा ते अधिकदशा एकादशादय: अधिकत्वं च दशानामेकाद्यपेक्षम् । अवयवेन विग्रह: समुदाय: समासार्थ: । अत्राल्पीयोवाची अधिकशब्दो गृह्यतेऽत एव विग्रहवाक्ये 'अधिकेन भूयसस्ते' ।२।२।१११। इति विहिते पञ्चमीसप्तम्यौ प्रदर्शिते । अध्यर्द्धविंशा इति—अध्यर्द्धा विंशतिर्येषां तेऽध्यर्द्धविंशा: त्रिंशदित्यर्थ: 'प्रमाणी० ।७।३।१२८। इति । विंशतेस्तेर्डिति' ।७।४।६७। इति तेर्लोप । अर्धा पञ्चमी यासां ता: 'पूरणीभ्यस्तत्प्राधान्येप्' ।७।३।१३०। इति सूत्रेण अप् समासान्ते 'अवर्णेवर्णस्य' ।७।४।६८। इतीकारलोपे 'आत्' ।२।४।१८। इत्यापि जसि च अर्धपञ्चमा: विंशतयो येषान्ते अर्धपञ्चमविंशा: 'एकार्थं चानेकं च' ।३।१।२२। इत्यनेनैव सिद्धे प्रतिपदविधानं डप्रत्ययविधावेतद्बहुव्रीहिग्रहणार्थं तेनासन्ना दशयेषान्ते आसन्नदशा इत्यादावेव ड: स्यात् एकार्थञ्चानेकञ्च'।३।१।२२।इत्येतत्सूत्रनिष्पन्ने तु डो न स्यात् यथा प्रिया दश येषान्ते प्रियदशान: । एवमुत्तरसूत्रेऽपि ॥२०॥

अव्ययम् ।३।१।२१।

अव्ययं नाम सङ्ख्यानाम्नैकार्थ्ये समस्यते । द्वितीयाद्यन्यार्थे सङ्ख्येये वाच्ये स च बहुव्रीहिः । उपदशाः ॥२१॥

उप समीपे दश येषां ते-उपदशाः नवैकादश वा । योगविभागः उत्तरार्थः । ॥२१॥

एकार्थं चानेकं च ।३।१।२२।

एकमनेकं चैकार्थं समानाधिकरणमव्ययं च नाम्ना द्वितीयाद्यन्तान्यपदस्यार्थे समस्यते, स च बहुव्रीहिः । आरूढवानरो वृक्षः । सुसूक्ष्मजटकेशः । उच्चैर्मुखः ॥२२॥

एकः समानः अर्थः–अर्थोऽधिकरणं यस्य तदेकार्थं–समानाधिकरणम् । एकशब्दो हि नानार्थकः संख्यायां यथा एको द्वौ त्रयः इति । असहायार्थे यथा एकका आगताः, अन्यार्थे यथा एके आचार्या प्राहुरिति, प्रधानार्थे यथा-वदतामेकः । अल्पार्थे यथा नैके विनष्टाः,रथाश्च नैके व्यशीर्यन्तेति,अस्ति समानार्थे यथा —वयमेकधर्माण इति—यदाह—

'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च, प्रथमे केवले तथा ।
साधारणे समानेऽल्पे, संख्यायां च प्रयुज्यते ॥'

इति तत्रायमेकः समानार्थो ग्राह्यः तथा चार्थशब्देन प्रवृत्तिनिमित्ताश्रयत्वेन विवक्षितं द्रव्यं ग्राह्यम् । अर्थशब्दोऽपि नानार्थकः'अर्थः प्रयोजने धनेऽभिधेये च' तत्राभिधेयमिह गृह्यते । अधिकरणमिति-अधिकरणं च शब्दस्यार्थ एव आरूढ इत्यत्रशब्दद्वयस्य प्रवृत्तिनिमित्ताश्रय एक एवभूतकालिकारोहणक्रियाश्रयत्वंवानरत्वं चोभयोः प्रवृत्तिनिमित्ते,तयोराश्रयो वानर एक एवेति भवति तयोरेकार्थत्वम् । आरूढो वानरो यं सआरुढवानरोःवृक्षः। शोभनाःसूक्ष्मजटाः केशा अस्य स सुसूक्ष्मजटकेशः अयं बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिसमासः प्रथमं सूक्ष्मा जटा येषां केशानामिति द्विपदबहुव्रीहिणा सूक्ष्मजटशब्दं निष्पाद्य ततोऽनेन त्रिपदबहुव्रीहिविधानात् । उच्चैर्मुखमस्य सउच्चैर्मुखः । अत्र व्यधिकरणत्वान्न प्राप्नोतीति चकारोऽव्ययानुकर्षणार्थ उपात्तः

एवं अन्तर्मध्ये अङ्गानि निमित्तानि यस्य स अन्तरङ्गः एवं बहिरङ्गः। कर्तुं कामोऽस्य स कर्तुंकामः 'तुमश्च मनः-कामे' ।२।३।१४०। इत्युभयत्र मलोपः, 'क्त्वातुमम्' ।१।१।३५। इत्यव्ययत्वम् । सामानाधिकरण्ये तु अस्ति क्षीरमस्या अस्तिक्षीरा गौः 'एकार्थम्०' ।३।१।२२। इत्येकार्थेनाऽपि सिध्यति क्रियावचनत्वे तु त्वस्त्यादीनां 'नाम नाम्न्यै०' ।३।१।१८। इत्यादिनैव बहुलवचनात् सिद्धम् ॥२२॥

उष्ट्रमुखादयः ।३।१।२३।

एते बहुव्रीहिसमासा निपात्यन्ते । **उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य उष्ट्रमुखः वृषस्कन्धः ।** ॥२३॥

वृषस्कन्धः—वृषस्कन्ध इव स्कन्धोऽस्य । पूर्वसूत्रेण समानाधिकरण्ये समासो विहितः प्रकृते तु पूर्वोत्तरपदयोरुपमानोपमेयवृत्तित्वान्न सामानाधिकरण्यमिति पूर्वसूत्रेण समासाप्राप्तौ समासः उत्तरपदादिलोपश्च निपात्यते । यद्वा उष्ट्रादय एव शब्दा वृत्तौ उपमानत्वेन स्थिताः स्वावयवपराः ॥२३॥

सहस्तेन ।३।१।२४।

तेनेति तृतीयान्तेन सहोऽन्यपदार्थे समस्यते । स च बहुव्रीहिः । सपुत्र आगतः । सकर्म्मकः ॥२४॥

'सह' इत्येतन्नाम तुल्ययोगे विद्यमानार्थे च वर्तते । तुल्ययोगे–सह पुत्रेण सपुत्र आगतः आगमनमुभयोस्तुल्यम् । विद्यमानार्थे–सह कर्मणा वर्तते सकर्मकः । विद्यमानताऽत्र सहार्थो न तु तुल्ययोगः । प्रथमान्तान्यपदार्थार्थ आरम्भः । एवमुत्तरत्रापि । 'सहस्य सोऽन्यार्थे' ।३।२।१४३। इति सादेशः 'सहात् तुल्ययोगे' ।७।३।१७८। इति तुल्ययोगे कचो निषेधात् 'शेषाद् वा' ।७।३।१७५। इति कजभावः ॥२४॥

दिशो रूढ्याऽन्तराले ।३।१।२५।

रूढ्या दिग्वाचिनाम रूढ्यौ-व दिग्वाचिना सहान्तराले ऽन्यपदार्थे वाच्ये-समासे बहुव्रीहिः स्यात् । दक्षिणपूर्वा दिक् । रूढ्येति किम् । ऐन्द्र्याश्च कौबेर्याश्च दिशोर्यदन्तरालमिति ॥२५॥

रूढिः—समुदायशक्तिः । अन्तरालभूतोऽ-न्यपदार्थो-ऽपि दिगेव प्रत्यासत्तेः, अत एवास्य नित्यस्त्रीलिङ्गता । दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं सा दक्षिणपूर्वा दिग् । दिशि वर्तमाना नित्यस्त्रीलिङ्गा एवेति 'परतः स्त्री०' ।३।२।४९। सूत्रेऽ प्राप्ते 'सर्वादयोऽ स्यादौ ।३।२।६१। सूत्रात्पुंवद्भावः । इन्द्रो देवताऽ स्या दिशः सा ऐन्द्री । कुबेरो देवताऽ स्याः सा कौबेरी, एतौ शब्दौ यौगिकौ, अतो न समासः किन्तु वाक्यमेव । ऐन्द्रीकौबेरीशब्दयोः योगेनावयवशक्त्यैव दिग्वाचकत्वं न तु रूढ्या ॥२५॥

तत्रादायमिथस्तेन प्रहृत्येति सरूपेण युद्धेऽव्ययी-भावः ।३।१।२६।

तत्रेति सप्तम्यन्तं मिथ आदायेति क्रियाव्यतिहारे तेनेतितृतीयान्तं मिथः प्रहृत्येतिक्रियाव्यतिहारे समानरूपेण नाम्ना युद्धविषये-ऽन्यपदार्थे वाच्ये समासोव्ययीभावः स्यात् । केशाकेशि । दण्डा-दण्डि । तत्रेति तेनेति च किम् ? केशांश्च केशांश्च गृहीत्वा । मुखं च मुखं च प्रहृत्य कृतं युद्धम् । आदायेति प्रहृत्येति च किम् । केशेषु च केशेषु च स्थित्वा, दण्डैश्च दण्डैश्चागत्य कृतं युद्धम् गृहकोकिलाभ्याम् । सरूपेणेति किम् । हस्ते च पादे च गृहीत्वा कृतं युद्धम् । युद्धइति किम् । हस्ते च हस्ते चादाय सख्यं कृतम् ॥२६॥

काकाक्षिगोलकन्यायेन 'मिथः' प्रत्येकमभिसंबन्ध्यते । केशेषु च केशेषु मिथो गृहीत्वा कृतं युद्धं केशाकेशि 'ऐकार्थ्ये ।३।२।८। इति स्यादेलु पि 'केशकेश' इति समासात् 'इज् युद्धे' ।७।३।७४। इति समासान्ते इञि

सति 'इच्यस्वरे दीर्घं आच्च' ।३।२।७२। इति प्रथमकेशशब्दस्याकारस्य दीर्घं आकारे वा 'अवर्णेवर्णस्य' ।७।४।६८। इति द्वितीयकेशशब्दस्याकारलोपे च 'केशाकेशि' इति समासरूपनाम्नः उत्पन्नायाः सेः 'अनतो लुप्' ।३।२।६। इति लुपि 'केशाकेशीति सिद्धम्। एवं दण्डादण्डि-दण्डैश्च दण्डैश्च मिथः प्रहृत्य कृतं युद्धम् । मिथ इति क्रियाव्यतिहारः किम्-केशेषु च केशेषु च गृहीत्वा कृतं युद्धमनेन ॥२६॥

नदीभिर्नाम्नि ।२।१।२७।

नाम नदीवाचिना संज्ञायामन्यपदार्थे समासोऽव्ययीभावश्च स्यात् । उन्मत्तगङ्गं देशः । तूष्णीगङ्गम् । नाम्नीति किम् । शीघ्रगङ्गो देशः ॥२७॥

उन्मत्ता गंगा यत्र स उन्मत्तगङ्गम् देशः । तूष्णीं गङ्गा यत्र सः इमे देशनाम्नी । 'परतः स्त्री०' ।३।२।४९। इति पुंवद्भावः, 'द्वन्द्वैकत्वाव्ययी-भावौ' इति लिङ्गानुशासनात् क्लीबत्वे 'क्लीबे' ।२।४।९७। इति ह्रस्वत्वे स्यादेः 'अम-व्ययी०' ।३।२।२। इत्यमादेशश्च । नदीभिरित्यत्र बहुवचनं 'स्वं रूपं शब्दस्या०' इति न्यायैकदेशं 'स्वं रूपं शब्दस्य ग्राह्यम् इत्यंशस्य ज्ञापकं तथा च नदीशब्दात् स्वरूपस्य ग्रहणे प्रसक्ते नदी-विशेषाणां ग्रहणार्थं बहुवचन-मुपन्यस्तं 'स्वं रूपं शब्दस्य' इति न्यायांशस्य ज्ञापन-फलं तु 'कल्यग्नेरेयण्' ।६।१।१७। इति सूत्रेऽग्निशब्दस्यैव ग्रहणं न तु तत्पर्यायाणाम् । एवमन्यान्यपि फलान्युदाहरणीयानि । नदीभिरिति बहुवचन-निर्देशात् तद्विशेषाणां स्वरूपस्य च ग्रहणात् गङ्गायमुनादिनदीविशेषाणां नदीशब्दस्य च ग्रहणं सिध्यति ततश्चोत्तरसूत्रेण पञ्चनदम् इत्यत्रा-व्ययीभावसमासो भवति तथा द्वियमुनमित्यादावपि भवति । श्रोतस्विनी-निम्नगा-सिन्धु-प्रभृतीनां पर्यायाणां तु न ग्रहणम् ॥२७॥

सङ्ख्या समाहारे ।३।१।२८।

सङ्ख्यावाचि नदीवाचिभिः सह समाहारे गम्ये समासोऽव्ययी-

भावः स्यात् । द्वियमुनम् । पञ्चनदम् । समाहारेति किम् । एकनदी । द्विगुबाधनार्थं वचनम् ॥२८॥

अन्यपदार्थे इति निवृत्तम् । द्वयोर्यमुनयोः समाहारः द्वियमुनम् एवं पञ्चनदम् । अत्राव्ययीभावत्वे 'संख्यायाः नदीगोदावरीभ्याम्' ।७।३।६१। इति समासान्तो 'अमव्ययी-भावस्या०' ।३।२।२। इति स्यादिविभक्तेरमादेशश्च सिध्यति । यद्यपि द्विगौ द्वियमुनमित्यत्र पात्रादिपाठाभ्युपगमेन 'द्विगोः समाहारात्' ।२।४।२२। इति ङीःप्रत्ययस्या-भावे नपुंसकत्वे ह्रस्वत्वे "अतः स्यमोऽ म्' ।१।४।५७। इति स्यमोरमादेशे अव्ययी-भावे च 'अमव्ययी०' ।३।२।२। इति स्यमोरमादेशे च समानताऽस्ति तथापि द्विगौ सति द्वियमुनेन द्वियमुनायेत्यादि स्यात् इष्यते चापञ्चमीस्थले 'द्वियमुनम्' इत्येव । तच्चाव्ययी-भावसंज्ञामन्तरेण न सिध्यतीति अव्ययी-भाव-सञ्ज्ञाविधानम् । एवं पञ्चनदमित्यादौ च द्विगौ सति 'पञ्चनदि' इत्यादि स्यात् । एक-नदीति-एका चासौ नदी च 'सर्वादयोऽस्यादौ' ।३।२।६१। इति पुंवद्भावः ॥२८॥

वंश्येन पूर्वार्थे ।३।१।२९।

विद्यया जन्मना वा एकसन्तानो वंशः । तत्र भवो वंश्यः । तद्वाचिना नाम्ना सङ्ख्यावाचिसमासोऽव्ययीभावः स्यात् । पूर्वपदस्यार्थे वाच्ये । एकमुनि व्याकरणस्य । सप्तकाशि राज्यस्य । पूर्वार्थइति किम् । द्विमुनिकं व्याकरणम् ॥२९॥

विद्यासम्बन्धस्य जन्मसम्बन्धापेक्षया प्राधान्यं बोधयितुं 'विद्यया' इति प्राथम्येनोपन्यासः, तत्र विद्यया सम्बन्धः उपदेश्योपदेशक-भावलक्षणोऽध्याप्याध्यापकभाव-लक्षणो वा जन्मना च सम्बन्धो जन्यजनकभावलक्षणः । एक एकस्वभावः सन्तानः परम्परेति यावत् । सन्तानिनामेकलक्षणत्वात्संतानोऽप्येक-स्वभावो भवति । एको मुनिर्वंश्यो व्याकरणस्य-एकमुनि व्याकरणस्य । मुनिशब्दो विद्यावंशवाचीति सूचनाय 'वंश्य' इत्युक्तम् आद्यः-कारणपुरुष इत्यर्थः । 'व्याकरणस्य' इति कारणसम्बन्धे षष्ठी,

व्याकरणस्याद्यप्रणेता-मुनिरेक इत्यर्थः । यथा श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासन-व्याकरणस्याद्यप्रवर्तक एक एव हेमचन्द्रप्रभुः, तेनैव वृत्तिन्यासादिकरणात् । द्वाभ्यां मुनिभ्यां त्रयाभ्यां मुनिभ्यां प्रवर्तितत्वात् द्विमुनि व्याकरणस्य त्रिमुनि व्याकरणस्येत्यादि भवति । यदा तु तद्वतामभेदविवक्षा तदा एकमुनि व्याकरणं द्विमुनि व्याकरणमित्यादि सामानाधिकरण्यं भवति । अथ जन्मना वंश्य मुदाहरति-सप्त काशयो वंश्या राज्यस्य-सप्तकाशि राज्यस्य । राज्यस्येति कारणसम्बन्धे षष्ठी । अत्र काशे राज्ञोऽ—पत्यानीति 'कुनादि०' ।६।१।११८। इति ञ्यः तस्य 'बहुष्वस्त्रियाम्' ।६।१।१२४। इति बहुत्वे लुपि 'काशयः इति अपत्यार्थप्रत्ययस्य लोपे सति प्रकृतिमात्रमपत्यार्थवाचि भवति, राज्यस्य जनकाः सप्तकाशिनृपतनया इत्यर्थः । यद्यपि राज्येन सह काशीनां न जन्यजनक भावलक्षणो जन्मसम्बन्धः, न वा विद्यासम्बन्धः, तथापि राज्यस्य प्रतिष्ठापका एव राज्यस्य जनकाः । अभेदविवक्षया सप्तकाशि राज्यमिति । द्विमुनिकं व्याकरणमिति-द्वौ मुनी वंश्यावस्येत्यन्यपदार्थे तु बहुव्रीहिरेव ॥२६॥

पारे-मध्ये-ऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा ।३।१।३०।

एतानि षष्ठ्यन्तेन पूर्वपदार्थे समासोऽव्ययी-भावो वा स्युः । पारेगङ्गम् । मध्येगङ्गम् । अग्रेवणम् । अन्तर्गिरि । पक्षे-गङ्गापारम् । गङ्गामध्यम् । वनाग्रम् । गिर्यन्तः ॥३०॥

पारं गङ्गाया—पारेगङ्गम्, मध्यं गङ्गायाः मध्येगङ्गम् अग्रं वनस्य—अग्रेवणम् । अन्तर्गिरेः—अन्तर्गिरम् 'पारे—मध्येऽग्रे०' इति सूत्रीयनिर्देशसामर्थ्यादिकारान्तता निपात्यते । अग्रेवणमित्यत्र 'निष्प्राग्रे०' ।२।३।६६। इति वनशब्दे नस्य णकारः । अन्तर्गिरमित्यत्र 'गिरि-नदी०' ।७।३।९०। इति विकल्पे—न समासान्तोऽ—त् 'अवर्णवर्णस्य' ।७।४।६८। इतीकारलोपः विकल्पपक्षे त्वन्तर्गिरीति भवति । वावचनात् पक्षे षष्ठीसमासोऽपि भवति-गङ्गायाः पारम्, गङ्गाया मध्यम्, वनस्याग्रम्, गिरेरन्तः इति विग्रहः 'षष्ठ्ययत्नाच्छेषे०' ।३।१।७६। इति सूत्रेण समासः 'प्रथमोक्तं प्राक्'

।३।१।१४८। इति गङ्गादिशब्दस्य प्राग्निपातः। यद्यपि गिरेरन्तः इत्यत्र अन्तः-शब्दस्या-व्ययत्वात् 'तृप्तार्थ०' ।३।१।८५। इति षष्ठीसमासो निषिध्यते, तथाप्यत्रवा-वचनसामर्थ्यात् समासो भवति अन्यथा तदंशे वावचनं व्यर्थमेव स्यादिति ॥३०॥

यावदियत्त्वे ।३।१।३१।

इयत्त्वेऽवाधारणे गम्ये यावदिति नाम नाम्ना पूर्वपदार्थे वाच्ये समासोऽव्ययीभावः स्यात्। यावदमत्रं भोजय। इयत्त्व इति किम्। यावद्दत्तम् तावद्भुक्तम् ॥३१॥

इदं निर्दिश्यमानं मानमस्येति 'इदंकिमो०' ।७।१।१४८। इत्यतुप्रत्यये इयादेशे च इयत् इयतः। परिच्छिन्नपरिमाणस्य भावः इयत्त्वम्। यावन्त्यमत्राणीति यावदमत्रम्। भोजयेति–अतिथीन् भोजयेति तु स्पष्टार्थं ज्ञेयम्। यावन्त्यमत्राणीति निर्ज्ञातपरिमाणेनामत्रादिना तावत इति अतिथि-परिमाणमिहावधार्यते। यावन्ति पञ्च षड् वा भाजनानि तावत एव पञ्च षड् वाऽतिथीन् भोजय नोनाधिकानित्यर्थः। यावद्दत्तं तावद्भुक्तमिति–कियद्दत्तं, कियद् भुक्तमिति नावधारयति ॥३१॥

पर्यपाङ्बहिरच् पञ्चम्या ।३।१।३२।

एतानि पञ्चम्यन्तेन पूर्वपदार्थे वाच्ये समासोऽव्ययीभावः स्यात्। परित्रिगर्त्तम्। अपत्रिगर्त्तम्। आग्रामम्। बहिर्ग्रामम्। प्राग्ग्रामम्। पञ्चम्येति किम्। परिवृक्षं विद्युत् ॥३२॥

परि त्रिगर्तेभ्यः परित्रिगर्तम्, अप त्रिगर्तेभ्यः अपत्रिगर्तम्, आ ग्रामात् आग्रामम्, बहिर्ग्रामात् बहिर्ग्रामम् प्राग् ग्रामात् प्राग्ग्रामम् 'अप-परि' शब्दाविह वर्जनार्थौ 'पर्यपाभ्यां वर्ज्ये' ।२।२।७७। इति पञ्चमी 'त्रिगर्त' इति देशविशेषस्य संज्ञा। वृष्टो मेघः इति योज्यतेतदा त्रिगर्तदेशं वर्जयित्वा मेघो वृष्ट इत्यर्थः। आङ् मर्यादाभिविध्यर्थः यदा मर्यादार्थस्तदा ग्राममवधि

कृत्वा वृष्टो मेघः, अभिविध्यर्थस्तदा-ग्राममभिव्याप्य वृष्टो मेघः ग्रामेऽपि वृष्टः इत्यर्थः। बहिर्ग्राममिति—'प्रभृत्यन्यार्थ०' ।२।२।७५। इति पञ्चमी ग्रामाद्बहिर्वृष्टो मेघ इत्यर्थः। प्राग्ग्राममिति-प्रपूर्वः अञ्चतिः क्विप्, 'अञ्चोऽनर्चायाम्' ।४।२।४६। इति नलोपः 'अञ्चः' ।२।४।३। इति ङीः 'अच्च्प्राग्दीर्घश्च' ।२।१।१०४। इति 'च्' इत्यादेशे प्राची पूर्वा दिगित्यर्थः, प्राच्यां दिशि 'दिक्शब्दात्०' ।७।२।११३। इति धाप्रत्ययः, प्राच्यामदूरायां दिशीति वा 'अदूरे एनः' ।७।२।१२२। इति एनप्रत्ययः तयोश्च 'लुब०' ।७।२।१२३। इति लोपः तल्लुपि च 'ङ्यादेर्गौणस्या०' २।४।९५। इति ङी-लोपे 'प्राच्' इति। तस्य' अधणतस्वाद्याः०' ।१।१।३२। इत्यव्ययत्वम्। ततः प्रथमासिः तस्य 'अव्ययस्य' ।३।२।७। इति लोपः तदनु 'चजः कगम्' ।२।१।८६। इति चस्य कत्वे 'धुटस्तृतीयः' ।२।१।७६। इति कस्य गत्वे च प्राग्' इति दिक्शब्दत्वात् तद्योगे 'प्रभृत्यन्यार्थ०' ।२।२।७५। इति पञ्चमी ग्रामतः पूर्वस्यां दिशि अदूरायां पूर्वस्यां दिशि वा वृष्टो मेघ इत्यर्थः। पर्यादिसाहचर्यात् अञ्चतिः धनलुबन्तोऽव्ययं गृह्यते तेन प्राङ् ग्रामात् चैत्र इत्यत्र न भवति। अत्र तु प्रकर्षेणाञ्चति गच्छतीति प्राङ्। नायमव्ययम्, 'पञ्चम्य०' ।२।२।६९। इति पञ्चमी, ग्रामापादानकगमनवान् चैत्र इति च बोधः। परि वृक्षमिति—परिवृक्षं विद्योतते विद्युदिति—'भागिनि च०' ।२।२।३७। इति द्वितीया, वृक्षो लक्षणं विद्योतमाना विद्युल्लक्ष्यम् अनयोश्च लक्ष्यलक्षणभा—वसम्बन्धः परिणा द्योत्यते वृक्षं लक्षीकृत्य विद्योतते विद्युदित्यर्थः ॥३२॥

लक्षणेनाभिप्रत्याभिमुख्ये ।३।१।३३।

लक्षणं चिह्नम्। तद्वाचिनाऽऽभिमुख्यार्थावभिप्रती पूर्वपदार्थेऽर्थे समासोऽव्ययीभावः स्यात्। अभ्यग्नि। प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति। लक्षणेनेति किम्। स्रुघ्नं प्रतिगतः। पूर्वपदार्थइत्येव। अभ्यङ्का गावः ॥३३॥

अभि अग्नि अभ्यग्नि, प्रति अग्नि प्रत्यग्नि। अग्नि लक्षीकृत्याभिमुखं पतन्तीत्यर्थः। स्रुघ्नं प्रति गत इति–प्रतिनिवृत्य पुनः स्रुघ्नमेवाभि-

मुखं गत इत्यर्थः । पूर्वं स्रुघ्नं परित्यज्यान्यत्र गतः पुनरपि स्रुघ्नं प्रत्येवाभिमूखीभूय दिङ्मोहादिना परावृत्त इति नात्र स्रुघ्नं लक्षणं यदुद्दिश्य हि गच्छति तल्लक्षणं भवति अत्र तु दिङ्मोहादेवेत्थं गतः गतक्रियापेक्षया न स्रुघ्नस्य कर्मत्वम् । अभिमुखोऽङ्को यासां ताः अभ्यङ्का गावः ॥३३॥

दैर्घ्येऽनु ।२।१।३४।

दैर्घ्ये आयामविषये यल्लक्षणं तद्वाचिना पूर्वपदार्थेऽनुः समासोऽव्ययीभावः स्यात् । अनुगङ्गं वाणारसी । दैर्घ्यइति किम् । वृक्षमनु विद्युत् ॥३४॥

वैषयिकाधिकरणे सप्तमीत्याह–आयामविषय इति विषयत्वं च द्योत्यद्योतकभाव-रूप-सम्बन्धः । अनुगङ्गा दीर्घा-अनुगङ्गं वाराणसी । गङ्गाया लक्षणभूताया आयामेन वाराणस्या आयामो लक्ष्यते । यथा गङ्गा दीर्घा स्थिता तथा वाराणसी दीर्घा स्थितेति लक्ष्यते इति गङ्गा वाराणसीदैर्घ्यस्य लक्षणं भवति । प्रसिद्धं लक्षणं भवति दीर्घत्वेन गङ्गा प्रसिद्धा तदनुगमनाद् वाराणस्या दीर्घत्वमपि तत्सदृशं लक्ष्यते गङ्गादैर्घ्यसदृशोपलक्षिता वाराणसीति प्रयोगार्थः । वृक्षमनु विद्युदिति-वृक्षमनु विद्योतते विद्युत् इति ज्ञेयम् । वृक्षो विद्योतनस्य लक्षणत्वेन विवक्ष्यते न दैर्घ्यस्येति समासो न भवति ॥३४॥

समीपे ।२।१।३५।

समीपार्थेऽनुः समीपिवाचिनाम्ना पूर्वपदार्थे समासोऽव्ययीभावः स्यात् । अनुवनमशनिर्गता ॥३५॥

समीपिवाचिनाम्नेति—समीपं नाम कस्यचित्समीपिनो भवति, नहि विना समीपिना समीपं भवति, यथा पुत्रः पिता सम्बन्धित्वात् तत्र प्रत्यासत्त्या यस्य तत् समीपं तद्वाचिना नाम्ना समस्यते इत्यर्थः । संगता आपो यत्रेति 'द्व्यन्तर०' ।३।२।१०६। इत्यप ईपादेशे 'समीप' इति वर्णानुपूर्वीज्ञानार्थं

व्युत्पादनेऽप्यव्युत्पन्नः (प्रकृतिप्रत्ययार्थानुगतिशून्यः सन्निकृष्टार्थवाचीह समीपशब्दः ।) अनु वनस्य-अनुवनमशनिर्गता । वनस्य समीपे वज्रं गतमिति वाक्यार्थः अनोरव्ययत्वात् । 'विभक्ति-समीप०' ।३।१।३६। इत्यादिनैव समासे सिद्धे विकल्पार्थं वचनम् तेन वाक्यमपि भवति पृथग्वचनं लक्षणेनेत्यस्य निवृत्त्यर्थम् तेन लक्ष्यलक्षणभावाभावेऽपि समासो भवति तदनुवृत्तौ च तत्रैव स्यादिति । केचित्तु-प्रकृतसूत्रेऽपि 'लक्षणेन' इत्यस्य सम्बन्धं स्वीकुर्वते यदाहु-अनुशब्दः समीप-समीपिनोर्लक्ष्यलक्षणभावद्योतकः तथाहि वनसामीप्यगताया अशनेर्वनं लक्षणमिति । सूत्रभेदश्च स्पष्टप्रतिपत्तये इति तदाशयः ॥३५॥

तिष्ठद्गवित्यादयः ।२।१।३६।

एते समासा अव्ययीभावाः स्युः । यथायोगमन्यस्य पूर्वस्य वा पदस्यार्थे । तिष्ठद्गु कालः । अधोनाभं हतः ॥३६॥

तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले गर्भग्रहणाय दोहाय वाहाय वत्सेभ्यो निवासाय जलपानार्थं वा स कालस्तिष्ठद्गु । अयमन्यपदार्थे काले नाभेरधः अधोनाभम् निपातनादत् समासान्तः । पूर्वपदार्थ-प्रधानोऽयम् 'तिष्ठद्गवितिइत्यत्रेतिशब्दः स्वरूपपरिग्रहार्थः तेनेह समासान्तरं न भवति-परमं तिष्ठद्गु, तिष्ठद्गु प्रियमस्येति वाक्यमेव भवति । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥३६॥

नित्यं प्रतिनाऽल्पे ।३।१।३७।

अल्पार्थेन प्रतिना नाम नित्यं समासोऽव्ययीभावः स्यात् । शाकप्रति । अल्पइति किम् । वृक्षं प्रतिविद्युत् ॥३७॥

शाकस्याल्पत्वं शाकप्रति । वृक्षं प्रति विद्युदिति-वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युदिति ज्ञेयम्, नात्र प्रतिशब्दोऽल्पार्थे अपि तु लक्षणे इति समासो न भवति । नित्यग्रहणं वाक्यनिवृत्त्यर्थम् तेनान्यत्र समासो वाक्यं च भवति ।

अर्थात् अत्रास्त्र-पदविग्रहः शब्दान्तरेणैवार्थप्रदर्शनमन्यत्र तु समासभाजां पदानां समासोवाक्यं चेति ॥३७॥

सङ्ख्याऽक्षशलाकं परिणा द्यूतेऽन्यथावृत्तौ ।३।१।३८।

सङ्ख्यावाच्यक्षशलाके च द्यूतविषयायामन्यथावृत्तौ वर्त्तमानेन परिणा सह नित्यं समासोऽव्ययीभावः स्यात् । एकपरि । अक्षपरि । शलाकापरि । एकेनाक्षेण शलाकया वा न तथावृत्तं यथा-पूर्वं जयइत्यर्थः । सङ्ख्यादीति किम् । पाशकेन न तथावृत्तम् । द्यूतइति किम् । रथस्याक्षेण न तथावृत्तम् ॥३८॥

पञ्चिका नाम द्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति तत्र यदा सर्वे उत्ताना अवाञ्चो वा पतन्ति तदा पातयितुर्जयः यदा तु पञ्चाप्येकरूपा न पतन्ति तदा पातयितुः पराजयः । एकेनेत्यादि-पञ्चाक्षद्यूते चत्वारोऽक्षा ऊर्ध्वमुखाः पतिताः एकोऽधोमुखः अथवा चत्वारोऽक्षा अधोमुखाः एक ऊर्ध्वमुखः पतितस्तदा 'एकपरि' इत्युच्यते इति भावः । वर्तने चैषां कर्तृत्वात् तृतीयान्तत्वम् अक्ष-शलाकयोस्त्वेकवचनान्तयोरेवेष्यते । एवं द्वाभ्याम् अक्षाभ्यां शलाकाभ्यां वा न तथा वृत्तमित्याद्यर्थे एवं त्रिभिः अक्षैःशलाकाभिः न तथा-वृत्तमित्याद्यर्थे च द्विपरि त्रिपरि चतुष्परीति भवति । पञ्चसु त्वेकरूपेषु जय एव भवति । अयमपि नित्यसमासः अतोऽस्वपदविग्रहः परिपदस्याप्रयोगात्। अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वं जय, अत्रएकवचनान्त एवं । अक्षाभ्यामक्षैरित्यादिवाक्ये न भवति शलाकापरि ॥३८॥

विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्धयर्थाभावात्ययाऽसंप्रतिपश्चात्क्रमख्यातियुगपत्सदृक्सम्पत्साकल्यान्तेऽव्ययम् ।३।१।३९।

एतत्वर्थेषु वर्त्तमानमव्ययं नाम्ना सह पूर्वपदार्थे वाच्ये नित्यं समासोऽव्ययीभावः स्यात् । विभक्ति-विभक्त्यर्थः कारकम् ।

अधिस्त्रि । समीपम् - उपकुम्भम् । समृद्धिः - सुमद्रम् - विगता ऋद्धिर्व्यृद्धिः - दुर्यवनम् । अर्थाभावः - निर्मक्षिकम् । अत्ययोऽतीतत्वम् - अतिवर्षम् । असम्प्रतीति सम्प्रत्युपभोगाद्यभावः - अतिकम्बलम् । पश्चात् - अनुरथम् । क्रमः - अनुज्येष्ठम् । ख्यातिः - इतिभद्रबाहुः । युगपत् - सचक्रं धेहि । सदृक् - सव्रतम् । सम्पत् - सब्रह्म साधूनाम् । साकल्यम् - सतृणमभ्यवहरति । अन्तः सपिण्डैषणमधीते ।।३९।।

अधिस्त्रीति निधेहि अत्र स्पष्टार्थं ज्ञेयम् । स्त्रीषु निधेहीत्यर्थः । 'स्त्रीषु' इति लौकिकं विग्रहवाक्यम् अलौकिकं तु 'अधि+सि, स्त्री+सुप्' इति अथवा अधि+जस् स्त्री+जस्, इति। अत्राधिः सप्तम्यर्थो वर्तमानमव्ययं स्त्रीशब्देन प्रथमान्तेन सप्तम्यन्तेन वा समस्यते अधिनैवाधिकरणार्थो गतः न तत्र सप्तम्या अभिधेयमस्तीति प्रतिपत्तौ 'नाम्नः प्रथमे०' ।२।३।३१ इति प्रथमा भवति पदान्तराभिहितमेवार्थमधि - शब्दो द्योतयतीति प्रतिपत्तौ सप्तमी । नित्यसमासत्वात् सप्तम्या गतार्थत्वाच्च लौकिके विग्रहवाक्येऽधिशब्दप्रयोगो न भवति। कुम्भस्य समीपमुपकुम्भम्। ऋद्धेराधिक्यं समृद्धिः। मद्राणांसमृद्धिःसुमद्रम्। विगता ऋद्धिर्व्यृद्धिःऋद्ध्यभावःइत्यर्थः । दुर्यवनम्-यवनानां ऋद्ध्यभाव इत्यर्थः। अर्थाभावः-धर्मिणोऽसत्वम् । निर्मक्षिकं मक्षिकाणामभाव इत्यर्थः। अत्ययोऽतीतत्वम् ध्वंसत्त्वमित्यर्थः-अतिवर्षं वर्षाणामतीतत्वमित्यर्थ । असम्प्रतीति–वर्तमानकाले उपभोगादेः प्रतिषेधः-अतिकम्बलं कम्बलस्योपभोगं प्रति नायं काल इत्यर्थः । अनुरथम्–रथस्य पश्चादित्यर्थः । क्रमः–आनुपूर्व्यम् –अनुज्येष्ठम्–प्रविशतु–ज्येष्ठानुक्रमेणेत्यर्थः। ख्यातिः शब्दप्रथा-इति-भद्रबाहु-भद्रबाहुशब्दो लोके प्रकाशत इत्यर्थः। युगपदेककालार्थः-सचक्रं धेहि, चक्रेण सहैककालं चक्राणि वा युगपद्धेहीत्यर्थः । युगपदर्थे सहेत्यव्ययम् 'अकालेऽव्ययीभावे' ।३।१।१४६। इति सहस्य सभावः । सव्रतम्–व्रतस्य सदृशमित्यर्थः। अकालेऽव्ययीभावे'।३।२।१४६। इत्यव्ययीभावे सहस्य सभावः । संपत् सिद्धिः सब्रह्मसाधूनां संपन्नं ब्रह्मेत्यर्थः । साकल्यमशेषता सतृणमभ्यवहरति न किञ्चित्त्यजतीत्यर्थः । सहशब्दोऽपरित्यागे वर्तते यावत् पात्रे परिविष्टं तत्र तृणमात्रमपि नावशेषितम् । सर्वमपि भुक्तमिति भावः । अन्तः-समाप्तिः-सपिण्डैषणमधीते पिण्डैषणापर्यन्तमधीत इत्यर्थः । अत्र समाप्तिरसकलेऽप्यध्ययने प्रतीयते इति

साकल्येऽनन्तर्भावः । पिण्डो भक्तमिष्यते अन्विष्यते कल्प्याकल्यविभागेन विचार्यतेऽस्मिन्निति 'इषोऽनिच्छायाम्' ।५।२।११२। इत्यने पिण्डैषणा दशवैकालिकग्रन्थे पिण्डैषणानामकं पञ्चममध्ययनमस्ति ॥३९॥

योग्यतावीप्सार्थानतिवृत्तिसादृश्ये ।३।१।४०।

एष्वर्थेष्वऽव्ययं नाम्ना सह पूर्वपदार्थे समासोऽव्ययीभावः स्यात् । अनुरुपम् । प्रत्यर्थम् । यथाशक्ति । सशीलमनयोः ॥४०॥

योग्यतायाम्-अनुरूपम् चेष्टते योग्यां चेष्टां कुरुते इत्यर्थः।वीप्सायाम्-प्रत्यर्थं शब्दाः अभिनिविशन्ते अर्थमर्थं प्रतीत्यर्थशब्दात्वीप्सायां द्वितीयाया विधानात्वाक्यमपि भवति अर्थमर्थं प्रतीति 'भागिनि च०'।२।२।३७।इति वीप्स्ये प्रतिना योगे द्वितीया विधीयते। यदि वीप्सायामिह नित्य एव समासःस्यात् तदा तद्विधानमनर्थकं स्यात् समासे द्वितीयस्यामन्यस्यां वा विभक्तौ नास्ति कश्चिद्विशेषः वाक्ये त्वस्ति,अतस्तद्द्वितीयाविधानसामर्थ्यादिदं वाक्यमपि भवति । अर्थानतिवृत्तिः पदार्थानतिक्रमः–यथाशक्ति- शक्तेरनतिक्रमेण । सशीलमनयोः शीलस्य सादृशमित्यर्थः । सदृगित्यनेनैव सिद्धे सादृश्यग्रहणं मुख्यसादृश्यपरिग्रहार्थम् ॥४०॥

यथाऽथा ।३।१।४१।

थाप्रत्ययवर्जं यथेत्यव्ययं नाम्ना सह पूर्वपदार्थे समासोऽव्ययीभावः स्यात् । यथारूपं चेष्टते । यथावृद्धमर्चय । यथासूत्रम् । अथेति किम् । यथा चैत्रस्तथाः मैत्रः ॥४१॥

थाप्रत्ययवर्जंयथेत्यव्युत्पन्नमव्ययं यथारूपं चेष्ठते-रूपानुरुपमित्यर्थः।यथावृद्धमर्चयं—ये ये वृद्धास्तानित्यर्थः । यथासूत्रमनुतिष्ठति—सूत्राक्तार्थमनक्रम्येतिभावः।यथा चैत्र स्तथा मैत्र इति-येन प्रकारणे शौर्यादिना मैत्रस्तथा तेनैव शौर्यादिना प्रकारेण मैत्र इत्यर्थः येन प्रकारेणेति यच्छब्दात् 'प्रकारे था'।७।२।१०२।इति थाप्रत्ययः। पूर्वेणैव सिद्धे साहश्ये प्रतिषेधार्थं वचनम्।४१।

गति-क्वन्यस्तत्पुरुषः ।३।१।४२।

गतयः कुश्च नाम्ना सह नित्यं समासस्तत्पुरुषः स्यात् । अन्यो बहुव्रीह्यादिलक्षणहीनः । ऊरीकृत्य । खाट्कृत्य । प्रकृत्य । कारिकाकृत्य । कुब्राह्मणः । कोष्ठम् । अन्यइति किम् । कुपुरुषः ।४२।

'कु' इत्यव्ययं पापाऽल्पयोर्वर्तते । ऊरीकृत्येत्यत्रोर्यादिगणपठितत्वात् 'खाट्कृत्य' इत्यनुकरणत्वात् प्रकृत्येत्यत्र चोपसर्गत्वात् 'ऊर्यादिनु०' ।३।१।२। इति गति-संज्ञा कारिकाकृत्येत्यत्र तु 'कारिका स्थित्यादौ' ।३।१।३। इति गतिसञ्ज्ञकत्वादनेन तत्पुरुषः। गतिसंज्ञं चाव्ययं भवति,अत एव अव्ययपूर्वपदभावात् 'अनञः क्त्वो यप्' ।३।२।१५४। इत्यनेन यबादेशोऽपि भवति । कुत्सितो ब्राह्मणः कुब्राह्मणः ईषदुष्णं कोष्ठं 'काकवौ वोष्णे' ।३।१३७। इति काऽदेशः कवादेशे तु कवोष्णम् एवं विकल्पपक्षे'कोःकत् तत्पुरुषे'।३।२।१३०। इति कदादेशे कदुष्णमित्यपि भवति । कुत्सिताः पुरुषाः यस्य स कुपुरुषकः अत्र बहुव्रीहित्वात् कच् भवति ।।४२।।

दुर्निन्दाकृच्छ्रे ।३।१।४३।

दुरव्ययं निन्दाकृच्छ्रवृत्ति नाम्ना सह नित्यं समासस्तत्पुरुषः स्यात् । दुष्पुरुषः । दुष्कृतम् । अन्यइति किम् । दुष्पुरुषकः ।।४३।।

निन्दितः पुरुषः दुष्पुरुषः । कृच्छ्रेण कृतं दुष्कृतम् । 'निदुर्ब०' ।२।३।६। इति षत्वम् । निन्दिताः पुरुषाः यस्य स दुष्पुरुषकः, अत्रापि बहुव्रीहित्वात् कच् भवति ।।४३।।

सुः पूजायाम् ।३।१।४४।

स्वित्यव्ययं पूजार्थं नाम्ना सह नित्यं समासस्तत्पुरुष स्यात् । सुराजा । अन्यइति किम् । सुमद्रम् ।।४४।।

शोभनो राजा सुराजा 'राजन्सखेः' ।७।३।१०६। इति प्राप्तोऽपि समासान्तः 'पूजास्वते॰' ।७।३।७२। इति निषिध्यते । मद्राणां समृद्धिः-सुमद्रम् अत्र 'विभक्तिसमीप॰' ।३।१।३९। इत्यव्ययीभावात् 'अमव्ययी॰' ।३।२।२। इति पञ्चमीवर्जस्यादेरमादेशो भवति ॥४४॥

अतिरतिक्रमे च ।३।१।४५।

अतिक्रमे पूजायां चार्थे अतीत्यव्ययं नाम्ना सह नित्यं समासस्तत्पुरुषः स्यात् । अतिस्तुत्य । अतिराजा ॥४५॥

अतिस्तुत्येति-अतिक्रमेण स्तवनं कृत्वेत्यर्थं अत्र समासत्वात् क्त्वाया यबादेश। अत्रातिक्रमार्थत्वेनातेरुपसर्गसंज्ञाविरहात् 'उपसर्गात्॰' ।२।३।३९। इति षत्वं न भवति । पूजायाम्-शोभनो राजा-अतिराजा, 'राजन्सखेः' ।७।३।१०६। इति प्राप्तोऽपि समासान्तः 'पूजास्वतेः॰' ।७।३।७२। इति निषिध्यते । ॥४५॥

आङल्पे ३।१।४६।

आङित्यव्ययमल्पार्थं नाम्ना सह समासस्तत्पुरुषः स्यात् । आकडारः ॥४६॥

ईषत् कडारः आकडारः । कडारशब्दः पिङ्गलवर्णे तद्वति च ॥४५॥

प्रात्यवपरिनिरादयो गतक्रान्तक्रुष्टग्लानक्रान्ताद्यर्थाः प्रथमाद्यन्तैः ।३।१।४७।

प्रादयो गताद्यर्थाः प्रथमान्तैरत्यादयः क्रान्ताद्यर्था द्वितीयान्तै- रवादयः क्रुष्टाद्यर्थास्तृतीयान्तैः पर्यादयो ग्लानाद्यर्थाश्चतुर्थ्यन्तै-

निरादयः क्रान्ताद्यर्थाः पञ्चम्यन्तैर्नित्यं समासस्तत्पुरुषः स्युः । प्राचार्यः । समर्थः । अतिखट्वः । उद्वेलः । अवकोकिलः । परिवीरुत् । पर्यध्ययनः । उत्सङ्ग्रामः । निष्कौशाम्बिः । अपशाखः बाहुलकात् षष्ठ्याऽपि । अन्तर्गार्ग्यः । गताद्यर्थाइति किम् । वृक्षम्परि विद्युत् । अन्यइत्येव । प्राचार्यको देशः ॥४७॥

'प्रात्यवपरिनिरादयः' इति द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः, 'गत-क्रान्त-क्रुष्ट-ग्लान-क्रान्ताद्यर्थाः इति च द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिगर्भबहुव्रीहिः, 'प्रथमाद्यन्तैः' इत्यत्रा दिपदेन द्वितीया–तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी-विभक्तीनां संग्रहो बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिश्च। 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति न्यायेनादिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धः उभयत्र च 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इति न्यायेन क्रमेणान्वयः । प्रादीनां गताद्यर्थेषु वर्तमानत्वं परस्परार्थान्तर्भावेण, तथाहि–यथा 'उपास्यते गुरुः' इत्यादावुपसर्गार्थान्तर्भावेण धातूनां सकर्मकत्वादिकं जायते, तथा प्रादीनामपि, क्तादिप्रत्ययविशिष्टधात्वर्थावगमकत्वेन तदर्थे वृत्तिरिति गतादिषु गम्यादिक्रिया–विशिष्ट-साधनेषु वृत्तिर्वृत्तिविषये विज्ञायते इत्याहुः । प्रगतः आचार्यः प्राचार्यः । प्रगतत्वं चाचार्यस्य स्वविषयपारगामित्वम् । संगतोऽर्थः समर्थः, अतिक्रान्त खट्वाम्-अतिखट्वः । खट्वाकर्मका-तिक्रमण-कर्तेत्यर्थः उद्गतो वेलाम्-उद्वेलः उल्लङ्घितटट इत्यर्थः 'गोश्चान्ते०' ।२।४।८६। इतीह पूर्वत्र च ह्रस्वत्वं ज्ञेयम्-अवकुष्टः कोकिलया-अवकोकिलः कोकिलया आहूत इत्यर्थः । परिणद्धो विरुद्भिः, परिविरुत् । परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः गुरुकुलवासपरिचर्यादिव्यासङ्गादध्ययनार्थं ग्लान इत्यर्थः । उद्युक्तः संग्रामाय-उत्संग्रामः । निष्कान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः । अपगतः शाखायाः अपशाखः अन्तर्गतो गार्ग्यस्य अन्तर्गार्ग्यः । प्रगता आचार्या यस्मिन् स प्राचार्यको देशः 'उष्टमुखादयः' ।३।१।२३। इति समासः बहुव्रीहित्वात् च कच् समासान्तो भवति । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । तथा चोक्तातिरिक्तानामपि प्रादीनां गतादीनां विभक्तीनां न संग्रह इति भावः ॥४७॥

अव्ययं प्रवृद्धादिभिः ३।१।४८।

अव्ययं प्रवृद्धादिभिस्सह नित्यं समासस्तत्पुरुषः स्यात् । पुनः-प्रवृद्धम् । अन्तर्भूतः ॥४८॥

पुनः प्रवृद्धमिति-बर्हिरिति विशेष्य ज्ञेयम् नित्यसमासोऽयम् अर्थदर्शनाय च पुनर्वर्धते स्म,इति विग्रहः कार्यः बर्हि कुशः छिन्नोऽपि यः पुनर्वर्धत इत्यर्थः। 'कालवाचकात् पुनः-शब्दात् 'कालाध्वनो०' ।२।२।४२। इति विकल्पेन द्वितीया सप्तमी वा। अन्तर्भूत इति–अन्तर्भवति स्मेति विग्रहः। बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥८४॥

ङस्युक्तं कृता ।३।१।४९।

कृत्प्रत्ययविधायके सूत्रे ङस्यन्त-नाम्नोक्तं कृदन्तेन नाम्ना नित्यं समासस्तत्पुरुषः स्यात् । कुम्भकारः । ङस्युक्तमिति किम् । अलङ्कृत्वा । कृतेति किम् । धर्मो वो रक्षतु ॥४९॥

ङस्यन्तनाम्नोक्तमिति–पञ्चम्यन्तनाम्नोक्तमित्यर्थः। कुम्भकार इति 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। इत्यण्। अलङ्कृत्वेति-'निषेधेऽलंखल्वोः क्त्वा' ।५।४।४४ इति, नाऽत्र सूत्रेऽलंशब्दः पञ्चम्यन्तोऽपितु सप्तम्यन्त इति न भवति। धर्मो वो रक्षत्विति-अत्र 'पदाद्युग्वि०' ।२।१।२१। इति वसादेशः 'पदादिति ङस्युक्तत्वेऽपि युष्मदः कृदन्तत्वाभावान्न समासः ॥४९॥

तृतीयोक्तं वा ।३।१।५०।

दंशेस्तृतीययेत्यतो यत्तृतीयोक्तं नाम तत्कृदन्तेन वा समासस्तत्पुरुषः स्यात् । मूलकोपदंशम् । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते ॥५०॥

वाशब्दो नित्यसमासनिवृत्त्यर्थः तेनोत्तरेषु वाक्यमपि भवति यद्वा पृथक्सूत्रकरणादेव नित्यत्वनिवृत्तौ वा-शब्दो नित्यसमासाधिकारनिवृत्त्यर्थः ॥५०॥

नञ् ।३।१।५१।

नञ् नाम नाम्ना समासस्तत्पुरुषः स्यात् । अगौः । न सूर्यं पश्य-न्ति असूर्यम्पश्या राजदाराः ॥५१॥

न गौः अगौः 'गोस्तत्पुरुषात्' ।७।१।१०५। इति प्राप्तोऽपि समासान्तः 'नञ्तत्पुरुषात्' ।७।३।७१। इति प्रतिषिध्यते, नञः 'नञ्त्' ।३।२।१२५। इत्यदादेशः । अत्र पर्युदासो नञर्थः, पर्युदासस्तु सदृशबोधकः तेन गोसदृश इत्यर्थः । तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् सादृश्यम् । प्रसज्यप्रतिषेधे त्वसामर्थ्येऽपि 'किंहिवचनान्न भवति' इति न्यायात् समासः 'असूर्यो-ग्राद्दृशः' ।५।१।१२६। इति 'श्नौति०' ।४।२।१०८। इति दृशेः पश्यादेशः 'खित्यनव्ययां०' ।३।२।१११। इति पूर्वस्य मागमः । परपुरुषदर्शनाभाव एव तात्पर्यं तेन सत्यपि सूर्यदर्शने प्रयोगो न विरुध्यते ॥५१॥

पूर्वापराधरोत्तरमभिन्नेनांशिना ।३।१।५२।

पूर्वादयोंऽशार्था अंशवद्वाचिना समासस्तत्पुरुषः स्यात् । नचे-त्सोंऽशी भिन्नः । पूर्वकायः । अपरकायः । उत्तरकायः । अधर-कायः । अभिन्नेनेति किम् । पूर्वं छात्राणामामन्त्रयस्व । अंशिनेति किम् । पूर्वो नाभेः कायस्य ॥५२॥

अंशोऽवयवः—स्तद्वानंशी अवयवी अवयवसमुदायवानिति यावत् । पूर्वं कायस्य—पूर्वकायः एवम् अपरकाय इत्यादि । पूर्वादिशब्दस्य दिशि दृष्टत्वे-प्यत्रावयव-वाचित्वात्तद्योगे 'प्रभृत्यन्यार्थ०' ।२।२।७५। इति न पञ्चमी । पूर्वं छात्राणामिति-अत्र छात्रशब्दः छात्र-समुदायपरः बहुवचनं तुद्भूताव-यवभेदसमुदायविवक्षया बहुवचनाद्भेदः प्रतीयत इति समासो न भवति अंशी यत्रैकत्वसङ्ख्यविशिष्टस्तत्रैवा-भेदप्रतीतिः । पूर्वो नाभेः कायस्येति-नाभेर्यः पूर्वो भागः स कायस्यावयव इत्यर्थः । नाभेरिति पञ्चमी, नाभिः पूर्वभागस्यावधिर्न त्वंशीति नाम्ना न समासः, कायेन तु स्यादेव पूर्वकायो नाभेरिति पूर्वशब्दस्य नित्यसापेक्षत्वात् प्रधानत्वाच्च ॥५२॥

सायाह्नादयः ।३।१।५३।

एतेऽशितत्पुरुषाः साधवः स्युः । सायाह्नः । मध्यन्दिनम् ।।५३।।

सायमह्नः सायाह्नः सायंशब्दः मान्तोऽव्ययम् तदेतत्सूत्रनिर्देशबलादेव मकारलोपः यदा तु सायशब्दोऽकारान्तोऽ-नव्ययम् तदा तु निसर्गतो मकारो नास्ति 'सर्वांशसङ्ख्या०' ।७।४।११८। इत्यट् समासान्तः अह्नादेशश्च । सायं दिनावसानम् । ननु सायशब्दस्य वा दिनान्तवाचकत्वे तेन सहाह्नः कथं सामर्थ्यमिति चेत् उच्यते सायंशब्दस्य दिनान्तवाचकत्वेऽपि 'विशिष्टवाचकपदस्य सति विशेषणवाचकपदसमभिव्याहारे विशेष्यमात्रपरत्वमिति सिद्धान्तात् सायशब्दस्य वाऽन्तमात्रवाचकत्वमिति अह्ना सह सामर्थ्योपपत्तिः । मध्यं दिनस्य-मध्यंन्दिनम् 'लोकम्पृण-मध्यंदिन०' ।३।२।११३। इति निपातनात् पूर्वपदस्य मान्तत्वम् । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । 'पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः' इति-वत् समुदायवाचिनामंशेऽपि प्रवृत्ति-दर्शनात् सामाना-धिकरण्ये सति कर्मधारयेणैव सिद्धम् पूर्वश्चासौ कायश्च पूर्वकायः, सायं च तदहश्च सायाह्नः इति तत्पुरुषविधानं त्विह पूर्वत्र चाह्नः सायं कायस्य पूर्वमिति षष्ठी-समासबाधनार्थम् ।।५३।।

समेंऽशेऽर्द्धं नवा ।३।१।५४।

समांशार्थमर्द्धमंशिना अ-भिन्नेन वा समासस्तत्पुरुषः स्यात् । अर्द्धपिप्पली । पिप्पल्यर्द्धम् । समेंऽशइति किम् । ग्रामार्द्धः ।।५४।।

अर्धं पिप्पल्याः-अर्धपिप्पली पक्षे पिप्पल्यर्द्धम् । अर्धं च सा पिप्पली चेति कर्मधारयेणैव सिद्धे भेदविवक्षायां पक्षे षष्ठीसमासबाधनार्थम्-समांशे चार्धश्चासौ ग्रामश्चेति कर्मधा-रयनिषेधार्थं वचनम् । समेंशे वर्तमानोऽर्धशब्दो नपुंसकः, असमांशे तु पुंलिङ्गः ।।५४।।

जरत्यादिभिः ।३।१।५५।

एभिरंशिभिरभिन्नैरर्द्धो वा समासस्तत्पुरुषः स्यात् । अर्द्धजरती । जरत्यर्द्धः । अर्द्धोक्तम् । उक्तार्द्धः ॥५५॥

असमांशार्थ आरम्भः । अर्धो जरत्या–अर्धजरती, पक्षे जरत्यर्धः, उक्तस्यार्धः अर्धोक्तं पक्षे उक्तार्धः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । पूर्ववत् इदमपि षष्ठी-समासबाधनार्थम् ॥५५॥

द्वित्रिचतुष्पूरणाग्रादयः ।३।१।५६।

पूरणप्रत्ययान्ता द्वित्रिचत्वारोऽग्रादयश्चाभिन्नेनांशिना वा समासस्तत्पुरुषः स्यात् । द्वितीयभिक्षा । भिक्षाद्वितीयम् । तृतीयभिक्षा । भिक्षातृतीयम् । तुर्यभिक्षा । भिक्षातुर्यम् । अग्रहस्तः । हस्ताग्रम् । तलपादः । पादतलम् ॥५६॥

द्वितीयं भिक्षायाः–द्वितीयभिक्षा एवं तृतीयभिक्षा एवं तृतीयभिक्षेत्यादि 'येयौ च लुक् च' ।७।१।१६४। इति तुर्यम् । अग्रं हस्तस्य–अग्रहस्तः एवं तलपादः पक्षे भिक्षाद्वितीयमित्यादि । नित्याधिकाराभावादेव पक्षे वाक्यस्य सिद्धत्वेऽपि वाऽनुवृत्तिः पक्षे षष्ठीसमासार्थम् तेन पूरणेन 'तृप्तार्थ०' ।३।१।८५। इति निषिद्धोऽपि षष्ठीसमासो भवति । अग्रादिराकृतिगणः ॥५६॥

कालो द्विगौ च मेयैः ।३।१।५७।

कालवाच्येकवचनान्तं द्विगौ च विषये मेयवाचिना समासस्तत्पुरुषः स्यात् । मासजातः । द्विगौ एकमासजातः, द्व्यहसुप्तः । कालइति किम् । द्रोणो धान्यस्य ॥५७॥

अंशांशिनिवृत्तौ तत्सम्बद्धं वेति निवृत्तम् । काल इत्येकवचनं द्विगोरन्यत्र प्रयोजकम्, तेन मासौ मासा वा जातस्येत्यत्र न भवति द्विगौ तु द्वौ त्रयो वा मासा जातस्य द्विमासजातः, त्रिमासजात इत्यपि भवति द्विगुग्रहणं त्रिपदसमासार्थम्, अन्यथा नाम नाम्नेत्यनुवृत्तेर्द्वयोरेव स्यात् । मासो जातस्य मासजातः एको मासो जातस्य एकमासजातः द्वे अहनी सुप्तस्य द्व्यह्नसुप्तः । अयमपि षष्ठीसमासा-पवादो-योगः ॥५७॥

स्वयंसामी क्तेन ।३।१।५८।

एते अव्यये क्तान्तेन सहैकार्थ्ये समासस्तत्पुरुषः स्याताम् । स्वयंधौतम् । सामिकृतम् । क्तेनेति किम् । स्वयंकृत्वा ॥५८॥

स्वयं धौतम्-स्वयंधौतम् । सामि कृतम्-सामिकृतम् । सामिशब्दोऽर्धपर्यायः । समासे सत्यैकपद्यादेक-विभक्तिस्तद्धिताद्युत्पत्तिश्च भवति, यथा स्वयंधौत-स्यापत्यमिति 'अत इञ्' ।६।१।३१। इति समुदायादेवेञि स्वायंधौतिः । सामिकृतस्यापत्यम् 'अवृद्धाद्दोर्नवा' ।६।१।११०। इति विकल्पेनायनिञि सामिकृतायनिः पक्षे 'अत इञ्' ।६।१।३। इतीञि सामिकृतिः । एवं समासत्वात् नित्यं सन्धिर्विरामा-भावोऽपि । यदुक्तं—'संहितैकपदे नित्या' वर्णानां परस्परं सन्निकर्षः संहिता ॥५८॥

द्वितीया खट्वा क्षेपे ।३।१।५९।

खट्वेतिद्वितीयान्तं क्षेपे निन्दायां क्तान्तेन सहैकार्थ्ये समासस्तत्-पुरुषः स्यात् । खट्वारूढो जाल्मः । क्षेपइति किम् । खट्वा-मारूढः पिताऽध्यापयति ॥५९॥

खट्वारूढ इति क्षेपः समासार्थो न वाक्येन गम्यते इति नित्य एवायं समासः । खट्वारूढः उत्पथप्रस्थित एवमुच्यते । खट्वा—पल्यङ्कः आचार्या-सनं वा खट्वाशब्दस्य पल्यङ्कार्थत्वे-गुरुपार्श्वे ब्रह्मचर्यव्रतधारणपूर्वकमध्य-यनं तत्परिसमाप्य गुरुभिः (गृहस्थगुरुभिः) गृहस्थाश्रमप्रवे—शायानुज्ञातेन प्रथमाश्रमे एव यावज्जीवं स्थातुमशक्तेन द्वितीयाश्रमप्रवेशः अनिन्दितः ।

अनधीतविद्यो गुर्वनुज्ञारेहितश्च यदि भार्यया सह तल्पमारोहेत् तदा निनिदत भवति । निन्दितम् आचार्यं सनाथंत्वे तु गुरुभिराचार्यकर्मणेऽ-नुज्ञात एव यदाचार्यासनमधिरोहेत् तदा न निन्दितम्, यदा तु विपरीतं तदा निन्दितं खट्वारोहणम् । निन्दितो खट्वा- रोहणे क्षेपो भवति । उपलक्षणं चेह खट्वारोहणमुत्पथप्रस्थानस्य । काके भ्यो दधि रक्ष्यताम्' इति काकै रुपघातकमात्रं, तेन सर्वोऽ–पि विमार्ग प्रस्थितः खट्वारूढ इत्युच्यते इतरमते आयुषः चतुरः भागात् कृत्वा चत्वार आश्रमा विहिताः। द्वितीयाश्रमेपि अनासक्तेन भाव्यम् तृतीयाश्रमे सर्वत्यागाभ्यास । चतुर्था-श्रमे सर्वत्यागी एव भवति आर्यः सर्वत्यागी भूत्वा सर्वत्याग-भावनायामेव वा शरीरं त्यजति ॥५९॥

कालः ।३।१।६०।

कालवाचिद्वितीयान्तं क्तान्तेन समासस्तत्पुरुषः स्यात् । रात्र्या-रूढाः । अहरतिसृताः ॥६०॥

रात्रिमारूढाः रात्र्यारूढाः । अहः अतिसृताः अहरतिसृताः । षड् मुहूर्ताश्च-राचराः इति तु विशेष्यम् ते दक्षिणायने रात्रिं गच्छन्ति उत्तरायणे त्वहरिति । अयं भावः–त्रिशन्मुहूर्ता अहोरात्रः तत्राह्नो रात्रेश्च द्वादश मुहूर्ता ध्रुवाः । षट् चरन्ति भ्रमन्तीति चराचराः अनवस्थिता इत्यर्थः । 'चराचर०' ।४।१।१३। इति निपातना–दचि द्विर्भावे च चराचरशब्दः । चराचरा अनवस्था–यिनः तेनोत्तरायणे क्रमेणाहर्गच्छन्ति, दक्षिणायने रात्रिम्, अत एवोत्त–रायणेऽ हानि वर्धन्ते, रात्रयो हीयन्तो दक्षिणायने रात्रयो वर्धन्ते अहानि हीयन्ते ते मुहूर्ता अहरतिसृताः' इत्यनेनोच्यन्ते । अव्यात्प्यर्थोऽ यमारम्भः । व्याप्तौ ह्युत्तरेण सिध्यति ॥६०॥

व्याप्तौ ।३।१।६१।

गुणक्रियाद्रव्यैरत्यन्तसंयोगे या द्वितोया तदन्तं कालवाचि व्याप-कार्थेन समासस्तत्पुरुषः स्यात् । मुहूर्त्तसुखं । क्षणपाठः । दिन-गुडः । व्याप्ताविति किम् । मासं पूरको याति ॥६१॥

क्तेनेति निवृत्तम् व्याप्तिः गुणक्रियाद्रव्यैरत्यन्तसंयोगः । गुणक्रियाद्रव्यैर-त्यन्तसंयोगे या द्वितीयेति-'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' ।२।२।४२। इति-सूत्रविहिता या द्वितीयेत्यर्थः । व्यापकं विना व्याप्तेरसम्भवादाह-व्यापकार्थेनेति । मुहूर्तं सुखमिति-मुहूर्तं सुखमिति विग्रहोऽत्र गुणेनात्यन्तसंयोगः । क्षणं पाठः क्षणपाठोऽत्र क्रिययात्यन्तसंयोगः । मुहूर्तं गुडः अत्र द्रव्येणात्यन्तसंयोगः । मासं पूरको यातीति पूरयिष्यतीति पूरकः णकच्प्रत्ययः, अत्रैकदेशभाग-सम्बन्ध इति व्याप्त्यभावात्समासो न भवति ॥६१॥

श्रितादिभिः ।३।१।६२।

द्वितीयान्तं श्रितादिभिः समासस्तत्पुरुषः स्यात् । धर्मश्रितः । शिवगतः ॥६२॥

'श्रिग् सेवायाम्' इति गताविह वर्तते धर्मं श्रितः प्राप्तः इत्यर्थः तेन 'गत्यर्था०' ।५।१।११। इति कर्तरि क्तः धर्मकर्मकश्रयणकर्त्तेत्यर्थः । बहुवचन-माकृतिगणार्थम् ॥६२॥

प्राप्तापन्नौ तयाच्च ।३।१।६३।

एतौ प्रथमान्तौ द्वितीयान्तेन समासस्तत्पुरुषः स्याताम् । तद्योगे चानयोरत् स्यात् । प्राप्तजीविका । आपन्नजीविका ॥६३॥

प्राप्ता जीविकां प्राप्तजीविका । आपन्ना जीविका-मापन्न-जीविका । परतः-स्त्री०' ।३।२।४९। इति पुंवद्भावाप्राप्तेरनयोरद्विधानम् अद्वचनं स्त्रीलिङ्गार्थम् । पुंलिङ्गे तु प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविता आपन्नो जीवि-कामापन्न-जीविकः । प्राप्तापन्नयोः प्रथमोक्तत्वात् पूर्वनिपातार्थं वचनम् । अनयोः श्रितादित्वाच्च पूर्वसूत्रेण समासे द्वितीयान्तस्यापि प्रथमोक्तत्वेन प्राग्निपातः तेन जीविकाप्राप्तो जीविकापन्नः इत्यपि भवति ॥६३॥

ईषद्गुणवचनैः ।३।१।६४।

ईषदव्ययं गुणवचनैः समासस्तत्पुरुषः स्यात् ये गुणे वर्त्तित्वा तद्योगाद् गुणिनि वर्त्तन्ते ते गुणवचनाः । ईषत्पिङ्गलः । ईषद्रक्तः । गुणव-चनैरिति किम् ? ईषद्गार्ग्यः ॥६४॥

गुणवचना इत्यस्य द्विधा व्याख्यानं—ये गुणमुक्तवन्तस्ते गुणवचना इति यैर्गुणः उक्तस्ते गुणवचनाः इति च । तत्र प्रथमव्याख्याने 'बहुलम्' ।५।१।२। इति कर्तयनटि 'वचन' इति ततः षष्ठीसमासे 'गुणवचना' इति । यद्यप्यनटा भूतार्थता नोच्यते तथापि वचनग्रहणसामर्थ्यात् भूतप्रतिपत्तिः । गुणवचना गुणवृत्ता इत्यर्थो तु न ज्ञेयोऽन्यथा गुणवचनमनर्थकं स्यात्, गुणेनेत्यस्यैवोपादेयत्वात् तत्र गुणे कार्यासम्भवात् तत्र वर्तमाने शब्दे संप्रत्ययः स्यात् परन्तु 'गुणमुक्तवन्तो गुणवचनाः' इति पूर्वाचार्यप्रसिद्धिः तत्प्रसिद्ध्या चेहोपादानमित्ययमर्थो लभ्यते । द्वितीयव्याख्याने ऽपि यैरिति कर्तरि तृतीया । शब्दा हि स्वव्यापारमुक्तिं प्रति कर्तारो भवन्ति । ईषत्पिङ्गल इति—ईषत् अल्पं पिङ्गलः । अत्र पिङ्गलशब्दो पटस्य पिङ्गलः इत्यत्र पिङ्गतालक्षणगुणे वर्तमानः सन् पटः पिङ्गल इत्यत्र गुणिनि द्रव्यविशेषे वर्तते । ईषद्गार्ग्य इति—गुणैः क्रियया वा हीनो गार्ग्य एवमुच्यते वृद्धापत्यमिति 'गर्गादियञ्' ।६।१।४२। इति यञि गार्ग्यः अपत्यप्रत्ययान्तस्य गोत्रत्वात् 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातिवचनो गार्ग्यशब्दः । समासे तद्धितकाम्यसमासान्तरादीनि प्रयोजनम् । यथा ईषत्पिङ्गलस्येदम् 'तस्येदम्' ।६।३।१६०। इत्यण् ईषत्पिङ्गलमैच्छदिति 'द्वितीयायाः काम्यः ।३।४।२२। इति समुदायादेव काम्यप्रत्यये तद्घटितसमुदायस्य च धातुत्वात् तस्यैवाद्यस्वरस्य वृद्धौ ऐषत्पिङ्गलकाम्यदिति भवति । कोपेनेषद् रक्त इत्यत्र ईषद्रक्त इति समुदायस्यैकनामत्वात् 'तृतीया तत्कृतैः ।३।१।६५। इति समासो भवति । अन्यथा 'नाम नाम्ना' इत्यनुवृत्तेरेकत्वस्य च विवक्षणात् त्रिपदसमासो न स्यात् सति त्वस्मिन् योगे ईषच्छब्दस्य रक्तशब्देन समासे एकनामत्वात् कोपशब्देन समासो भवत्येव । न च रक्त-शब्दस्य गुणवचनत्वेऽपीषद्रक्तस्य गुणवचनत्वं कथमिति वाच्यम्, विशेष्यपारतन्त्र्येण तस्य गुणवाचकत्वाक्षतेः वचनस्य गुणवाचकत्वं निराकृत्य 'ऊनार्थ पूर्वा०' ।३।१।६६। इति सूत्रेण समास-कथनं तु नोचितं यतो यदि विशेष्यपार-

तन्त्र्येणास्यगुणार्थत्वं न स्यात् तदा विशेषणपारतन्त्र्येणेषद्वक्तशब्दस्यो-नार्थत्वं कथं स्वीकार्यम् ईषच्छब्दस्योनार्थत्वे-ऽपि समुदायस्य तदर्थत्वा-भावादिति तस्य गुणवाचकत्वाक्षतेः । न च पूर्वादिराकृति-गणत्वात् 'ऊनार्थ-पूर्वाद्यैः' ।३।१।६६। इति सूत्रेण समासः स्यादिति वाच्यं तस्या-गतिकगतित्वात् ।।६४।।

तृतीया तत्कृतैः ।३।१।६५।

तृतीयान्तं तदर्थकृतैर्गुणवचनैरेकार्थ्ये समासस्तत्पुरुषः स्यात् । शङ्कुलाखण्डः । मदपटुः । तत्कृतैरिति किम् । अक्ष्णा काणः । गुणवचनैरित्येव । दध्ना पटुः पाटवमित्यर्थः ।।६५।।

शङ्कुलया कृतः खण्डः-शङ्कुलाखण्डः मदेन कृतः पटुः कृतार्थो वृत्तावन्तर्भूत इति कृतशब्दो न प्रयुज्यते । खण्डः क्रियारूपापन्ने गुणे वर्तित्वा पश्चान्मत्वर्थलक्षणया तद्वति द्रव्ये वर्तते इति गुणवचनः । अक्ष्णा काणः इति नात्र काणत्वमक्ष्णा कृतं किन्तु काण्डादिकृतमक्ष्यादीनां तु संबन्धमात्रं 'यद्भेदैस्तद्वदा०' ।२।२।४६। इति तृतीया यदा तु तत्कृतत्वविवक्षायां कर्तरि करणे वा तृतीया तदा भवत्येव समासः अक्षिकाण इति । दध्ना पटुः इति-नह्यत्र पटुशब्दः पूर्वं गुणमुक्त्वा साम्प्रतं द्रव्ये वर्तते अतो न गुणवचनः । अत एव शुद्धगुणवाचिनापि समासो न भवति यथा घृतेन पाटवमित्यादि ।।६५।।

चतस्त्रार्द्धम् ।३।१।६६।

अर्द्धंस्तृतीयान्तस्तत्कृतार्थेन चतसृशब्देन समासस्तत्पुरुषः स्यात् । अर्द्धचतस्रो मात्राः । चतस्रेति किम् । अर्द्धेन चत्वारो द्रोणाः ।६६।।

अर्धेन कृताश्चतस्रोऽर्धचतस्रो मात्राः । 'त्रिचतुरस्ति०' ।२।१।१। इति चत-

स्यादेशस्य ग्रहणादिह न भवति-अर्धेण कृताश्चत्वारो द्रोणाः इति । द्रोणो मानविशेषः ॥६६॥

ऊनार्थपूर्वाद्यैः ।३।१।६७।

तृतीयान्तं ऊनार्थैः पूर्वाद्यैश्च समासस्तत्पुरुष स्यात् । माषोनं माषविकलं । मासपूर्वः मासावरः ॥६७॥

ऊनशब्दोऽपूर्णार्थः तदर्थका ऊनविकलादिशब्दाः । माषेणोनं माषोनम्, माषेण विकलम् माषविकलम् मासेन पूर्वः, मासेनावरः, पूर्वादिराकृतिगणः। ननु पूर्वादीनां दिक्शब्दत्वात् तद्योगे 'प्रभृत्यन्यार्थ०' ।२।२।७६। इति पञ्चमी समुचितेति चेत्सयं यदा मासादिः पूर्वादीनां पूर्वादिभावे हेतुत्वेन विवक्ष्यते तदा दिग्योगलक्षणां पञ्चमीं प्रबाध्य 'हेतुकर्तृ०' ।२।२।४४। हेतौ तृतीया भवतीति ॥६७॥

कारकं कृता ।३।१।६८।

कारकवाचितृतीयान्तं कृदन्तेन समासस्तत्पुरुषः स्यात् । आत्मकृतम् । नखनिर्भिन्नः । काकपेया नदी । बाष्पच्छेद्यानि तृणानि। कारकमिति किम् । विद्ययोषितः ॥६८॥

आत्मना कृतम् आत्मकृतम् । अत्र कर्तरि तृतीया 'कृत् सगतिकारकस्यापि' ।७।४।११७। इति गतिपूर्वस्य निर्भिन्नः इत्यस्य कृदन्तत्वेऽनेन समासे नखैर्निर्भिन्न इति भवति । अत्र करणे तृतीया बहुलाधिकारात्स्तुतिनिन्दार्थतायां प्रायेण कृत्यैः समासः काकैः पीयत इति काकपेया 'यः एच्चातः' ।५।१।२८। इति ये आकारस्य एकारेत्र ततः अपि तेनतृतीयान्तेन 'नामग्रहणेलिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति' न्यायादनेन समासे काकपेया नदी पूर्णेत्यर्थः पूर्णतोयत्वात्तटस्थैः उत्पतद्भिर्वा काकैरपि पातुं शक्येति स्तुतिः अल्पतोयत्वोद्भावनेन तु निन्दा वाऽत्र गम्यते एवं-नामाल्पतोयेत्यर्थः

यत् काकैरपि शक्यं पातुमिति यद्वा काकेनैव पेया मलिननिकृष्टजलसत्त्वादिति । अत्र कर्तृ तृतीयायाः कृत्येन समासः । अयं च विशेषो वाक्येन न गम्यत इति नित्यसमासो वेदितव्यः यथा खट्वारूढ इति क्षेपो वाक्येन न गम्यत इति नित्यसमासः । बाष्पच्छेद्यानितृणानीति-मृदूनीत्यर्थः बाष्पै-श्छिद्यन्ते छेत्तुं शक्यन्ते इति घ्यण् । अत्र मृदुतातिशयेन स्तुतिः । दुर्बलत्वेन निन्दा वाऽत्र । विद्ययोषितः इति-हेतावत्र तृतीया, अयं भावः विद्याया अन्नं प्रति न कारकत्वमपि तु हेतुत्वं प्रयोजकत्वम्, प्रयोजकं च न क्रियाजनकमपि तु कर्तृ-प्रे-रकत्वात् परम्परया क्रियासम्बद्धमिति साक्षात्क्रियाजनकत्वरूपकारकत्वाभावादिह समासो न भवतीति कारकग्रहणाभावेतु स्यादेव समासः ॥६८॥

न विंशत्यादिनैकोऽच्चान्तः ।३।१।६६।

एकशब्दस्तृतीयान्तो न विंशत्यादिना समासस्तत्पुरुषः स्यात् । एकस्यचादन्तः । एकान्नविंशतिः । एकादनविंशतिः । एकान्नत्रिंशत् । एकादनत्रिंशत् ॥६६॥

एकेन न विंशतिः एकान्नविंशतिः पक्षे एकादनविंशतिः । एवं एकेन न त्रिंशदिति न विकल्पेन समासः। रूपद्वये एकान्नत्रिंशद्एकाद् न त्रिंशदिति । अत्र एकशब्दस्य 'अद्' इत्यन्तागमः 'अद्' इति विधानसामर्थ्यात् पूर्वाकारस्य 'लुगस्या०' ।२।१।११३। इति लुग् न भवति अन्यथा 'द्' इत्येव कुर्याद् 'समानानां तेन०' ।१।२।१। इति दीर्घे 'एकाद्'इति जाते 'तृतीयस्य पञ्चमे'।१।३।१।इति दस्य नकारे एकान्नविंशतिरिति। नस्य विकल्पेन विधानात् तदभावपक्षे एकादनविंशतिरिति। ननु न विंशतिरविंशा 'नञत्'।३।२।१२५।इति नञोऽदादेशे'नञव्ययात् संख्यायाः डः'।७।३।१२३।इनिडसमासान्ते च भवितव्यमिति चेत्सत्यं 'न विंशत्यादिना' इति निर्देशान्न भवत्यन्यथेति निर्देशोऽनर्थकः स्यात् ॥६६॥

चतुर्थी प्रकृत्या ।३।१।७०।

प्रकृतिः परिणामिकारणम् । एतद्वाचिनैकार्थ्ये चतुर्थ्यन्तं विकाकारार्थं समासस्तत्पुरुषः स्यात् । यूपदारु । प्रकृत्येति किम् । रन्धनाय स्थाली ॥७०॥

परिणाम तत्त्वावः दारुणो यूपो विकारस्तद्भवनं तद्रूपापत्तिः स परिणामः । परिणामोऽस्यातीति परिणामि । प्रक्रियते रूपान्तरमापद्यत इति प्रकृतिः । यूपो विकृतिः, दारु प्रकृतिः । रन्धनाय स्थालीति–नाऽत्र प्रकृति–विकृतिभावः ॥७०॥

हितादिभिः ।३।१।७१।

चतुर्थ्यन्तं हिताद्यैः समासस्तत्पुरुषः स्यात्। गोहितम् । गोसुखम् ॥७१॥

गोभ्यो हितम् गोहितम् । गोभ्यां सुखम् 'हितसुखाभ्याम्।२।२।६५।इति चतुर्थी समासादाशिषोऽनवगमान्नाशिषि 'तद्भद्रायुष्य०'।२।२।६६।इति चतुर्थी । बहुवचनमाकृतिगणार्थं तेन आत्मनेपदं परस्मैपदमित्यादि सिद्धम् । अत्र 'परात्मभ्यां ङेः' ।३।२।१७। इति सूत्रेण चतुर्थ्या लोपो न भवति ॥७१॥

तदर्थार्थेन ।३।१।७२।

चतुर्थ्यर्थो यस्य तेनार्थेन चतुर्थ्यन्तं समासस्तत्पुरुषः स्यात्।पित्रर्थं पयः । आतुरार्था यवागूः । तदर्थार्थेनेति किम् । पित्रेऽर्थः ।७२।

पित्रे इदं पित्रर्थं पयः । आतुरायेयम् आतुरार्था यवागूः 'ङेऽर्थो वाच्यवत्' इति लिङ्गानुशासनाद् वाच्य-लिङ्गता, नित्यसमासश्चायं चतुर्थ्येव तदर्थस्योक्तत्वादर्थशब्दाप्रयोगे वाक्यासंभवात्, समासस्तु वचनाद् भवति । अस्वपदघटितविग्रहरूपत्वं नित्य-समासत्वम् । पित्रेऽर्थं इति-तदर्थं धनमित्यर्थः ॥७२॥

पञ्चमी भयाद्यैः ।३।१।७३।

पञ्चम्यन्तं भयाद्यैरेकार्थ्ये समासस्तत्पुरुषः स्यात् । वृकभयम् । वृकभीरुः ॥७३॥

वृकाद् भयं-वृकभयम्, वृकभीरुः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥७३॥

क्तेनासत्त्वे ।३।१।७४।

असत्त्ववृत्तेर्या पञ्चमी तदन्तं क्तान्तेन समासस्तत्पुरुषः स्यात् । स्तोकान्मुक्तः । अल्पान्मुक्तः । असत्त्वइति किम् । स्तोकाद्बद्धः ॥७४॥

स्तोकान्मुक्त इत्यादि-'असत्त्वे ङसेः' ।३।२।१०। इत्यलुप् । स्तोकाद्बद्ध इति स्तोकाद् द्रव्यादित्यर्थः । समासे तद्धिताद्युत्पत्तिः फलम् । स्तोकान्मुक्तस्यापत्यं स्तोकान्मुक्तिः इत्यादि 'अतः इञ्' ।६।१।३१। इतीञ् ॥७४॥

परः-शतादि ।३।१।७५।

अयं पञ्चमीतत्पुरुषः साधुः स्यात् । परः-शताः । परः-सहस्राः ॥७५॥

शतात् परे परः-शताः । सहस्रात् परे-परसहस्राः । पर-शब्दस्य पूर्वनिपातः सकारागमश्च निपातनात् ॥७५॥

षष्ठ्ययत्नाच्छेषे ।३।१।७६।

शेषे ।२।२।८१।या षष्ठी तदन्तं नाम नाम्नैकार्थ्ये समासस्तत्पुरुषः स्यात् । न चेत्स शेषो 'नाथः।२।२।१०।इत्यादेर्यत्नात् । राजपुरुषः । अयत्नादिति किम् । सर्पिषो नाथितम् । शेष इति किम् । गवां कृष्णा सम्पन्नक्षीरा ॥७६॥

सर्पिषो नाथितमिति नाथृङ् उपतापैश्वर्याऽऽशीः-षु 'आशिषि नाथः' ।३।३।-।३६। इत्यात्मने-पदविषये 'नाथः' ।३।२।१०। इति यत्नात् पाक्षिके कर्म-भावे निवृत्ते तन्निबन्धनद्वितीयानिवृत्तौ निषिद्धे कर्मणि षष्ठ्येव भवतीति शेषो विज्ञायत इति यत्नजे शेषे षष्ठीति समासो न भवति। अत्र भावे क्ली-बेक्त नाथितमिति सर्पिर्मे भूयादित्याशासनमिति तदर्थः । गवां कृष्णा सम्पपन्नक्षीरेति-अत्रापादाने 'सप्तमी चाविभागे निर्द्धारणे' ।२।२।१०६। इति षष्ठी ।।७६।।

कृति ।३।१।७७।

कर्म्मणिकृतः २।२।८३। कर्त्तरि ।२।२।८६। इति या कृन्निमित्ता षष्ठी तदन्तं नाम नाम्ना समासस्तत्पुरुषः स्यात् । सर्पिज्ञानि । गणधरोक्तिः ।।७७।।

सिद्धसेनकृतिरिति-सिद्धसेनस्य सिद्धसेनदिवाकाराभिधस्य आचार्यस्य सम्मतितर्कादिग्रन्थरचना। करोतेर्भावे क्तिः कर्तरि च षष्ठी । अनेन समासः गणधरोक्तिरिति—गणधरस्य भगवतो गौतमादेः, उक्तिः-उपदेशादि, वच-नम् । वचंक् भाषणे अतो भावे क्तिः य्वृति च कत्वे उक्तिः । अत्रापि कर्तरि षष्ठी । एवं धर्मानुस्मरणम् तत्त्वानुचिन्तनमित्यादि कर्मषष्ठ्यन्तस्योदाह-रणम् ज्ञेयम् ।।७७।।

याजकादिभिः ।३।१।७८।

षष्ठ्यन्तं याजकाद्यैः समासस्तत्पुरुषः स्यात् । ब्राह्मणयाजकः । गुरुपूजकः ।।७८।।

ब्राह्मणानां याजकः-ब्राह्मणयाजकः । गुरूणां पूजकः । बहुवचनमाकृतिगणा-र्थम् । 'कर्म-जा तृचा च' ।३।१।८३। इति प्रतिषेधापवादो योगः ।।७८।।

पत्तिरथौ गणकेन ।३।१।७९।

एतौ षष्ठ्यन्तौ गणकेन समासस्तत्पुरुषः स्याताम् । पत्तिगणकः । रथगणकः । पत्तिरथाविति किम् । धनस्य गणकः ॥७६॥

पत्तीनां गणकः । पत्ति गणकः । रथानां गणकः रथगणकः 'कर्मजा तृचा च' ।३।१।८३। इति प्रतिषेधापवादोऽ यम् योगः ॥७६॥

सर्वपश्चादादयः ।३।१।८०।

एते षष्ठीतत्पुरुषाः साधवः स्युः । सर्वपश्चात् । सर्वचिरम् ।८०।

सर्वेषां पश्चात् सर्वपश्चात् । सर्वेषां चिरम् सर्वचिरम् । अव्ययेन 'तृप्तार्थ०' ।३।१।८५। इति प्रतिषेधो वक्ष्यति । तस्यापवादोऽयम् । बहुवचनं शिष्ट-प्रयोगानुसरणार्थम् ॥८०॥

अकेन क्रीडाजीवे ।३।१।८१।

षष्ठ्यन्तमकप्रत्ययान्तेन क्रीडाजीविकयोर्गम्ययोः समासस्तत्पुरुषः स्यात् । उद्दालपुष्पभञ्जिका । नखलेखकः । क्रीडाजीवइति किम् । पयसः पायकः ॥८१॥

आजीवो जीविका । उद्दालकपुष्पभञ्जिकेति—उद्दालको वृक्षविशेषः तस्य पुष्पाणि तेषां भञ्जिका । कस्याश्चित् क्रीडायाः संज्ञा । नखलेखक इति-नखानां लेखकः नखलेखकः नापित इत्यर्थः । नखलेखनमस्याऽऽजीवो-गम्यते, क्रीडाजीवौ वाक्येन न गम्येते इति द्वितीया खट्वा क्षेपे' ।३।१।५०। इतिवत् नित्य-ग्रहणा-भावेऽ पि नित्यसमासौ एतौ । 'कर्मजा तृचा च' ।३।१।८३। इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् ॥८१॥

न कर्त्तरि ।३।१।८२।

कर्त्तरि या षष्ठी तदन्तमकान्तेन समासो न स्यात् । तव

शायिका । कर्त्तरीति किम् । इक्षुभक्षिका ॥८२॥

'शयितु' पर्यायः क्रम इति वाक्ये 'पर्यायार्हणो०' ।५।३।१२०। इति स्त्रियां भावे णके शायि-का त-वेत्यत्र 'कर्तरि' ।२।२।८६। इति षष्ठी। इक्षुभ-क्षिकेति–'भक्षण् अदने' इत्यतः भावे स्त्रियां 'पर्याया०' ।५।३।१२०। इति णकः कर्मणि षष्ठी 'कृति' ।३।१।७७। इति समासः ॥८२॥

कर्मजा तृचा च ।३।१।८३।

कर्म-णि या षष्ठी तदन्तं कर्तृ-विहिताकान्तेन तृजन्तेन च न समासः स्यात् । भक्तस्य भोजकः । अपां स्रष्टा । कर्मजेति किम् । गुणो गुणिविशेषकः, सम्बन्धे ऽत्र षष्ठी । कर्त्तरीत्येव । पयः-पायिका ॥८३॥

कर्तरीत्यनुवर्तते -तच्चाकस्य विशेषणम् । भोजक इत्यादि-'णकतृचौ' ।५।१।४८। इति णकतृचौ । गुणो गुणिविशेषकः, गुणिनः संबन्धी विशेषक इत्यर्थः । शेषषठ्या समासः । पयः-पायिकेति पां पाने इत्यतः भावे स्त्रियां 'पर्यायार्हं०' ।५।३।१२०। इति णकः 'आतः ऐ०' ।४।३।५३। इत्याकारस्य ऐकारः यादेशश्च । पयः कर्म-कर्मणि षष्ठी 'कृति' ।३।१।७७। इति समासः ॥८३॥

तृतीयायाम् ।३।१।८४।

कर्त्तरि तृतीयायां सत्यां कर्म्मजा षष्ठी न समस्यते । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालेन । तृतीयायामिति किम् । शब्दानुशासनं गुरोः ॥८४॥

अगोपालकेनेत्यत्र 'द्विहेतोरस्त्र्यणकस्य वा' ।२।२।८७। इति षष्ठीनिवृत्तौ 'हेतु-कर्तृ०' ।२।२।४४। इति तृतीया । अशिक्षितेन दोग्ध्रा दुर्दोहा गावो यदि

दुह्यन्ते तदाऽऽश्चर्यमिति। शब्दानुशासनं गुरोरिति–अत्र गुरोरित्यत्र कर्तरि षष्ठ्यां सत्यां शब्दानामनुशासनं शब्दानु–शासनमिति समासः स्यादेव ॥८४॥

तृप्तार्थपूरणाव्ययाऽतृश्शत्रानशा ।३।१।८५।

तृप्तार्थैः पूरणप्रत्यान्तैरव्ययैरतृशन्तैः शत्रन्तैरानशन्तैश्च षष्ठ्यन्तं न समस्यते। फलानां तृप्तः। तीर्थकृतां षोडशः। राज्ञः साक्षात्। रामस्य द्विषन्। चैत्रस्य पचन्। मैत्रस्य पचमानः ॥८५॥

षडुत्तरा दश=षोडश 'एकादश – षोडश०' ।३।२।९१। इति निपातनम् षोडशानां पूरण इति 'संख्यापूरणे डट्' ।७।१।१५५। इति डित्त्वाद-न्त्यस्वरादिलोपे च षोडश इति। राज्ञः साक्षादित्यत्र स्वरादित्वात् 'साक्षात्' इत्यस्याव्ययत्वम्। रामस्य द्विषन् इति-द्विषींक् अप्रीतौ अतः 'सुग्द्विषार्ह०' ।५।२।२६। इत्यतृश्। 'द्विषो वाऽतृशः' ।२।२।८४। इति वा षष्ठी। चैत्रस्य पचन्निति–'डुपचींष् पाके' इत्यतः 'शत्रानशा०' ।५।२।२०। इतिशतृप्रत्ययः तद्योगे शेषे षष्ठी इति 'कर्मणि कृतः' ।२।२।८३। 'कर्तरि' ।२।२।८६। इति सूत्राभ्यां विधीयमानषष्ठ्या-स्तु 'तृन्नुदन्ता०' ।२।२।९०। इति निषेधात्। मैत्रस्य पचमानः इति–आनश्प्रत्ययः, शैषिकी षष्ठी ॥८५॥

ज्ञानेच्छार्चार्थाधारक्तेन ।३।१।८६।

ज्ञानेच्छार्चार्थेभ्यो यो वर्त्तमाने क्तो यश्चाद्यर्थाच्चाधार इत्याधारे क्तस्तदन्तेन षष्ठ्यन्तं न समस्यते। राज्ञां ज्ञातः। राज्ञामिष्टः। राज्ञां पूजितः। इदमेषां यातम् ॥८६॥

राज्ञां ज्ञात इत्यादि–ज्ञांश् अवबोधने 'इषत् इच्छायाम्' पूजण् पूजायाम् एभ्यः 'तत् साप्या०' ।३।३।२३। इति कर्मणि 'ज्ञानेच्छार्चार्थ०

।५।२।६२। सूत्रेण वर्तमाने क्तः भवति सर्वत्र 'कर्तरि' ।२।२।८६। इति षष्ठी। वर्तमाने क्तविधानात् 'क्तयोरसदाधारे' ।२।२।६१। इति न षष्ठ्या निषेधः। राज्ञां ज्ञायमानः इष्यमाणः पूज्यमान इति क्रमेणार्थः। इदमेषां यातमिति–'यांक् प्रापणे' इत्यतः 'क्तक्तवतू' ।५।१।१७४। इति भूते 'अद्यर्था-च्चा०' ।५।१।१२। इति सूत्रेणाधारे क्तो भवति 'कर्तरि' ।२।२।८६। इति षष्ठी। आधारे क्तविधानात् 'क्तयोरसदाधारे' ।२।२।६१। इति न षष्ठ्या निषेधः। यायते स्माऽस्मिन्नेत्यर्थः ॥८६॥

अस्वस्थगुणैः ।३।१।८७।

ये गुणाः स्वात्मन्येव तिष्ठन्ति न द्रव्ये ते स्वस्थास्तत्प्रतिषेधेना-स्वस्थगुणवाचिभिः षष्ठ्यन्तं न समस्यते। पटस्य शुक्लः। गुडस्य मधुरः। अस्वस्थगुणैरिति किम्। घटवर्णः। चन्दन-गन्धः ॥८७॥

पटस्य शुक्लः इत्यादि-शुक्लः पटः इत्यादौ द्रव्येऽपि वृत्तिदर्शनादस्वास्थ्य-मस्त्येव। सर्वेषामपि भावप्रत्ययेन स्वस्मिन्नवस्थितानां प्रतीतेः पटस्य शौक्ल्य-मित्यादि ततश्च सर्वे एव गुणाः स्वस्था इत्यनवधारणाश्रये आन-र्थक्यादवधारणमाश्रीयते। ये गुणाः स्वात्मन्येवेति-स्वस्मिन्नेव आत्मन्येव स्वात्मनि स्वस्वरूपे एवावतिष्ठन्ते ये ते स्वस्था इति। घटवर्णः इत्यादि-वर्णादयो न कदापि द्रव्यवाचका इति स्वस्था एवेति नात्र निषेधः। गुणशब्देन चेह लोकप्रसिद्धा एव रूपरसगन्धस्पर्शगुणाः अभिप्रेतास्ततस्तद्वि-शेषैरेवायं प्रतिषेधः तेन यत्नस्य गौरवम् यत्नगौरवम्, प्रक्रियालाघवमि-त्यादिषु प्रतिषेधो न भवति ॥८७॥

सप्तमी शौण्डाद्यैः ।३।१।८८।

एभिः सहैकार्थ्ये सप्तम्यन्तं समासस्तत्पुरुषः स्यात्। पानशौण्डः। अक्षधूर्त्तः ॥८८॥

पाने शौण्डः पानशौण्डो मद्यपः । मद्यपे वर्तमानोऽपि शौण्डशब्दः गौणवृत्त्येह व्यसनिनि वर्तते, अक्षेषु धूर्तः अक्षधूर्तः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥८८॥

सिंहाद्याः पूजायाम् ।३।१।८९।

एभिः सप्तम्यन्तं समासस्तत्पुरुषः स्यात् । पूजायां गम्यमानायां । समरसिंहः । भूमिवासवः ॥८९॥

समरे सिंह इव समर-सिंहः । भूमौ वासव इव इन्द्र इवेत्यर्थः । उपमयाऽत्र पूजाऽवगम्यते । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । यत्र साधारणधर्मवाचकशब्द-स्याप्रयोगस्तत्रैवायं समासः तेन समरेसिंह इव शूरः इवेत्यत्र शूरशब्दस्य साधारणधर्मवाचकस्योपादानान्न समासः ॥८९॥

काकाद्याः क्षेपे ।३।१।९०।

एभिः सप्तम्यन्तं निन्दायां गम्यमानायां समासस्तत्पुरुषः स्यात् । तीर्थकाकः । तीर्थश्वा । क्षेपइति किम् । तीर्थे काकोस्ति ।९०।

तीर्थे काक इव तीर्थकाकः । तीर्थे श्वा इव तीर्थश्वा । अनवस्थित एवमुच्यते । यथा तीर्थे काको न चिरं तिष्ठति तथा यो गुरुकुलं गत्वापि न चिरं तिष्ठति, अन्यत्र वा कार्ये सोऽनवस्थित उच्यते । तीर्थे काकोऽस्तीति–अत्र तत्त्वाख्यानं न पुनरन्यः काकतुल्यः क्षिप्यमान उच्यते इति क्षेपः इति समासो न भवति । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥९०॥

पात्रेसमितेत्यादयः ।३।१।९१।

एते सप्तमीतत्पुरुषाः क्षेपे निपात्यन्ते । पात्रे समिताः । गेहे शूरः ॥९१॥

पात्रे एव समिताः–पात्रेसमिताः पात्रे भोजनार्थे भाजने एव समिताः

समागताः भोजने एव सन्ति न कार्यान्तरे ते पात्रेसमिताः । 'तत्पुरुषे कृति' ।३।२।२०।इति सप्तम्याः अलुप् । गेहे एव शूरः गेहेशूरः गेहे एवशौर्ययुक्तो न युद्धे इत्यर्थः । निपातनात् सप्तम्या अलुप् । अनयोरवधारणेनक्षेपो गम्यते । इति-शब्दः समासान्तरनिवृत्त्यर्थस्तेन 'परमाः पात्रेसमिताः' पात्रेसमितानां पुत्रः इत्यादिषु समासो न भवति । बहुवचनमाकृति–गणार्थम् ।।६१।।

क्तेन ।३।१।६२।

सप्तम्यन्तं क्तान्तेन क्षेपे समासस्तत्पुरुषश्च स्यात् । भस्मनिहुतं । अवतप्ते-नकुलस्थितम् ।।६२।।

भस्मनि-हुतमिति—भस्मनि हुतमिवेति विग्रहः निष्फलं । कृतमेवमुच्यते यथा भस्मनि हुतं न हवनफलाय कल्पते तथोपमेयकार्यं निष्फलमित्यव-गति-रिति कार्यस्य निन्दितत्वं स्पष्टम् 'तत्पुरुषे कृति' ।३।२।२०। इति सप्तम्या अलुप् । अवतप्ते न कुलस्थितमिति-कार्येष्वनवस्थितत्वमुच्यते अवतप्ते नकुलस्थितमिवेति विग्रहः स्थाधातोर्भावे क्लीबे क्ते 'स्थितम्' इति, नकुलस्य स्थितौ कर्तृत्वम्, नकुलेन स्थितमिति 'कारकं कृता' ।३।१।६८। इति समासे नकुलस्थितमिति 'कृत् सगतिकारक-स्यापि' ।७।४।११७। इति परिभाषया नकुलस्थितशब्दोऽपि क्तान्तः तेन सह 'अवतप्ते' इति सप्तम्यन्तस्य प्रकृतसूत्रेण समासे कृते 'तत्पुरुषे कृति' ।३।२।२०। इति सप्तम्या अलुप् । हे देवदत्त । अवतप्ते नकुलस्थितं ते एतत् अवस्थानम् । यथा अवतप्ते प्रदेशे नकुला न चिरं तिष्ठन्ति तथा कार्याण्या-रभ्य चापलेन तान्यनिवर्त्य इतस्ततः प्रधावनमित्यर्थः अव्यवस्थितोऽसीति निन्दा ज्ञेया । नित्यसमासाश्चैते पत्रेसमितादयश्च । अविग्रहोऽस्वपद-विग्रहो वा नित्यसमासः इति नित्यसमासलक्षणात् प्रकृते चास्वपदविग्र-हत्वान्नित्यसमासत्वं ज्ञेयमिति ।।६२।।

तत्राहोरात्रांशम् ।३।१।६३।

तत्रे-तिसप्तम्यन्तं अहरवयवा रात्र्यवयवाश्चसप्तम्यन्ताः क्तान्तेन

समासस्तत्पुरुषः स्यात् । तत्रकृतम् । पूर्वाह्णकृतम् । पूर्वरात्रकृतम् । तत्राहोरात्रांशमिति किम् । घटे कृतम् । अहोरात्रग्रहणं किम् । शुक्लपक्षे कृतम् । अंशमिति किम् । अह्नि भुक्तं रात्रौ-नृत्तम् ॥९३॥

पृथग्योगात्, क्षेप इति निवृत्तम् । तत्रेत्यस्य सप्तम्यन्तत्वं सप्तम्यर्थवृत्तित्वात् यद्यपि तत्रभवानित्यादावन्यवि-भक्त्यर्थमपि 'तत्र' इति तथापि प्रकृते प्रकरणात् सप्तम्यर्थकं ज्ञेयम् एवं 'तत्र' इति स्वरूपस्यात्र ग्रहणं नतु सामान्येन सप्तम्यर्थबोधकस्य । शुक्लपक्षे कृतमिति–पक्षो मासांशः इत्यहोरात्र-ग्रहणात् समासो न भवति ॥९३॥

नाम्नि ।३।१।९४।

सप्तम्यन्तं नाम्ना संज्ञाविषये समासस्तत्पुरुषश्च स्यात् । अरण्ये-तिलकाः, अरण्येमाषकाः ॥९४॥

अरण्येतिलका इत्यादि-तिलः प्रकारः एषामिति तिलकाः वृक्षविशेषाः । माषः प्रकारः एषामिति माषकाः वृक्षविशेषाः 'कोऽण्वादेः' ।७।२।७६। इत्युभयत्र कः । 'अद्-व्यञ्जनात्सप्तम्या बहुलम्' ।३।२।१८। इति सप्तम्या अलुप् । वाक्येन न संज्ञा गम्यते इति नित्यसमासोऽयम् ॥९४॥

कृत्येनावश्यके ।३।१।९५।

सप्तम्यन्तं नाम 'यएच्चात ।५।१।१८। इतियान्तेनावश्यम्भावे गम्ये समासस्तत्पुरुषश्च स्यात् । मासदेयम् । कृदिति किम् । मासे पित्र्यम् ॥९५॥

'अवश्यम्' इत्यव्ययं निश्चयार्थे तस्य भावः इति 'चोरादेः' ।७।१।७३। इति सूत्रेणाकञ्प्रत्यये मकारलोपे आद्यस्वरस्य वृद्धौ च 'आवश्यक' इति मासेऽवश्यं देयम् मासदेयम् । पित्र्यमिति–पित्रे हितमिति 'तस्मै हिते'

।७।१।३५। इति ये 'ऋतोरस्तद्धिते' ।१।२।२६। इति ऋकारस्य रकारे 'पित्र्य' इति । अत्र तद्धितो यप्रत्ययो न तु कृदिति समासो न भवति ।।६५।।

विशेषणं विशेष्येणैकार्थं कर्म्मधारयश्च ।३।१।६६।

भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिरैकार्थ्यं तद्वद्विशेषणवाचि विशेष्यवाचिनैकार्थ्ये समासस्तत्पुरुषः कर्म्मधारयश्च स्यात् । नीलोत्पलम् खञ्जकुटः । कुण्टखञ्जः । एकार्थमिति किम् । वृद्धस्योक्षा वृद्धोक्षा ।।९६।।

विशिष्यतेऽनेकप्रकारं वस्तु प्रकारान्तरेभ्यो व्यवच्छिद्यतेऽनेनेति विशेषणं, व्यवच्छेद्यं विशेष्यम् ऐकार्थ्यं तद्वदेकार्थं विशेषणवाचि नामैकार्थं विशेष्यवाचिना नाम्ना सह समस्यते । स च समासस्तत्पुरुष-संज्ञः कर्मधारय-संज्ञश्च भवति । ऐकार्थ्यं समानाधिकरण्यम् समानमधिकरणमर्थो ययोस्तौ समानाधिकरणौ तयोर्भावः सामानाधिकरण्यम् शब्दस्याधिकरणमर्थ एव अर्थे एव शब्दप्रयोगात् । अयमाशयः-नीलमुत्पल-मित्यादौ पदद्वयमप्येकमेव द्रव्यमभिधत्ते नीलपदस्यापि नीलरूपवद्द्रव्यपरत्वात् । एवं चोभयोः सामाना-धिकरण्यम् स्पष्टमेव । विशेषण- विशेष्ययोः सम्बन्धिशब्दत्वादेकतरोपादानेनैव द्वयोर्लब्धे द्वयोरुपादानं परस्परमुभयोर्व्यवच्छेदकत्वे समासोयथा स्यादित्येवमर्थं तेनेह न भवति तक्षकः सर्पः लोहितस्तक्षक इति, असर्पस्याऽन्यवर्णस्य वा तक्षकस्या-भावात् । अयमाशयः-यत्र पूर्वोत्तरपदे प्रत्येकं विशेषणविशेष्यभूते भवतस्तत्रैव समासो भवतीति ज्ञापनार्थमुभयोरुपादानं यथा नीलोत्पलमिति । अत्र नीलार्थो भ्रमरादिभ्यो व्यावर्त्योत्पलार्थेनोत्पले व्यवस्थाप्यते उत्पलार्थोऽपि रक्तोत्पलादिभ्यो व्यावर्त्य नीलार्थेन व्यवस्थाप्यते इत्यस्ति प्रत्येकं विशेषणविशेष्यभावः । 'तक्षकस्तु लोहिताङ्गः स्वस्तिकाङ्कि-तमस्तक' इति सर्पविशेषस्य 'तक्षक' इति संज्ञा । यद्यपि तक्षकः सर्पस्य विशेषणं भवत्येव । तथाहि 'सर्प' इत्युक्ते सर्पसामान्यं प्रतीयते, न सर्पविशेषः तक्षकः इत्युक्ते तु सर्पविशेषोऽतक्षकाद् व्यावृत्तः प्रतीयते, तथापि यत्रैकैकस्योभयत्र भावस्तत्र समास इति, न च सर्पार्थस्य तक्षकः कदाचित् विशेष्यो भवति कथ न भवति ?

तक्षकस्य सर्पत्वाव्यभिचारात् । ननु नीलमुत्पलमित्यत्र नीलमनीलादुत्पलं व्यावर्तयतीति विशेषणम् उत्पलेन भृङ्गादिभ्यो व्यावर्त्यते इति विशेष्यं च भवति, एवमुत्पलं भृङ्गादिभ्यो नीलं व्यावर्तयतीति विशेषणं, नीलेन रक्तोत्पलादिभ्यो व्यावर्त्यते इति विशेष्यं च भवतीति उभयोर्विशेषणं विशेष्यं भवति उत्पलमपि विशेषणं विशेष्यं च भवति तथा च नीलमिति विशेषणं विशेष्यं योश्च विशेष्यत्वे सति विशेष्यस्यापि विशेषणत्वमित्युत्पलशब्दस्यापि नीलादिना समासप्रसङ्गः, तथा च 'प्रथमोक्तं प्राक्' ।३।१।१४८। इति वचनादुत्पलनीलमित्यपि स्यात् इति चेन्मैवं पूर्वदर्शितरीत्या यथा नीले विशेष्यविशेषणभावः तथोत्पलेऽपीति विशेष्यविशेषणभावस्य साम्येऽपि 'प्रधानानुयाय्यप्रधानम्' इति न्यायादप्रधानस्यैव प्रधानेन समासः प्राधान्यं च द्रव्यशब्दानामेव, द्रव्यस्यैव साक्षात् क्रियाभिसम्बन्धात् । यस्तु गुणादिशब्दानामेव समासस्तत्रोभयोरपि पदयोरप्रधानत्वात् कामचारेण पूर्वापरनिपातः खञ्जश्चासौ कुण्टश्च खञ्जकुण्टः एवं कुण्टखञ्जः । वृद्धोक्षेतिवि-शेषणं द्विविधं समानाधिकरणं व्यधिकरणं चेति । समानाधिकरणं नीलो घट इति । व्यधिकरणं राज्ञः पुरुष इति तत्र व्यधिकरणे विशेषणे 'वृद्धस्य उक्षा' इत्यत्रानेन समासो मा भूदित्येतदर्थमेकार्थमिति प्रदत्तम् तथा च 'वृद्धोक्षा' इत्यत्र नानेन समासः किन्तु 'षष्ठ्ययत्ना०' ।३।१।७६। इति षष्ठीसमासः' कर्मधारये तु 'जातमहद्०' ।३।१।९५। इति समासान्तेऽति वृद्धोक्ष इति स्यात् स तु नेष्ट इति ॥९६॥

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलम् ।३।१।९७।

पूर्वकालो यस्य तद्वाच्येकादीनि चैकार्थानि परेण नाम्ना समासस्तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात् । स्नातानुलिप्तः । एकशाटी । सर्वान्नम् । जरद्गवः । पुराणकविः । नवोक्तिः । केवलज्ञानम् । एकार्थमित्येव । स्नात्वानुलिप्तः ॥९७॥

'पूर्वकाल' इत्यर्थप्रधानो निर्देशः । पूर्वः कालो यस्यार्थस्य स-पूर्वकालः । पूर्वकालः संबन्धिशब्दत्वादपरकालेन समस्यते । तत्र वाचिनि प्रतिपत्तिः अर्थे कार्या-सम्भवादित्याह-तद्वाचीति पूर्वकालवाचि अपरकालवाचिना समस्यत

इत्यर्थः । पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः स्नातालिप्तः वृत्तिस्वाभाव्यात् स्नानोत्तरमेव चन्दनादिसेवनरूपानुलेपनस्य प्रसिद्धत्वाच्च समासे पूर्व-कालत्व-स्यापरकालत्वस्य च पूर्वोत्तरपदार्थयोर्गम्यमानत्वात् तत्र पूर्वा-परकालवाचिशब्दान्तराप्रवेशः । एका शाटी एकशाटी । शाटशब्देन त्वन-भिधानान्न भवति एकः शाटः । सर्वं च तदन्नं च सर्वान्नम् । जरश्चासौ गौश्चेति–जरद्गवः अत्र 'गोस्तत्पुरुषात्' ।७।३।१०५। इति समान्तोऽट् । पुराणश्चासौ कविश्च पुराणकविः । नवा चासावुक्तिश्च नवोक्तिः । केवल-मसहायं ज्ञानं केवलज्ञानम् । स्नात्वानुलिप्तः इति–स्नात्वेत्यसत्वाचिनो नानुलिप्तपदेनैकार्थ्यम् । अयमाशयः स्नात्वेति पूर्वकालक्रियामाह न द्रव्यम्, अनुलिप्तेति तु द्रव्यमाह, अतो भिन्नार्था-विमौ नैकार्था-वित्यर्थः । पूर्वेणैव सिद्धे पुनर्वचनं स्पर्धे परमिति पूर्वनिपातस्य विषयप्रदर्शनार्थं पूर्वाऽ-परकालवाचिनोरद्रव्यशब्दत्वात् च खञ्जकुण्टादिवद-नियमे प्राप्ते पूर्वकाल-वाचिन एव पूर्वनिपातार्थं च । अत्र शब्दस्पर्धः तथाहि-प्रकृतसूत्रे ये शब्दा निहिताः तेषां मिथः समासे सति सूत्र–मध्ये यः शब्दोऽग्रे निहितः तस्य पूर्वनिपातो भवति यश्च पूर्वं निर्दिष्टः स परतो भवति स्पर्द्धे परमिति न्यायात् यथा–केवलपुराणमित्यादिषु ॥६७॥

दिगधिकं संज्ञातद्धितोत्तरपदे ।३।१।९८।

दिग्वाच्यधिकं चैकार्थं नाम्ना समासस्तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात् । संज्ञायां तद्धिते च विषयभूते उत्तरपदे च परतः । दक्षिणकोशला । पूर्वेषु-कामशमी । दक्षिणशालः । अधिकषा-ष्टिकः । उत्तरगवधनः । अधिकगवप्रियः ॥६८॥

दक्षिणाः कोशलाः दक्षिणकोशलाः एवं-नामा जनपदः । पूर्वा चासाविषुका-मशमी च पूर्वेषुकामशमी एवंनामा ग्रामः । संज्ञायां नित्यसमासः नहि वाक्येन संज्ञा गम्यते । पूर्वोत्तरविभागप्रदर्शनार्थं तु विग्रहवाक्यम् । तद्धिते-दक्षिणस्यां शालायां भवः दाक्षिणशालः । अधिकया षष्ठ्या क्रीतः इति 'मूल्यैः क्रीते' ।६।४।१५०। इतीकणि अथवा अधिकांषष्टिं भूतो भावी वेति 'तं भाविभूते' ।६।४।१०५। इतीकणि अधिकषाष्टिकः । अयमपि नित्यसमासः

न हि तद्धिते वाक्यमस्ति । उत्तरपदे-उत्तरो गौर्धनमस्येति-उत्तरगवधनःअत्र पूर्वं त्रिपदबहुव्रीहिः पश्चात् धनशब्दे उत्तरपदे परतः पूर्वयोःपदयोस्तत्पुरुषः तस्मिन् सति 'गोस्तत्पुरुषात्' ७।३।१०५।इति समासान्ते-टि ओकारस्यावादेशः । एवं अधिको गौः प्रयोऽस्येति अधिकगवप्रियः। समासेऽन्त्यं पदमुत्तरपदं विज्ञायते । उत्तरपदेऽपि नित्यं समासः त्रयाणामेकार्थीभाव एवोत्तरपदसंभवात् तत्र च द्वयोर्ध्यपेक्षाभावात् । 'विशेषणं विशेष्येण०' ।३।१।९६। इत्येव सिद्धे नियमार्थं वचनम् दिगधिकं संज्ञातद्धितोत्तरपद एव समस्यते नान्यत्रेति तेन उत्तरा वृक्षाः इत्यत्र समासो न भवति ॥९८॥

संख्या समाहारे च द्विगुश्चानाम्न्ययम् ।३।१।९९।

संख्यावाचि परेण नाम्ना समासस्तत्पुरुषः कर्म्मधारयश्च स्यात् । संज्ञातद्धितयोर्विषये उत्तरपदे च परे समाहारे चार्थे,अयमेव चासंज्ञायां द्विगश्च। पञ्चाम्राः। सप्तर्षयः । द्वैमातुरः।अध्यर्द्धकंसः । पञ्चगवधनः । पञ्चनावप्रियः । पञ्चराजी । समाहारे चेति किम् । अष्टौप्रवचनमातरः । अनाम्नीति किम् । पाञ्चर्षम् । ॥९९॥

अनेकस्य कथञ्चिदेकत्वं समाहारः । संज्ञायाम् पञ्च ते आम्राश्चेति पञ्चाम्राः सन्निवेशादिविशिष्टानां पञ्चानामाम्राणामियंसंज्ञा। सप्त च ते ऋषयश्च सप्तर्षयः सप्तानामृषिविशेषणामियं संज्ञा । ते चेमे—

'मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वशिष्टश्च महातेजाः सप्तमः परिकीर्तितः ॥१॥' इति

तद्धिते-द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरः अत्र 'संख्यासंभद्रात्०' ।६।१।६६। इत्यण्प्रत्ययः मातृशब्दस्यः 'मातुर्' इत्यादेशश्च । अध्यर्द्धेण कंसेन क्रीतः अध्यर्धकंसः 'कसमासेऽध्यर्धं' ।१।१।४१। इत्यध्यर्धशब्दस्य संख्याशब्दत्वम् । अध्यर्धेणेत्यस्यार्धसहितेनैकेनेत्यर्थःकंसेन परिमाण-विशेषेण अत्र'कंसाधति'।६।४।१३५। इतीकट् भवति तस्य च 'अनाम्न्य' ।६।४।१४१। इति लुप् भवति । उत्तरपदे-पञ्च गावो धनमस्येति पञ्चगवधनः अत्र पूर्वं त्रयाणां पदानां

बहुव्रीहिः पश्चात् धनशब्दे उत्तरपदे परतः पूर्वयोः पदयोस्तत्पुरुषस्तस्मिन् सति 'गोस्तत्पुरुषात्' ।७।३।१०५। इति समासान्तेऽटि ततोऽवादेशः। पञ्च नावः प्रिया यस्य स पञ्चनावप्रियः अत्रापि त्रयाणां बहुव्रीहौ पूर्वयोस्तत्पुरुषसंज्ञा कर्मधारयसंज्ञा द्विगुसंज्ञा च। तत्र द्विगुसंज्ञया'नावः'।७।४।१०४। इति समासान्तेऽटि ततः आवादेशः। पञ्चानां राज्ञां समाहारः पञ्चराजी अत्र 'द्विगोरन्नह्नोऽट्' ।७।३।९९। इति समासान्तोऽट् 'नोऽपदस्य तद्धिते' ।७।४।६१। इत्यन्त्यस्वरादिलोपः—

पात्रादिवर्जितादन्तोत्तरपदः समाहारे।
द्विगुरन्नावन्तान्तो वाऽन्यस्तु सर्वो नपुंसकः ॥१॥

इति लिङ्गानुशासने अन्नन्तस्य विकल्पेन स्त्रीत्वानुशासनात् स्त्रीत्वपक्षे 'द्विगोः समाहारात्' ।२।४।२२। इति ङीश्च पञ्चराजीति स्त्रीत्वाभावपक्षे नपुंसकत्वे सति पञ्चराजमिति च भवति। अनन्तरोक्तकारिकार्थश्चायम्-पात्रादिगणवर्जितमकारान्तमुत्तरपदं यस्य स तथाविधो द्विगुःसमाहारे वर्तमानः स्त्रीलिङ्गः, अन्नन्तमादन्तं च यदुत्तरपदं तदन्तो द्विगुः समाहारे वर्तमानो वा स्त्रीलिङ्गः उक्तस्त्रीत्वादन्यो द्विगुः समाहारे वर्तमानः सर्वो नपुंसक इति। अष्टौ प्रवचनमातरः इति-अत्र समाहारस्याविवक्षा। ईर्यासमित्यादिपञ्चसमितयः मनोगुप्त्यादित्रिगुप्तयः इमा अष्टौ प्रवचनमातरः जिनप्रवचने उक्ताः अत्र 'विशेषणं विशेष्येण०' ।३।१।९६। इत्यनेनापि समासो न भवति नियमार्थत्वादस्य नियमाकारश्चायम्-संख्यावाचिनः समाहार-संज्ञा-तद्धितोत्तरपद एव समासो भवति नान्यत्रेति पाञ्चर्षमिति-पञ्चर्षीणामिदं पाञ्चर्षम् अत्र'पञ्चर्षि' इत्यस्य द्विगुसंज्ञायां सत्यामनपत्यप्रत्ययस्य तस्येदम्' ।६।३।१६०। इत्यण्प्रत्ययस्य 'द्विगोरन०' ।६।१।२६। इत्यनेन लुप् भवति। तद्वारणार्थम् 'अनाम्नि' इत्यावश्यकमेव। ननु सूत्रे 'अयम्' इत्यस्य ग्रहणाभावेऽपि सन्निधानादेव 'द्विगुश्च' इत्यस्यैव 'अनाम्नि' इत्यनेन संबन्धः स्यादिति 'अयं-ग्रहणम् विफलमिति चेत्सत्यमयंग्रहणमुत्तरत्र 'द्विगुश्चेत्यस्याननुवृत्त्यर्थम् ॥९९॥

निन्द्यं कुत्सनैरपापाद्यैः ।३।१।१००।

निन्द्यवाचि निन्दाहेतुभिः पापादिवर्जैः सह समासस्तत्पुरुषः

कर्म्मधारयश्च स्यात्। वैयाकरणखसूची। मीमांसकदुर्दुरूढः। निन्द्यमिति किम्? वैयाकरणश्चौरः। अपापाद्यैरिति किम्। पापवैयाकरणः। हतविधिः ॥१००॥

वैयाकरणश्चासौ खसूची च वैयाकरणखसूची, यः शब्दं पृष्टः सन् निष्प्रतिभत्वात् खं सूचयति स एवमुच्यते। मीमांसकश्चासौ दुर्दुरूढः मीमांसकदुर्दुरूढः। दुर्दुरूढः नास्तिकः क्वचित् दुर्दुरूट इति पाठ उपलभ्यते–तत्र दुःपूर्वात् दृणातेः 'दुरो द्रः कूटश्च दुर्च' । उणा० १५६। इति किति ऊट्प्रत्यये दुरुदेशे च दुर्दुरुट इति पृषोदरादिपाठात् टस्थाने ढकारे दुर्दुरुढः इति। वैयाकरणश्चौर इति–प्रत्यासत्तेर्निन्द्यशब्दप्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामयं समास इष्यते न चात्र चौर्य्येण वैयाकरणत्वं कुत्स्यते यस्मात् चौरोऽपि सम्यग् व्याकरणमधीते वेत्ति वा तस्मान्नात्र वैयाकरणत्व प्रवृत्तिनिमित्त कुत्स्यते। किंतर्हि? तदाश्रयो द्रव्यं वैयाकरणत्वं तदुपलक्षणमात्रम् तेनात्र विशेषणसमासो भवति चौरवैयाकरणः। पापवैयाकरण इति–पापश्चासौ वैयाकरणश्चेति विग्रहः हतविधिरिति हतश्चासौ विधिश्चेति च विग्रहः। पापवैयाकरणः इत्यादिषु पूर्वनिपाते कामचारः विशेष्य-विशेषणभावस्य विवक्षाधीनत्वात् तथा च वैयाकरणस्य विशेषणत्वविवक्षायां वैयाकरणपापः इत्याद्यपि भवति। हतविधिरित्यादिषु तु जातिशब्देषु पापादेरेव विशेषणत्वमिति तस्यैव प्राग्निपातः। अधीतस्यानधीतरूपं हि पापमस्मिन् विद्यते इति व्याकरणाध्ययनरूपं वैयाकरणत्वमेव निन्द्यते एवं हतविधिः। विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं वचनम्। बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥१००॥

उपमानं सामान्यैः ।२।१।१०१।

उपमानवाच्येकार्थमुपमानोपमेयसाधारणधर्म्मवाचिभिरेव समासस्तत्पुरुषः कर्म्मधारयश्च स्यात्। शस्त्रीश्यामा। मृगचपला। उपमानमिति किम्। देवदत्ता श्यामा। सामान्यैरिति किम्। अग्निर्माणवकः ॥१०१॥

उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम्। उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मः सामान्यम्। सामान्यैरेवेति बहुवचननिर्देशः स्वरूपविधेर्निरासार्थः तेन सामान्यशब्देन

तदर्थो ग्राह्यः तदनुरोधादुपमानमित्यत्रापि तदर्थो ग्राह्यः अर्थे च कार्यासंभवात् तद्वाचिनि शब्दे प्रतिपत्तिः। एकार्थमितीहानुवर्तते तथा च योऽर्थो निष्पन्नस्तमाह उपमानवाचीत्यादि-शस्त्रीव शस्त्री चासौ श्यामा च शस्त्रीश्यामा शस्त्रीव श्यामेत्यर्थः। शस्त्रीशब्दोऽत्र लक्षणया शस्त्रीसदृशायां देवदत्तायां वर्तते श्यामाशब्दोऽपि श्यामत्वगुणविशिष्टायां देवदत्तायां वर्तते इति सामानाधिकरण्यमैकार्थ्यं भवति। मृगीव मृगी सा चासौ चपला च- मृगचपला। अत्र 'पुंवत् कर्मधारये' ।३।२।५७। इति मृगीशब्दस्य पुंवद्भावः। 'विशेषणं विशेष्येण०' ।३।१।९६। इत्येव समासे उपमानोपमेययोः साधारणधर्म-प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यैव पूर्वनिपाते च सिद्धे उपमानं सामान्यैरेवेति नियमार्थं वचनम्, तेनाग्निर्माणवक इत्यादौ विशेषणसमासोऽपि न भवति। माणवको बालकः अग्निशब्दो लक्षणयाग्निसदृशपदः ॥१०१॥

उपमेयं व्याघ्राद्यैः साम्यानुक्तौ ।३।१।१०२।

उपमेयवाच्येकार्थमुपमानवाचिभिर्व्याघ्राद्यैः साधारणधर्मानुक्तौ समासस्तत्पुरुषः कर्म्मधारयश्च स्यात्। पुरुषव्याघ्रः। श्वसिंही। साम्यानुक्ताविति किम्। पुरुषव्याघ्रः शूर इतिमाभूत् ॥१०२॥

व्याघ्र इव व्याघ्रः पुरुषः सः चासौ व्याघ्रश्च पुरुषव्याघ्रः। शुनी चासौ सिंही च श्वसिंही अत्रापि कर्मधारयात्पुंवद्भावः। बहुवचनमाकृतिगणार्थम्। उपमानं सामान्यैरेवेत्यवधारणेन विशेषणसमासे प्रतिषिद्धे उपमानभूतानां व्याघ्रादिशब्दानामुपमेयेन सहापि विशेषण-समासो न स्यादिति समासविधानार्थं वचनम् किञ्च विशेषण— समासेऽत्र विशेष्यविशेषणयोरुभयोरपि द्रव्यवाचकत्वेन विशेष्य-विशेषणभावस्य न विवक्षाधीनत्वात् कदाचित्पुरुषस्य कदाचिद् व्याघ्रस्य च पूर्वप्रयोगः स्यादिति पूर्वप्रयोगनियमार्थमपि सूत्रस्यावश्यकत्वम् अन्यथा खञ्जकुण्टवदनियमः स्यात्। न च पुरुषः व्याघ्र इव शूरः इत्यत्र शूरसापेक्षत्वेन सापेक्षमसमर्थमिति न्यायात् व्याघ्रपदेनासामर्थ्यादेव समासाभावात् साम्यानुक्ताविति प्रतिषेधोऽनर्थकः इति वाच्यम् इदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम्-प्रधानस्य

सापेक्षत्वेऽपि समासो भवति तेन राजपुरुषः दर्शनीयः इत्यादि सिद्धम् ॥१०२॥

पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीरम् ।३।१।१०३।

एतान्येकार्थानि नाम्ना परेण समासस्तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्युः । पूर्वपुरुषः । अपरपुरुषः । प्रथमपुरुषः । चरमपुरुषः । जघन्यपुरुषः । समानपुरुषः । मध्यपुरुषः । मध्यमपुरुषः । वीरपुरुषः ॥१०३॥

पूर्वश्चासौ पुरुषश्च पूर्वपुरुषः । एवं सर्वत्र 'विशेषणं विशे०' इत्यादिनैव सिद्धे 'स्पर्द्धे' ।७।४।११९। यत्र सूत्रोक्तानामेव मध्ये द्वयोः परस्परं समासस्तत्र परपठितस्यैव पूर्वनिपातो यथा स्यादित्येवमर्थमद्रव्यवाचिनोरनियमेन पूर्वापरभावप्रसक्तौ पूर्वनिपातनियमार्थं च वचनम् । तेन पूर्वजरन्, वीरपूर्वः, पूर्वपटु इत्यादि सिध्यति ॥१०३॥

श्रेण्यादि कृताद्यैश्च्व्यर्थे ।३।१।१०४।

श्रेण्याद्येकार्थं कृताद्यैः सह च्व्यर्थे गम्ये समासस्तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात् । श्रेणिकृताः । ऊककृताः । च्व्यर्थ इति किम् । श्रेणयः कृताः केचित् ॥१०४॥

एक-शिल्पोपजीविनामेकपण्योपजीविनां वा सङ्घः श्रेणिः अश्रेणयः श्रेणयः कृताः श्रेणिकृताः पुरुषाः । अत्र च्व्यर्थस्य समासेनैवोक्तत्वादुक्तार्थानामप्रयोगः इति निषेधात्समासात्पश्चान्न च्विप्रत्ययः इति न तन्निमित्तो दीर्घः । अनूकाः ऊकाः कृताः—ऊककृताः राशिस्थानिकृता इत्यर्थः । श्रेणयः कृताः केचिदिति – किञ्चिन्निगृहीता अनुगृहीता वेत्यर्थः । न चात्रापि अकृतस्यैव करणं भवतीति च्व्यर्थस्य प्रतीयमानत्वादत्रापि कथं न समास इति वाच्यं श्रेणिस्वरूपोपलक्षितानामेव श्रेणिस्वरूपादन्यत्क्रियमाणमनेन

दर्शयति, न च तत्कृतौ श्रेणिस्वरूपेऽभूततद्भावोऽस्तीति च्व्यर्थाभावः, निगृहीताः दण्डिताः अनुगृहीता उपकृताः सत्कृता वा, कृतशब्दस्य निगृहीतादिशब्दाना-मर्थेषु वृत्तिर्न सम्भवतीति तु न शङ्क्यम् करोतेः क्रियासामान्यवाचित्वादनेकार्थत्वाद्वा धातूनाम्। बहुवचनमाकृतिगणार्थम्। श्रेणिकृता इत्यादौ क्रियाकारकसम्बन्धमात्रं न विशेष्य-विशेषणभाव इति वचनम्।

क्तं नञादिभिन्नैः।३।१।१०५।

क्तान्तमेकार्थं नञ्प्रकारैरेव यानि भिन्नानि तैः सहसमासस्तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात्। कृताकृतम्। पीताऽवपीतम्। क्तमिति किम्। कर्त्तव्यमकर्त्तव्यं च। नञादिभिन्नैरितिकिम्। कृतं प्रकृतं। कृतञ्चाविहितं च ॥१०५॥

कृतं च तदकृतं च कृताकृतम्। पीतावपीतमिति आदिशब्दोपादानेन 'अप वि अव' प्रभृतीनां संग्रहो भवति। इटः क्तावयवत्वाद्विकारस्य त्वेकदेशविकृतस्यानन्यत्वान्न भेदकत्वम्, तेन विलष्टाकिशितम्, पूतापवित-मित्याद्यपि भवति। कृतं प्रकृतमिति-कृताकृतादिषु हीषदसमाप्तिद्योतकस्य नञः प्रयोगात् तदादयोऽपीषदसमाप्तिद्योतिनामपादीनां ग्रहणादिह प्रकृष्टार्थद्योतकस्य प्रस्याग्रहणान्न भवति समासः। कृतं चाविहितं चेत्यत्र प्रकृतिभेदः। 'कृत् सगति०' ।७।४। इति विहितेत्यस्य क्तान्तत्वमस्ति अवयवधर्मेण समुदायव्यपदेशात् कृताकृतादिष्वैकार्थ्यम्। 'विशेषणं विशेष्येणै०' ।३।१।९६। इत्येव समासः सिद्धः, क्रियाशब्दत्वादनियमेन पूर्वापरनिपाते प्राप्ते पूर्वनिपातनियमार्थं वचनम्, तेनाकृतकृतमित्यादि न भवति ॥१०५॥

सेट्नाऽनिटा।३।१।१०६।

सेट् क्तान्तं नञादिभिन्नेनानिटा सह न समस्यते। क्लिशितम-

क्लिष्टम् । शितमशातम् । सेडिति किम् । कृताकृतम् । अनि-टेति किम् । अशितानशितम् ॥१०६॥

पूर्वस्यापवादः । इड्ग्रहणमर्थभेदाहेतोर्विकारस्योपलक्षणम्, तेन शिताशात-मित्याद्यपि न भवति ॥१०६॥

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टं पूजायाम् ।३।१।१०७।

एतान्येकार्थानि पूजायां गम्यमानायां पूज्यवचनैः सह समासस्तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात् । सत्पुरुषः । महापुरुषः । परमपुरुषः । उत्तमपुरुषः । उत्कृष्टपुरुषः । पूजायामिति किम् । सन्घटो ऽस्तीत्यर्थः ॥१०७॥

संश्चासौ पुरुषश्च सत्पुरुषः । महांश्चासौ पुरुषश्च महापुरुषः । 'जातीयै०' ।३।२।७०। इति डाः । ननु महाजनः, महोदधिः' इत्यत्र वैपुल्यस्य गम्यमान-त्वात्पूजाया गम्यमानत्वाभावात् कथं समास इति चेत् सत्यम् बहुलाधि-कारात् भवति । पूजायामेवेति नियमार्थं वचनं पूर्वनिपातव्यवस्थार्थं च तेन सच्छुल्कः' इत्यादौ खञ्जकुण्टादिवदनियमेन. पूर्वनिपातो न भवति परमजरन् इत्यत्र 'पूर्वकाले०' ।३।१।९७। इत्यनेन महावीर इत्यत्र 'पूर्वा-परप्रथम०' ।३।१।१०३। इत्यनेन परममहान् इत्यत्र च 'सन्महत्परम०' ।३।१।१०७। इत्यनेन समासे सति स्पर्धे परमिति यथा परं पूर्वनिपातश्च सिद्धो भवति । परममहान् इत्यत्र परममहतोरेकसूत्रपठितयोरपि परस्परं समासे पाठापेक्षया परमशब्दस्य परत्वेन तस्यैव पूर्वनिपातात् 'परम-महान्' इति भवति ॥१०७॥

वृन्दारकनागकुञ्जरैः ।३।१।१०८।

पूजायां गम्यायामेभिः सहः पूज्यवाच्येकार्थं समासस्तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात् । गोवृन्दारकः । गोनागः । गोकुञ्जरः ।

पूजायामिति किम् । सुसीमो नागः ॥१०८॥

वृन्दारक इव वृन्दारकः। गौश्चासौ वृन्दारकश्च गोवृन्दारकः। वृन्दारकशब्दो देववाची स गवादिना समानाधिकरणमलभ-मानः तात्पर्यमूलकलक्षणया स्वसदृशार्थपरः। तथा च गोवृन्दारक इति समासस्य वृन्दारकसदृशो गौरित्यर्थः। यथा सर्वप्राणिषु देवाः श्रेष्ठास्तथा गोष्वयं श्रेष्ठः पूज्य इत्यर्थः। अत्र वृन्दारकशब्दो वृन्दारकगतं पूज्यत्वं गुणमाश्रित्य गवि वर्तते अतो गोः प्रशंसा पूजा गम्यते इत्यर्थः। नागो हस्ती। नाग इव नागः। नागश्चासौ गौश्चेति गोनागः नाग इव बलवानित्येवमुच्यते। कुञ्जरो हस्ती कुञ्जर इव कुञ्जरः। गौश्चासौ कुञ्जरश्च गोकुञ्जरः। वृन्दारकादीनां जातिशब्दत्वेऽपि उपमानात्पूजावगतिः। शोभना सीमा स्फटा यस्य स सुसीमो नागः। नात्र नागशब्दः पूजां गमयति किंतु जातिमात्रम्। स्फटा फणेत्यर्थः। नन्वत्र सुसीमत्वेन शोभनफणतया नागस्य पूजा गम्यत इति कथं समासो न भवतीति चेत्सत्यं 'पूजायाम्' इत्यनुवृत्तेन 'वृन्दारक नाग-कुञ्जराः विशिष्यन्ते तथा च पूजायां ये वृन्दारकनागकुञ्जराः ये पूजां गमयन्ति तैः समासः इत्यर्थो जातः। सुसीमो नाग इत्यत्र तु सुसीमवचनः न तु नागशब्द इति समासो न भवति। व्याघ्रादेराकृति-गणत्वात् 'उपमेयं व्याघ्राद्यैः साम्यानुक्तौ' ।२।१।१०२। इत्येव सिद्धे पूजायामेवेति नियमार्थं साम्योक्तावपि विधानार्थं च वचनम्, तेन गोनागः बलवानि-त्यादि सिद्धम् ॥१०८॥

कतरकतमौ जातिप्रश्ने ।३।१।१०९।

एतावेकार्थौ जातिप्रश्ने गम्ये जात्यर्थेन नाम्ना समासस्तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात्। कतरकठः। कतमगार्ग्यः। जातिप्रश्न इति किम्। कतरः शुक्लः। कतमो गन्ता ॥१०९॥

एतावेकार्थाविति–अन्यत्र द्वयोरेकस्मिन् निधार्ये डतरो भवति बहूनामे-कस्मिन् निर्धार्ये डतमो भवतीति कतरकतमयोर्नैकार्थत्वम् किन्तु 'बहूनां प्रश्ने डतमश्च वा' ।७।३।५४। इत्यनेन प्रश्नपूर्वके निर्धार्येऽ-र्थे डतमो

डतरश्च पाक्षिकाविति तत्र कतरकतमयोरेकार्थत्वम् तत्र प्रश्नस्यानेकविषयत्वसम्भवेनेह विशिष्टविषयत्वमाह–जातिप्रश्ने इति–जातिप्रश्न-वाचकयोरेतयो-र्जातिवाचिनाम्नैव सह व्यपेक्षारूपमेकार्थीभावरूपं वा सामर्थ्यं भवितुमर्हतीति जातिप्रश्नपदसामर्थ्यादेव जातिवाचिनाम्नैवानयोः समासो लभ्येत इत्यत उक्तं जात्यर्थेनेति–कतरश्चासौ कठश्चेति कतरकठः। कठेन प्रोक्तमधीत इति कठः भवतां मध्ये कतरः कठोक्तशाखाध्यायीति प्रयोगार्थः कठशब्दात् 'तेन प्रोक्तं' ।६।३।१८१। इत्यण् 'कठादिभ्यो वेदे लुप्' ।६।३।१७३। इति तस्य लोपः कठं वेत्त्यधीते वेति 'तद्वेत्त्यधीते' ।६।२।११७। इत्यण् तस्य 'प्रोक्तात्' ।६।२।१२६। इति लुप् एवं प्रक्रियां गमि-तेन कठशब्देन कठोक्तशाखाध्येता कथ्यते। अत्र 'गोत्रं च चरणैः सह'। इति वचनात् चरणलक्षणजातित्वं तद्विषयप्रश्नेऽयं समासः। कतमश्चासौ गार्ग्यश्चेति कतमगार्ग्यः। गर्गस्य वृद्धमपत्यमिति 'गर्गादिभ्यो यञ्' ।६।१।४२। इति वृद्धापत्ये यञ्। अपत्यप्रत्ययान्तत्वेनात्र गोत्रलक्षणजातित्वम् तद्विषयप्रश्नेऽ-यं समासः। अनन्तरापत्यं वृद्धापत्यं युवापत्यं च गोत्रम् तदभिधायिनोऽ-पत्यप्रत्ययान्ता अपि अभेदोपचारात् गोत्रम्। कतरः शुक्ल इत्यादि–जातिप्रश्न इत्युपादानम् कतरः शुक्ल इत्यत्र गुणप्रश्नस्य कतमो गन्तेत्यत्र क्रियाप्रश्नस्य गम्यमानत्वात् समासो न भवति। 'विशेषणं विशेष्ये०' ।३।१।६५। इत्येव सिद्धे जातिप्रश्न एवेति नियमार्थं वचनम् ॥१०९॥

किं क्षेपे ।३।१।११०।

निन्दायां गम्यमानायां किमित्येकार्थं कुत्स्यवाचिना समासस्तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात्। किंराजा। किंगौः। क्षेपइति किम्। को राजा तत्र ॥११०॥

निन्दा–दोषोद्घोषणम्। को राजा किंराजा यो न रक्षति। प्रजानां रक्षणं राज्ञः कर्तव्यं तदनाचरणात्तस्य कुत्सितत्वमिति भावः। को गौः किंगौ यो न वहति। गौर्नाम भारवहनार्थः तदभावे स किंगौरिति क्षिप्यते। 'न किमः क्षेपे' ।७।३।७०। इति समासान्तप्रतिषेधात् किंराजः इत्यत्र "राज-

न्सखे ।७।३।१०३। इत्यनेन विहितः किंगौरित्यत्र 'गोस्तत्पुरुषात्' ।७।३।१०५। इत्यनेन विहितश्च समासान्तो न भवति । को राजा तत्रेति-अत्र किंशब्दः प्रश्ने न क्षेपे इति समासो न भवति । 'विशेषणं विशेष्ये०' ।३।१।९६। इत्येव सिद्धे क्षेप एवेति नियमार्थं वचनम् ॥११०॥

पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्त्तप्रशंसारूढैर्जातिः ।३।१।१११।

पोटादिभिः प्रशंसारूढैश्च सह जातिवाच्येकार्थं समासस्तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात् । इभ्यपोटा । नागयुवतिः । अग्निस्तोकम् । दधिकतिपयम् । गोगृष्टिः । गोधेनुः । गोवशा । गोवेहत् । गोबष्कयणी । कठप्रवक्ता । कठश्रोत्रियः कठाध्यापकः । मृगधूर्त्तः । गोमतल्लिका । गोप्रकाण्डम् ॥१११॥

इभ्यपोटेति इभ्या च सा पोटा चे-ति विग्रहः । इभ्या करेणुः स्थौल्यगुणयोगेन मनुष्यां प्रयोगात् 'इभ्या' इति जातिः पुरुषवेषधारिणी स्त्री पोटा गर्भ एव दास्यं प्राप्ता वा । या मातृगर्भास्थितैव धनिकेन भोगार्थं क्रीतेत्यर्थः । उभयव्यञ्जना वा स्त्रीपुरुषोभयलक्षणेत्यर्थः । नागयुवति-रिति गजवाची सर्पवाची च नागशब्दः स्थौल्यगुणयोगात् सादृश्येनान्यत्र स्त्रियांप्रयुज्यत इत्यङ्गीकारे नागी चासौ युवतिश्चेति 'भाजगोण०' ।२।४।३०। इति ङीः सर्पवाचिनो नागशब्दस्य दैर्घ्यगुणयोगादन्यत्र स्त्रियां प्रयोगे नागा चासौ युवतिश्चेति विग्रहः । अग्निस्तोकमिति—अग्निश्चासौ स्तोकं चेति विग्रहः स्तोचनं भावे घञि न्यङ्क्वादित्वात् कत्वे स्तोकः सोऽ स्यास्तीत्य भ्राद्यप्रत्यये स्तोकम्, 'वरं विरोधः' इति–वत् भिन्नलिङ्गयोरपि सामानाधिकरण्यम् । दधिकतिपयमिति–दधि च तत् कतिपयं चेति विग्रहः । गोगृष्टिरित्यादि-गौश्चासौ गृष्टिश्चेति गृष्टिः सकृत्प्रसूता । गौश्चासौ धेनुश्च गोधेनुः । धेनुः नवप्रसूता । गौश्चासौ वशा च गोवशा । वशा–वन्ध्या । गौश्चासौ वेहच्च गोवेहत् वेहत् गर्भघातिनी । विहन्तिगर्भमिति 'संश्चद्वेहत्०' । उणा ८८२ । इति निपातनम् वेहत् । गौश्चासौ बष्कयणी च गोबष्कयणी । अत्र पाठद्वयं दृश्यते बष्कयणी, बष्कयिणी' इति 'बष्कयस्त्वेकहायनो वत्सः'

इति शाकटायनः, तेन नीयत इति बष्कयणीति, बष्कयः, प्रौढवत्सोऽस्त्यस्या इति बष्कयिणीति साधना । कठप्रवक्त्रेत्यादि—कठश्चासौ प्रवक्ता चेति । प्रवक्ता-उपाध्यायः । कठश्चासौ श्रोत्रियश्च कठश्रोत्रियः । श्रोत्रियः—छन्दोऽध्यायी वेदाध्यायीत्यर्थः । कठश्चासावध्यायकः । अध्यायकः-अध्येता । मृगधूर्तः इति-मृगश्चासौ धूर्तश्चेति विग्रहः । धूर्तः-वञ्चकः । मृगधूर्तः-शृगालः । ननु 'निन्द्यं कुत्सनैरपापाद्यैः' ।३।१।१००। इति सूत्रेणैव समासे विशेष्यस्य पूर्वनिपाते च सिद्धेऽत्र धूर्तपदोपादानं व्यर्थमिति चेत् सत्यम्, वैयाकरणखसूचीत्यादौ तु शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं वैयाकरणत्वं निन्द्यते अत्र तु प्रवृत्तिनिमित्ताश्रयः मृगादिरूपः निन्द्यते इति तदाश्रयकुत्सायां समासो यथा स्यादिति धूर्त-ग्रहणम् । गोमतल्लिकेत्यादि—गौश्चासौ मतल्लिका च । गौश्चासौ प्रकाण्डं चेति गोमतल्लिका गोप्रकाण्डम् । शोभनोऽभिरूपो दर्शनीयो गौरित्यर्थः उत्तरपदस्थौ प्रशस्यार्थप्रकाशकौ मतल्लिका प्रकाण्ड-शब्दौ वाक्येन पूजा न गम्यते इति नित्यसमासावेतौ परमर्थदर्शनार्थमलौकिकं वाक्यं क्रियते । रूढ-ग्रहणा-दिह न भवति—गौः रमणीया, गौः शोभना: । शोभनरमणीय-शब्दौ शोभनत्वं रमणीयत्वं च गुणमुपादाय प्रशंसां गमयतः न तु प्रशंसामेव मतल्लिकादिवदिति रूढग्रहणादिह न भवति । असति रूढग्रहणे तु प्रशंसा-शब्दमात्रेण समास इतीहापि स्यात् । विशेष्यस्य जातेः पूर्वनिपातार्थं वचनम् ॥१११॥

चतुष्पाद्गर्भिण्या ।३।१।११२।

चत्वारः पादा यस्या जातेस्तद्वाच्येकार्थं गर्भिण्या समासस्तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात् । गोगर्भिणी । महिषगर्भिणी । जातिरित्येव । कालाक्षी गर्भिणी ।

चातुष्पादिति—चत्वारो पादा यस्याः सा चातुष्पाद् गवादिजातिः 'एकार्थं०' ।३।१।२२। इति समासः, 'सुसंख्यात्' ।७।१।१५०। इति पादशब्दस्य 'पाद्' इत्यादेशः, 'निर्दुर्बहि०' ।२।३।९। इति चातुरो रस्य षः । गौश्चासौ गर्भिणी च गोगर्भिणी, महिषी चासौ गर्भिणी च महिषगर्भिणी 'पुंवत् कर्मधारये' ।३।२।५७। इति पुंवद्भावः । कालाक्षी गर्भिणीति-संज्ञाशब्दोऽयम् न तु

जातिवचनः इति समासो न भवति कस्याश्चित् स्त्रीगव्याः 'कालाक्षी' इति संज्ञेति संज्ञाशब्दोऽयं न तु जातिवचन इति समासो न भवति। जातेर्विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं वचनम् ॥११२॥

युवाखलतिपलितजरद्वलिनैः ।२।१।११३।

युवन्नित्येकार्थमेभिः समासस्तत्पुरुषः कर्म्मधारयश्च स्यात् । युवखलतिः । युवपलितः । युवजरन् । युववलिनः ॥११३॥

युवा चासौ खलतिश्च-युवखलतिः। युवा चासौ पलितश्च युवपलितः। युवा चासौ जरंश्च युवजरन्। ननु युवा चेत् कथं जरन् भवति ? जरन् वा कथं युवा ? इति चेत् सत्यं जरत्युत्साहादियुवधर्मोपलम्भाद् युनि वाऽऽलस्यादि-जरद्धर्मोपलम्भात् तद्रूपारोप इति। वलयोऽस्य सन्ति वलिनः अङ्गादित्वान्नः।' नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्'इति युवतिश्चासौ खलतिश्च-युवखलतिः 'इतोऽक्त्यर्थात्' ।२।४।३२। इति विकल्पेन स्त्रियां ङीविधानात् वैकल्पिकं 'खलती' इत्यपि रूपं गृह्यते। युवतिश्चासौ पलिता च। युवतिश्चासौ जरती च। युवतिश्चासौ वलिना च विशेषण-विशेष्यभावस्य विवक्षाधीनत्वेन यून एव प्राधान्येन विवक्षितत्वात् विशेष्यत्वात् परनिपाते प्राप्ते द्वयोर्वा गुणवचनत्वात् खञ्जकुण्टा–दिवदनियमे पूर्वनिपातार्थं वचनम् ॥११३॥

कृत्यतुल्याख्यमजात्या ।३।१।११४।

कृत्यान्तं तुल्यपर्यायं चैकार्थ्यमजात्येन सह समासस्तत्पुरुषःकर्म्मधारयश्च स्यात् । भोज्योष्णम् । स्तुत्यपटुः । तुल्यसन् । सदृशमहान् । अजात्येति किम् । भोज्य ओदनः ॥११४॥

तुल्याख्यमिति-तुल्यमर्थमाचष्ट इति तुल्याख्यं 'मूलविभुजादयः' ।५।१।१४४ इति कः। तुल्यस्याख्याऽभिधास्यास्तीति वा तुल्याख्यम्। आख्याग्रहणं पर्यायार्थ-

न्यथा 'स्वंरूपम्०' इति न्यायेन तुल्यशब्द:एव विज्ञायेत। भोज्यं च तदुष्णं च भोज्योष्णम् जलम्, भोक्तुं शक्यं भोजनार्हं वोष्णमित्यर्थः। भुज्धातोः 'ऋवर्णत्यञ्जनादृघ्यण्' ।५।१।१७। इति घ्यण्, उष्णमिति गुणो न जातिरतः समासः। स्तुत्यश्चासौ पटुश्च स्तुत्यपटुः पुरुषः। स्तोतुं शक्यः स्तवनार्हो वेत्यर्थः। स्तौतेः 'दृवृग्स्तु' ।५।१।४०। इति क्यपि 'स्तुत्य' इति। 'शक्तार्हे कृत्याश्च' ।५।४।३५। इति सूत्रेण कृत्याः शक्यार्थेऽर्हार्थे च ज्ञेयाः। तुल्यश्चासौ संश्चेति स तुल्यसन् सदृशश्चासौ महांश्चेति स सदृशमहान्। अत्र 'सन्महत्०' ।३।१।१०७। इति सूत्रविषयासत्त्वेऽपि परत्वादनेनैव समासः। सत्कृत्यं 'परमपूज्य' इत्यादिविशेषणे सतां कृत्यमित्यादि षष्ठीसमास एवोचितः कर्मधारयसमासे त्वस्य प्रवृत्त्या कृत्यसत् पूज्यपरम इत्यादि स्यात्। बाहुलकाद्वा 'सन्महत्०' ।३।१।१०७। इत्यस्यैवात्र प्रवृत्तिः जात्या समासस्याजातेः पूर्वत्वस्य च प्रतिषेधार्थं वचनम् ॥१४॥

कुमारः श्रमणादिना ।३।१।११५।

कुमारेत्येकार्थं श्रमणादिना समासस्तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात्। कुमारश्रमणा। कुमारप्रव्रजिता ॥११५॥

कुमारी चासौ श्रमणा च कुमार-श्रमणा, कुमारी चासौ प्रव्रजिता च कुमारप्रव्रजिता। 'पुंवत् कर्मधारये' ।३।२।५७। इति पुंवद्भावः। 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति न्यायात् श्रमणादौ ये स्त्रीलिङ्गाः तैः सह स्त्रीलिङ्गः कुमारशब्दः समस्यते अन्यैस्तूभयलिङ्गः समस्यते। अनेनैव न्यायेन स्त्रीलिङ्गेऽपि समासस्य सिद्धावपि श्रमणादीनां स्त्रीलिङ्गानां पाठः पुल्लिङ्गैः पूर्वनिपाते कामचारः इति बोधनाय तेन कुमारश्रमणः प्रव्रजितकुमार इति। श्रमणादीनां क्रियाशब्दत्वेन कुमारापेक्षया तेषामेव पूर्व-निपातः स्यात् अथवा कुमारशब्दस्य वयोरूपगुणवचनत्वेन विशेषणत्वमितिनियमाभावेन न नैयत्येन पूर्वनिपातः स्यादिति कुमारशब्दस्य पूर्वनिपातनियमार्थं वचनम् ॥११५॥

मयूरव्यंसकेत्यादयः ।३।१।११६।

एते तत्पुरुषसमासा निपात्यन्ते । मयूरव्यंसकः । कम्बोजमुण्डः । एहीडं कर्म । अश्नीतपिबता क्रिया । कुरुकटो वक्ता । गतप्रत्यागतं । क्रयक्रयिका । शाकपार्थिवः । त्रिभागः । सर्वश्वेतः । ॥११६॥

व्यंसयति छलयतीति व्यंसकः धूर्त इत्यर्थः । मयूरश्च व्यंसकश्चासौ मयूरव्यंसकः, मुण्डश्चासौ कम्बोजश्च कम्बोजमुण्डः । मयूरव्यंसकः कम्बोजमुण्डः इत्यत्र विशेष्यस्य पूर्वनिपातो निपातनात् । कम्बोजशब्दः हस्तिभेदे शङ्खभेदे देशभेदे तद्देशस्थजने च वर्तते । मुण्डनं मुण्डः सोऽस्यास्तीत्यर्शआद्यः यद्वा 'मुणत् प्रतिज्ञाने' अतः 'कृ-गृ०' उणा० १७०। इति किड्डे मुण्डः परिवापितकेशः कम्बोजशब्दादपत्ये 'राष्ट्रक्षत्रियात्०' ।६।१।११४। इति द्रञः 'शका०' ।६।१।१२०। इति लोपः एवं चास्य गोत्रलक्षणमिति,अत्रापि गुणशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते जातिशब्दस्यपूर्वनिपातो निपातनात् । एहि ईडे ! स्त्रि ! इति वचनं यस्मिन् कर्मणि तत् एहीडं कर्म । आङ्पूर्वस्य'इंण्क् गतौ'इत्यस्य पञ्चम्याः हिप्रत्यये-'एहि'इति आगच्छेति तदर्थः 'ईडिकस्तुतौ 'इतिधातोः 'म्लेच्छीडेर्ह्रस्वश्च' (उणा-३)इत्यप्रत्यये स्त्रियामापि 'ईडा' स्त्रीति तदामन्त्रणे ईडे । ईडाशब्दोऽत्र स्त्रियां वर्तत इति प्रदर्शनाय 'स्त्रि' इति ईडे । इत्यस्य पर्यायततयो-च्यते। इतिशब्दोऽभेदार्थकः । अश्नीत-पिबतेति सातत्येनोच्यते यस्यां क्रियायां साअश्नीतपिबता क्रिया । कुरु कटमित्यभीक्ष्ण्यं कश्चिदाह स कुरुकटो वक्ता गतं। च तत् प्रत्यागतं च गतप्रत्यागतम् अत्रयदेव गतं तदेव प्रत्यात पूर्वापरकालविवक्षा नास्ति। क्रयः,अल्पः क्रयिका क्रयशब्दादल्पार्थे कः तदन्तःस्वाभाव्यादेव स्त्रिया वर्ततेइत्याप् क्रयावयवयोगात् क्रयः क्रयिकावयवयोगात् क्रयिका क्रयश्चासौ क्रयिका च क्रयक्रयिका समुदाय-निपातनात्पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् । गतप्रत्यागतादौ विशेषणसमासे पूर्वपदत्वानियमः स्यात्। इष्यते च गतादेरेव तदर्थमिहैतदुपादानम् एवं निपातनात् दीर्घत्वादिकमपि सिद्धम् । शाकपार्थिव इति–शाकप्रियः शाकभोजी शाकप्रधानो वा पार्थिवः शाकपार्थिवः शाकं प्रियं यस्य स शाकप्रियः । शाकं भुङ्क्ते इति शाकभोजी । शाकं प्रधानमस्य शाकप्रधानः स चासौ पार्थिवश्च अत्र निपातनात् प्रियादेरुत्तरपदस्य लोपः पृथोरपत्यं पार्थिवः यद्वा पृथिव्या ईश्वरः 'पृथिवीसर्व०' ।६।४।४।१५६। इत्यत्रि पार्थिवः। त्रिभागःइति तृतीयो भागःत्रि-भागःअत्र पूरणप्रत्ययस्य वा लुग्भ-

वति विकल्पेन लोपात् तृतीयभाग इत्यपि भवति । सर्वश्वेत इति-सर्वेषां श्वेततरः-सर्वश्वेतः । अयमर्थः-सर्वे श्वेता तत्रायमतिशयेनेति श्वेततरः । अत्र 'द्वयोर्विभज्ये०' ।७।३।६। इति तरप्प्रत्ययः सर्वेषां श्वेततरः इत्यत्र 'सप्तमी चाविभागे०' ।२।२।१०६। इति निर्धारणे षष्ठी । अत्र गुणेन तरबन्तेन निर्धारणषष्ठी-समासः तरब्लोपश्च भवति । इतिशब्दः स्वरूपावधारणार्थः तेन परमो मयूरव्यंसक इति समासान्तरं न भवति उत्तरपदेन भवत्येवेत्यन्ये मयूरव्यंसकप्रियः इत्यादि, मयूरव्यंसकस्य प्रियः इति षष्ठी-समासोऽयम् मयूरव्यंसकः प्रियोऽस्येति बहुव्रीहिर्वा तत्र तत्पुरुष एवेह विवक्षितः बहुव्रीहौ-तु 'प्रियः' ।३।१।१५७। इति प्रियशब्दस्य बहुव्रीहौ विकल्पेन प्राग्निपातविधानात् कदाचित् प्रियशब्दस्यापि पूर्वनिपाते प्रियमयूरव्यंसक इतिस्यात् परं स चा-निष्ट इति । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् तेन विस्पष्टं पटुः विस्पष्टपटुरित्यादयोऽपि द्रष्टव्या अयं 'नाम नाम्नै०' ।३।१।१८। सूत्रेपि दर्शितः यथाकृतिबलादियमपि संज्ञा बहुवचनबलात् । 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति' हि न्यायः । पूर्वेण सामान्यतः समाससंज्ञा, अनेन तत्पुरुषसमासः समासान्तरेऽप्रवेशश्च ।।११६।।

चार्थे द्वन्द्वः सहोक्तौ ।३।१।१७।

नाम नाम्ना सहोक्तिविषये चार्थवृत्तिः समासोद्वन्द्वः स्यात् । प्लक्षन्यग्रोधौ । वाक्त्वचम् । नाम नाम्नेत्यनुवृत्तावपि 'लघ्वक्षरादिसूत्रे एकग्रहणात् बहुनामपि । धवखदिरपलाशाः । चार्थइति किम् ? वीप्सा सहोक्तौ माभूत् । ग्रामो ग्रामो रमणीयः । सहोक्ताविति किम् । प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च वीक्ष्यताम् ।।११७।।

समुच्चयाऽन्वाचयेतरेतरयोगभेदाच्चत्वारश्चार्थाः तत्रैकमर्थं प्रति द्वयादीनां क्रियाकारकद्रव्यगुणानांतुल्यबलानामविरोधिनामनियतक्रमयौगपद्यानामरूपभेदेन चीयमानता समुच्चयः,आत्मरूपभेदेन आत्मनो रूपं स्वप्रवृत्तिनिमित्तं तद्भेदेन तद्वं लक्ष्येन न तु घटकलशादीनामैक्येन चीयमानता ढौकनम् समुच्चयः तुल्यबलानाम् समुच्चये नैकतस्य प्राधान्यं प्रत्याययितुं शक्यत इति द्वयोस्त्रयाणां चतुरादीनां वा समुच्चीयमानता तुल्यबलता । अविरोधिनाम्-सहावस्थानाभावाद्-विरुद्धानां समुच्चीयमानता न सम्भवति यथा शीतोष्णादिशब्दप्रतिपाद्या अर्थाः परस्परप्रतिक्षेपका भवन्ति इति ते न समुच्चेतुं

शक्यन्ते तादृशा ये न भवन्तीति भावः। अनियतक्रमयौगपद्यानाम्-न नियतः क्रमः यौगपद्यं वा येषाम् तेषां यथा बाल्य-यौवनादयो नियतक्रमा बाल्यानन्तरमेव यौवनोद्भवात् यथा च शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः नियतयौगपद्याः एकत्र पृथिव्यादौ पञ्चानामपि युगपदवस्थानसद्भावात् एवम्भूता ये न भवन्ति तेषामेव स्वरूपभेदेन प्रवृत्तिनिमित्त-भेदेन समुच्चीयमानता समुच्चयपदार्थः। (१) यथा चैत्रः पचति पठति च, अत्रैकस्मिन् कारके कर्तृरूपे पाकपाठक्रिययोः समुच्चयः (२) चैत्रो मैत्रश्च पठति, अत्रैकस्यां पाठक्रियायां कर्तृकारकयोः समुच्चयः। (३) राज्ञो गौश्चाश्वश्च, अत्रैकस्मिन् सम्बन्धिनि राज्ञि द्रव्ये द्रव्यद्वयस्य कारकरूपस्य गोरश्वस्य च समुच्चयः। (४) राज्ञो ब्राह्मणस्य च गौः, अत्रैकस्मिन् गवि स्वे द्रव्ये स्वामिद्वयस्य समुच्चयः। (५) शुक्लश्चायं गुणश्च अत्रैकस्मिन् द्रव्ये शुक्ल-कृष्णयोर्गुणयोः समुच्चयः। (६) नीलं च तदुत्पलं च, अत्रैकस्मिन्धर्मिणि उत्पले नीलत्वोत्पलत्वयोर्धर्मयोः समावेशरूपः समुच्चयः। चशब्दं विनापि चार्थप्रतीतिः संभवति-यथा—

अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्।
वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मदी॥

'अहरहरित्यादि—श्मशानात् प्रतिनिवृत्तैः शवानुगामिभिः पठनीयोऽयं मन्त्रः। गामश्वं पुरुषं पशुमिति-पुरुषपदेन मनुष्यः, पशुपदेन च गवाश्वमनुजभिन्नाः सर्वे जन्तवः उपलक्षिताः तथा च सर्वान् प्राणीन् अहरहः प्रतिदिनं नयमानो वैवस्वतो यमो न तृप्यति न विरतेच्छो भवति क इव दुर्मदीव-दुःखेन यो माद्यते बहुतरसुरासेवनेनापि यस्य मदो न सम्पद्यते स यथा सुराया न तृप्यति तथा यमोऽपि गवादीन् नयमानो न तृप्यतीति भावः। तथा चात्र तस्य स्वाभाविके कर्मणि शोको न कर्तव्य-इति शोकापनोदकं वाक्यमिदम्। अत्रैकस्यां नयनक्रियायां बहूनां गवादीनां समुच्चीयमानतया समुच्चयार्थप्रतीतिसद्भावोऽस्त्येव चकारस्तु न पठ्यते तस्मात् चशब्दं विनाऽपि तदर्थप्रतीतिर्भवतीति सिद्धम्। गुण-प्रधान-भावमात्रविशिष्टः समुच्चय एवा-न्वाचयः यथा—बटो भिक्षामट गां चानय स हि भिक्षां तावदटति यदि च गां पश्यति तामप्यानयति। समुच्चये तु समुच्चीयमानानां तुल्यबलत्वम् इह तु गुणप्रधानभाव एकस्य प्राधान्यमपरस्य चाप्राधान्यमिति विशेषः प्रकृते बटोर्भिक्षाटनमुद्देश्यतया प्रधानं गवानयनं चानुषङ्गिकम्, न हि तदर्थं सचेष्ट इति भावः। द्रव्याणामेव परस्परस-

व्यपेक्षाणामुद्भूतावयवभेदः समूहः इतरेतरयोगः। द्रव्याणामेवेत्यादि-एवकारेण क्रियाकारकगुणानां व्यावृत्तिः। परस्परसव्यपेक्षाणामिति-एकां क्रियां प्रति यानि द्रव्याणि एकमपरमपेक्ष्यैव कर्तृत्वादिना सम्बध्यन्ते तादृशानामित्यर्थः। एतावन्मात्रविवक्षायां समाहारेऽप्यतिव्याप्तिः स्यात् अत आह–उद्भूतावयवभेदः इति-समूहो द्विविधः उद्भूतावयवभेदोऽनुद्भूतावयवभेदश्च यत्र समूह-स्थितानामवयवानां स्वगतो भेदः प्रातिस्विकं तद्व्यक्तित्वमुद्भूतं विविच्य ग्रहीतुं योग्यः स उद्भूतावयवभेदः यथा शाखा इति। अत्र शाखासमुदायस्य वृक्षत्वेन वृक्षरूपसमुदायस्थितावयवानां शाखानां भेद उद्भूत इति शाखासु बहुत्वं भवति तत्रैव चावयवभेदस्यानुद्भूतत्वे वृक्ष इत्येकत्वमेव प्रतीयते। एवं च समासे सत्यपि इतरेतरयोगे उद्भूतावयवभेदविवक्षया यथास्वं द्वित्वबहुत्वादिप्रतीति-र्भवति यथा-चैत्रश्च मैत्रश्च घटं कुर्वाते, चैत्रमैत्रौ घटं कुर्वाते इह वाक्यसमासयोरुभयत्रेतरेतरयोगः, एवं चैत्रश्च मैत्रश्च दत्तश्च पटं कुर्वन्ति। चैत्रमैत्रदत्ताः पटं कुर्वन्ति। चैत्रमैत्रौ चैत्रमैत्रदत्ताश्च समुदायावयवभूता उद्भूतत्वात् प्रत्येकं कर्तृत्वादिना प्रतीयन्ते इति तेषां संख्याऽपि प्रतीयते इति संख्यानिबन्धनं द्विवचनं बहुवचनं च भवति। स एव तिरोहितावयवभेदः संहतिप्रधानः समाहारः धवश्च खदिरश्च पलाशश्च तिष्ठति धवखदिरपलाशं तिष्ठति अत्र तु समूहस्य प्राधान्यात्तस्य चैकत्वादेकवचनमेव भवति। एषु चाद्ययोः सहोक्त्यभावात्समासो न भवति, उत्तरयोस्तु चार्थयोः सहोक्तेर्विद्यमानत्वात् समासो भवति। यद् वर्तिपदैः प्रत्येकं पदार्थानां युगपदभिधानं सा सहोक्तिः प्लक्षन्यग्रोधावित्यत्र प्लक्षोऽपि द्व्यर्थः न्यग्रोधोऽपि द्व्यर्थः, उत्तरपदेन समुदायेन वा यद् वर्ति-पदार्थानां युगपदभिधानं सा सहोक्तिरित्यन्ये। अयं भावः-वर्तिपदैः समासघटकपदैः पदार्थानां स्वस्वाभिधेयानां युगपत्–एककालावच्छेदेन अभिधानं प्रतिपानं सा सहोक्तिः द्वन्द्वं प्रत्येक पदानि समुदायार्थ-मेवा चक्षते। द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदमेव समुदायार्थ-वाचकं पूर्वपदं तु तात्पर्य-ग्राहकमितिमतेनाह उत्तरपदेनेत्यादि, अन्यत्र समासे तथा स्वीकारे क्षत्यभावेऽपि द्वन्द्वे समुदायस्यैव वाचकत्वमिति मतेनाह समुदायेन वेति। प्लक्षन्यग्रोधावित्यादि-प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्यग्रोधौ वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम् 'चवर्ग०'

।७।३।६८। इत्यत्समासान्तः। ग्रामो ग्रामो रमणीयः इति–न केवलं चार्थे एव सहोक्तिः अपि तु वीप्सायामपि तत्र समासो मा भूदित्येतदर्थं 'चार्थे' इति पदं प्रयुक्तम्। प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च वीक्ष्यतामिति–अत्रोभयोः पृथगेव वीक्षणक्रियया सहान्वय इति न सहोक्तिः ॥११७॥

समानामर्थेनैकः शेषः ।३।१।११८।

अर्थेन समानां समानार्थानां सहोक्तौ गम्यायामेकः शिष्यते। अर्थादन्ये निवर्त्तन्ते। वक्रश्च कुटिलश्च वक्रौ कुटिलौ वा। सितश्च शुक्लश्च श्वेतश्च सिताः शुक्लाः श्वेता वा। अर्थेन समानामिति किम्। प्लक्षन्यग्रोधौ। सहोक्तावित्येव। वक्रश्च कुटिलश्च दृश्यः ॥११८॥

समानामिति—अत्र निर्द्धारणे समुदायिभाव सम्बन्धे वा षष्ठी न तु स्थान्यादेशभावारुपसम्बन्धे षष्ठी (स्थानषष्ठी) तथा सति अर्थे-न समानां स्थाने एकः शिष्यते आदिश्यत, इत्येकः आदेशो भवति इत्यर्थः स्यात् एवं सति बिसं च बिसंचइत्यर्थे ए-कस्यादेशरुपतया तत्सम्बन्धिसकारस्य कृतस्थतया 'नाम्यन्तस्था०' ।२।३।१५। इति षत्वे 'विषे' इत्यनिष्टरुपमापद्येत। निर्घारणषष्ठ्यां स्वीकृतायां तेषांमध्य एक एव शिष्यते इत्यर्थलाभे नात्र सकारो कृतो नवा कृतस्थ इति षत्वाप्राप्तौ 'बिसे' इतीष्टं सिध्यति। समत्वं नाम समानत्वम्, तच्चात्र द्विधा स्वरुपतोऽर्थतश्च तत्रार्थतः समानत्वमिह ग्राह्यमित्यावेदनायाह-अर्थेनेति। वक्रश्चेत्यादि-बहुवचनमतन्त्रं तेन द्वयोरप्येकः शिष्यते। अतन्त्रमित्यस्या-विवक्षित-मित्यर्थः। द्वन्द्वापवादो योगः ॥११८॥

स्यादावसंख्येयः ।३।१।११९।

सर्वस्मिन् स्यादौ विभक्तौ समानानां तुल्यरूपाणां सहोक्तावेकः शिष्यते। नतु संख्येयवाची। अक्षश्च शकटस्य, अक्षश्च देवनः,

अक्षश्च बिभीतकः अक्षाः । स्यादाविति किम्- माता च जननी, माता च धान्यस्य । मातृमातरौ । असंख्येयइति किम् । एकश्चैकश्च ॥११९॥

अर्थेनेति नानुवर्तते ।

अक्षो रथस्यावयवे पाशकेऽ–प्यक्षमिन्द्रिये ।
बिभीतकेऽ–क्षः कर्षे च शकटव्यवहारयोः ॥

इत्यक्षशब्दस्य–भिन्नार्थत्वेऽ–पि सरुपत्वेनैकशेषो भवतीत्याह–अक्षश्च शकटस्ये–त्यादिना अक्षश्चाक्षश्चाक्षश्चेति विग्रहः अर्थप्रदर्शनायाऽपरोऽ-शः अक्षा इत्येक-शेषः । मातृमतराविति–'तृस्वसृ०' ।१।४।३८। इति सूत्रे नप्त्रा-दीनामपि सिद्धे पृथगुपादानं व्यर्थं सञ्ज्ञापयति उणादिनिष्पन्नानामेषामेव तृन्नन्तानां ग्रहणं नान्येषामिति जननीवाचिमातृशब्दस्य नेह ग्रहणं तेन जननीवाचिमातृशब्दस्य 'अङौ च' ।१।४।३९। इत्यरादेशे परिच्छेतृ-वाचिमातृशब्दस्य तु उणादिप्रत्ययान्तत्वाभावात् 'तृस्वसृ०' ।१।४।३८। इत्यारादेशे च रूपं भिद्यते । एकश्चैकश्चेति–द्वन्द्वो-ऽपि न भवत्यन-भिधा-नात् अयं भावः–एकशब्दस्य द्वन्द्वे सति न द्व्यादिरर्थोऽभिधीयतेऽपि त्वेकस्यैव पौनः–पुन्यादिप्रतिपादनाय एकैकेन कृतमित्यादौ द्वित्वं क्रियते इति । संख्येय इति कर्मनिर्देशात् संख्यानवाचिनो भवत्येव विंशतिश्च विंशतिश्च विंशती, नवतिश्च नवतिश्च नवतिश्च नवतयः । द्वन्द्वापवादोऽ-यं विधिः तेनाकृतद्वन्द्वानामेकेकषे वाक् च वाक् च वाचाविरयादि सिद्धम् अन्यथा द्वन्द्वे कृते परत्वात् 'चवर्गदषहः०' ।७।३।९८। इति समासान्ते कृते वैरुप्यादेकशेषो न स्यात् ॥११९॥

त्यदादिः ।३।१।१२०।

त्यदाद्यैरन्येन च सहोक्तौ त्यदादिरेवैकः शिष्यते । स च चैत्रश्च तौ । स च यश्च यौ, अहं च स च त्वं च वयम् ॥१२०॥

'स्पर्द्धे' ।७।४।११९। इति त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यद्यत्पाठे परं तत् तदेवैकं

शिष्यते 'सर्वादिः स्मैस्मातौ ।१।४।७। सूत्र–टीका–मध्ये त्यदादिपाठः 'त्यद्, तद्, यद्, अदस्, इदम्, एतद्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद् 'भवतु, किम्' इति । त्यदादेः कृतैकशेषस्य स्त्री-पुं–नपुंसकलिङ्गानां युगपत् प्रयोगायोगात् पर्यायप्राप्तौ शिष्यमाणलिङ्गप्राप्तौ वा 'स्त्रीपुंनपुंसकानां सह वचने स्यात् परम्' इति लिङ्गानुशासनबलाद् यथापरमेव लिङ्गं भवति-सा च चैत्रश्च तौ, स च देवदत्ता च तौ अत्र स्त्री-पुंसलिङ्गयोः परं पुंलिङ्गमेव भवति, सा च कुण्डे च तानि । अत्र स्त्री-नपुंसकयोः परं नपुंसकमेव भवति, स च कुण्डं च-ते । तच्च चैत्रश्च-ते । अत्र पुं-नपुंसकयोः परं नपुंसकमेव भवति ॥१२०॥

भ्रातृपुत्राः स्वसृदुहितृभिः ।३।१।१२१।

स्वस्रर्थेन सहोक्तौ भ्रात्रर्थो दुहित्रर्थेन च पुत्रार्थः एकः शिष्यते । भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ ॥१२१॥

भ्रातराविति-अत्र भ्रातृस्वसृशब्दयोः सरुपत्वा–भावात् 'पुरुषः स्त्रिया:' ।३।१।१२६। इत्यस्य न तु प्रवृत्तिः । बहुवचनं पर्यायार्थम् तेन सौदर्यश्च स्वसा च-सोदर्यौ । भ्राता, च भगिनी च सुतौ । पुत्रश्च सुता च-पुत्राविन्यादि सिद्धम् ॥१२१॥

पिता मात्रा वा ।३।१।१२२।

मातृशब्देन सहोक्तौ पितृशब्दएको वा शिष्यते । पिता च माता च पितरौ, मातापितरौ ॥१२२॥

मातापितराविति–'आ द्वन्द्वे' ।३।२।३९। इति पूर्वस्याकारान्तादेशः । 'पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते' इति स्मरणात् पाहिन्यादिमातृ-भिः आर्यरक्षितमात्रा च पुत्रस्य कल्याणमार्गदर्शनात् प्रत्यक्षेणापि तदभ्यर्हितत्वदर्शनात् मातृशब्दस्य 'लघ्वक्षरा०' ।३।१।६०। इत्यर्च्यत्वात्पूर्वनिपातः

श्वशुरः श्वश्रूभ्यां वा ।३।१।१२३।

श्वश्रूशब्देन सहोक्तौ श्वशुरएको वा शिष्यते । श्वशुरौ । श्वश्रूश्वशुरौ ॥१२३॥

द्विवचनं जातौ धवयोगे च वर्तमानयोः श्वश्वोः परिग्रहार्थम् तेन जातौ तन्मात्रभेदे 'पुरुषः स्त्रिया:' ।३।१।१२६।इति नित्यविधिर्न भवति। श्वश्रूश्वशुराविति–अभ्यर्हितत्वाच्छ्वश्रू शब्दस्य पूर्वनिपातः ॥१२३॥

वृद्धोयूना तन्मात्रभेदे ।३।१।१२४।

यूना सहोक्तौ वृद्धवाच्येकः शिष्यते । तन्मात्रभेदे, न चेत्प्रकृतिभेदोऽर्थऽभेदो वाऽन्यः स्यात् । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । वृद्धइति किम् । गर्गगार्ग्यायणौ । यूनेति किम् । गार्ग्यगर्गौ । तन्मात्रभेद इति किम् । गार्ग्यवात्स्यायनौ ॥१२४॥

वृद्धः पौत्रादिः । युवा जीवद्वंश्यादिः । 'पौत्रादिः वृद्धम्' ।६।१।२।इति सूत्रेण परमप्रकृतेः पौत्रादेर्वृद्धसंज्ञा विधीयते स एव पौत्रादिः इह वृद्धत्वेन ग्राह्यः कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे' इति न्यायात् एवं 'वंश्यज्यायो०' ।६।१।३। इति युवसंज्ञकमपत्यमिह युवपदेन ग्राह्यम् न तु वयोविशेषविशिष्टः। ननु 'पौत्रादि वृद्धम्' ।६।१।२। इति सूत्रे वृद्धमिति क्लीबत्वविशिष्टा संज्ञा विहिता अत्र तु पुल्लिङ्गनिर्देशः कथमिति चेत् सत्यं तत्र अपत्यशब्दापेक्षं क्लीबत्वम् इह तु तदर्थापेक्षं पुंस्त्वम् अर्थो हि तस्य पुमपत्यं स्त्र्यपत्यं च तत्र प्राधान्यात् परत्वाच्च पुल्लिङ्गस्यैव निर्देश इति बोध्यम् । गार्ग्यश्चेत्यादि-गर्गस्य वृद्धापत्यं गार्ग्यः 'गर्गादेर्यञ्' ।६।१।४२। इति यञ् । तस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः 'यञिञः' ।६।१।५४। इत्यायनण् । गार्ग्यश्च गार्ग्यश्चेति कृतेऽपि 'गार्ग्यौ' इति रूपं तथाऽपि क्व वृद्धयूनोर्ग्रहणमिति प्रकरणाद् व्याख्यानाद्वाज्ञेयम् । गार्ग्यगर्गाविति–अत्र परमपुरुषस्य गर्गस्यैवाच्यंत्वात् पूर्वनिपाते कर्तव्ये परनिपातनिर्देशः प्रकृते सहार्थयोगित्वेन तस्याप्राधान्यविवक्षाद्योतनार्थः, क्वचिद् 'गर्ग'-गार्ग्यौ' इत्यपि पठ्यते । गार्ग्यवात्स्यायनाविति–वत्सस्य वृद्धापत्यं वात्स्यः पूर्ववद् यञ् तस्यापत्यं युवा वात्स्या-

यनः, पूर्ववदायनण् । नात्र केवलं वृद्धयुवप्रत्ययकृत एव भेदोऽपि तु प्रकृति-भेदोऽपीति न भवत्येकशेषः ॥१२४॥

स्त्री पुंवच्च ।३।१।१२५।

वृद्धस्त्रीवाची यूना सहोक्तौ एकः शिष्यते। पुल्लिङ्गश्चायं तन्मात्रभेदे। गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ। गार्गी च गार्ग्यायणौ च गर्गान् ॥१२५॥

पुल्लिङ्गश्चायमिति-स्त्र्यर्थः पुमर्थो भवतीत्यर्थः। स्त्रीलक्षणोऽर्थोऽस्य शब्द-स्य स पुमर्थो भवतीति भावः। गार्गीति-गर्गस्य वृद्धमपत्यं स्त्री गार्गी। गर्गादि यञ्'।६।१।४२। इति यञ्, 'अवर्णत्रर्गस्य' ।२।४।६७। इत्यलोपः, 'यञो डायन् च वा' ।२।४।६७। इति ङीः, 'व्यञ्जनात्तद्धितस्य' ।२।४।८८। इति यलोपः। गर्गानिति-अत्र पुंवद्भावाद् ङी-निवृत्तौ यञो लुप् 'शसोऽता०' ।१।४।४९। इति नत्वं च। 'यञञोऽश्या०' ।६।१।१२६। इति यञो लुबपि स्त्रियां न भवतीति पुंवद्भावनिमित्तैव सा। प्रधानस्य पुंवद्भावे कृतेऽनुप्रयुज्यमानस्य पदस्यापि पुंस्त्वं भवति तेन इमौ गार्ग्याविति ॥१२५॥

पुरुषः स्त्रिया: ।३।१।१२६।

पुरुषशब्दः प्राणिनि पुंसि रूढः स्त्रीवाचिना सहोक्तौ पुरुषः एकः शिष्यते। स्त्रीपुरुषमात्रभेदश्चेत्। ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणौ। पुरुष इति किम्। तीरं नदनदीपतेः। तन्मात्रभेदइत्येव। स्त्रीपुंसौ ॥१२६॥

नदनदीपतेरिति—केवलं पुंलिङ्गार्थत्वेऽप्राणिन्यपि पुंलिङ्गस्त्रीलिङ्गदर्श-नात् तयोरप्येकशेषः स्यादिति 'प्राणिनि' इत्युक्तम्। तत्साहचर्यात् स्त्री-शब्दोऽपि स्त्रीत्वविशिष्टे प्राणिनि रूढ इति ज्ञेयम् तादृशस्य पुंसस्तादृश्याः स्त्रिया एव प्रकृतोपयोगिसहोक्तिसम्भवात्। स्त्रीपुंसाविति—अत्र प्रकृति-भेदोऽपीति न भवत्येकशेषः ॥१२६॥

ग्राम्याशिशुद्विशफसंङ्घे स्त्रीप्रायः ।३।१।१२७।

ग्राम्या अशत्रो ये द्विशफा द्विखुरा अर्थात्पशवस्तेषां सङ्घे स्त्री-पुरुष-सहोक्तौ प्रायः स्त्रीशब्येकः शिष्यते। स्त्रीपुरुषमात्रभेद-श्चेत् । गावश्च स्त्रियः, गावश्च नरा, इमा गावः । ग्राम्येति किम् । रुरवश्चेमे रुरवश्चेमाः इमे रुरवः । अशिश्विति किम् । बर्क्कर्यश्च बर्क्कराश्च बर्कराः । द्विशफइति किम् । गर्दभाश्च गर्दभ्यश्च गर्दभाः । सङ्घ इति किम् । गौश्चायं गौश्चेयं इमौ गावौ । प्रायइति किम् । उष्ट्राश्च उष्ट्रयश्च उष्ट्राः ॥१२७॥

ग्राम्येत्युपादानादारण्यानां न भवति स्त्रीशेषः । किन्तु पूर्वेण पुंशेषे इमे रुरवःइति-बर्कयश्च बर्कराश्चेति–बर्करशब्दः प्रकरणादिनाऽजा-जशिशु-वाचीति न भवति स्त्रीशेष :किन्तु पूर्वेण पुंशेष एव ॥१२७॥

क्लीबमन्येनैकं च वा ।३।१।१२८।

क्लीबं नपुंसकमन्येनाक्लीबेन सहोक्तावेकः शिष्यते । क्लीबा-क्लीबमात्रभेदे तच्च शिष्यमाणं एकमेकार्थं च वा स्यात् । शुक्लं च शुक्लश्च शुक्लं,शुक्ले वा। शुक्लं च शुक्लश्च शुक्लाश्च शुक्लं शुक्लानि वा । अन्येनेति किम् । शक्लं च शुक्लं च शुक्ले । तन्मात्रभेदइत्येव हिमहिमान्यौ ॥१२८॥

शुक्लं च शुक्लं च शुक्ले । 'स्यादावसंख्येयः' ।३।१।११६। इत्येकशेषः अनेन त्वेकशेषे विकल्पेनैकार्थत्वं प्रसज्येत । हिमहिमान्याविति-महद् हिममित्यर्थे हिमानी 'यवयवाना०।२।४।६५। इति ङीः,आन् चान्तःहिमं च हिमानी चेति विग्रहः अत्र न क्लीबाक्लीबमात्रभेदः किन्त्वर्थभेदोऽपीतिनैकशेषः ॥१२८॥

पुष्यार्थाद्भे पुनर्वसुः ।३।१।१२६।

पुष्यार्थान्नक्षत्रवृत्तेः परो नक्षत्रवृत्तिः पुनर्वसुः सहोक्तौ द्व्यर्थः सन् एकार्थः स्यात् । उदितौ पुष्यपुनर्वसू । उदितौ तिष्यपुनर्वसू । पुष्यार्थादिति किम् ? आर्द्रापुनर्वसवः । पुनर्वसुरिति किम् । पुष्यमघाः । भ इति किम् तिष्यपुनर्वसवो बालाः ॥१२६॥

एकशेषो निवृत्तः। एकमित्यनुवर्तते। अर्थग्रहणं पर्यायार्थम् पुष्यश्च पुनर्वसू च पुष्य एक पुनर्वसू द्वौ तत्र पुनर्वस्वर्थस्यैकत्वे द्व्यर्थ एव द्वन्द्वः इति द्वन्द्वा-न्त द्विशेषणाच्च द्विवचनम् यदीदं न स्यात् तदा बह्वर्थो द्वन्द्व इति बहुवचनं स्यात् समाहारे तु पुष्यपुनर्वसु । तिष्यपुनर्वसवो बाला इति-तिष्येण चन्द्र-क्तेन युक्तः कालः तिष्यः, पुनर्वसुभ्यां चन्द्रयुक्ताभ्यां युक्तोः कालः पुनर्वसुः 'चन्द्रयुक्तात्काले लुप्०' ।६।२।६। इति सूत्रेणाण्, 'लुप् त्वयुक्ते' इत्यं-शेन च तस्य लोपः एवं कालवृत्तिभ्यांतिष्ये जातः तिष्यः पुनर्वस्वोर्जातौ पुनर्वसू 'भर्तृसन्ध्यादेरण' ।६।३।८६। इत्यनेन पुनरपि अण् तस्य च 'बहु-लाऽनुराधापुष्यार्थ-पुनर्वसु०' ६।३।१०७। इति लोपः एवमेकस्मिन् बाले वर्तमानस्य तिष्य-शब्दस्य द्वयोर्बालयोर्वर्तमानस्य पुनर्वसुशब्दस्य च द्वन्द्वः तथा च तिष्यश्च बालः पुनर्वसू च बालौ तिष्यपुनर्वसवः बाला इति ज्ञेयम् अत्र न नक्षत्रपरत्वमेषामपि तु तन्नक्षत्रयुक्तकालजातबालपरत्वमिति न भवत्येकार्थत्वम्।पुनर्वसुशब्दः ताराद्वयबोधकः अत्रैकवद्भावाभावात् बहुत्वाद् बहुवचनम् ॥१२६॥

विरोधिनामद्रव्याणां नवा द्वन्द्वः स्वैः ।३।१।१३०।

द्रव्यं गुणाद्याश्रयः । विरोधिवाचि-नाम-तदा-श्रयवृत्तीनां द्वो-र्वैकार्थः स्यात् । स्वैः स्वजातीयैरेवारब्धश्चेत् । सुखदुःखम् । सुखदुःखे । लाभालाभम् । लाभालाभौ । विरोधिनामिति किम्। कामक्रोधौ । अद्रव्याणामिति किम् । शीतोष्णे जले । स्वैरिति किम् । बुद्धिसुखदुःखानि ॥१३०॥

वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते । द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः ॥ इति लक्षणलक्षितं द्रव्यमत्र न ग्राह्यमन्यथा सुखदुःखानामपि द्रव्यत्वं स्यात् । किन्तु गुणादीनामाश्रयोऽत्र द्रव्यत्वेन ग्राह्यः अत एव आह- द्रव्यं गुणाद्याश्रय इति । विरोधिनामिति–विरोधोऽस्त्येषामिति विरोधिनः विरोधश्चात्र सहावस्थानरूप एव । सहावस्थानासहाः पदार्था विरोधिनः । सुखदुःखमिति–सुखं च दुःखं-चेति विग्रहः अत्र सुखदुःखयोः सहानवस्थानलक्षणो विरोधः गुणत्वं चोभयोः समानमिति भवति सजातीयत्वम् ।लाभालाभमिति-लाभोऽभिमतवस्तु-प्राप्तिः अलाभश्च तदप्राप्तिःप्राप्यप्राप्त्योर्विरोधः क्रियात्वं चोभयोः समानमेव । कामक्रोधाविति—कामश्च क्रोधश्चेति विग्रहः कामक्रोधयोः सहावस्थानमस्ति क्रुद्धोऽपि कामं स्वेच्छामाचरति शीतोष्णे जल इति—उदकयोः शीतोष्णगुणवत्त्वेन ताभ्यां शब्दाभ्यां शीतोष्णगुणाश्रयो द्रव्योऽत्रोच्यते इति द्रव्यवृत्तित्वादद्रव्याणामित्युपादानान्नैकार्थ्यं भवति । विरोधित्व च स्पष्टमेव । बुद्धि-सुखदुःखानीति–बुद्धिश्च सुखं च दुःखं चेति विग्रहः । अत्र गुणत्वेन साजात्यं सुखदुखयोर्विरोधित्वेऽपि। बुद्धया अविरोधिन्या अपि ताभ्यां सह कथनात् तद्व्यावृत्त्यर्थं स्वैरिति पदमिति भावः । समाहारे चार्थे एकत्वस्यैतरेतरयोगे चानेकत्वस्य सिद्धत्वात् विकल्पे सिद्धे सर्वमिदं विकल्पानुक्रमणं नियमार्थं विरोधिनामेवा द्रव्याणामेव स्वैरेवेति तथा च प्रत्युदाहरणे इतरेतरयोग एव भवति ॥१३०॥

अश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराः ।३।१।१३१।

एते त्रयोपि द्वन्द्वा एकार्था वा स्युः स्वैश्चेत् । अश्ववडवं । अश्ववडवौ । पूर्वापरम् । पूर्वापरे । अधरोत्तरं । अधरोत्तरे ॥१३१॥

अश्वश्च वडवा च अश्ववडवम्, अश्ववडवौ। अश्ववडवेति निर्देशादेवेतरेतरयोगे ह्रस्वत्वं निपात्यते अश्वशब्दो पुंसि वर्तते। वडवा-शब्दः स्त्रियां वर्तते अश्ववडवयोः पशुत्वेन 'पशुव्यञ्जनानाम्' ।३।१।१३२। इत्यग्रिमसूत्रेणैव विकल्पे सिद्धे अश्ववडवग्रहणं तत्पर्यायनिवृत्त्यर्थम् हयवडवे। समाहारे चार्थे एकत्वस्येतरेतरयोगे चानेकत्वस्य सिद्धत्वात् विकल्पे सिद्धे पूर्वा-

परादिग्रहणं पदान्तरनिवृत्त्यर्थम् तेन पूर्व-पश्चिमौ, दक्षिणा-परौ, अधर-मध्यमौ, उत्तरदक्षिणौ इत्यत्र विकल्पो न भवति अर्थात् नित्यमेवेतरेतरयोग इति भावः ॥१३१॥

पशुव्यञ्जनानाम् ।३।१।१३२।

पशूनां व्यञ्जनानां च स्वैर्द्वन्द्वएकार्थो वा स्यात् । गोमहिषम् । गोमहिषौ । दधिघृतम् । दधिघृते ॥१३२॥

पशवोऽत्र ग्राम्या गवादयो ग्राह्याः न त्वारण्याः कुरङ्गादयः, उत्तरत्र मृगग्रहणात् तत्र 'आरण्याः पशवो मृगाः' इति मृगग्रहणेनारण्य-पशूनां ग्रहणादिति भावः । व्यञ्जनं च येनान्नस्य रसो व्यज्यतेऽभिव्यक्तीक्रियते, अन्नं रुचिमापद्यते तद् दधिघृतादि,शाकसूपादि च। गौश्च महिषश्च गोमहिषम्-गोमहिषौ । दधि च घृतं च दधिघृतं दधिघृते । केचित्तु सेनाङ्गानां पशूनां पशुलक्षणं विकल्पमिच्छन्ति हस्तिनश्च अश्वाश्च-हस्त्यश्वं हस्त्यश्वा इत्येव भवति न तु परमपि सेनाङ्गलक्षणमेकत्वम् । गोमहिषमित्यादावयं विधिः सावकाशः अश्वरथमित्यादौ 'सेनाङ्ग०' ।३।१।१३४। इति विधिः सावकाशः अत्र तूभयप्राप्तौ परत्वात् सेनाङ्गविधिः स्यात् तं बाधित्वाऽयमेव विकल्प इत्येतन्मतसंग्रहार्थमत्र बहुवचनोपादानम् ॥१३२॥

तरुतृणधान्यमृगपक्षिणां बहुत्वे ।३।१।१३३।

एतद्वाचिनां बह्वर्थानां प्रत्येकं स्वैर्द्वन्द्वएकार्थो वा स्यात् । प्लक्ष-न्यग्रोधम् । प्लक्षन्यग्रोधाः । कुशकाशम् । कुशकाशाः । तिलमा-षम् । तिलमाषाः । ऋश्यैणम् । ऋश्यैणाः । हंसचक्रवाकम् । हंसचक्रवाकाः ॥१३३॥

अत्र तर्वादिविशेषाणामेव ग्रहणं न सामान्यस्य तथाहि-तर्वादिशब्दैः प्रत्येकं

द्वन्द्वो विशिष्यते-तरूणां द्वन्द्वः, तृणानां द्वन्द्वः इत्यादि-रूपेण । न चैको बहुवचनान्तस्तरुशब्दो वृक्षशब्दस्तृणशब्दादिर्वा द्वन्द्वः । न च द्वयोस्तर्वादि-शब्दयोः सह प्रयोगः 'स्यादावसंख्येयः' ।१।३।११६। इत्येकशेषात् । नापि वृक्षादिपर्यायैः सह तस्य द्वन्द्वः 'समानाम०' ।३।१।११८। इत्येकशेषात्, नापि तरवश्च धवाश्चेति सामान्यविशेषयोस्तादृशप्रयोगानभिधानात् तरुत्वेनैव धवानामपि ग्रहणे तेषां प्रयोगवैयर्थ्याच्च तत्र द्वन्द्वाभावात् परि-शेषाद्विशेषाणामेवद्वन्द्वः सिध्यति । प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्चेति प्लक्षन्यग्रोधम् प्लक्षन्यग्रोधाः । प्लक्षः पर्कटी वृक्षः,न्यग्रोधो वटः । कुशाश्चकाशाश्चतिलाश्च माषाश्च । ऋश्याश्च एणाश्च । हंसाश्च चक्रवाकाश्च । एकस्यापि पदस्य बहुत्वे भवति—प्लक्षश्च न्यग्रोधाश्च प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधाः, प्लक्षौ च न्यग्रोधाश्च प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधा इत्यादि । एकस्यापि पदस्य बहुत्वे वर्तमानाभावे तु न भवति-प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्यग्रोधौ । प्लक्षौ च न्यग्रोधौ च, प्लक्षश्च न्यग्रोधौ चेति वा—प्लक्ष-न्यग्रोधाः । यद्यपि द्विवच-नान्तेन विग्रहे समुदायस्य बहुत्वमायाति तथापि बहुवचनग्रहणसामर्थ्यात् समास-घटकपदगतं बहुत्वमेवैकत्वनिबन्धनम् इत्यवगम्यत इत्येकस्यापि बहुत्वं विनाऽनेकवद्भावप्रतीतिरिति बोध्यम् । आरण्याः पशवो मृगा इति मृगाणामपि पशुत्वात् पशुविकल्पेनैव सिद्धे मृगाणामिहोपादानं मृगाणां मृगैरेव बहुत्वे एव च द्वन्द्व एकवदिति नियमयति ॥१३३॥

सेनाङ्गक्षुद्रजन्तूनाम् ।३।१।१३४।

सेनाङ्गानां क्षुद्रजन्तूनां च बह्वर्थानां स्वैर्द्वन्द्वएकार्थो नित्यं स्यात् । अश्वरथम् । यूकालिक्षम् ।·१३४॥

पृथग्योगाद् वेति निवृत्तम् । अश्वाश्च रथाश्च अश्वरथम्, केचित्तु सेनाङ्गानां पशूनां पशुविकल्पमिच्छन्ति—हस्त्यश्वम्, हस्त्यश्वाः । क्षुद्रजन्तवोऽल्पकायाः प्राणिन आनकुलमिह स्मर्यन्ते यूकाश्च लिक्षाश्च यूकलिक्षम् । यूकाः मनुजशरीरस्वेदजातास्तच्छोणितजीविन्यः, लिक्षाश्च केशाश्रिताः स्वल्पप-रिमाणाः कीटाः ॥१३४॥

फलस्य जातौ ।३।१।१३५।

फलवाचिनां बह्वर्थानां जातौ स्वैद्वन्द्वएकार्थो नित्यं स्यात् । बदरामलकम् । जाताविति किम् । एतानि बदरामलकानि सन्ति ।।१३५।।

फलवाचिनां बह्वर्थानामिति-ननु जातिविवक्षायामेकवचनमेव युक्तं जातेरेकत्वादिति एकेनैव बहूनां बोधाय जातिर्विवक्ष्यत इति जातिविवक्षायां बह्वर्थत्वमनुपपन्नमिति चेत्सत्यं जातिप्राधान्ये सति जातौ व्यक्तिद्वारकबहुत्वसंख्यान्वयविवक्षायां बहुवचनम् । अयं भावः-जातौ साक्षात् संख्यान्वयविवक्षाया-मेकवचनमेव प्रयुज्यते 'देवः पूज्यः' इत्यादिवत् तस्यामेव व्यक्तिद्वारकसंख्यान्वयविवक्षायां व्यक्तिनां बहुत्वेन बहुवचनमपि भवति यथा तत्रैव 'देवाः पूज्या' इति । तथा च यदा जातौ व्यक्तिद्वारकबहुत्वसंख्या विवक्षिता तदाऽनेनैकार्थ्यं भवति यदा जातिगता संख्या विवक्षिता तदैकवचनेन विग्रहात् 'बदरामलके' इत्येव भवति । बदराणि चामलकानि चेति विग्रहः बदर्याः विकारः फलं-बदरम् 'हेमादि०' ।६।२।४५। इत्यत्र, आमलक्या विकारः फलम् आमलकम् 'दोरप्राणिनः' ।६।२।४९। इति मयट् द्वयोरपि 'फले' ।६।२।५८। इति लुप् । एतानि बदराणि सन्तीति-जाताविस्युपादानात् व्यक्तिपरचोदनायां न भवति । व्यक्तय एव प्राधान्येन विवक्षितास्तत्र न भवतीत्यर्थः व्यक्तिपरा-व्यक्तिप्रधाना, चोदना उक्ति-रित्यर्थः । अत्र अङ्गुल्या निर्दिश्यमाना बदरामलकव्यक्तय एव न तु जातिः ।

अप्राणिपश्वादेः ।३।१।१३६।

प्राणिभ्यः पश्वादिसूत्रोक्तेभ्यश्च येऽन्यद्रव्यवाचिनस्तेषां जात्यर्थानाम् स्वैर्द्वन्द्वएकार्थः स्यात् । आराशस्त्रि । जाताविस्येव । सह्यविन्ध्यौ । प्राण्यादिवर्जनं किम् । ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः । ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रम् । गोमहिषौ । गोमहिषम् । प्लक्षन्यग्रोधौ । प्लक्षन्यग्रोधम् । अश्वरथौ । अश्वरथम् । बदरामलके, बदरामलकम् ।।१३६।।

बहुत्व इति निवृत्तम् 'फलस्य जातौ' ।३।१।१३५। इति सूत्रारम्भात् । अयं भावः-यदि बहुत्व इत्यनुवर्तेत सदा फलानाम-प्राणित्वस्य जातिपरत्वस्य च सत्त्वेनानेनैव तल्लक्ष्याणां सिद्धेः पूर्वसूत्रारम्भो निरर्थक एव स्यात्, न च तद्योगाभावे जाताविति कुतो लभ्य इति वाच्यं 'जातौ' इत्यस्य प्रकृतसूत्र एव पाठः कार्यं इत्याशयात् । आरा च शस्त्री च आरा-शस्त्रि। आर -चर्मप्रभेदिका, शस्त्री-छुरिका। जातिविवक्षायामयं विधिः-व्यक्ति विवक्षायां तु यथाप्राप्तम् आरा-शस्त्रि, आरा-शस्त्र्याविमे। जाताविंत्येवेति-तथा चानेकद्रव्यव्यक्तिवाचकानामेवेह ग्रहणमिति नेह भवति। सह्यविन्ध्याविति सह्यश्च विन्ध्यश्चेति विग्रहः, एतौ पर्वविशेषवाचिनावेकव्यक्तिरूपाविति सह्यत्व-विन्ध्यत्वयोर्न जातित्वम् व्यक्तेर-भेदस्य जाति-बाधकेषु परिगणनादिति नानेन नित्यमैकार्थ्यमिति पाक्षिको इतरेतरयोगोऽत्र भवत्येव। अप्राणीति प्राणिनो द्रव्यस्य पर्युदासेना-प्राणिनो द्रव्यस्य ग्रहणादिह न भवति-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः, उत्क्षेपणा-ऽपक्षेपणाऽऽकुञ्चन-प्रसरण-गमनानि। अत्र प्रथमं गुणद्वन्द्वोदाहरणं द्वितीयं न्यायदर्शन-प्रसिद्ध-कर्मद्वन्द्वो-दाहरणम् ॥१३६॥

प्राणितूर्याङ्गाणाम् ।३।१।१३७।

प्राणितूर्ययोरङ्गार्थानां स्वैर्द्वन्द्वएकार्थः स्यात् । कर्णनासिकम् । मार्दङ्गिकपाणविकम् । स्वैरित्येव ? पाणिगृध्रौ । १३७॥

प्राणी च तूर्यं चेति प्राणितूर्ये तयोरङ्गानि तेषां 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकभिसम्बन्ध्यते इति न्यायेनाङ्गशब्दस्यान्ते श्रूयमाणस्य प्रत्येकं सम्बन्धात्-प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गाणां च स्वैर्द्वन्द्वः इत्यर्थो लभ्यते समाहारे कृते तु तथा न स्यात् तत्र समूहरूपेणोपस्थितया प्रत्येकमङ्गशब्द-सम्बन्धासम्भवात्। कर्णौ च नासिका च कर्णनासिकम्। शङ्ख-शाङ्खिकादिसमुदायस्तूर्यम्-शङ्खादयो वाद्यानि शाङ्खिकादयो वादकाः, अङ्गानि-अवयवाः । मार्दङ्गिकपाणविकमिति-मृदङ्गवादनं शिल्पमस्येति मार्दङ्गिकः। 'शिल्पम्' ।६।४।५७। इतीकण् पणववादनं शिल्पमस्येति पाणविकः, पूर्ववदत्रापीकण्, मार्दङ्गिकश्च पाणविकश्चेति विग्रहः । पाणिगृध्राविति-अत्रैकः प्राण्यवयवोऽ-परश्च प्राणीति स्वत्वाभावान्नैकवद्भावः। प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गेषु च शङ्खपटहादीनामप्राणिजातित्वात् पूर्वेण सिद्धे

व्यक्तिविवक्षायां विधानार्थं जातिविवक्षायां प्राण्यङ्गाप्राण्यङ्गादिसंभेद एकत्व-निराकरणार्थं च वचनम्, एतज्ज्ञापनार्थमेव च बहुवचनम्। शङ्खश्च पटहश्च शङ्खपटहमिति वाद्यद्वन्द्वः आदिपदग्राह्या मार्दङ्गिकपाणिविकादयः। प्राण्यङ्गाप्राण्यङ्गादिसंभेद इति–पूर्वसूत्रऽ–प्राणित्वेन स्वत्वं ग्राह्यमिति प्राण्यङ्गाप्राण्यङ्गयोरभयोरप्यप्राणित्वं समानमेवेति तयोरेकत्र समासे मिश्रणे पूर्वेणैकत्वं स्यादेव, एतत्सूत्रकरणे तु प्राण्यङ्गानां प्राण्यङ्गैरेव द्वन्द्व एकवदित्यर्थलाभान्न भवति तत्रैकत्वमिति भावः ॥१३७॥

चरणस्य स्थेणोऽद्यतन्यामनुवादे ।३।१।१३८।

चरणाः कठादयः। तद्वाचिनामद्यतन्यां यौ स्थेणौ तयोः कर्तृत्वेन सम्बन्धिनां स्वैर्द्वन्द्वोऽनुवादविषये एकार्थः स्यात्। प्रत्यष्ठात् कठकालापम्। उदगात् कठकौथुमम्। अनुवादइति किम्? उदगुः कठकालापाः अप्रसिद्धं कथयन्ति ॥१३८॥

शाखाध्ययननिमित्तव्यपदेशभाजो द्विजन्मानः चरणाः कठादयः। अयं भावः–चत्वारो वेदाः तेषां शतशः शाखाः। यां शाखां यो द्विजन्माऽधीते स तच्छाखाध्यायित्वेन तन्नाम्ना प्रसिध्यतीति प्राक्तनी परिपाटिः तथा च यच्छाखाध्यायिनस्ते तच्छाखयैव विशिष्टमपदेशं मुख्यं व्यवहारं भजन्ते तथा च ते व्यपदिश्यमानाः कठादयः चरणशब्देन व्यवह्रियन्ते इति। कर्तृत्वेन सम्बन्धिनामिति–'गौणमुख्ययोः मुख्ये एव कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायान्मुख्यवृत्त्या कर्ता लभ्यते। स्थेणोर्मुख्यकर्तृश्चरणस्योतीष्टम्, तथा न कृत्वा यत्सामान्येनोक्तं तदेतन्यायाभि-सन्ध्यैव अन्यथा मुख्यत्वस्य लाभो न स्यात् एवञ्च-यदि मुख्यत्व-भाजा कर्त्रा सह सम्बन्धः तदैव समाहारः यदा भावे प्रयोगस्तदा समाहारो न भवति अयं भावः-भाव-प्रत्यये कर्ता न मुख्यतया भासते ऽपि तु भाव एव तस्यैव प्रत्ययेनोक्तत्वादिति न तत्र मुख्यः कर्तेति न भवत्येकत्वम् तथैव चा—चार्यैरुदाहृतमपीति भावप्रत्यये प्रत्यष्ठायि कठकालापै—रित्येव प्रयोगः। प्रमाणान्तरप्रतिपन्नस्यार्थस्य शब्देन संकीर्तनम्–अनुवादः यज्ञकर्मणि शंसितानुशंस—नमित्येके, अनुकरणमित्यपरे – अन्यत् प्रमाणं प्रमाणान्तरं अन्यत्वं च प्रकृतवाक्यापेक्षया तदपेक्षया भिन्नं वाक्यान्तररूपं शब्दप्रमाणं

शब्दभिन्नं प्रत्यक्षादि-प्रमाणं च । तेनावगतमप्यर्थं कार्यान्तरार्थं यदा प्रयोक्त्रा प्रतिपाद्यते संकीर्त्यते तदा तदेव संकीर्तनमनुवादशब्देनोच्यत इति भावः । पूर्वमेको याज्ञिकः कमप्यर्थमेक एवोच्चारयति, पश्चादन्ये याज्ञिका सम्भूय तदनुवादं कुर्वन्ति स एवास्य सूत्रस्य विषय इत्येकेषां मतमितिभावः । अक्षरार्थानुगुण्येनानुकरणमेवानुवाद इत्यपरे कथयन्ति अनु-पश्चात् वदनं-पूर्वमुच्चारणविषयीकृतस्य पश्चात्तथैव वदनमुच्चारणमनुवाद इत्यर्थाश्रयणेनेति भावः । कठकालापमिति-कठाश्च कालापाश्चेति विग्रहः । कठेन प्रोक्तो वेदः 'तेन प्रोक्तं' ।६।३।१८१। इत्यण् तस्य 'कठादिभ्यो वेदे लुप्' ।६।३।१८३। इति लुप्, कठं विदन्ति अधीयते वा 'तद्वेत्त्यधीते ।६।२।११७। इत्यण्, तस्य 'प्रोक्तात्' ।६।२।१२६। इति लोपे कठाः एवं-कलापिना प्रोक्तं वेदं विदन्ति अधीयते वेति कालापाः, अत्र 'कलापि-कुथुमि०' ।७।४२।६२। इतीनो लुप् वृद्धिश्च प्रतिपूर्वस्य स्थाधातोरद्यतन्यां प्रत्यष्ठादिति । कठकौथुममिति कठाश्च कौथुमाश्चेति विग्रहः, कुथुमिना प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयत इति कौथुमाः । उत्पूर्वस्य इंण्धातोरद्यतन्याम्-उदगादिति । कठेषु कालापेषु च प्रतिष्ठितेषु कठेषु कौथुमेषु च उदितेषु किमपि कार्यं कैश्चित् संकेतितम् स च संकेतस्तेषां मध्ये कैश्चिद्विस्मृतः पश्चात्कश्चित्तेष्वेकः प्रमाणान्तरेण तेषामुदयप्रतिष्ठे अवगत्य स्वसार्थानां स्मारणायानुवदति तत्रत्योऽयं प्रयोगः इति भावः । अप्रसिद्धं कथयन्तीति-यत्र प्रमाणान्तरेणाज्ञातं वस्तु स्वोहेन बदति तत्र समाहारो न भवतीति शब्दशक्तिस्वभावः पूर्वेषां च तथैव प्रयोग इति भावः ॥१३८॥

अक्लीबेऽध्वर्युक्रतोः ।३।१।१३९।

अध्वर्युः यजुर्वेदः । तद्विहितक्रतुवाचिनां स्वैर्द्वन्द्वएकार्थः स्यात् । नचेदेते क्लीबवृत्तयः । अर्काश्वमेधम् । अक्लीबइति किम् । गवामयनादित्यानामयने अध्वर्य्विति किम् । इषुवज्रौ । क्रतोरिति किम् । दर्शपौर्णमासौ ॥१३९॥

अध्वर्यवः यजुर्वेदविदः तेषां वेदोऽप्यध्वर्युः, अध्वर्युशब्दः यजुर्वेदानु-

सारिहोमकारिणि यजुर्वेदविदि ऋत्विजि रूढः, तैर्ज्ञेयत्वात्तद्रूपसम्बन्धं निमित्तीकृत्याध्वर्युशब्दो यजुर्वेदेऽपि निरूढलाक्षणिकः अध्वर्यौ विहिता अध्वर्युविहिताः ते क्रतवः अध्वर्युक्रतवः । मध्यमपदलोपिसमासः । अ-श्वमेधादयोऽध्वर्युक्रतवः । ससोमको यागः क्रतुः । यजुर्वेदे विहिताः क्रतवो द्विधा ससोमकाः असोमकाश्च । सोमो लतौषधिर्यज्ञोपयोगिद्रव्यम् । सोमौषधे रसेन होमः क्रियते हुतशेषश्च पीयते यस्मिन् यागे स ससोमको यागः । ससोमकयागे क्रतुशब्दो निरूढलाक्षणिकः तेनाध्वर्युविहिता असोमका यागा इह न गृह्यन्ते । अर्कश्चाश्वमेधश्च-अर्काश्वमेधम् । इमावुभावपि ससोमकौ यागाविति इह न गृह्यन्ते । भवत्यनेनैकार्थत्वम् । गवामयनादित्यानामयन, इति-गवा मयने गोष्ठे यो यागोऽनुष्ठीयते स उपचाराद् गवामयनशब्देन कथ्यते,सं ज्ञानिमित्तको विभक्तिलोपाभावः एवं अदितेरपत्यं आदित्या देवाः तेषां स्थाने देव कुलादौ यो यागोऽ नुष्ठीयते स आदित्यानामयन-शब्देन कथ्यते षष्ठ्या अलुप् पूर्ववत् तत्पुरुषे च परपदलिङ्गताया अनुशासनादिमौ शब्दौ नित्यक्लीबलिङ्गौ । इषुवज्राविति-एतौ शत्रुमारणाय सामवेदे विहितौ । दर्शपौर्णमासाविति-दर्शतिथौ अ-मावास्यायां विहितः यागोऽप्युपचारात् दर्शः । पौर्णमास्यां च विहितः पौर्णमासः एतौ न ससोमकौ । न चेदे क्लीबवृत्तय इति प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणात् राजसूयं च वाजपेयं च राज सूयवाजपेये इत्यत्र न भवत्येकार्थत्वम् । इमौ क्रतू पुंलिङ्गावपि स्तः इति पर्युदासा-श्रयणेऽ-त्रापि स्यात् । सोमो राजा सूयते यत्रेति राजसूयम्, राजा सोतव्य-मभिषवद्वारा सम्पादयितव्यं वा राजसूयं । वाजमन्नं घृतं वा पेयमत्र स यागः वाजपेयम् । इमौ ससोमकौ यागविशेषौ ॥१३९॥

निकटपाठस्य ।२।१।१४०।

निकटः पाठो येषामध्येतॄणां तेषां स्वैर्द्वन्द्वएकार्थः स्यात् । पदक-क्रमकम् ॥१४०॥

पदमधीते पदकः। क्रममधीते क्रमकः। पदक्रमशब्दाभ्यामध्ययनार्थे 'पद-क्रम-शिक्षा०' ।६।२।१२६। इत्यकः। पदकश्च क्रमकश्च पदकक्रमकम्। पदान्तरं क्रमस्य पाठात्पाठयोर्निकटत्वम् ॥१४०॥

नित्यवैरस्य ।२।१।१४१।

नित्यञ्जातिनिबद्धं वैरं येषां तेषां स्वैद्वन्द्वएकार्थः स्यात्। अहिनकुलम्। नित्यवैरस्येति किम् । देवासुराः । देवासुरम् ॥१४१॥

नित्यमनिमित्तं जातिनिबद्धं वैरं येषां तेषां स्वैद्वन्द्वः एकार्थः स्यात्। अहिः सर्पः नकुलस्तद्वैरी क्षुद्रजन्त्ववधिः प्रसिद्धः अनयोर्विरोधो जन्मत एव भवति स च यावज्जीवं तिष्ठतीति नित्यम् । देवासुराः देवासुरमिति-नैषां निर्निमित्तं वैरमपि तु निमित्तसापेक्षम् । कविजनप्रसिद्धिस्त्वित्थम् अमृतादिप्राप्तिनिमित्तमिह वैरम्–अमृतोत्पत्तेः पूर्वं तु वैराभाव एव, अत एव तैः सम्भूय समुद्रमथनार्थं प्रयत्नः कृतः। पशुविकल्पः' पक्षिविकल्पश्च परत्वादनेन बाध्यते–अश्व-महिषम्, काकोलूकम् । अयं भावः–अश्वस्य महिषस्य च पशुत्वेन तयोः पशुनिमित्तकः काकस्योलूकस्य च पंक्षित्वेन तयोः पक्षिनिमित्तकश्च विकल्पः प्राप्तः परं तस्य नित्यवैरातिरिक्तस्थले सावकाशत्वम् अस्य च पशुपक्षिव्यतिरिक्ते नित्यवैरे ब्राह्मणश्रमणादौ सावकाशत्वमितीह द्वयोः स्पर्द्धे परत्वादिदिदमेव प्रवर्तत इति। श्रमणो जैन-साधुः । नेदं जातिकृतम्-पि तु परस्परधार्मिकभेदकृतम् इति नास्य निमित्तानतेक्षत्वम् ॥१४१॥

नदीदेशपुरां विलिङ्गानाम् ।१।४।१४२।

एषां विविधलिङ्गानां स्वैर्द्वन्द्वएकार्थः स्यात् । गङ्गाशोणम् । कुरुकुरुक्षेत्रं । मथुरापाटलिपुत्रम् । विलिङ्गानामिति किम् ? गङ्गायमुने ॥१४२॥

गङ्गा च शोणश्च गङ्गाशोणम्, कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च-कुरुक्षेत्रम्, मथुरा च पाटलिपुत्रं च मथुरापाटलिपुत्रम्। पुरां देशत्वात् तद्ग्रहणेनैव सिद्धे पुर्ग्रहणं ग्रामनिषेधार्थम् जाम्बवश्च शालूकिनी च–जाम्बवशालूकिन्यौ ग्रामौ प्रासादादिनिवेशविशिष्टो देशः पूः, क्षुद्रगृहादि-निवेशविशेषविशिष्टो देशो ग्रामः । देशग्रहणेन चेह जनपदानां ग्रहणं पृथग् नदीपूरग्रहणात् तेन पर्वतानां न, यथा कैलासश्च गन्धमादनं च कैलासगन्धमादने पर्वतौ । ॥१४२॥

पात्र्यशूद्रस्य ।३।१।१४३।

पात्रार्हशुद्रवाचिनां स्वैर्द्वन्द्वएकार्थः स्यात् । तक्षायस्कारम् । पात्रेति किम् ? जनङ्गमबुक्कसाः ॥१४३॥

यैः शूद्रैः, भोजने कृते सति कांस्यादि पात्रं संस्कारेण भस्मोद्वर्तनादिना शुध्यति–लोके विशिष्टानां योग्यं भवति । ते पात्रमर्हन्तीति पात्र्याः 'तमर्हति' ।५।४।१७७। इति यः । तक्षायस्कारमिति-तक्षाणश्चायस्काराश्चेति विग्रहः । जनङ्गमबुक्कसाः इति-जनङ्गमाश्चण्डालाः बुक्कसास्तु म्लेच्छा इति–एतेभ्यस्त्रैवर्णिकाः स्वं पात्रं न प्रयच्छन्ति तैः भोजने कृते सति पात्रं संस्कारेणापि न शुध्यतीति पात्र्यग्रहणादिह न भवति । न च पात्र्यग्रहणमस्तु शूद्रग्रहणेन किमिति वाच्यं शूद्रग्रहणाभावे 'ब्राह्मणक्षत्रियविशः' इति त्रैवर्णिकद्वन्द्वेऽपि एकत्वं स्यादिति । अत्र 'मास-वर्ण-भात्रानुपूर्वम्' ।३।१।१६१। इति वर्णक्रमेण पूर्वप्रयोगः ॥१४३॥

गवाश्वादिः ।३।१।१४४।

अयं द्वन्द्वएकार्थः स्यात् । गवाश्वम् । गवाविकम् ।।१४४।।

गोश्वाश्वश्च--गवाश्वम् गौश्चाविका च गवाविकम् । अविरेव अविका अजेत्यर्थः 'पशुव्यञ्जनानाम्' ।३।१।१३२। इति विकल्पे प्राप्तेऽनेन नित्यं विधीयते । 'स्वरे वाऽनक्षे' ।१।२।२९। इत्यवादेशः गवाश्वादिषु यथोच्चारितरूपग्रहणादन्यत्र नायं विधिः किन्तु पशुविकल्प एव भवति । गोऽश्वौ, गोऽश्वम्, गो-अश्वौ, गो-अश्वम् । 'गोऽश्वौ' इत्यत्र 'एदोतः पदान्तेऽस्य-लुक्' ।१।२।२७। इत्यकारलोपः, 'गो-अश्वौ'-इत्यत्र 'वात्यसन्धिः' ।१।२।३१। इत्यसन्धिः ।।१४४।।

न दधिपय-आदिः ।३।१।१४५।

दधिपय आद्यो द्वन्द्वएकार्थो न स्यात् । दधिपयसी । सर्पिर्मधुनी ।।१४५।।

दधिश्च पयश्च-दधिपयसी । सर्पिश्च मधु च सर्पिर्मधुनी। उभयत्र व्यञ्जन लक्षणे'पशुव्यञ्जनानाम्' ।३।१।१३२। इत्येकार्थत्वविकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः ।१४५।

संख्याने ।३।१।१४६।

वर्त्तिपदार्थानां गणनेगम्ये द्वन्द्वएकार्थो न स्यात् । दश गोमहिषाः । बहवः पाणिपादाः ।।१४६।।

संख्यायत इति संख्यानम् तस्मिन् इयत्तापरिच्छेदः संख्यानम् इदं-शब्दतो निर्दिश्यमानमङ्गुल्यादि-संकेतेन वा बोध्यमानं परिमाणं येषां ते इयन्तः तेषां भावःइयत्ता तस्याःपरिच्छेदोऽ-वधारण संख्यानपदबोध्यमित्यर्थः । वर्तनं वर्तःसमासः भावे घञ् , वर्तो येषामस्ति तानि वर्तीनि समासावयवभूतानि पदानि तेषां येऽर्था अभिधेयास्तेषामेव संख्यानमिह विवक्षितमिति भावः। दश-गोमहिषा इति--अत्र 'पशुव्यञ्जनानाम्' ।३।१।१३२। इति प्राप्तस्य पशुलक्षणैकत्वस्या-नेन निषेधः । बहवः पाणिपादा इति-- अत्र 'प्राणितूर्याङ्गाणाम्' ।३।१।१३७। इति प्राप्तस्य प्राण्यङ्गनिबन्धनैकत्वस्यानेन निषेधः

'बहुगणं भेदे' ।१।१।४०। इति बहुशब्दो भेदवृत्तिः स्यात् न तु वैपुल्ये सङ्घे वा भेदः पृथग्रूपता—यथा बहवः पुरुषाः वैपुल्ये च न स्यात् यथा बहु धान्यमित्यादि बहुपदमत्र त्रित्वादिना नियतसंख्यापरं, न त्वनियतबहुत्व-परम्, तथा सति परिच्छेदस्यावधारणस्य प्रतीतिर्न स्यात्। नन्वेकार्थो न स्यादित्युक्त्या विशिष्य विहित एव समाहारो निषिध्येत 'चार्थे द्वन्द्वः०' ।३।१।११७। इति सामान्यतया विहितस्य कथं निषेधः? 'सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य च विशेषणयोगो न' इति न्यायेन स्वाभाविकी एव समाहार-द्वन्द्वस्याप्राप्तिः। न च तथा सतीतरेतरयोगोऽपि न स्यादिति वाच्यं 'सवि-शेषणानां वृत्तिर्न०' इति न्यायः 'सापेक्षमसमर्थम्' इति न्यायाश्रित एव विशेषणापेक्षस्य समस्यमानपदस्य सामर्थ्याभावात् किन्तु प्रधानस्य तु सापे-क्षत्वेऽपि नासामर्थ्यमिति इतरेतरयोगे वर्तिपदार्थस्य प्राधान्यात्समासे क्षत्यभाव इति ॥१४६॥

वान्तिके ।३।१।१४७।

वर्तिपदार्थानां संख्यानस्य समीपे गम्ये द्वन्द्वएकार्थो वा स्यात्। उपदशम् गोमहिषम्। उपदशाः गोमहिषाः ॥१४७॥

उपगता दश यस्य येषां वा उपदशं गोमहिषम्, उपदशा गोमहिषा इति। नवैकादश वा गोमहिषसमूह इत्यर्थः। बहुव्रीहेः समीपिप्रधानत्वात् द्वन्द्वार्थस्यैकत्व बहुत्वात्तदनुप्रयोगस्यापि। बहुव्रीहेरेकवचनबहुवचना-न्तत्वम्। अत्र 'प्रमाणीसंख्या०' ।७।३।१२८। इति डिदत्समासान्तः ततः 'डित्यन्त्यस्वरादेः' ।२।१।११४। इत्यनो लोपः दशानां समीपम् 'विभक्ति-समीप०' ।३।१।३८। इत्यव्ययीभावे तु 'अनः' ।७।३।८८। इति समासान्ते 'नोपदस्य तद्धिते' ।७।४।६१। इत्यन्तो लुपि समीपप्रधानत्वात् उपदशं गोमहिषम्, उपदशं गोमहिषा इति भवति ॥१४७॥

प्रथमोक्तं प्राक् ।३।१।१४८।

अत्र समासप्रकरणे प्रथमान्तेन यन्निर्दिष्टं तत् प्राक् स्यात् । आसन्नदशाः । सप्तगङ्गम् ॥१४८॥

आसन्नदशा इति—'आसन्नादूरा०' ।३।१।२०। इति समासः । तत्र प्रथमान्ततयानिर्दिष्टः आसन्नशब्दः इति तस्यैव पूर्वं प्रयोगः । सप्तगङ्गमिति—अत्र 'संख्या समाहारे०' ।३।१।१२८। इति समासः तत्र संख्या प्रथमान्ततया निर्दिष्टेति संख्यावाचकस्य सप्तेत्यस्य पूर्वनिपातः। वाक्यवत् समासेऽप्यनियमः स्यादिति वचनम् ॥१४८॥

राजदन्तादिषु ।३।१।१४९।

एतेषु समासेष्वप्राप्तप्राग्निपातं प्राक् स्यात् । राजदन्तः । लिप्तवासितम् ॥१४९॥

दन्तानां राजा राजदन्तः 'षष्ठ्ययत्ना०' ।३।१।७६। इति प्रथमोक्तत्वेन दन्तशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते राजशब्दस्यानेन पूर्वनिपातः । पूर्वं वासितं पश्चाल्लिप्तं-लिप्तवासितम् अत्र 'पूर्वकालैक०' ।३।१।९७। इति प्रथमोक्तत्वेन वासितस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते लिप्तस्य पूर्वनिपातः । वासितं सुरभीकृतम्, लिप्तमुपदिग्धम् । वासितस्यैव लेपो विधीयते लेपो इत्यवासितस्य व्यर्थं इतिवासनं पूर्वकाल एव समुचितमिति भवति तस्य 'पूर्वकाल०' ।३।१।९७।इति सूत्रविषयत्वम् । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥१४९॥

विशेषण-सर्व्वादिसंख्यं बहुव्रीहौ ।३।१।१५०।

विशेषणं सर्वादिसंख्यावाचि च बहुव्रीहौ प्राक् स्यात् । चित्रगुः । सर्वशुक्लः । द्विकृष्णः ॥१५०॥

चित्रगुरिति—चित्रा गावोऽस्येति 'एकार्थं चानेकं च' ।३।१।२२। इति बहुव्रीहिः अत्र चित्रा इति विशेषणम् गाव इति च विशेष्यम्, चित्रत्वेन हि गावो-गवान्तराद्विशेष्यमाणाः प्रतीयन्ते ततस्तद्विशेषणस्य पूर्वनिपातः अत्र 'गोश्चान्ते०'।२।४।६६।इति गोर्ह्रस्वः। सर्वशुक्ल इति-सर्वंशुक्लमस्य सर्वशुक्लः अत्र शुक्ल शब्देन सर्वार्थस्य विशेष्यमाणत्वात् सर्वस्य विशेषणत्वात् विशेषणत्वाभावेऽपि सर्वादित्वात्सर्वशब्दस्य पूर्वनिपातः।सर्वशब्दोऽत्र गुणिनिवर्ततेऽत एव सर्वः शुक्लोयस्येतिपुंसा विग्रहो न कृतः 'गुणे शुक्लादयः पुंसिगुणिलिङ्गास्तुतद्वति' इति वचनात् सर्वशब्दःसाकल्यकलितानां प्रकृतवस्तूनां स्त्रीपुंनपुंसकसाधारणानां बोधकःइति सामान्ये नपुंसकमिति सर्वशब्दस्य विशेष्यस्यनपुंसकतया तद्विशेषणस्य गुणिपरस्य शुक्लशब्दस्यापि क्लीबत्वं ज्ञेयम् द्वौ कृष्णौ गुणावस्य द्विकृष्णः अत्र द्वौ काविति प्रश्ने कृष्णौ इति कृष्णशब्देन द्वौ विशिष्येते इति द्विशब्दस्य विशेष्यत्वेऽपि संख्याशब्दत्वात्प्राग्निपातः। कृष्णशब्दोऽत्र गुणपरः न तु गुणि-परःद्विगुणकृष्णवर्णयुक्त इत्यर्थः। विवक्षितवस्तुनो यावती कृष्णवर्णमाला ततो द्विगुणा प्रकृतपदार्थस्येति यावत् । शब्दस्पर्द्धे परत्वात् सर्वादिसंख्ययोः संख्याया एव पूर्वनिपातः। यथा त्रयोऽन्येस्य स त्र्यन्यः उभयोस्तु सर्वादित्वे स्पर्धे परस्य पूर्वनिपातः। यथा द्वावन्यावस्य स द्व्यः। सर्वादिसंख्ययोर्विशेषणत्वेऽपि पृथग्वचनं शब्दपरस्पर्धार्थम्। अयं भावः-सर्वादिसंख्ययोर्विशेष्यत्वविवक्षायां प्रकृतसूत्रे ग्रहणं सफलमेव, किन्तु विशेषणत्वविवक्षायामपि सफलमेवेत्यपिना सूच्यते।'प्रथमोक्तं प्राक्' ।३।१।११८। इत्यनियमे प्राप्तेनियमार्थं वचनम्। अयं भावः-बहुव्रीहौ एकार्थमितिविशेषणसर्वादिसंख्यं तद्भिन्नमपि च भवति, तत्र 'प्रथमोक्तम्' इति पूर्वनिपाते 'विशेषणसर्वादिसंख्यस्यैव पूर्वनिपातो भवति, नेतरस्य' इति नियमो न लभ्यते, अनियम एव स्यात्, अतो विशेषणसर्वादिसंख्यस्यैव पूर्वनिपातो यथा स्यात् नेतरस्येति नियमार्थमिदं वचनमारभ्यते ॥१५०॥

क्ताः ।३।१।१५१।

क्तान्तं सर्वं बहुव्रीहौ प्राक् स्यात् । कृतकटः ॥१५१॥

क्तान्तस्य विशेषणत्वात्पूर्वेण सिध्यति विशेष्यार्थं तु वचनम्। कृतःकटोऽनेन कृतकटः स्पर्द्धे परत्वार्थं च कृतो भव्यः कटोऽनेन कृतभव्यकटः। अयं भावः-यदा क्तान्तं विशेषणं तदा पूर्वेणैव पूर्वनिपातः सिध्यति यदा तु

विशेष्यत्वविवक्षा तदा–नेन पूर्वनिपातो भवति यदा तु द्वौ विशेषणौ तदो-भयोर्विशेषणत्वेनाऽविशेषेऽपि क्तान्तस्यानेन परत्वात् पूर्वनिपातो भवति। यथा कृतो भव्यः कटोऽ–नेनेत्यत्र कटे विशेषणद्वयं कृत इति क्तान्तं तदतिरिक्तं भव्येति च ततोभयोर्विशेषणत्वेऽपि क्तान्तस्यानेन परत्वात् पूर्व-निपातो भवति। बहुवचनं व्याप्त्यर्थं तेन कृतप्रिय इत्यत्र परेणापि स्पर्द्धे क्तान्तस्यैव पूर्वनिपातः ॥१५१॥

जातिकालसुखादेर्नवा ।३।१।१५२।

जातेः कालात् सुखादिभ्यश्च बहुव्रीहौ क्तान्तं वा प्राक् स्यात्। शाङ्गरजग्धी । जग्धशाङ्गरा । मासजाता । जातमासा । सुखजाता । जातसुखा । दुःखहीना । हीनदुःखा ॥१५२॥

शाङ्गरं जग्धमनयेति शाङ्गरजग्धी, जग्धशाङ्गरा। शाङ्गरस्य वृक्षस्य विकारः फलं 'दोरप्राणिनः' ।६।२।४९। इति मयट् 'फले' ।६।२।५८। इति लुप् 'यपि चादो जग्ध्' ।४।४।१६। इति जग्धादेशः अत्र क्तान्तस्य विशेषणत्वात्परनिपाते 'अनाच्छादजात्या०' ।२।४।४७। इति स्त्रियां ङ्यां शाङ्गर-जग्धी यदा तु पूर्वनिपातस्तदा स्त्रियामपि जग्धशाङ्गरा फल-वाचकत्वादत्र शाङ्गरशब्दो जातिवाची। जातिविवक्षायां कृतः कटोऽनेनेत्यत्र कटकृतः कृतकटः इति भवति-व्यक्तिविवक्षायां तु 'क्तः' ।३।१।१५१। इत्यस्यैव प्रवर्तनात् कृतकट इत्येव भवति। मासो जातोऽ–स्याः मासजाता जातमासा जाताया मासो व्यतिक्रान्तः इत्यर्थः। अत्र कालो न जातिरिति 'अनाच्छाद०' ।२।४।४७। इति न ङीः। सुखादयो दश 'सुखादेरनुभवे' ।३।४।३५। इति सूत्रे निर्दिष्टाः। सुखं जातमस्याः सुखजाता जातसुखा। दुःखं हीनमस्याः दुःखहीना, हीनदुःखा ॥१५२॥

आहिताग्न्यादिषु ।३।१।१५३।

एषु बहुव्रीहिषु क्तान्तं वा प्राक् स्यात्। आहिताग्निः। अग्न्याहितः। जातदन्तः। दन्तजातः ॥१५३॥

यद्यप्याहिताग्न्यादिषु जातिवाचकैकपदक—बहुव्रीहयः-पठ्यन्ते तत्र च पूर्व-

सूत्रेणैव विकल्पः सिद्धः तथापि व्यक्तिपरत्वविवक्षायां क्तान्तस्य नित्यं पूर्व-निपातं वारयितुं तेषां पाठ इति ज्ञेयम्। आहितोऽग्निर्येन स-आहिताग्निः, अग्न्याहितः । आधानसंस्कारेण संस्कृतोऽग्निर्येनेत्यर्थः। तथा च नाग्नित्वेनाग्नेराधानं भवति किन्तु आहवनीयादितत्तद्व्यक्तित्वेनेति नात्र पूर्वसूत्रेण सिद्धिरिति विज्ञेयम्। जाता दन्ता अस्य-जातदन्तः। बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥१५३॥

प्रहरणात् ।३।१।१५४।

प्रहरणार्थात् क्तान्तं बहुव्रीहौ वा प्राक् स्यात्। उद्यतासिः। अस्युद्यतः ॥१५४॥

सूत्रे प्रहरणशब्दो न स्वरूपपरोऽपि त्वर्थपरः, अर्थे च कार्यासम्भवात् तद्वाचिनि प्रत्यय इत्याह-प्रहरणार्थादिति। उद्यतोऽ-सिर-नेन उद्यतासिः अस्युद्यतः अत्र 'क्ताः' ।३।१।१५१। इत्युद्यतस्य पूर्वनिपाते प्राप्तेऽसेः प्रहरणस्य वा पूर्वनिपातः। प्रह्रियतेऽ-नेनेति प्रहरणम्-तत्र येन प्रहारः क्रियते तादृशोऽस्यादिरपि प्रहरणार्थः, प्रहरणशब्दोऽ-पि प्रहरणसामान्यार्थः इति सामान्यविशेषयोरुभयोर्ग्रहणमिहाभिप्रेतम्। तथा च कलितं प्रहरणमस्य कलितप्रहरणः प्रहरणकलितः इत्यपि द्रष्टव्यम् ॥१५४॥

न सप्तमीन्द्वादिभ्यश्च ।३।१।१५५।

इन्द्वादेः प्रहरणार्थाच्च प्राक् सप्तम्यन्तं बहुव्रीहौ न स्यात्। इन्दुमौलिः। पद्मनाभः। असिपाणिः ॥१५५॥

नञुपादानाद् 'नवा' इति न संबध्यते । अयं भावः-नवा-शब्देन पूर्वत्र विकल्प उक्तः तेन च पूर्वविधिं निषिध्य विकल्पो विधीयते इह च निषेधमात्रं न-शब्देन प्रतीयते इति निषेधरूपविषयभेदात् प्रकरणभेदावगतौ पूर्वसूत्रसम्बन्धाभावबोधनात् 'न वा' इत्यस्य न सम्बन्ध इति इन्दुर्मौलौ यस्य-इन्दुमौलिः । पद्मं ना-भौ अस्य-पद्मनाभिः । असिः पाणा-

वस्य–असिपाणिः अत्र सर्वत्र उष्टमुखादित्वादस्मादेव ज्ञापकाद् वा समासः। अत्र 'विशेषण०' ।३।१।१५०। इति विशेषणस्य मौल्यादेः प्राप्तः पूर्वनिपातोऽनेन निषिध्यते। अस्मादेव निषेधात् 'विशेषण०' ।३।१।१५०। इति सूत्रे विशेषणपदं समानाधिकरणव्यधिकरणोभयविधव्यावर्तकपरमिति ज्ञाप्यते। अत्र मौल्यादिः विशेषणम् इन्द्वादि च विशेष्यम् सप्तम्यर्थो हि सर्वदा स्वाधारस्य विशेषणत्वेनैव प्रतीयते। बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥१५५॥

गड्वादिभ्यः ।३।१।१५६॥

गड्वादिभ्यो बहुव्रीहौ सप्तम्यन्तं प्राक् वा स्यात्। कण्ठेगडुः। गडुकण्ठः। मध्येगुरुः। गुरुमध्यः ॥१५६॥

पृथग्योगारम्भात् 'वा' इत्यनुवर्तते अन्यथा पूर्वसूत्र एव गड्वादिग्रहणे कृते पूर्वनिपातनिषेधः कृतः स्यात्, पृथग्योगान्निषेधसम्बन्धाभावः सूचितः। पूर्व-सूत्रे निषेधसामर्थ्याच्च वा इत्यनुवृत्तेरभावः सूचितः निषेधसम्भवाभावे चेह तदनुवृत्तिः सिद्धा भवति तथा च निषेधविकल्पविधिविकल्पयोः फले भेदाभावेऽपि विधिविकल्प एव स्वीकृतः। गडुर्मांसग्रन्थिः-गडुः कण्ठे यस्य–कण्ठेगडुः, गडुकण्ठः। अत्र अमूर्धमस्त०' ।३।२।२२। इति सूत्रेण सप्तम्या अलुप्। गुरुर्मध्ये यस्य–मध्येगुरुः, गुरुमध्यः। अत्र 'मध्यान्ताद् गुरौ' ।३।२।२१। इति सूत्रेण सप्तम्याः अलुप्। अत्र सर्वत्रो-ष्ट्रमुखादित्वात् समासः एवं सप्तम्यन्तमितरस्य विशेषणमिति तस्य 'विशेषणसर्वा०' ।३।३।१५०। इति नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते विकल्पेन पूर्वनिपातोऽनेन विधीयते। बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥१५६॥

प्रियः ।३।१।१५७।

अयं बहुव्रीहौ प्राक् वा स्यात्। प्रियगुडः। गुडप्रियः ॥१८७॥

सप्तमीति पदं निवृत्तं प्रथमान्तनिर्देशात्। प्रियो गुडोऽस्य प्रियगुडः, गुड-

प्रियः । प्रियः कः ? गुड इति प्रियस्य विशेष्यत्वे गुडो विशेषणमिति गुडस्यैव पूर्वनिपातः प्राप्तः, प्रियो गुडः इति गुडस्य विशेष्यत्वे प्रियस्यैव पूर्वनिपातः प्राप्तः उभयत्रापि प्रियस्य विकल्पेन पूर्वनिपातोऽनेन विधीयते ॥१५७॥

कडारादयः कर्म्मधारये ।३।१।१५८।

एते कर्म्मधारये प्राक् वा स्युः । कडारजैमिनिः, जैमिनकडारः । काणद्रोणः । द्रोणकाणः ॥१५८॥

कडारशब्दो वर्णविशेषवाची, जैमिनिश्च ऋषिविशेषः । कडारश्चासौ, जैमिनिश्च कडारजैमिनिः, जैमिनिकडारः काणश्चासौ द्रोणश्च काणद्रोणः । कडारादीनां गुणवचनत्वा-द्विशेषणत्वात् विशेषणम्०' ।३।१।६७। इत्यत्र प्रथमोक्तत्वात् नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते विकल्पेन पूर्वनिपातोऽनेन विधीयते । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥१५६॥

धर्मार्थादिषु द्वन्द्वे ।३।१।१५९।

एषु द्वन्द्वेष्वप्राप्तप्राक्त्वं वा प्राक् स्यात् । धर्म्मार्थौ । अर्थधर्म्मौ । शब्दार्थौ । अर्थशब्दौ ॥१५९॥

धर्मश्चार्थश्च धर्मार्थौ अर्थधर्मौ । शब्दाचश्र्थश्च-शब्दार्थौ, अर्थशब्दौ दन्त-त्वादर्थशब्दस्य नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते-ऽनेन विकल्पेन पूर्वनिपातो विधीयते । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥१५९॥

लघ्वक्षरासखीदुत्स्वराद्यदल्पस्वरार्च्यमेकम् ।३।१।१६०।

लघ्वक्षरं सखिवर्जेदुदन्तं स्वराद्यकारान्तमल्पस्वरं पूज्यवाचि चैकं द्वन्द्वे प्राक् स्यात् । शरशीर्षम् । अग्नीषोमौ । वायुतो-

यम् । असखोति किम् । सुतसखायौ । अस्त्रशस्त्रम् । प्लक्षन्य-ग्रोधौ । श्रद्धामेधे । लघ्वादिति किम् । कुक्कुटमयूरौ । मयूर-कुक्कुटौ । एकमिति किम् । शङ्खदुन्दुभिवीणाः । द्वन्द्वइत्येव । विस्पष्टपटुः ॥१६०॥

पृथग्योगाद् 'वा' इति निवृत्तम् । अयं भावः—यदि विकल्प इहाप्यभिप्रेतः स्यात्तदा पूर्वसूत्रेण सहैवास्यापि सूत्रस्य पाठः कुर्याद् तथाऽकरणादत्र विकल्पाभावः सूचितः । लघ्वक्षर—करश्च शीर्षश्च करशीर्षम् 'प्राणि-तू०' ।३।१।१३७। इत्येकार्थत्वम् । अग्निश्च सोमश्च 'ईः षोमवरुणेऽग्ने' ।३।२।४२। इतीकारस्य ईकारः । सूत्रे षोमेति निर्देशादी-कारसन्नियोगे षत्वं निपात्यते । वायुश्च तोयं च वायुतोयम् अप्राणिजातित्वादेकत्वम् । अस्त्रं च शस्त्रं च अस्त्रशस्त्रम् । अत्र 'अप्राणि०' ।३।१।१३६। इत्येका-कार्थत्वम् । अस्त्रपदेन क्षेपणसाधनं धनुरादि सामान्येनाभिधीयते शस्त्र-शब्देन च हिंसनसाधनमायुधमात्रमभिधीयत इत्यनयोः समानार्थत्वाभावात् 'समानाम०' ।३।१।११८। इत्येकशेषो न भवति । अत्र स्वराद्यदन्तत्वादस्त्र-शब्दस्य पूर्वनिपातः । प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्यग्रोधौअत्र प्लक्षस्य द्विस्वरत्वात् न्यग्रोधस्य त्रिस्वरत्वादेतदपेक्षया प्लक्षस्याल्पस्वरत्वात्पूर्व-निपातः । श्रद्धा च मेधा च श्रद्धामेधे-अत्र श्रद्धामूलकत्वादभिप्रेतार्थसिद्धेः श्रद्धाया अर्च्यत्वेन मेधायाः पूर्वं निपातः । सम्यक्त्वमोहनीयक्षयोपशमम-न्तरेण ज्ञानावरणीयक्षयोपशमोऽपि दुर्गतिप्रदः । सम्यक्त्वमोहनीयक्षयो-पशमेन जिनोक्ततत्त्वेषु श्रद्धा जायते तथा चोक्तम्—

'रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक् श्रद्धानमुच्यते ।
जायते तन्निसर्गेण गुरोरधिगमेन वा' ॥ इति

तदर्थस्तु–जिनोक्ततत्त्वेषु जीवादिषूक्तस्वरूपेषु या रुचिस्तत् श्रद्धानम् । ज्ञानं केवलंतुन रुचिं विना फलसिद्धेरभावात्, शाकान्नपानादि-स्वरूपवेदिनाऽपि रुचिं विना न सौहित्यलक्षणं फलमवाप्यते श्रुतज्ञानवतोऽप्यङ्गारमर्द-कादेरभव्यस्य दूरभव्यस्य वा जिनोक्ततत्त्वेषु रुचिरहितस्य न विवक्षितं फलं

प्राप्नमिति श्रूयते। तस्य। चोत्पादे द्वयी गतिः–निसर्गोऽधिगमश्च निसर्गो स्वभावः गुरुपदेशनिरपेक्षः–सम्यक् श्रद्धानकारणमिति। कुक्कुटमयूराविन्यादि–एवत्सूत्रलक्ष्यातिरिक्तस्थले तु कामचारेणोभयोः पर्यायेण पूर्वप्रयोगः। **अथ स्पर्द्धे परमेव भवती न किञ्चित्प्रकाश्यते**—व्रीहिश्च यवश्च व्रीहियवावत्र लघ्वक्षरो यवः व्रीहिः इदन्तः इति लघ्वक्षरापेक्षयेदन्तस्य सूत्रे परत्वात् व्रीहेरेव पूर्वनिपातः। एकवचनान्तेन विग्रहान्नात्र धान्यलक्षणमेकत्वम् 'बहुत्व' इति वचनात्। असखीदुदेदित्यैकपद्यादिदुतोः स्पर्द्धे कामचारः पतिश्च वसुश्च पतिवसू वसुपती। अयं भावः-'असखीदुत्' इत्येकं पदं न तु असखीदित्येकं पदम् 'उत्' इति च भिन्नम्। तथा च सूत्रपाठेपरत्वव्यवस्था पदपाठनिबन्धनैवेति पदपूर्वापरीभावविरहान्न परत्वनिमित्तकः उदन्तस्य पूर्वनिपात-नियम इति तत्र कामचार एव भवति। उष्ट्रश्च खरश्च उष्ट्रखरमित्यत्रोष्ट्रशब्दस्य स्वराद्यन्तत्वं खरशब्दस्य लघ्वक्षरत्वमिति लघ्वक्षरापेक्षया स्वराद्यन्तस्य सूत्रपाठे परपठितत्वात्तस्यैव पूर्वनिपातः गवाश्वादित्वादेकार्थत्वम्। धवश्चाश्वकर्णश्च धवाश्वकर्णौ एतन्नामकौ वृक्षौ अत्र स्वराद्यन्तेन स्पर्द्धः—तत्राल्पस्वरस्य सूत्रपाठे परत्वादल्पस्वरनिमित्तकः धवस्य पूर्वनिपातो भवति। दीक्षा च तपश्च दीक्षातपसी–अत्र तपसो लघ्वक्षरत्वेऽपि दीक्षाया बहूपकारकत्वान्मलभूतत्वाच्चार्चितत्वात् परत्वात्पूर्वनिपातः दधिपय-आदित्वाच्च नैकवद्भावः इति। ननु स्वभावत एकस्यैव पूर्वनपातो भविष्य-तीत्येकमिति व्यर्थमिति चेत्सत्यम्। युगपदनेकस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते एकस्यैव यथा-प्राप्तं पूर्वनिपातः शेषाणां तु कामचार इति प्रदर्शनार्थमेकग्रहणम्। तेन शङ्खश्च दुन्दुभिश्च वीणा च-शङ्खदुन्दुभिवीणाः शङ्खवीणादुन्दुभयः वीणादुन्दुभिशङ्खा वीणाशङ्खदुन्दुभय इति प्रयोगचतुष्टयं भवति-अयं भावः—अत्र शङ्खवीणाशब्दयोरल्पस्वरत्वम्-दुन्दुभेरसखीदन्तत्वमिति तदपेक्षयाऽल्पस्वरयोः शङ्खवीणा-शब्दयोरुभयोः पूर्वनिपातः स्पर्धे परत्वात् प्राप्तः तत्र यदा शङ्खशब्दस्य पूर्वनिपातः तदा वीणाशब्दे कामचारः इति शङ्खदुन्दुभिवीणाः, शङ्खवीणादुन्दुभयः इति प्रयोगद्वयम् यदा वीणाशब्दस्य पूर्वनिपातः तदा शङ्खशब्दे कामचारः इति 'वीणाशङ्खदुन्दुभयः, वीणादुन्दुभिशङ्खा इति

प्रयोगद्वयमेवं प्रयोग-चतुष्टयं भवति। एकग्रहणात् दुन्दुभिशङ्खवीणा इति तु न भवति। विस्पष्टपटुरिति—विस्पष्टं पटुरिति विग्रहः अत्र 'नाम नाम्नै०'।३।१।३४। इति सामान्यतः समासः 'मयूरव्यंसकेत्यादयः'। ।३।१।११६। इति तत्पुरुषसमासो वा ज्ञेयः। द्वन्द्वाभावादिहोकारान्तस्य पटुशब्दस्य पूर्वप्रयोगो न भवति ॥१६०॥

मासवर्णभ्रात्रऽनुपूर्वम् ।३।१।१६१।

एतद्वाचि द्वन्द्वेऽनुपूर्वं प्राक् स्यात्। फाल्गुनचैत्रौ। ब्राह्मणक्षत्रियौ। ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः। बलदेववासुदेवौ ॥१६१॥

मासाश्च वर्णाश्च भ्रातरश्चेति समाहारे मासवर्णभ्रातृ, पूर्वं पूर्वमनुसृत्यानुपूर्वम्, पूर्वमनतिक्रम्येतिवाऽ—व्ययीभावानां स्वपदविग्रहाभावात्, अनतिक्रमश्चानुसरणमेव। अनुपूर्वमिति-मासेषु यो मासो यस्मात् पूर्वभावित्वेन प्रसिद्धस्तस्य पूर्वप्रयोगः एवं वर्णभ्रातॄणामपि-अनुग्रहणादेकमिति निवृत्तम्-आनुपूर्व्यं पूर्वपश्चाद्भावस्वरूप-क्रमवैशिष्ट्येन ज्ञानम् मासानां च तल्लोकप्रसिद्धमेव, भ्रात्रोर्भ्रातॄणां वा क्रमवैशिष्ट्यं तु प्रादुर्भावकालकृतं बोध्यम्, वर्णानां चानुपूर्व्यं लोकप्रसिद्धितो ज्ञेयम्। लोकप्रसिद्धिश्चेत्थम्-वर्णानां चानुपूर्व्यं तत्तज्जन्मस्थानकृतम् तथाहि—

मुखतो ब्राह्मणा जाता, बाहुभ्यां क्षत्रियाः स्मृताः।
ऊरुभ्यां तु विशः प्रोक्ताः,पद्भ्यां शूद्रो-प्यजायत ॥

शब्दानुशासनस्य सर्वपार्षदत्वात् परसमयापेक्षयापि साध्यते इति।
फाल्गुनचैत्राविति—फाल्गुनश्च चैत्रश्चेति विग्रहः। ब्राह्मणक्षत्रियाविति—ब्राह्मणश्च क्षत्रियश्च अत्रोभयोः समस्वरत्वेनार्च्यत्वनिर्णयाच्चानियमे प्राप्तेऽनेनानुपूर्वं पूर्वनिपातो भवति। ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या इति—ब्राह्मणश्च क्षत्रियश्च वैश्यश्चेति विग्रहः। अत्राल्पस्वरत्वेन पूर्वनिपाते प्राप्तेऽनेनानुपूर्व्यात् निपातः। बलदेववासुदेवाविति—अर्च्यत्वं तु विवादास्पदं तत्तद्विशेषगुणापेक्षयाऽ च करुच्यधीनमिति-तदनुसारिणी व्यवस्थेति प्रकृतसूत्र-

प्रवृत्त्यैवेष्टसिद्धिः । अनुपूर्वग्रहणाद् यो ज्येष्ठभ्रातृवाची स पूर्वं निपतति ॥१६१॥

भर्त्तुतुल्यस्वरम् ।३।१।१६२।

नक्षत्रर्तुवाचि तुल्यस्वरं द्वन्द्वेऽनुपूर्वं प्राक् स्यात् । अश्विनी-भरणीकृत्तिकाः । हेमन्तशिशिरवसन्ताः । तुल्यस्वरइति किम् । आर्द्रामृगशिरसी । ग्रीष्मवसन्तौ ॥१६२॥

अश्विनी च भरणी च कृत्तिका च अश्विनीभरणीकृत्तिकाः । अत्र सर्वेषां समस्वरत्वात् लघ्वक्षरादिसूत्राविषयत्वेनानियमप्राप्तौ कृत्तिकादीनामनुपूर्वं पूर्वनिपातः । अश्विनी-भरणी-कृत्तिका—मृगशिर-आर्द्रा-पुनर्वसु०' इत्यादिर्नक्षत्रक्रमः । हेमन्तशिशिरवसन्ता इति–मार्गपौषौ हेमन्तः, माघ-फाल्गुनौ शिशिरः, चैत्रवैशाखौ वसन्तः, ज्येष्ठाषाढौ ग्रीष्मः, श्रावणभाद्र-पदौ प्रावृट्, आश्विनकार्तिकौ शरदिति द्वौ द्वौ मासौ ऋतुः । हेमन्तशिशिर-वसन्त-ग्रीष्म-प्रावृट्-शरद्, इति ऋतूनां क्रमः । आर्द्रामृगशिरसीत्यादि—अत्रार्द्राग्रीष्मयो-रल्पस्वरत्वात् पूर्वसूत्रेण पूर्वनिपातः ॥१६२॥

संख्या समासे ।३।१।१६३।

समासमात्रे संख्यावाच्यनुपूर्वं प्राक् स्यात् । द्वित्राः । द्विशती, एकादशः ॥१६३॥

समासप्रकरणादेव समासे लब्धे पूर्वोक्तसूत्राणां बहुव्रीह्यादिसमासविशेषे पूर्वनिपातविधायकतयाऽस्य समाससामान्य एव प्रवृत्त्यर्थं समासग्रहणमिति तस्मात्समासमात्र इति लभ्यते इत्याह समासमात्रे इति । संख्यावाचिनां प्रायो बहुव्रीहिः समाहारद्विगुर्द्वन्द्वो वा भवति, तत्र 'सर्वा संख्या प्रथमोक्ता' इत्यनियमे आनुपूर्व्या संख्यायाः पूर्वनिपातार्थं वचनम । द्वौ वा त्रयो वा-द्वित्राः 'सुज्वार्थे संख्या०' ।३।१।१६। सूत्राद् विकल्पार्थे समासः, 'प्रमाणी-संख्याड्डः' ।७।३।१२८। सूत्रात्समासान्ते डे इकारलोपः । अत्रोभयोर्विशेष्य-

विशेषण-भावा-भावा-न्नियमो न प्राप्तः, संख्यात्वमपि द्वयोरेवेति 'विशे-पणसर्वादि०' ।३।१।१५०। इति न प्रवर्तते इत्यानुपूर्व्यादेव पूर्वनिपातः। द्वे शते समाहृते=द्विशती। 'संख्या समाहारे० ।३।१।९९। सूत्रात् समाहारे द्विगुसमासः, अत्र पात्रादिवर्जितादन्तोत्तरपदत्वात् स्त्रीत्वं ङीश्च। एकश्च दश च=एकादश। 'चार्थे द्वन्द्वः०' ।३।१।१२१। सूत्रात्समासः, 'एकादश०' ।३।२।९१। सूत्रात्पूर्वपदस्य दीर्घत्वे 'एकादशन्' शब्दस्य प्रथमा-बहुवचनस्य रूप-मिदम्। इह संख्यात्वेन लोकप्रसिद्धाया एव संख्याया ग्रहणं न तु संख्यासमुदायस्य तेन द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः। चत्वारश्च द्वित्राश्च चतुर्द्विवत्रा इत्यत्र द्वित्रशब्दस्य न पूर्वप्रयोगः ॥१६३॥

"इति तृतीयाध्याये प्रथमः पादः समाप्तः"

कोई मर जाय तब आज के समयधर्मी कहते हैं कि-रोना, रोना ही आवे, रोना आवे ही! यानी रोये बिना कैसे चले? तब भगवान का—सर्वज्ञ का धर्म कहता है कि—'सब को मौत निश्चित है, श्रीतीर्थंकर देव जैसे भी निर्वाण पाये, रोने से कोई वापिस नहीं आता, रोनें से जानें वाला भी यदि वोसिरा कर न गया हो तो उसको भी पाप लगता है, इसीलिये रोना नहीं चाहिये। ज्यादा में प्रभुधर्म के ज्ञाता तो बहुत-बहुत समझाते हैं और कहते हैं कि 'टूटा हुआ आयुष्य जोडनें की किसी की ताकत नहीं है। श्रीसुधर्मा इन्द्र ने एक क्षण मात्र आयुष्य बढ़ानें का भगवान को कहा, परन्तु भगवान नें कहा कि 'बंधा हुए आयुष्य को घटानें या बढ़ानें की ताकत श्रीतीर्थंकरों में भी नहीं है, तो मरनें वाले आत्मा के आप हितैषी हो तो रोना छोड़ दो, मरनें वाले को जिन्दगी तक तो पाप कराया, उसकी आय (इन कम) आप सब खा गये और अब तक तो तुम्हारे हित के मार्ग में उसको जोड़ा। तो अब भी यदि तुम उसका भला चाहते हो तो रोना छोड़ दो, तुम रोओगे उसका पाप उसको लगेगा, क्योंकि वह वोसिरा कर नहीं गया, परन्तु 'ओ बापा!! ऐसा पुकार करते हुए गया है।

प०पू० कलिकाल—कल्पतरु आचार्य—
देव श्री विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा

सावद्य प्रवृत्ति कभी साधु करता नहीं, कराता नहीं और अनुमोदन भी नहीं करता।

एक जैनाचार्य ने पारसीओं की, एवं दूसरों की कालोनीयां देखी। मुझे जैनों की कालोनीयां बनानी है, जैन भोजनशाला, जैन हास्पिटल बनानी है, तो उन्होंने क्या-क्या किया उसका वर्णन नहीं हो सकता। पागल मत बनो।

सुरत में भगवान् महावीर के नाम की हास्पिटल बनाई गई। उस समय उसके उद्घाटन के लिये मोरारजी भाई आये थे। उन्होंने टकोर की कि ऐसी हिंसक हास्पिटल भगवान के नाम से बनाई नहीं जा सकती, किसी अखबार वाले ने इस बात के अंशमात्र भी छापा नहीं।

परम पूज्य अनेकान्ता-भासतिमिरतरणि
व्याख्यान-वाचस्पति आचार्यदेव
श्री विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महारजा

॥ अथ तृतीयाध्याये द्वितीय पादः ॥

परस्पराऽन्योन्येतरेतरस्याम् स्यादेर्वा पुंसि ।३।२।१।

एषामपुंवृत्तीनां स्यादेराम् वा स्यात् । इमे सख्यौ कुले वा परस्परां परस्परं अन्योन्यां अन्योन्यं इतरेतरं भोजयतः । आभिः सखीभिः कुलैर्वा परस्परां परस्परेण,अन्योन्याम् अन्योन्येन,इतरेतरां इतरेतरेण भोज्यते । अपुंसीति किम् । इमे नराः परस्परं भोजयन्ति ॥१॥

परस्परश्चान्योऽन्यश्चेतरेतरश्चेति समाहारात्षष्ठी, अन्योन्येतरेतरशब्दयोर्द्वन्द्वं विधाय वा परस्परशब्देन द्वन्द्वस्तेनान्योऽन्यशब्दस्य स्वराद्यन्तत्वादल्पस्वरत्वाच्च परस्परशब्दात्पूर्वं प्रयोग इत्याशङ्कापि नैव कर्तव्या भवति। पूर्वमन्योन्यशब्दस्य इतरेतरशब्देन द्वन्द्वे परस्परशब्दस्यैवाल्पस्वरत्वम् । परस्परादयस्त्रयोपि स्वभावत एकवचनाः, पुंस्त्ववृत्तयः क्रियाव्यतिहारविषयाश्च। पुंस्त्वात् 'पञ्चतोऽ०' ।१।४।५८। सूत्रं न प्रवर्तते । परस्याः परस्याः विनिमयः परस्परः, अस्मादेव निर्देशात् परान्येतरशब्दानां सर्वनाम्नां द्वित्वं निपात्यते । परस्परो भुङ्क्ते, भुञ्जानं तं सख्यौ कुले वा प्रयुञ्जाते 'गतिबोधा०' ।२।२।५। सूत्रेणाणिक्कर्तुः परस्परस्य कर्मत्वम्, अनेन आम्, पक्षे परस्परमेवमग्रेऽपि । अत्र करणे सहार्थे वा यदा तृतीया तदा भोज्यते इति रूपं भवति तद् आभिः सखीभिरित्यनेन दर्शितम् । अत्र करणे सहार्थे वा यदा तृतीया यदेकोणिग्, यथा भुङ्क्ते जनस्तं भुञ्जानं सख्यः प्रयुञ्जते इति णिग्, केन सह केन कृत्वा चेति शङ्कायां परस्परेण । यदा तु कर्तरि तृतीया तदा णिग् द्वयं यथा भुङ्क्ते जनस्तं भुञ्जानं परस्परः प्रयुङ्क्ते इत्येको णिग्, तं परस्परं भोजयन्तं सख्यः प्रयुञ्जते इति द्वितीया णिग्, ततः कर्तरि तृतीया । यदा तु प्रथमैकवचनस्याम्भावः तदामभावपक्षे परस्परो भोज्यते इत्यादि द्रष्टव्यम् । यत्र तु पुल्लिङ्गस्तदाम् नेष्यते इमे नरा इति ॥१॥

अमव्ययीभावस्यातोऽपञ्चम्याः ।३।२।२।

अदन्तस्याव्ययीभावस्य स्यादेरम् स्यात्। नतु पञ्चम्याः। उपकुम्भमस्ति। उपकुम्भं देहि। अव्ययीभावस्येति किम्। प्रियोपकुम्भोऽयम्। अत इति किम्। अधिस्त्रि। अपञ्चम्या इति किम्। उपकुम्भात् ॥२॥

उपकुम्भमस्तीति—कुम्भस्य समीपमुपकुम्भम्। कुम्भसामीप्ययुतं यत्किञ्चिदस्तीति अत्र प्रथमैकवचनस्य सेरमादेशः। उपकुम्भं देहीति-कुम्भसमीपयुताय देहीत्यर्थः। प्रियोपकुम्भोऽयमिति–प्रियमुपकुम्भं यस्य स–नात्र स्यादिरुपकुम्भसंबन्धी अपि तु प्रियोपकुम्भसंबन्धीति न भवति ॥२॥

वा तृतीयायाः ।३।२।३।

अदन्तस्याव्ययीभावस्य तृतीयाया अम् वा स्यात्। किन्न उपकुम्भम्। किन्न उपकुम्भेन। अव्ययीभावस्येति किम्। प्रियोपकुम्भेन ॥३॥

किं न उपकुम्भमिति—नः उपकुम्भेन किं साध्यं? किमपि न साध्यमित्यर्थः। साधनाक्रियां प्रति उपकुम्भस्य करणत्वेन करणे तृतीयैषा तस्याश्च विकल्पेनामावेशः। 'अमव्ययीभावस्यातोऽपञ्चम्याः'।३।२।३। इत्यस्यापवादोऽयम् एव–मुत्तरसूत्रमपि ॥३॥

सप्तम्या वा ।३।२।४।

अदन्तस्याव्ययीभावस्य सप्तम्या अम्वा स्यात्। उपकुम्भम्। उपकुम्भे निधेहि। अव्ययीभावस्येत्येव। प्रियोपकुम्भे ॥४॥

उपकुम्भमिति–कुम्भसमीपे निधेहीत्यर्थः 'तृतीयासप्तम्योर्वा' इत्येकयोगे कर्तव्ये उत्तरार्थः योगविभागः कृतः। उत्तरसूत्रे केवलं सप्तम्याः सम्बन्धः

स्यादित्येतदर्थं पृथक्सूत्रकरणमिति भावः अन्यथा एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' इति न्यायेन तृतीयासप्तम्योरुभयोरेव तत्र सम्बन्धः स्यात्, स चानिष्टः ॥४॥

ऋद्धनदीवंश्यस्य ।३।२।५।

एतदन्तस्याव्ययीभावस्यादन्तस्य सप्तम्या अम् नित्यं स्यात्। सुमगधम्। उन्मत्तगङ्गम्। एकविंशतिभारद्वाजं वसति ॥५॥

ऋद्धं समृद्धम्, मगधानां समृद्धिः। सुमगधं वसति 'विभक्तिसमीप०' ।३।१।३९ इत्यव्ययीभावः उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन्नुन्मत्तगङ्गं देशे वसति, देशविशेषस्य संज्ञेयम् 'नदीभिर्नाम्नि' ।३।१।२७। इत्यव्ययीभावः। एक-विंशतिर्भारद्वाजा वंश्याः-एकविंशतिर्भारद्वाजं वसति भरद्वाजशब्दस्य बिदादौ पाठः ततश्चा-पत्यार्थे विहितस्याञः 'यञञोऽश्या:०' ।६।१।१२६।इति बहुत्वे लुप् स्यादिति 'एकविंशतिः भरद्वाजा' इति विग्रहो युक्तः तथापि 'एकविंशतिर्भारद्वाजा वंश्या; इत्याचार्यवचनप्रामाण्याद् भरद्वाजशब्दस्योपकादिषु पाठं परिकल्प्य लुपो वैकल्पिकत्वमेष्टव्यम्। यद्वा नायमञ् किन्तु अस्येदमिति विवक्षा-यामण्। पूर्वेण विकल्पः सिद्धः किन्तु नित्यार्थं वचनम् ॥५॥

अनतो लुप् ।३।२।६।

अदन्तवर्जस्याव्ययीभावस्य स्यादेर्लुप् स्यात्। उपवधु, उपकर्तृ। अनत इति किम्। उपकुम्भात्। अव्ययीभावस्येत्येव। प्रियोप-वधुः। ॥६॥

वध्वाः समीपम् उपवधु। कर्तुः समीपम् उपकर्तृ। प्रियमुपवधु यस्य स प्रियोपवधुरिति-वधूसामीप्याभिलाषीत्यर्थः ॥६॥

अव्ययस्य ।३।२।७।

**अव्ययस्य स्यादेर्लुप्। स्वः। प्रातः। अव्ययस्येति किम्। अत्यु-
च्चैसः ॥७॥**

अत्युच्चैस इति-उच्चैरतिक्रान्ता इत्यर्थः तथा चात्रातिक्रमणकर्तुः प्राधा-
न्येन पूर्वपदार्थप्रधानस्य समासस्य संबन्धी स्यादिर्नोच्चैः-शब्दस्य तेनात्र
लुब् न भवति। परमोच्चैरित्यादौ तूत्तरपदार्थप्रधानत्वात्समासस्याव्यय-
सम्बन्ध्येव स्यादिरिति लुब्भवत्येव। अत एव लुब्विधानादव्ययेभ्यः स्या-
दयोऽनुमीयन्ते ततश्च 'अथो स्वस्ते गृहम् अथोच्चैर्मे गृहम्' इत्यादौ 'सपू-
र्वात्प्रथमान्ताद् वा' ।२।१।३२। इति विकल्पेन 'ते मे' आदेशौ पदसंज्ञा च
सिध्यति ॥७॥

ऐकार्थ्ये ।३।२।८।

**ऐकार्थ्यमेकपद्यं तन्निमित्तस्य स्यादेर्लुप् स्यात्। चित्रगुः। पुत्री-
यति। औपगवः। अतएव लुब्विधानान्नाम नाम्नेत्युक्तावपि
स्याद्यन्तानां समासः स्यात्। ऐकार्थ्य इति किम्। चित्रा गावो
यस्येत्यादिवाक्ये माभूत् ॥८॥**

ऐकार्थ्यमिति-एकोऽर्थो ययोर्येषां वा तानि-एकार्थानि तेषां भावः ऐका-
र्थ्यमिति व्युत्पत्तौ सत्यामपि पृथक्पदानामर्थैक्यस्यासंभव एव पर्यायस्थ-
लेऽपि यथाकथञ्चिदर्थभेदसत्त्वात्। तथा चात्र पृथगुपस्थितार्थानां पदानां
वृत्तिवशादेकोपस्थितिजनकत्वरूप एकार्थीभाव एवा भिधीयते इति।
तन्निमित्तस्येति—'यस्मिन् सति यद् भवति तत्तस्य निमित्तम्' इति सामा-
न्यव्याप्त्या यस्मिन् स्यादौ सति अत्र समुदाये ऐकपद्यमुत्पद्यते स स्यादि-
स्तन्निमित्तमिति-ऐकपद्यपूर्वविद्यमानस्य स्यादेर्लुबिति भावः। ऐकपद्यं च
चतुर्षु भवति-समासे नामधातुषु कृदन्ते तद्धितान्ते च। चित्रा गावो यस्य
इति स चित्रगुः। पुत्रमिच्छति-पुत्रीयति। उपगोरपत्यं औपगवः।'ऐकार्थ्ये'
इतिनिमित्तसप्तमीविज्ञानादैकार्थ्योत्तरकालस्य न भवति-चित्रगुः।'ऐकार्थ्ये'
इत्यत्र 'तद्युक्ते हेतौ' ।२।२।१००। इति सप्तमी। अत्र सहकारित्वरूपं
निमित्तम् ततश्चैकार्थ्योत्पत्तिपूर्वकाल-स्थितस्यैव स्यादेरनेन लुप् तदुत्तर-

कालोत्पन्नस्य तु न तन्निमित्तत्वम्–कार्यनियतपूर्ववृत्तेरेव कारणत्वात् तदुत्तरकारलोत्पन्नस्य तु तत्कार्यत्वमेव ।।८।।

न नाम्न्येकस्वरात् खित्युत्तरपदेऽमः ।३।२।६।

समासारम्भकमन्त्यं पदमुत्तरपदं खित्-प्रत्ययान्ते उत्तरपदे परे नाम्यन्तादेकस्वरात्पूर्वपदात्परस्यामो लुब् न स्यात् । स्त्रियंमन्यः। नावंमन्यः । नामीति किम् । क्ष्मंमन्यः । एकस्वरादिति किम् । वधूंमन्यः । खितीति किम् । स्त्रीमानी ।।९।।

स्त्रीं स्त्रियं वाऽत्मानं मन्यते स्त्रींमन्यः । नावमात्मानं मन्यते नावंमन्यः । 'कर्तुः खश्' ।२।१।११७। इत्यनेन खश् 'दिवादेः श्यः' ।३।४।७२। इति । श्यः क्ष्मंमन्य इति 'खित्यनव्ययारुषो मोऽन्तो ह्रस्वश्च' ।३।२।११।। इति। स्त्री-मानीति—'मन्याण्णिन्' ।५।१।११६। इति णिन् । 'ऐकार्थ्ये' ।३।२।८। इति विहितस्य लुपोऽपवादः ।।९।।

असत्त्वे ङसेः ।३।२।१०।

असत्त्वे विहितस्य ङसेरुत्तरपदे परे लुब् न स्यात् । स्तोका-न्मुक्तः । असत्त्वइति किम् । स्तोकभयम् । उत्तरपदइत्येव । निः-स्तोकः ।।१०।।

स्तोकान्मुक्त इति–'स्तोकाल्प०'।२।२।७९। इति सूत्रेण पञ्चमी 'क्तेनासत्त्वे' ।३।१।७४।इति समासः । स्तोका द्रव्यमिति–द्रव्यादित्यर्थः । निष्कान्तः स्तो-कात्—निः–स्तोकः ।।१०।।

ब्राह्मणाच्छंसी ।३।२।११।

अत्रसमासे ङसेलुंबभावो निपात्यते । ब्राह्मणाच्छंसिनौ । निपातनादृत्विग्विशेषादन्यत्र लुबेव । ब्राह्मणशंसिनी स्त्री ॥११॥

यद्यप्ये-कलक्ष्यमात्रविषयत्वात् सूत्रस्य निपातनपरत्वं तथापि प्रकरणपरिशुद्ध्यर्थं विधेयांशमाह-ङसेलुंबभाव इति । ब्राह्मणाद् ग्रन्थादादाय शंसतः-ब्राह्मणाच्छंसिनौ । अत्र कुसूलात्पचतीति-वद् उपात्तविषयमपादानम् । अयं भावः—कुसूलादुद्धृत्य तण्डुलं पचतीति उपात्ता समीपोच्चारिता क्रियैव विषयो यस्य तथाभूतम्, उद्धृत्येति क्रियानिरूपितमेवेत्यर्थः तथाऽत्रापि आदायेति क्रियानिरूपितमपादानम् यस्मादादानं भवति तत्तस्यापादानं विश्लेषस्य सत्त्वात् । अत्र यदा उद्धृत्यादायशब्दौ प्रज्युज्येते तदा केवले स्वार्थे विश्लेदने शंसने च पचिशंसी वर्तेते । उद्धरति आददाति इति क्रियापेक्षया तु निर्दिष्टविषयमपादानम् ग्रामादागच्छतीतिवत् । वेदोक्तानां मन्त्राणां कर्मसु विनियोगप्रतिपादकः कर्मस्वरूपबोधकश्च वेदभागो ब्राह्मणमित्याख्यायते अत्र ग्रन्थविशेषपर एव ब्राह्मणशब्दः । तस्माद् ग्रन्थात् कमपि विषयमादाय यः शं-सति स ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विग्विशेषः, तस्य तादृशं व्रतं यज्ञकाले श्रुतमिति 'व्रताभीक्ष्ण्ये' ।५।१।१५७। इति णिन् । ब्राह्मणशंसिनी स्त्रीति-निपातनेन तस्य लक्ष्यस्येष्ट-विषयत्वं विज्ञायते तस्मात् ऋत्विग्विशेषादन्यत्र लुबेव, स्त्रिया ऋत्विक्कर्मानर्हत्वमिति तादृग्विशेषाभावबोधनायैव स्त्रीलिङ्गप्रयोगः, पुंस्यपि तदविषये लुब् भवत्येव ॥११॥

ओजोऽञ्जःसहोऽम्भस्तमस्तपसष्टः ।३।२।१२।

एभ्यः परस्य टावचनस्योत्तरपदे परे लुब् न स्यात् । ओजसाकृतम् । अञ्जसाकृतम् । सहसाकृतम् । अम्भसाकृतम् । तमसाकृतम् । तपसाकृतम् । टइति किम् ? ओजो-भाव ॥१२॥

ओजः-आन्तरं बलम्, अञ्जः-सौकर्यम्, सहः-सहनसामर्थ्यं बलम्, अम्भस्-तमस्-तपांसि एषां कर्तृत्वविवक्षायां करणत्वविवक्षायां वा तृतीया, कर्तरि षष्ठी तु न 'क्तयोरसदा' ।२।२।९१। इति निषेधात् । 'कारकं कृता' ।३।१।६८।

इति समासे सति 'ऐकार्थ्ये' ।३।२।८। इति लोपे प्राप्ते तस्याऽनेन निषेधः ।
॥१२॥

पुञ्जनुषोऽनुजान्धे ।३।२।१३।

पुञ्जनुर्भ्यां परस्य टो यथासंख्यमनुजेऽन्धे चोत्तरपदे लुब् न स्यात् । पुंसाऽनुजः । जनुषाऽन्धः । टइत्येव ? पुमनुजा ॥१३॥

पुंसा अनुजः पुंसानुजः करणे त्र तृतीया–योऽसौ पुमान् पूर्वं जातस्तेनैवा-नुजत्वं कृतमिति तात्पर्यात् । जनुषा जन्मनाऽन्धः जनुषान्धः यः जन्मनैव दृक्शक्तिहीन एवमुच्यते । पुमनुजेति–पुमांसमनुजाता पुमनुजा 'श्लिषशीङ्' ।५।१।६। इति कर्तरि क्तः । 'श्रितादिभिः' ।३।१।६२। इति समासः 'अनो-जनेर्डः' ।५।१।१६८। इति डः ॥१३॥

आत्मनः पूरणे ।३।२।१४।

अस्मात्परस्य टः पूरणप्रत्ययान्त उत्तरपदे लुब् न स्यात् । आत्म-नाद्वितीयः, आत्मनाषष्ठः ॥१४॥

आत्मना द्वितीय इति-अत्र गम्यमान-करोतिक्रियापेक्षमात्मनः करणत्व-मिति करणे तृतीया आत्मना कृतो द्वितीय इत्यर्थावगमात् । 'ऊनार्थ-पूर्वाद्यैः' ।३।१।६७। इति पूर्वादित्वात्समासः । अथवा 'प्रकृत्या चारु' इतिवत् 'यद्भेदैस्तद्वदाख्या' ।२।२।४६। इत्यभेदे तृतीया ॥१४॥

मनसश्चाज्ञायिनि ।३।२।१५।

मनसः आत्मनश्च परस्य ट आज्ञायिन्युत्तरपदे लुब् न स्यात् । मनसाज्ञायी । आत्मनाज्ञायी ॥१५॥

मनसाऽऽज्ञातुं शीलमस्य मनसाऽऽज्ञायी, मनसैवाज्ञापयति न तु वचः

प्रयुक्त सोऽ नेन शब्देन नाभिधीयते'-अजातेः शीले' ।५।१।१५४। इति णिन्। एवमात्मनाऽऽज्ञायी। ननु मनसाऽऽज्ञायीत्यत्र लुप्यनिषिद्धेऽपि सकारस्याऽऽकारेण योगात् मनसाऽऽज्ञायीति रूपं सेत्स्यतीति किं निषेधेनेति चेत्सत्यम् लुप्यनिषिद्धे तु लुपि सति प्रत्ययलक्षणेन पूर्वस्य पदत्वात् पदान्तस्य सस्य रुत्वे 'रोर्यः' ।१।३।२६। इति यत्वे यलोपे च मनआज्ञायीत्य-निष्टं रूपं स्यात् ॥१५॥

नाम्नि ।३।२।१६।

मनसः परस्य टः संज्ञाविषये उत्तरपदे परे लुब् न स्यात्। मनसादेवी। नाम्नीति किम्। मनोदत्ता कन्या ॥१६॥

योगविभागात् आज्ञायिनीति न सम्बन्ध्यते 'चानुकृष्टं नानुवर्तते' इति न्यायादात्मशब्दोऽपि न सम्बध्यते। मनसादेवीति–मनसा दीव्यादित्याशास्यमानेऽर्थे 'तिक्कृतौ नाम्नि' ।५।१।७१। इति सूत्र-सहकारेण लिहादित्वादचि देवशब्दस्तत गौरादित्वान्ङीः 'कारकं कृता' ।३।१।६८। इति समासः एवं-नामा काचित्। 'मनोदत्ता कन्येति–मनसैव कस्मैचन वराय दत्ता न तु वाचा तद्दानं प्रकाशितमिति तदभिप्रायः। न चेदं नाम, अपि तु यौगिकः शब्दः विशेषणार्थं प्रयुज्यत इति लुब्निषेधो न भवति ॥१६॥

परात्मभ्यां ङेः ।३।२।१७।

आभ्यां परस्य ङेवचनस्योत्तरपदे परे नाम्नि लुब् न स्यात्। परस्मैपदम्। आत्मनेपदम्। नाम्नीत्येव ? परहितम् ॥१७॥

परस्मैपदमित्यादि-'तादर्थ्ये' ।२।२।५४। इति चतुर्थी, 'हितादिभिः' ।३।१।७१। इति सूत्रेण समासः। कथं परहितो नाम कश्चिद् ? इयमाधुनिकसंज्ञा। अत्र सूत्रे आधुनिकसंज्ञाया न ग्रहणम् तस्या ग्रहणेऽनवस्थास्याद्

पुरुषेच्छाया अनियतत्वेन आनन्त्यापत्तेः। परस्मै-पदमात्मनेपदे तु न आधुनिकसंज्ञे। 'परस्मैभाषा, आत्मनेभाषाः' इति धातुपाठादौ प्रयुज्यमानावप्यनेनैव सिद्धौ ॥१७॥

अद्व्यञ्जनात्सप्तम्या बहुलम् ।३।२।१८।

अदन्ताद्व्यञ्जनान्ताच्च परस्याः सप्तम्या बहुलं नाम्नि लुब् न स्यात्। अरण्येतिलकाः। युधिष्ठिरः। अद्व्यञ्जनादिति किम्। भूमिपाशः। नाम्नीत्येव। तीर्थकाकः ॥१८॥

अरण्येतिलकाः इति—विग्रहवाक्यमपीदृशमेव, संज्ञात्वान्नित्यसमासः 'नाम्नि' ।३।१।९४। इति सूत्रेण। युधिष्ठिर इति—'गवियुधेः स्थिरस्य' ।२।३।२५। इति षत्वम्। तिष्ठतेः 'शुषीषि०' ।४।१।६। इति किति इरे स्थिरः। अत्रोभयत्र नित्यमेव। बहुलफलं तु क्वचित्प्रवृत्तिरित्यादि। तीर्थकाक इति- तीर्थे काक इवेति विग्रहः 'काकाद्यैः क्षेपे' ।३।१।९०। इति समासः ॥१८॥

प्राक्कारस्य व्यञ्जने ।३।२।१९।

राजलभ्यो रक्षानिर्वेशः कारः प्राचां देशे यः कारः तस्य संज्ञायां गम्यमानयामद्व्यञ्जनात्परस्याः सप्तम्या व्यञ्जनादावुत्तरपदे लुब् न स्यात्। मुकुटेकार्षापणः। समिधिमाषकः। प्रागिति किम्। यूथपशुः। उदीचामयं न प्राचाम्। कारइति किम्। अभ्यर्हितपशुः। व्यञ्जनइति किम्। अविकटोरणः ॥१९॥

राजा राष्ट्रं रक्षति राज्ञा रक्षिते च राष्ट्रे कृषिवाणिज्यादयः समुचित-रूपेण संभवन्ति राजा च न स्वशरीरमात्रेण सर्वं राष्ट्रं पालयितुं क्षम इति तत्पालनाय रक्षाधिकृतपुरुषा नियुज्यन्ते ते च सवेतना भवन्ति

तदुपकरणान्यपि मूल्यलभ्यानीति तदर्थं राजा प्रजाभ्यः तत्र तत्रायस्थानेषु करं गृह्णाति स एव करः स्वार्थिकाण्-प्रत्ययसम्बन्धेन कारोऽभिधीयते। रक्षानिर्वेश इति—निर्वेशः वेतनमिति यावत्। स न सर्वदेशेष्वेकरूपः क्वचित् कस्मिंश्चिदायस्थाने षष्ठभागरूपः क्वचिन्न्यूनः क्वचिच्चान्य-प्रकार एवेत्यनेकरूपो भवति तत्र प्राचां देशे यः कारस्तत्रेदं सूत्रं प्रवर्तते। मुकुटे-मुकुटे कार्षापणो देयः मुकुटेकार्षापणः मुकटे मुकुटे-प्रतिमुकुट-मित्यर्थः मुकुटनिर्माणे तस्य विक्रेयतया निर्मात्रा विक्रेत्रा वा कार्षापणो रुप्यकचतुर्थांशो राजलभ्यद्रव्यरूपेण देय इति बोध्यम। समिधि समिधि माषको देयः समिध्रिमाषकः ज्वालनकाष्ठविक्रेत्रा माषको देयः इति बोध्यम्। माषपरिमितो मुद्रा-विशेषो माषकः वृत्तौ वीप्सायाः दानस्य चान्तर्भावः। यूथे यूथे देयः पशुः यूथपशुः। अभ्यर्हिते अभ्यर्हिते देयः पशुः अभ्यर्हितपशुः प्राचां देशे कारादन्यस्य नामैतत्। अविकटे अविकटे उरणो देयः अविकटोरणः-अविः मेषः अवीनां संघात इति 'अवेः सङ्घातविस्तारे कटपटम्' ।७।१।१३२। इति कटप्रत्ययः उरणो मेषः अविसङ्घातपालकेन प्रतिसंघातमेक उरण काररूपेण इतिभावः। पूर्वसूत्रेणानिष्ट-स्थलव्यावृत्ति-सिद्धाविष्टस्थले च तेनैवालुपः सिद्धौ सूत्रं व्यर्थं भवन्नियमयति।-त्रिविध-श्चात्र नियमः प्राचामेव कारस्यैव नाम्नि, व्यञ्जनादावेवेति तथा च प्रत्युदाहृतम्। अयं भावः–(१) व्यञ्जनादावुत्तरपदे नाम्नि सप्तम्या अलुप् चेत् प्राचामेव (२) व्यञ्जनादावुत्तरपदे नाम्नि सप्तम्या अलुप् चेत् प्राक्कारस्यैव (३) प्राचां कारस्य नाम्नि उत्तरपदे सप्तम्या अलुप् चेत् व्यञ्जनादावेवोत्तरपद इति ।।११६।।

तत्पुरुषे कृति ।३।२।२०।

अद्व्यञ्जनात्परस्याः सप्तम्याः कृदन्ते तत्पुरुषे लुब् न स्यात्। स्तम्बेरमः। भस्मनिहुतम्। तत्पुरुषइति किम्? धन्वकारकः। अद्व्यञ्जनादित्येव। कुरुचरः ।।२०।।

तत्पुरुषग्रहणात्पृथक्सूत्रारम्भाच्च नाम्नीति निवृत्तम् अयं भावः-नाम्नि प्रायेण तत्पुरुषसमास एवेति तत्पुरुषग्रहणात् नाम्नीत्य-स्यासम्बन्धः सूचितः किञ्च 'अद्व्यञ्जनाद्०' ।३।२।१८। इत्यनेनैव सिद्धे पृथक्सूत्रारम्भात्

नाम्नीत्यस्यासंबन्धः सूचितः। स्तम्बे रमते स्तम्बेरमः-'शोकापनुद०' ।५।१।१४३। इति कप्रत्ययान्तनिपातनम् । भस्मनि-हुतमिति-भस्मनि हुतमिवेत्यर्थः यथा भस्मनि हुतं न फलाय कल्पते तथोपमेय-कार्यं निष्फलमित्यर्थः। धन्वनि मरुदेशे कारकाः यस्य स-धन्वकारकः। 'न सप्तमी० ।३।१।१५५। इति ज्ञापकादुष्ट्रमुखादित्वाद्वा समासः । कुरुषु चरतीति-कुरुचरः 'चरेष्टः ।५।१।१३७। इति टप्रत्ययः-अत्रोदन्तात्परा सप्तमीति तस्या लुपो न निषेधः। बहुलमत्रानुवर्तते ॥२०॥

मध्यान्ताद् गुरौ ।३।२।२१।

आभ्यां परस्याः सप्तम्या गुरावुत्तरपदे लुब् न स्यात् । मध्येगुरुः । अन्तेगुरुः ॥२१॥

गुरावित्युक्तत्वात् 'कृति' इत्यस्य न सम्बन्धः पृथग्योगाच्च 'तत्पुरुषे' इत्यस्यापि न संबन्धः तेन सामान्यतः उत्तरपदे निषेधोऽयम् तेन बहुव्रीहावपि निषेधो भवति-मध्ये गुरुर्यस्येत्यादि । अत्र सप्तम्या अलुग्विधानसामर्थ्यादेव तत्पुरुषः, 'सप्तमी शौण्डाद्यैः' ।३।१।८८। इति सूत्रस्थबहुवचनाद्वा। अत्रापि बहुलमित्यस्य सम्बन्धाद् मध्यगुरु; अन्तगुरुरित्यन्ये। लक्षणानां लक्ष्यानुसारित्वात्सति तादृशप्रयोगे तदपि स्वीकार्यमिति भावः ॥२१॥

अमूर्द्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे ।३।२।२२।

मूर्द्धमस्तकवर्जात्स्वाङ्गवाचिनोऽव्यञ्जनात्परस्याः कामवर्जे उत्तरपदे लुब् न स्यात्। कण्ठेकालः। अमूर्द्धमस्तकादिति किम्? मूर्द्धशिखः, मस्तकशिखः। अकामइति किम्। मुखकामः ॥२२॥

मूर्धमस्तकयोः समानार्थत्वे ऽपि 'समानाम०'।३।१।११८। इति नैकशेषः शब्दस्वरूपपरत्वेनार्थ-भेदात् । स्वाङ्गमिह 'अविकारो द्रवमित्यादि परि-

भाषितं ग्राह्यम् । कण्ठे कालोऽस्य कण्ठेकालः उष्ट्रमुखादित्वात्समासः। मूर्ध्नि शिखाऽस्य मस्तके शिखाऽस्य मूर्द्धशिखः, मस्तकशिखः। मुखे कामो यस्य मुखकामः क्लीब एवमुच्यते तस्य मुख एव कामजव्यवहारस्य कामशास्त्रे पठितत्वात् । विशेषणतयाऽपीदं प्रयुज्यते यः किल स्वकामं वक्त्यैव न तत्पूरणाय प्रयस्यति स एवं विशिष्यते ॥२२॥

बन्धे घञि नवा ।३।२।२३।

बन्धे घञन्ते उत्तरपदे अद्व्यञ्जनात्परस्याः सप्तम्या लुब् वा न स्यात् । हस्तेबन्धः । हस्तबन्धः । चक्रेबन्धः । चक्रबन्ध । घञीति किम् । अजन्ते हस्तबन्धः ॥२३॥

हस्ते बन्धो, हस्ते बन्धोऽस्येति वा हस्तेबन्धः, हस्तबन्धः। 'व्यञ्जनाद् घञ् ।५।३।१३२। इति सूत्रेण करणे घञ् 'भावाकर्त्रोः ।५।३।१८। इति सूत्रेण वा। हस्तबन्ध इति-बध्नातीति 'अच्' ।५।१।४९। इत्यच् । पूर्वसूत्राद् 'स्वाङ्गाद्' इति नानुवर्तते तेन स्वाङ्गास्वाङ्गाच्चायं विकल्पः। अनुवर्तने तु 'चक्रेबन्ध चक्रबन्ध, इति न स्यात्॥२३॥

कालात्तनतरतमकाले ।३।२।२४।

अद्व्यञ्जनान्तात्कालवाचिनः परस्याः सप्तम्यास्तनादिप्रत्ययेषु काले चोत्तरपदे वा लुब् न स्यात्। पूर्वाह्णेतनः। पूर्वाह्णतनः। पूर्वाह्णेतराम् । पूर्वाह्णतरे। पूर्वाह्णेतमाम् ।पूर्वाह्णतमे। पूर्वाह्णेकाले । पूर्वाह्णकाले । कालादिति किम् । शुक्लतरे । शुक्लतमे । अद्व्यञ्जनादित्येव । रात्रितरायाम् ॥२४॥

सूत्रे प्रथमः कालशब्दोऽर्थप्रधानःद्वितीयःशब्दप्रधानस्तत्र चाचार्याणांव्याख्यानमेव मूलम् । ननूत्तरस्य कालशब्दस्य ग्रहणार्थकालनामग्रहणं कर्तव्यमिति

चेत्सत्यम् तन-तर-तमानां साहचर्यात्परस्य कालशब्दस्यस्वरूपरत्वे निर्णीते पूर्वोत्तरोभयपदत्वं कालशब्दस्य न दृष्टमिति न्यायत एव पूर्वस्य कालशब्दस्यार्थपरत्वं विज्ञास्यत इति बुद्धया कालनामग्रहणं न कृतमिति वृत्तिकृत् स्पष्टयति-कालवाचिन इति। अह्नः पूर्वो भागः पूर्वाह्णः,'सर्वांश०' ।७।३।११८। इत्यनेनाट् अह्नः इत्यादेशश्च 'अतोऽह्नस्य' ।२।३।७३। इत्यनेन णत्वम्। पूर्वाह्णे भवः-'पूर्वाह्णापराह्णात् तनट्' ।६।३ ८९। इति तनट्। द्वयोरतिशयेन पूर्वाह्णे इति पूर्वाह्णेतराम् पूर्वाह्णतरे 'द्वयोर्विभज्ये चतरप्' ।७।३।६। इति तरप् ततश्च सप्तम्या अलुप्-पक्षे सप्तम्यर्थस्योक्तत्वात् समुदायात् प्रथमैव भवति। लुप्पक्षे तु सप्तम्यर्थस्य प्रतिपत्त्यर्थं समुदाया-त्सप्तमी प्रयुज्यते। एवं बहूनां मध्ये प्रकृष्टे पूर्वाह्णेतमाम् पूर्वाह्णेतमे 'प्रकृष्टेतमप्' ।७।३।५। इति तमप्, शेषं पूर्ववत्। द्वयोर्बहूनां वा मध्ये प्रकृष्टे शुक्ले शुक्ल-तरे शुक्लतमे। द्वयोः प्रकृष्टायां रात्रौ रात्रितरायाम्। तनोतेस्तरतेस्ताम्यतेश्चाचि प्रत्यये तनतरतमशब्दा अपि सिध्यन्ति किन्तु 'प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव' इति न्यायादत्र प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्। नवा-ऽखित्कृदन्ते रात्रे' ।३।२।११६। इत्यत्रान्तग्रहणम् 'उत्तरपदाधिकारे प्रत्यय-मात्रस्य ग्रहणं न तदन्तस्य' इति न्यायांशं ज्ञापयति तेनात्र तन-तर-तम प्रत्ययानां स्वरूपेणैव ग्रहणं भवति न तु 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तस्य ग्रहणम्' इति न्यायात्तनाद्यन्तानाम्। न चैवं 'न नाम्येक०' ।३।२।६। इत्यत्र 'तत्पु-रुषे कृति' ।३।२।२०। इत्यादौ च तदन्तग्रहणाभावे कथं तत्र तत्र तदन्तार्थ-लाभ इति वाच्यम् एतादृशेषु खिन्मात्रस्य कृन्मात्रस्य वोत्तरपदत्वाभावेन सूत्रवैयर्थ्यसंभावनया तदन्तग्रहणस्यावश्यकत्वाल्लक्ष्यानुरोधात् प्रकृतनि-यमाप्रवृत्तेः, एवं त्र प्रकृतनियमे सति संभवे इति योजनीयमिति फलति। ॥२४॥

शयवासिवासेष्वकालात् ।३।२।२५।

अकालवाचिनोऽव्यञ्जनात्परस्याः सप्तम्या एषूत्तरपदेषु लुब् वा न स्यात्। बिलेशयः। बिलशयः। वनेवासी। वनवासी। ग्रामेवासः। ग्रामवासः। अकालादिति किम्। पूर्वाह्णशयः। ॥२५॥

बिले शेते इति बिलेशयः-'आधारात्' ।५।१।१३७। इति सूत्रेण अप्रत्ययः। बिलेशयः सर्पः। यद्यपि मूषकादिरपि तथाभूतस्तथापि सर्प एवास्य प्राचुर्येण प्रयोगः। वने वसतीत्येवं शीलः वनेवासी 'अजातेः शीले' ।५।१।१५४। इति णिन्। वसनं वासः। पूर्वाह्णशयः, इति-पूर्वाह्णशेते इति पूर्वाह्णशयः। बहुलाधिकारात्-मनसिशय,कुशेशयमिति नित्यं लुबभावः। मनसिशयः इति कामपर्यायः। कुशे जले शेते इति व्युत्पत्त्या कुशेशयमिति कमलस्य नाम। अनयोः सञ्ज्ञाभङ्गभिया नित्यमेव सप्तम्या अलुप् ॥२५॥

वर्षक्षरवराप्सरः-शरोरोमनसो जे ।३।२।२६।

एभ्यः परस्याः सप्तम्या जे उत्तरपदे लुब् वा न स्यात्। वर्षेजः। वर्षजः। क्षरेजः। क्षरजः। वरेजः। वरजः। अप्सुजम्। सरसिजम्। सरोजम्। शरेजम्। शरजम्। उरसिजः। उरोजः। मनसिजः। मनोजः ॥२६॥

वर्षणं वर्षः, क्षरतीति क्षरो मेघो जलं च, व्रियत इति वर श्रेष्ठः, अप्-शब्दो जलवाची, सरो जलाशय-विशेषः. शृणाति हिनस्तीति शरो बाण-स्तृणविशेषश्च, उरो-वक्षस्थलम्, मनो मननक्रियमन्तः-करणम्। वर्षे जातः वर्षेजः इत्यादि एवं सर्वत्र। 'सप्तम्याः'।५।१।१६९।इति भूतार्थे डः। 'ङस्युक्तं कृता'।३।१।४९। इति समासः ॥२६॥

द्युप्रावृट्वर्षाशरत्कालात् ।३।२।२७।

एभ्यः परस्याः सप्तम्या जे उत्तरपदे लुब् न स्यात्। दिविजः। प्रावृषिजः। वर्षासुजः। शरदिजः। कालेजः ॥२७॥

पूर्वसूत्रेण सहैकयोगाकरणाद्-वेति निवृत्तम् द्यौराकाशः प्रावृड्वर्षाशब्दौ वर्षर्तु वाचकौ शरत् शरदृतुवाचकः। सप्तमीति सामान्येनोच्चारणाद् बहु-वचनस्यापि लुपो निषेधात्। वर्षासुजः इति-ऋतुवाचकः वर्षाशब्दः सदा बहुवचन एव प्रयुज्यते ॥२७॥

अपो ययोनिमतिचरे ।३।२।२८।

अपः परस्याः सप्तम्या ये प्रत्यये योन्यादौ च उत्तरपदे लुब् न स्यात् । अप्सव्यः । अप्सुयोनिः । अप्सुमतिः । अप्सुचरः ॥२८॥

आसु भावः अप्सव्य, 'दिगादित्वाद् 'दिगादिदेहांशाद्यः' ।६।३।१२४। इत्यनेन यप्रत्ययः 'अस्वम्भुवोऽव्' ।७।४।७०। इत्यनेनोकारस्य 'अव्' आदेशः । अप्सु योनि उत्पत्तिर्यस्य स अप्सुयोनिः उष्ट्रमुखादित्वाद् ज्ञापकाद् वा समासः ॥२८॥

नेन्सिद्धस्थे ।३।२।२९।

इन्प्रत्ययान्ते सिद्धस्थयोश्चोत्तरपदयोर्न लुब् न स्यात् । भवत्येवेत्यर्थः । स्थण्डिलवर्त्ती । साङ्काश्यसिद्धः । समस्थः ॥२९॥

इन्प्रत्ययान्त इति-यद्यपि 'संज्ञोत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययमात्रस्यैव ग्रहणं न तदन्तस्य' इति ज्ञापकसिद्धन्यायादत्रेन्ग्रहणे तदन्तग्रहणं न स्यात्तथापि केवलस्येन्प्रत्ययस्य सप्तम्यन्तेन सह संबन्धो न संभवति इत्यसंभवादेवेहाप्यन्तग्रहणम्, तथाहि-इन्प्रत्ययो द्विविधः-कृत् तद्धितश्च तत्र कृद् इन्प्रत्ययः धातोर्विधीयते इति सप्तम्यन्तात्परत्वासंभवः । तद्धित इन्प्रत्यय प्रथमान्ताद्विधीयत इति तत्रापि सप्तम्यन्तापरत्वासंभवः एव । भवत्येवेत्यर्थः इति-अथ नमोनमस्ते सततं नमो नमः इत्यादौ नमः-शब्दादीनामसकृत्प्रयोगे स्वार्थद्रढनमेव दृश्यते तथाऽत्रापि स्वार्थद्रढनं किं न स्यादिति चेत् सत्यम् 'द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं बोधयत' इति न्यायादत्र निषेधस्य निषेध इति प्रतीतौ लुपो विधानमित्यायाति । यद्यपि चात्रलुपः स्वरूपेण कथनमेव युज्यते तथापि भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनादत्र दार्ढ्यमायाति। स्थण्डिलवर्तीति

स्थण्डिले व्रतते इति विग्रहः 'व्रताभीक्ष्ण्ये' ।५।१।१५४। इति णिन्प्रत्ययः। सांकाश्ये सिद्धः-सांकाश्यसिद्धः। 'सुपन्थ्या-देर्ञ्यः' ।६।२।८४। इति ञ्यः। समे तिष्ठतीति—समस्थः। 'स्थापास्नात्रः कः ।५।१।१४२। इति कः। सर्वत्र 'तत्पुरुषे कृति' ।३।२।२०। इत्यलुप् प्राप्तः सोऽनेन निषिध्यते। अथ 'तत्पुरुषे कृति' ।३।२।२०। इत्यत्र बहुलग्रहणात् कुत्रचित्विकल्पः, कुत्रचित् नित्यम् कुत्रचित् निषेधः इति सर्वं सेत्स्यतीति सूत्रपञ्चकं व्यर्थमिति चेत्सत्यम् 'शयवासि०' ।३।२।२५। 'वर्ष-क्षर-वरा०' ।३।२।२६।इतिच सूत्राभ्यां विकल्पेनालुब्विधानं नित्यमेवा लुप् प्रकृतसूत्रेण च निषेधःएतत्सर्वं'तत्पुरुषे कृति'।३।२।२०।इति सूत्रस्यैव प्रपञ्च इति।'ते वै विधयः सुसंगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रप्रञ्चश्चेति। अयामाशयः 'तत्पुरुषे कृति' ।३।२।२०। इति सूत्रविधेयस्यैवार्थस्य मन्दशिष्यबुद्धिबोधाय प्रपञ्चनं विस्तरेणाख्यानमिति यावत्। 'ते वै विधयः सुसंगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च' अयं न्यायानुसारी वाग्विशेषः। वैशब्दो हेत्वर्थक. यतः-येषां विधीनां लक्षणं-संक्षिप्य कथ्यते, प्रपञ्चो विस्तरेणाख्यानं च क्रियते ते विधयः सुसंगृहीता-शोभनप्रकरणे शिष्यैर्ज्ञाता भवन्ति, केवलसंक्षेपाख्यानेन न सर्वेषां बोद्धणां हृदयङ्गमो विधिर्भवति प्रपञ्चरूपेणाख्यानमप्यावश्यकमिति ज्ञेयम् ॥२६॥

षष्ठ्याः क्षेपे ।३।२।३०।

उत्तरपदे परे क्षेपे गम्ये षष्ठ्या लुब् न स्यात्। चौरस्यकुलम् ॥३०॥

क्षिप्यते प्रतिष्ठायाः प्रच्याव्यतेऽ—नेनेति क्षेपो निन्दा, निन्दया जनः क्षिप्यते—लोकप्रतिष्ठया प्रच्युतो भवति, अथवा प्रतिष्ठाया एव प्रच्यावनं क्षेपः। चौरस्य कुलमिति—चौरसम्बन्धात् कुले निन्दितत्वं प्रतीयते। ननु चौरकुलमित्यपि प्रयोगो दृश्यते स कथमिति—चेत्सत्यम्-

तत्त्वाख्यानमेतन्न तु क्षेपः । तत्त्वं यथार्थस्थितिः तस्याख्यानं कथनमेतत् न निन्दायां तात्पर्यम् । अयं भावः-यश्चौरत्वेन ख्यात एव, तस्य कुलम् । न तत्सम्बन्धान्निन्दित-त्वमपि तु वस्तुस्थितिरेव तादृशीति न क्षेपः ॥३०॥

पुत्रे वा ।३।२।३१।

पुत्रे उत्तरपदे क्षेपे षष्ठ्या लुब् वा न स्यात् । दास्याः पुत्रः । दासीपुत्रः ॥३१॥

दास्याः पुत्रः–दासीपुत्रः–दासस्य नायं पुत्रोऽ–पि तु दास्याः, तथा चानुचितस्वामिसम्बन्धजातत्वं तस्य प्रतीयत इति क्षेपः । पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पः । ॥३१॥

पश्यद्वाग्दिशो हरयुक्तिदण्डे ।३।२।३२।

एभ्यः परस्याः षष्ठ्या यथासंख्यं हरादावुत्तरपदे लुब् न स्यात् । पश्यतोहरः । वाचोयुक्तिः । दिशोदण्डः ॥३२॥

पश्यतोहर इति–स्वर्णकार एतेन शब्देन ख्यातः । स हि पश्यत एव लोकस्याभूषणादिनिर्माणकर्मणि सुवर्णादिकं धाष्टर्येन हरति, अल्पमूल्यं द्रव्यान्तरं तत्र क्षिप्त्वा बहुमूल्यं द्रव्यं सुवर्णादिकं चोरयतीति प्रसिद्धः, अत्र बहूनामपि पश्यतां हरणे पश्यतो–हरः इत्येव प्रयोगोऽ भिधानसामर्थ्यात् । यत्र च बहुत्वं विवक्षितं तत्र समास एव न भवतीत्यपि शब्दशक्तिमनुरुध्य कथयितुं शक्यते इत्यपि केचित् । पश्यन्तं जनमनादृत्य–नायं ज्ञातुं शक्नोति, ज्ञात्वाऽ पि न तत्प्रमाणयितुं शक्नोतीत्यादि बुद्धया स हरतीति 'षष्ठी वाऽ नादरे' ।२।२।१०८ इत्यनादरे षष्ठी, तस्याः समासः । पश्यन्तं जनमित्यत्र जनमिति सामान्यवाचिशब्दप्रयोगः निर्मीयमाणभूषणस्वामिनमन्यं वोदासीनजनं पश्यन्तमनादृत्य हर्तेत्यर्थलाभः । अयं शब्दः स्वर्णकारे प्रायः प्रयुज्यते । अन्ये त्वतिचतुरचोरेऽप्ययं प्रयोग इत्याहुः । वाचोयुक्तिः इति–विषयविषयिभावरूप-सम्बन्धे षष्ठी । वाग्विषयं सयुक्ति-

प्रतिपादनमिति तदर्थः, अथ च वाचा करणभूतया सयुक्तिप्रतिपादनं वाचः स्पष्टत्वमिति वाऽर्थः। दिशोदण्ड इति तात्स्थ्यरूपसम्बन्धे षष्ठी ॥३२॥

अदसोऽकञायनणोः ।३।२।३३।

अदसः परस्याः षष्ठ्या अकञ्-विषये उत्तरपदे आयनणि च परे लुब् न स्यात्। आमुष्यपुत्रिका। आमुष्यायणः ॥३३॥

अकञ् आयनण् द्वौ प्रत्ययौ 'संज्ञो-त्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययमात्रस्यैव ग्रहणं न तदन्तस्य' इति न्यायस्यांशः 'न वा खित्कृदन्ते रात्रेः ।३।२।११७। इत्यत्रान्तग्रहणेन ज्ञापितः परन्तु यत्र संभवस्तत्र प्रत्ययमात्रस्यैव ग्रहणं यत्र न संभवस्तत्र प्रत्ययान्तस्येति व्यवस्था पूर्वमुक्ता, अत्र चाकञ् विषयेऽसंभवोऽस्ति नह्यदसः परस्या षष्ठ्या अकञ्-परत्वसंभवः अदसोऽ-कञ्विधानाभावात् चौरादित्वाद्धयकञ् विधीयते चौरादि-गणे नादसः पाठोऽपितु अमुष्यपुत्रशब्दस्यैव तथा चाकञ्-प्रत्ययान्तमप्युत्तरपदं न संभवति केवलपुत्रशब्दादकञो विधानाभावात्। एवं च प्रत्ययमात्रस्य प्रत्ययान्तस्य चोभयोरसंभवात् विषयपरतया सप्तमीं व्याचष्टे-अकञ्-विषये उत्तरपदे इति। यद्यप्युत्तरपदमात्रस्य नाकञ्विषयत्वमपि तु समुदायस्यैव तथापि समुदायद्वाराऽ-वयवेऽपि तद्विषयताऽक्षतैवेति मत्वा 'अकञ् विषये उत्तरपदे' इति व्याख्यानं कृतम्। आयनणस्तु केवलस्यापि षष्ठ्यन्तादवसः परत्वसंभवादत्र तस्य स्वरूपस्यैव ग्रहणं कर्तव्यम्-तदन्तस्योत्तरपदस्य तु नास्त्यत्रापि संभवोऽदस एव तद्विधानादिति स्वरूपमात्रस्यैव ग्रहणमित्याह-आयनणि च पर इति। अमुष्य पुत्रस्य भावः- आमुपुत्रस्य भावः आमुष्यपुत्रिका। चौरादित्वात् 'चौरादेः' ।७।१।७३। इत्यनेकञ्। न च चौरादिगणे अमुष्यपुत्रशब्दस्य पाठसामर्थ्यादेव षष्ठ्या अलुब् भविष्यति, गणपाठ-स्यपरम्पराप्राप्तत्वेन प्रामाणिकत्वस्य प्रयोग-साधुत्वनिर्णायकत्वस्य च सर्वैरपि स्वीक्रियमाणत्वात् एवं च सूत्रेण तद्विधानं व्यर्थमिति वाच्यं गणे पाठस्य केवलमकञ्विषये एव साधुत्वमित्येतावन्मात्रार्थसाधकत्वमित्ये-तत्सूत्रेण बोध्यते तदर्थमेव च पुनरलुपो विधानमिति न तद्वै-यर्थ्यमन्यथा अमुष्यपुत्रशब्दः व्यस्तः समस्यश्च प्रयुज्येत, अमुष्यपुत्रस्यापत्यमामुष्यपुत्रिः ततोऽपि प्रत्ययान्तरमित्यवि-

नेकानिष्टं स्यादिति । अमुष्यापत्यम्–आमुष्यायणः 'नडादिभ्यः आयनण्' ।६।१।५३। इत्यनेनायनण् । यद्यपि नडादिगणेऽ-मुष्यशब्दपाठेन षष्ठ्या अलुप् साधयितुं शक्यते तथापि तथापाठस्य अमुयोरपत्यममीषामपत्यमि-त्याद्यर्थे आयनणोऽ भावार्थ-त्वस्य कल्पनात् न षष्ठ्यलुप्साधक-त्वम् इति न तेनैतत्सूत्रस्यानर्थक्यशङ्का कर्तव्या ॥३४॥

देवानां-प्रियः ।३।२।३४।

अत्र षष्ठ्या लुब् न स्यात् । देवानांप्रियः ॥३४॥

देवानां प्रियः-अयं मूर्खे दृश्यते । निपातनमिदम् । ते–नार्थ--विशेष-विषयता लभ्यते ॥३४॥

शेपपुच्छलाङ्गुलेषु नाम्नि शुनः ।३।२।३५।

शुनः परस्याः षष्ठ्याः शेपादावुत्तरपदे संज्ञायां लुब् न स्यात । शुनः-शेपः । शुनः-पुच्छः । शुनोलाङ्लगूकः ॥३५॥

शुनः शेपमिव शेपमस्य–शुनःशेपः, शुनः पुच्छमिव पुच्छमस्य शुनः-पुच्छः, शुनो लाङ्गूलमिव लाङ्गूलमस्य शुनोलाङ्गूलः । शेपः-शब्दः सकारान्तोऽ-प्यस्ति, इह त्व-कारान्तस्य ग्रहणम् तथैव सूत्रे पाठात् तथा च सकारान्ते परे लुबेव भवति । शेपशब्दो यद्यपि पुंस्येवानुशिष्टस्तथापि बृहद्वृत्तावस्य नपुंसकत्वेन विग्रहवाक्ये निर्देशात् नपुंसकत्वमपि विज्ञेयम् । शेपशब्दः पुंलिङ्गस्य मेढ्रस्य वाचकः 'शुनः-शेपादयस्त्रयोऽपि ऋषिविशेषाणां नामानि, अन्ये तु 'सिंहस्य शेपं, सिंहस्य पुच्छं, सिंहस्य लाङ्गूलम्,' इत्यत्रापीच्छन्ति तन्मतसंग्रहार्थं बहुवचनं कृतमर्थात् समाहारं विहायेतरेतरयोगस्य ग्रहणम्, कृतम् अनाम्न्यपि विध्यर्थं वा सिंहस्य शेपमित्यादीनां व्यस्तानामपि प्रयोगे फले भेदाभावेन समस्ता एवैते शब्दा इत्यत्र विनिगमकाभावेन तेषामसंग्र-हेऽपि दोषाभाव इत्यरुचिसूचकस्तुशब्दः पूर्वपक्षेऽ– एचेद्वितीयपक्षाश्रयणम् अयमाशयः–बहुवचनस्य व्याप्त्यर्थत्वसंभवेऽपि यत्र बहुवचनं तद्ंश एव व्याप्तिः स्यादिति शेपादिभ्योऽन्यत्राऽप्युत्तरपदे तत्प्रवृत्तिः स्यात् न तु

शुनोऽन्यस्य पूर्वपदस्य ग्रहणं स्यात्, शेपादिभ्योऽन्यत्र चोत्तरपदे प्रवृत्तिरनिष्टेति बहुवचनसार्थक्याय नामभिन्नेऽपि विषये सूत्रस्य प्रवृत्तिरित्येव कल्पनं वरमिति ॥३५॥

वाचस्पतिवास्तोष्पतिदिवस्पतिदिवोदासम् ।३।२।३६।

एते समासाः षष्ठ्यलुपि निपात्यन्ते नाम्नि । वाचस्पतिः । वास्तोष्पतिः । दिवस्पतिः । दिवोदासः ॥३६॥

पृथक् पूर्वोत्तरपदयोर्निर्देशेन निपात्यन्त इति लभ्यते । वाचस्पतिरिति-बृहस्पतेर्नामेदम्, वास्तोष्पतिरिति–इन्द्रस्य वास्तुभूमिसाक्षिणो देवस्य च नामेदम् । दिवस्पतिरिन्द्रः । दिवोदासः—पुराणप्रसिद्धो राजा स च चन्द्रवंशीयः काशिराजः । वाचस्पतिः दिवस्पतिरित्यत्र 'भ्रातुष्पुत्रकस्कादयः' ।२।३।१४। इति सूत्रेण कस्कादित्वाद् रस्य सत्वम् । वास्तोष्पति-रित्यत्र भ्रातुष्पुत्रादित्वात् रस्य षकारः । यद्यपि भ्रातुष्पुत्रादिगणे कस्कादिगणे चैषां पाठो न दृश्यते तथापि तत्र सूत्रे बहुवचनोपादानात्सिद्धिः । यद्वा—निपातनेन सकार-षकारौ ॥३६॥

ऋतां विद्यायोनिसम्बन्धे ।३।२।३७।

ऋदन्तानां विद्यया योन्या वा कृते सम्बन्धे हेतौ सति प्रवृत्तानां षष्ठ्यास्तत्रैव हेतौ सति प्रवृत्ते उत्तरपदे लुब् न स्यात् । होतुःपुत्रः । पितुःपुत्रः । पितुरन्तेवासी । ऋतामिति किम् । आचार्यपुत्रः । विद्यायोनिसम्बन्ध इति किम् ? भर्तृगृहम् ॥३७॥

अत्र विद्यायोन्योर्द्वन्द्वे योनिशब्दस्येदन्तत्वेन तस्यैव पूर्वनिपाते प्राप्ते विद्याकृतस्य सम्बन्धस्य योनिसम्बन्धापेक्षयार्च्यत्वेन विद्याया एव पूर्वनिपातः । बहुधा हि शास्त्रे योनिवंशापेक्षया विद्यावंशस्य प्राबल्यं दृश्यते इति विद्याया अर्च्यत्वं निर्विवादम् । एवं च तदर्थं निर्देशसामर्थ्य–धर्मार्थादित्वकल्पनादिकं नावश्यकमिति भावः । विद्यायोनिसम्बन्धे इति पदं

काकाक्षिगोलकन्यायादावृत्त्या वा द्विधा सम्बन्ध्यते-'ऋताम्' इत्यनेन उत्तरपदे इत्यनेनच। पित्रादिशब्दानां योनिसम्बन्धस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वम्। होत्रादिशब्दानां विद्यासम्बन्धस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वम् नच 'ऋत' इति जातिवाच्येकवचनान्तेनैव बहूनामृदन्तानां सम्भवे सम्भवति बहुवचनं व्यर्थमिति वाच्यं बहुवचनस्य 'विद्यासम्बन्धनिमित्ते योनिसम्बन्धनिमित्ते' इति यथासङ्ख्यप्रतिपत्त्यर्थं दासार्थत्वात्. । अयं भावः यदि यथासङ्ख्यप्रतिपत्त्यर्थं दासो न भवेत्तर्हि--विद्यासम्बन्धनिमित्ते वर्तमानस्य सम्बन्धिन्याः षष्ठया विद्यासम्बन्धनिमित्त एवोत्तरपदे अलुप् स्यात्, योनिसम्बन्धनिमित्ते वर्तमानस्य सम्बन्धिन्याः षष्ठयाश्च योनिसम्बन्धनिमित्ते एवोत्तरपदे अलुप् स्यादिति होतुः पुत्रः, पितुरन्तेवासी इत्यादावलुप् न स्यात्। 'ऋद्भ्यः इति पञ्चम्यन्तेन निर्देशे प्राप्ते षष्ठीनिर्देशः उत्तरार्थः' 'आ द्वन्द्वे' ।३।२।३६। इति सूत्रे ऋतामिति षष्ठयन्तस्यैव सम्बन्धस्य युक्तत्वात् षष्ठीनिर्देश कृत इत्यर्थः। अयं भावः सूत्रे विभक्तेः प्रकृत्या सह सम्बन्धमात्रप्रतिपादनेनापि लक्ष्यसिद्धौ बाधकाभावात् लाघवानुरोधात् षष्ठीनिर्देश एव कृत 'ऋद्भ्यः' इति कृते तु 'आ द्वन्द्वे' ।३।२।३६। इत्यत्र तत्सम्बन्धासंभव आदेशविधौ स्थानार्थिकायाः षष्ठ्या एवोचितत्वात् तथा चोभयसूत्रसम्बन्धार्हेण षष्ठयन्तेनैव सम्बन्ध उचित इति। भर्तृगृहमिति--भर्तृशब्दोऽत्राधिपवाचकः। पूर्वपदविशेषणस्य फलं तु भर्तृशिष्यः,भर्तृपुत्र इत्यादौ द्रष्टव्यम्। अत्र भर्तृशब्दोऽधिपवाचकः यदा तु वल्लभवाची तदा भर्तुः शिष्य इति भवति। उत्तरपदविशेषणस्य फलं तु होतृधनम्, पितृगृहमित्यादौ द्रष्टव्यम् ॥३७॥

स्वसृपत्योर्वा ।३।२।३८।

विद्यायोनिसम्बन्धनिमित्तानामृदन्तानां षष्ठ्याः स्वसृपत्योरुत्तरपदयोर्योनिसम्बन्धनिमित्तयोर्लुब् वा न स्यात्। होतुः-स्वसा। होतृस्वसा। स्वसुः-पतिः। स्वसृपतिः। विद्यायोनिसम्बन्ध- इत्येव। भर्तृस्वसा। होतृपतिः ॥३८॥

योनिसम्बन्धनिमित्तयोरिति-विद्यासम्बन्धांशः स्वसृपत्योर्न सम्बध्यतेऽसंभवात् तथा च योनिसम्बन्धांशमात्रं तत्र संबध्यते। ननु स्वसुर्योनि-

सम्बन्धस्याव्यभिचारात्तत्र न तत्सम्बन्धो युक्तः, पत्या सहापि न तत्सम्बन्धसंभवः, योनिसम्बन्धे सति पतिपत्नीभावस्यैवासंभवात्। योनिसम्बन्धो हि जन्मना सम्बन्धः, जन्मना च सम्बन्धे सति पतिपत्नीभावस्य निन्दितत्वमेवेति सर्वथाऽत्र उत्तरपदांशे 'विद्यायोनिसम्बन्ध' इति पदस्यासम्बन्ध एव युक्तः इति चेत्सत्यम् उत्तरपदेन तत्सम्बन्धस्य पूर्वसूत्रे स्वीकृतत्वेऽत्रापि यावदंशे तत्सम्बन्धे कृते क्षत्यभावः इत्याशयेन वृत्तौ तत्सम्बन्धः कृतः, पत्या सह पूर्वं योनिसम्बन्धाभावेऽपि पुत्रादिद्वारा तत्सम्बन्धस्य भावित्वादस्त्येव संभव इत्याशयेन तत्सम्बन्धः कृतः। सूत्रे स्वसृपत्योरिति द्वन्द्वे पतिशब्दस्येकारान्तत्वेन तस्यैव पूर्वनिपाते प्राप्ते धर्मार्थादित्वात् स्वसुरिह पूर्वनिपातः। स्वसुः मातृपितृसम्बन्धविशिष्टाया बुद्धिविषयत्वात् तस्याश्च लोकव्यवहारदृष्ट्या पत्युरपेक्षया अर्च्यत्वाद्वा स्वसृशब्दस्यैव पूर्वनिपात। भर्तृस्वसेति—अत्र पूर्वपदं न विद्यायोनिसम्बन्धे यो ह्यस्या भर्ता तस्येयं स्वसेति प्रतीतेः स्वसुर्योनिसम्बन्धसत्त्वेऽपि भर्तृशब्दस्य भरणकर्तृत्व—(पालकत्व)-रूपार्थनि-मित्तकस्य विद्यायोनिसम्बन्धनिमित्तकत्वाभावात्। होतृपतिरिति—अत्रोत्तरपदं न योनिसम्बन्ध, पतिशब्दो ह्यत्र स्वामिवाचकः। पूर्वेण नित्यं प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ॥३८॥

आ द्वन्द्वे।३।२।३९।

विद्यायोनिसम्बन्धनिमित्तानामृदन्तानां योद्वन्द्वस्तस्मिन् सत्युत्तरपदे पूर्वपदस्याऽऽत्स्यात्। होतापोतारौ। मातापितरौ। ऋतामित्येव। गुरुशिष्यौ। विद्यायोनिसम्बन्धइत्येव। कर्तृकारयितारौ ॥३९॥

होतापोतारावित्ति-होता हवनकर्ता, पोता-पुनातीति पावनकर्ता ऋत्विग्विशेषः, उणादिषु निपातनादिड-भावः। अथ होतृपोतृनेष्टोद्गातारः' इह प्रथमयोः कस्मान्न भवति? इति चेत्-सत्यम् अन्त्यस्यैवोत्तरपदत्वान्न भवति। अयं भावः-उत्तरपदशब्दः समासचरमावयव-भूते पदे रूढः, उत्तरपदत्वस्य च पूर्वत्र सति यस्मात्परं नास्तितत्त्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तत्वम्,

न तु समासाद्यावयवभूतपदात्परत्वमिति वृत्तौ पूर्वपदस्येति कथनमपि उत्तरपदाव्यवहित-पूर्वपदपरम् न तु समासाद्यावयवरूढपूर्वपदपरम् । अथ क्वचित्त्रयाणामपि पदानामात्वं दृश्यते यथा—होतापोतानेष्टोद्गातारः तत्कथमिति चेत्सत्यम् द्वयोर्द्वयोः द्वन्द्वे भविष्यति । अयमर्थः-पूर्वं होता च पोताच होतापोतारौ । नेष्टा च उद्गाता च नेष्टोद्गाताराविति द्वयो-र्द्वयो-र्द्वन्द्वं विधाय ततो होतापोतारौ च नेष्टोद्गातारौ चेति विगृह्य द्वन्द्वे कृते मध्यमस्य पोतृशब्दस्याप्युत्तरपदभूतनेष्टोद्गातृशब्दा—व्यवहितपूर्वत्वमिति तस्याप्यात्वे त्रयाणामप्यात्वं सम्पद्यत इति क्वचिन्मध्यमयोरेवात्वं दृश्यते यथा होतृपोतानेष्टोद्गातारः तत्र तु होता च पोता च नेष्टोद्गातारौ चेति विग्रहः । अयमर्थः—अत्र त्रयाणामेकदा द्वन्द्वः इति मध्यमपदस्य पोतृ-शब्दस्यैव उत्तरपदाव्यवहितपूर्वपदत्वमिति तस्यैवात्वं भवति न तु होतृशब्दस्य मध्यमेन व्यवधानादिति । नेष्टा—नायकः सोऽपि ऋत्विग्वि-शेषः, उद्गाता-उच्चैर्गानकर्ता यज्ञे सामवेदसम्बन्धिकर्मकर्ता च । विद्या-योनिसम्बन्धश्चेह प्रत्यासत्तेः समस्यमानानामृदन्तानामेव परस्परं द्रष्टव्यो न येन केनचित् । अयं भावः-सम्बन्धः द्वयो-र्भवति एकत्र तदभावात्, एवं च स सम्बन्धः कयोर्द्वयोर्ग्राह्यः इत्यपेक्षायां समस्यमानपदयोरेव प्रत्यासन्न-त्वात् तयोरेव तेषामेव वा ग्राह्यः तेनेह न भवति-चैत्रस्य स्वसृदुहितरौ । नात्र स्वसृदुहित्रोः परस्परं सम्बन्धः, न हि स्वसा चैत्रस्य स्वसा भवन्ती दुहित-रमपेक्षते दुहिता वा स्वसारमिति । अयं भावः-इदं सूत्रं द्वन्द्वे, प्रवर्तते द्वन्द्वश्च सहोक्तिमापन्नानामेव सहोक्तिश्च यथाकथञ्चित्परस्परसम्बन्धेऽस्त्येव स च सम्बन्धोऽन्यत्र यादृशस्तादृशोऽस्तु प्रकृते विद्याकृतो योनिकृतो वा ग्राह्य इत्येव विवक्षितम्, इह च स्वसृदुहितरावुभे अपि चैत्रमेत्रापेक्षेते तस्यैव स्वसा, तस्यैव च दुहिता, नहि दुहितुरियं स्वसा नवा स्वसुरियं दुहितेति तयोः परस्परमसम्बन्धात्प्रकृतसूत्राप्राप्त्या नात्वमिति । यद्येवं तर्हि चैत्रस्य पितृ-भ्रातराविति कथम्, ? अस्ति ह्येवात्र परस्पर-संबंध-संभावना । अयं भावः—यद्यपि पिता भ्राता च चैत्रमपेक्षेते तथापि पितृभ्रात्रोर प्यस्त्येव स्वाभाविकः परस्परं जन्यजनकभावसम्बन्धः ततश्च परस्पर-सम्बन्धे सत्यपि कथं नात्वम् ? उच्यते यद्यपि चैत्रस्य भ्राता भ्राता भवन् पितरमपेक्षते चैत्रपितृजनितस्यैव चैत्रभ्रातृत्वात्, तथापि पिता-पिता भवन्न भ्रातरपेक्षते । अयं भावः—यद्यपि चैत्रस्य यो भ्राता स चैत्रनिरूपित-भ्रातृत्वद्वारैव पितरं स्वजनकत्वेनापेक्षते न तु स्वतः, केवलस्य भ्रातृत्वस्य

पितृनिरूपितत्वाभावात् तथापि पिता पितृत्वेन न भ्रातरमपेक्षते पितृत्वस्य पुत्रनिरूपिताया एव सत्त्वात् तस्यायं पुत्र इति कथिते स्वत एव स पितेत्यायातीति नास्ति पितृ-भ्रात्रोः निरूप्यनिरुपक-भावसम्बन्ध इति। यद्येवं तर्हि कथं होतापोतारौ, मातापितरौ ? नह्यत्र परस्परापेक्षस्तथा-सम्बन्धोऽपि तु यजमानपुत्रापेक्षः । उच्यते-अत्रापि होत्रादीनां परस्पर-सम्बन्धोऽस्त्येव ते हि स्वकर्मणि यागे प्रजने च सहिता एव वर्तन्ते तत्कर्म-निमित्तश्चायं व्यपदेश इत्यदोषः। अयं भावः–होतापोताराविल्यत्र–होता यजमानस्यैवेति तेनैव विद्यायाः सम्बन्धः पोताऽपि ऋत्विग्विशेषाद् यजमानसम्बद्ध एवेति तयोः परस्परमसम्बन्धेऽपि होतृपोत्रोः कर्म यागः तत्र च तौ सहैव प्रवर्तेते इति तयोः परस्परमेककर्मकारित्वरूपसम्बन्धोऽ-स्त्येवेति न तत्र पूर्वप्रतिपादितनियमव्यभिचारः, एवं मातापितरावित्यत्र मातृत्वं न पितृनिरुप्यं, नवा पितृत्वं मातृनिरूप्यं किन्तूभयमपि पुत्रनिरु-पितमेव, पुत्रस्यैव माता, तस्यैव च पितेति प्रतीतेः मातापित्रोः, परस्परं सम्बन्धाभावेऽपि मातापित्रोः पुत्रस्योत्पादने तत्करणादिके च कर्मणि तयोः सहभावेन प्रवर्तनादेककर्मकारित्वरूपः सम्बन्धोऽत्राप्यस्त्येवेति न पूर्वप्रतिपादितनियमव्यभिचारः । तेषां च तत्तच्छब्दप्रतिपाद्यत्वमपि तत्कर्मनिमित्तमेवेति स्वप्रवृत्तिनिमित्तत्वस्यैक्यरूप-सम्बन्धोऽपि तेषामस्त्ये-वेति न पूर्वोक्तदोषशङ्का ॥३९॥

पुत्रे ।६।३।२२।

पुत्रे उत्तरपदे विद्यायोनिसम्बन्धानामृदन्तानां द्वन्द्वे आः स्यात् । मातापुत्रौ। होतापुत्रौ ॥४०॥

पूर्वसूत्रस्यकारान्तामेव द्वन्द्वे प्रवृत्त्या पिता-पुत्रौ इत्यादिषु तदप्रवृत्तिरित्य-यमारम्भः। इह समस्यमानानां पदानां परस्परं विद्यायोनिसम्बन्धः इत्यर्थो न स्वीकृतः, होतापुत्रावित्युदाहरणात् अत्र हि होतुः पुत्रस्य च न परस्परं विद्यासम्बन्धः न वा योनिसम्बन्धः। यद्यपि माता-पुत्रादीनामिव होतापुत्रावित्यस्य प्रयोगस्य लोकविश्रुतत्वं न प्रतीयते तथाप्याचार्योदा-हरणेन तस्य सत्त्वे विसंवादस्यानाशङ्कनीयत्वम् ॥४०॥

वेदसहश्रुताऽवायुदेवतानाम् ।३।२।४१।

एषां द्वन्द्वे पूर्वपदस्योत्तरपदे आः स्यात् । इन्द्रासोमौ । वेदेति किम् । ब्रह्मप्रजापती । सहेति किम् ? विष्णुशक्रौ । श्रुतेति किम् ? चन्द्रसूर्यौ । वायुवर्जनं किम् ? वाय्वग्नी । देवतानामिति किम् ? यूपचषालौ ।।४१।।

वेदसहेत्यादि-पूर्वं वेदसह-श्रुतशब्दयोः सप्तमीतत्पुरुषः, 'वायुर्नञा बहुव्रीहौ समस्यते। न विद्यते वायुर्यासु ता अवायवः' अवायवश्च ताः देवताः-अवायु-देवताः वेदसहश्रुताः अवायुदेवताः वेदसहश्रुतावायुदेवताः तासामिति विग्रहः। वेदे सहश्रुतानां वायुवर्जितदेवतानां द्वन्द्वे पूर्वपदस्योत्तरपदे परे आकारोऽन्तादेशो भवतीत्यर्थः। इन्द्रश्च सोमश्च, इन्द्रासोमौ, ब्रह्मप्रजापतीति-ब्रह्मण एव मानसिकाः पुत्राः प्रजापतित्वेन प्रसिद्धाः, ब्रह्मापि प्रजापति-नाम्ना प्रसिद्धः 'स्रष्टा प्रजापति-र्वेधाः' इत्याद्यमरकोशात् । विष्णुशक्रा-विति-एतौ वेदे पृथक् पृथग्घविर्भागित्वेन श्रुतौ न तु सह हविर्भागित्वेन। चन्द्रसूर्याविति-एतौ वेदे सहख्यातावपि नैवं-रूपेण श्रुतावपि तु सूर्या-चन्द्रमसावित्यादिरूपेण । वाय्वग्नीति—वायुवर्जनं सामान्येन द्वन्द्वस्यैव विशेषणम्, वायुवर्जिततादृशदेवतानां द्वन्द्वे इत्युक्त्या वायोः पूर्वपदत्वे उत्तरपदत्वे वोभयथापि नात्वप्रवृत्तिः तत्र वायोरुत्तरपदत्वे 'अग्निवायू' इति पूर्वपदत्वे च 'वाय्वग्नी' इति। यूपचषालाविति—यूपो यागसमाप्ति-चिह्नभूतः स्तम्भविशेषः खदिरादिनिर्मितः, चषालो वलयाकारो लौहमयः काष्ठमयो वा यूपमध्ये देयः पदार्थः एतावपि वेदे सहश्रुतौ किन्तु देवता-त्वाभावान्नात्र भवत्यात्वम् ।।४१।।

ईः षोमवरुणेऽग्नेः ।३।२।४२।

वेदसहश्रुतावायुदेवतानां द्वन्द्वे षोमे वरुणे चोत्तरपदेऽग्नेरीः स्यात् । षोमेति निर्देशादीयोगे षत्वं च। अग्नीषोमौ ।

अग्नीवरुणौ । देवता-द्वन्द्व इत्येव । अग्निसोमौ बटू ॥४२॥

षोमशब्दः न पृथक् शब्दः किन्तु सोमशब्द एव । कृतषत्वनिर्देशादीकारयोगे षत्वं निपात्यते । विशेष्य षत्वविधाने वाक्य-भेदापत्तेः, पृथक्-सूत्रविधाने च स्पष्टमेव गौरवमिति कृतषत्वनिर्देश एव कृतः । अग्निश्च सोमश्चेति इतरेतरयोगद्वन्द्वेऽनेन ईत्वे षत्वे च रूपनिष्पत्तिः । अग्निसोमौ बटू इति— एको ऽग्निनामा बटुः अपरश्च सोमनामा तयोरिह द्वन्द्वः । नायं देवताद्वन्द्वः किन्तु मनुष्यद्वन्द्वः इति न भवतीत्वम् । ईकारसंनियोगे षत्वविधानात् 'सन्नियोगशिष्टानामेकापायेऽयतरस्याप्यपायः' इति न्यायादीत्वनिवृत्तौ षत्वमपि निवर्तते ॥४२॥

इर्वृद्धिमत्यविष्णौ ।३।२।४३।

विष्णुवर्जे वृद्धिमत्युत्तरपदे देवताद्वन्द्वे अग्नेरिः स्यात् । आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत । वृद्धिमतीति किम् ? अग्नीवरुणौ । अविष्णाविति किम् ? आग्नावैष्णवं चरुं निर्वपेत् ॥४३॥

नन्वग्निशब्दे इकारः स्वत एवास्ति तस्य पुनः इकारविधानं किमर्थमिति चेत् सत्यमयमी—काराऽऽकारयोरपवादः इति अग्नीवरुणौ देवताऽस्याः सा आग्निवारुणी देवतार्थेऽण् 'देवतानामात्वादौ' ।७।४।२८। इति पूर्वपद-स्योत्तरपदस्यः स्वरेष्वादे स्वरस्य वृद्धि-र्भवति । ननु अग्निश्च वरुणश्च अग्नीवरुणावित्यत्र प्रत्ययोत्पत्तितः पूर्वमेवेत्वमात्वं वा प्राप्नोति, प्रकृत-सूत्रस्य च तद्धितप्रत्ययनिमित्तक-वृद्धिनिमित्त-कत्वेन बहिर्भूतनिमित्त-कत्वाद् बहिरङ्गत्वमिति तदपेक्षयाऽन्तरङ्गयोरीकाराकारयोः प्रवृत्तौ नास्त्यस्य सूत्रस्यावकाश इत्यपि शङ्कितुं शक्यत इति चेत्सत्यम, 'उप-संजनिष्यमाननिमित्तोऽप्यपवादः उपसंजात–निमित्तमप्युत्सर्गं 'बाधते' इति न्यायेन 'परित्यज्यापवाद-विषयमुत्सर्गोऽभिनिविशते' इति न्यायेन वा नेकाराऽऽकारयोः प्रवृत्तिरिति विज्ञेयम् । किञ्च अग्नीवरुणौ देवता ऽस्येति लौकिकं वाक्यमात्रम् किन्तु समास-तद्धितयोः सहैव विग्रहो

वास्तविकः । अग्निश्च वरुणश्च देवतेऽस्या इति विग्रह एव समासा-नन्तरं वाक्यावयवविभक्तं लुं पि एकपद्ये सति विग्रह एव समासानन्तरं वाक्या-वयवविभक्ते लुं पि सति देवतार्थे तद्धितप्रत्यये उभयदवृद्धौ सत्याम नेना-ग्निशब्दस्यैकारस्येकार इत्येव साध्वी प्रक्रिया । अन्यथाऽग्नीवरुणाविति कृते ईकारप्रवृत्तौ जातायां कथं तदपवादो संगच्छेतेति । अग्नीवरुणाविति अग्निश्च वरुणश्चेति इतरेतरयोगे द्वन्द्वः । अग्नाविष्णू देवताऽस्य 'देवता' ।६।२।१०१। इत्यण्, 'देवतानामात्वा०' ।७।४।२८। इत्युभयपदवृद्धिः ॥४३॥

दिवो द्यावा ।३।२।४४।

देवताद्वद्न्वे दिव उत्तरपदे द्यावेति स्यात् । द्यावाभूमी ॥४४॥

देवताद्वन्द्व इति दिवो भूम्यादेश्च तत्तल्लोकवाचकत्वेऽपि देवतात्वेन हविर्त्यागोद्देश्यत्वेन वेदे श्रवणान्न देवताद्वन्द्वत्वहानिः । द्यावाभूमीति-द्यौराकाशः । भूमिः प्रसिद्धैव मनुष्य-निवासभूता ॥४४॥

दिवस्-दिवः पृथिव्यां वा ।३।२।४५।

देवताद्वद्न्वे दिवः पृथिव्यामुत्तरपदे एतौ वा स्याताम् । दिव-स्पृथिव्यौ । दिवःपृथिव्यौ । द्यावापृथिव्यौ ॥४५॥

द्यौश्च पृथिवी च दिवस्पृथिव्यौ–दिवःपृथिव्यौ । ननु दिवस्पृथिव्यावित्यत्र पदान्तस्य सस्य कथं न विसर्ग इति चेत् सत्यम् दिवः इति विस र्गान्तस्य निर्देशात् 'दिवसिति' इति सकारस्य रुत्वं न भवति । अयंभावः–यदीहापि विसर्गः-स्यादेव तर्हि पृथक् दिवः इति विसर्गान्तः पाठः व्यर्थः स्यादितिविस-र्गान्तादेश-विधानबलात् सकारस्य रुत्वं न कल्पनीयमेव । परे तु 'दिवस' इत्यकारान्तमादेश विधायाकारस्योच्चारणमात्रप्रयोजनत्वेनाप्रयोगित्व-मास्थाय तस्येत्संज्ञया लोपं विदधति विसर्गे प्राप्तेचाऽकारलोपस्य स्थानि-वद्भावेन तद्वारणं कुर्वन्ति । वेदे च सर्वत्र सकारसहित एव पाठ इति कथयन्ति । यद्यपि वृत्तिकाराः पदकाराश्च 'दिवःपृथिव्योः' इत्यादिविस-

र्गान्तपाठमपि पठन्ति, तथापि तत् 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' इति सिद्धान्तात्समाधेयमित्याहुः किञ्च छन्दसि 'द्यावाचिदस्मै पृथिवी सन्तमेते' इति व्यस्तेऽपि प्रयोगे पृथिवीशब्दे व्यवहिते द्यावाशब्दो दृश्यते सोऽपि तथैव साधनीयः एवं च पृथक् विसर्गान्तपाठं नाद्रियन्ते । स्वमते तु ज्ञानगौरवापेक्षया शब्दोच्चारणगौरवस्य लघीयस्त्वमित्याशयेन 'दिवः' इति विसर्गान्त एवादेशः स्वीकृत इति बोध्यम् ॥४५॥

उषासोषसः ।३।२।४६।

देवताद्वन्द्वे उषस उत्तरपदे उषासा स्यात् । उषासासूर्यम्।४६।

उषश्च सूर्यश्च-उषासासूर्यम्, अत्र समाहारः । उषस् इति सान्तं क्लीबं प्रत्यूषवाचि तदपि देवतात्वेन वेदे प्रसिद्धमिति न देवताद्वन्द्वत्वहानिः ॥४६॥

मातरपितरं वा ।३।२।४७।

मातृपित्रोः पूर्वोत्तरपदयोर्द्वन्द्वे ऋतोऽरो वा निपात्यते । मातरपितरयोः । मातापित्रोः ॥४७॥

माता च पिता—मातरपितरौ पक्षे मातापितरौः एकशेषे तु पितरौ । नन्विह मातरपितरमिति नपुंसक-निर्देशोऽयुक्तः इहेतरेतरयोगद्वन्द्वस्येष्टत्वात्तत्र च उत्तरपदलिङ्गस्यैव विधानात्पुंल्लिगनिर्देश एव युक्त इति चेत्सत्यम् । इह शब्दरूपापेक्षो नपुंसकैकवचननिर्देशः उत्तरपदस्य अरभावाभिव्यक्त्यर्थः तेन मातरपितराभ्याम्, मातरपितरयोः पक्षे मातापितृभ्याम्, मातापित्रोः । अत्राऽरादेशस्योभयपदविषयत्व-प्रदर्शनार्थे नवीने द्वे उदाहरणे । अयं स्पष्टार्थः—इह न तच्छब्दगतलिङ्गवचने विवक्षिते अपि तु शब्दस्वरूपमात्रविवक्षा शब्दस्वरूपविवक्षणे च सामान्ये नपुंसकमिति नियमान्नपुंसकं प्रथमोपस्थितत्वाच्चैकवचनम्, 'मातरपितरौ वा' इति स्वाभाविके निर्देशे सति किमिदम् 'अडौ वा' ।१।४।४९। इत्यरादेशेन

रूपमुत तदंशेऽपि निपातनमेवेति निर्णयो न स्यात्। तन्निर्णयाय अरादेशस्य स्पस्टीकरणायेत्थं निर्देश इति ॥४७॥

वर्चस्कादिष्ववस्करादयः ।३।२।४८।

एष्वर्थेष्वेते कृतशषाद्युत्तरपदाः साधवः स्युः। अवस्करोऽन्नमलम्। अवकारो ऽन्यः। अपस्करो रथाङ्गम्। अपकरोऽन्यः ।४८।

वर्चस्कादिष्विति–कुत्सितं वर्च इति–वर्चस्‌शब्दात् कुत्सार्थे संज्ञायां कप्। विष्ठायामयं रूढः। सोऽर्थो आदौ प्रथमो येषां रथाङ्गादीनां तेष्वर्थेष्वित्यर्थः तद्गुणसंविज्ञानात् वर्चस्कार्थोऽ पि गृह्यत एव। अवस्कर इति-अवकीर्यते दूर विक्षिप्यते इत्यवस्करः अलि गुणेऽनेनो–त्तरपदस्यादौ सकारे च सिद्धम्। अन्नमलमिति–भुक्तस्यान्नस्य रसादिषु तेजः शरीरेणौदारिक शरीरसात्कृ- तेषु यद् बहिः क्षिप्यते तदे वान्नमलम्। अवकारोऽन्य इति-वर्चस्कादन्योऽ-वकीर्यमाणो गृहान्निः-सारितोऽपद्रव्यसमूहोऽवकर इत्यर्थः। अपस्करो रथाङ्गमिति– रथोपकारिणि काष्ठे अपस्कर इति निपात्यते इत्यर्थः। रथाङ्गपदेनेह चक्रभिन्नं रथोपकारि द्रव्यं काष्ठं वा गृह्यते। अपकीर्यते स्वस्वस्थाने क्षिप्यते इत्यपस्करः पूर्ववदल्प्रत्ययादिः, रथाङ्गादितरोऽपकर एवेत्याह–अपकरोऽन्य इति। बहुवचनाकृतिगणार्थम्। इदं तु बोध्यम्-अवस्करशब्दः तत्सम्बन्धात्तद्देशेऽपि लाक्षणिकः। तस्यावस्करस्य सम्बन्धादाधारत्वात् तद्देशः, यत्र देशे तस्य सम्बन्धः स देशोऽप्यवस्करशब्देनोच्यत इति भावः। 'लक्षणा शक्यसबन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः' इति वचनात् लक्षणायाः शक्यसम्बन्धत्वं लक्षणम्। शक्यस्य= शक्त्योपस्थितस्यार्थस्य सम्बन्धः=यः कश्चित् सामीप्यसादृश्यादि= यथायोग्यं सम्बन्धः स एव लक्षणा इत्यर्थः। अत्राधारत्वरूपः सम्बन्धः ॥४८॥

परतः स्त्री पुम्वत् स्त्र्येकार्थ्येऽनूङ् ।३।२।४९।

परतोविशेष्यवशात् स्त्रीलिङ्गा स्त्रीवृत्तावेकार्थे उत्तरपदे पुम्व-

तस्यात् । न तूङन्तः । दर्शनीयभार्यः । परत इति किम् ? द्रोणीभार्यः । स्त्रीति किम् ? खलपुदृष्टिः । स्त्र्येकार्थइति किम् ? गृहिणीनेत्रः । कल्याणीमाता । अनूङिति किम् । करभोरूभार्यः ॥४६॥

एकार्थं नाम समानाधिकरणम् । शब्दस्याधिकरणमर्थः, अर्थे शब्दस्य वृत्तेः स तस्याधिकरणं तदेव समानम् अधिकरणं यस्य तत् समानाधिकरणम् । दर्शनीया भार्या यस्य स दर्शनीयभार्यः । दर्शनीय - शब्दो विशेष्यनिघ्नः अत्र नित्यस्त्रीलिङ्गभार्याशब्दरूपविशेष्य-पारतन्त्र्यात् स्त्रीत्वमापन्नः । 'एकार्थं चानेकं च'।३।१।२२।इति सूत्रेण समासः, 'गोश्चान्ते०'।३।४।९६। इति भार्याशब्दस्य ह्रस्वः । द्रोणीभार्य इति—द्रोणीशब्दः नदीवाचको नित्यस्त्रीलिङ्गः, यद्यप्यस्य भार्याशब्देन पत्नीवाचकेन नैकार्थ्यसंभावना तथापि तस्यामौपचारिकं भार्यात्वमारोप्य व्यवहारः समाधेयः। अत्र पुंवद्भावे शब्दातः प्रत्यासन्नो द्रोणशब्दः प्राप्नुयात् । अयं भावः-परतः इत्यस्याभावेऽत्रापि पुंस्त्वप्रवृत्तौ तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तकस्य शब्दस्य पुंस्त्वाभावेऽपि भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकस्य समानाकृतेः शब्दस्य प्रयोगः स्यात् । तथा च द्रोणीभार्य इत्यत्र द्रोणीशब्दस्य स्थाने काकाढकचतुष्टयादिवाची द्रोणीशब्दः प्रयुज्येत । खलं पुनाति यत्कुलं तत् खलपु । खलपु दृष्टिरस्यासौ खलपुदृष्टिः, यद्यत्रापि पुंवद्भावः स्यात्तदा क्लीबत्वप्रयुक्तो ह्रस्वो निवर्तेतेति दीर्घान्तस्य खलपूशब्दस्य श्रवणं स्यात् । गृहिणीनेत्र इत्यादि–गृहिणी नेत्रं यस्य स गृहिणीनेत्रः अत्र समानाधिकरणत्वेऽपि न स्त्रीलिङ्गोत्तरपदं वर्तते । एवं कल्याण्या माता कल्याणीमाता । अत्र स्त्रीलिङ्गोत्तरपदत्वेऽपि न सामानाधिकरण्यम् । करभवत् उरू जङ्घे यस्याः सा करभोरूः 'उपसमानसहित०' ।२।४।७४। इत्यूङ्प्रत्ययः । अनूङिति प्रसज्यप्रतिषेधात् इडविडोऽपत्यं स्त्री अञ्, तस्य लुप् इडविड् । सा चासौ भार्या च-ऐडविडभार्येत्यादिषु उत्तरेण पुंवद्भावः । पर्युदासे हि ऊङ्सदृशप्रत्ययान्तस्यैव पुंवद्भावः स्यात् । अयं भावः–ननु 'न तूङन्तः' इति प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणमयुक्तं वाक्यभेदरूपगौरवात् पर्युदासे हि 'ऊङन्त-भिन्नः परतः स्त्रीलिङ्गः स्त्रीवृत्तावेकार्थे उत्तरपदे पुंवदित्येकमेव वाक्यं भवतीति लाघवमिति चेत्सत्यम्-पर्युदासे ऊङन्तभिन्नस्य तत्सदृशस्य प्रत्ययान्तस्यैव ग्रहणात् इह चापत्यार्थप्रत्ययस्य स्त्रियां लुपि सति प्रत्ययान्तभिन्न एवेडविड्शब्दः, तस्य पुंवद्भावो

न स्यादित्यैडविडभार्या इति रुपं न स्यात्, किन्तु इडविड्भार्येति, अत्र 'पुंवत् कर्मधारये' ।३।२।५७। इति पुंवद्भावो भवति तत्राऽप्यूनूङित्यस्य सम्बन्धोऽस्त्येवेति । यद्यत्र पर्युदासः स्यात्तदा तत्रापि पर्युदास एव स्यात्, पर्युदासे सदृशार्थस्यैव ग्रहणं भवति-यथा अब्राह्मण–मानयेत्युक्ते ब्राह्मण-भिन्नो मनुष्य एवाऽऽनीयते न तु पश्वादिः काष्ठादिर्वा, तथा चात्र ऊङ्-भिन्न ऊङ्सदृशो गृह्येत सादृश्यं च स्त्रीप्रत्ययत्वेन सामान्यतः प्रत्ययत्वेन वा ग्राह्यम्, उभयथापि प्रकृते दोष एव, इडविड्शब्दो न स्त्रीप्रत्ययान्तो नवा किञ्चित्प्रत्ययान्तः प्रत्ययस्येह लुप्तत्वात् एवं चेदृशलक्ष्यसिद्ध्यर्थं प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणम् फलमुखगौरवस्याकिञ्चित्करत्वात् ॥४९॥

क्यङ्मानिपित्तद्धिते ।३।२।५०।

क्यङि मानिनि चोत्तरपदे पित्तद्धिते च परतः स्त्रीलिङ्गोऽनूङ् पुम्वत्स्यात् । श्येतायते । दर्शनीयमान्ययमस्याः । अजथ्यं यूथम् ॥५०॥

श्येतशब्दो वर्णवाची वर्णविशिष्टार्थमपीति स्त्रीलिङ्गे तस्य श्येनीति रुपं भवति । श्येनीवाचरतीति 'क्यङ्' ।०४।२६। इति क्यङि अनेन पुंवत्त्वे दीर्घे च श्येतायत इति । इमां दर्शनीयां मन्यते दर्शनीयमानी अय मस्याः। 'मन्या-ण्णिन्' ।५।१।११६। इति णिन् मानिन्ग्रहणमस्त्र्युत्तरपदार्थम्, असमानाधि-करणार्थं च । यद्यपि दर्शनीयामात्मानं मन्यते स्त्री-दर्शनीयमानिनीत्यसरूप-त्वादत्रापि णिन्। अत्र या दर्शनीया सैव मानिनीति स्त्रीत्वं सामानाधिकरण्यं चोभयमिह पूर्वेणैव सिद्धस्तथापि परत्वात्प्रतिपदोक्तत्वाच्चायमेव प्रवर्तते । यदा कांचित् स्त्रियं काचित्स्त्री दर्शनीयां मन्यते तदा दर्शनीयमानिनीत्यत्र स्त्रीवृत्तावुत्तरपदेऽपि एकार्थोत्तरपदाभावात्पूर्वेण न सिद्धः इत्यनेन पुंव-द्भावः । अजायै हितमजथ्यं यूथम् 'अव्यजात् थ्यप्' ।७।१।३८। इति थ्यप्, अनेन पुंवद्भावः ॥५०॥

जातिश्च णितद्धितयस्वरे ।३।२।५१।

अन्या परतः स्त्री जातिश्च णौ प्रत्यये यादौ स्वरादौ च तद्धिते विषयभूते पुम्वत्स्यात् अनूङ् । पटयति । एत्यः । भावत्कम् । जातिः—दाराद्यः । गार्गः । तद्धितेति किम् । हस्तिनीयति । हस्तिन्यः ॥५१॥

पट्वीमा-चष्टे-पटयति । 'नामिनीऽकलिहले:' ।४।३।५१। इति वृद्धिः, 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' ।७।४।४३। इत्यन्त्यस्वरादिलोपः तस्य स्थानिवद्भावादुपान्त्यवृद्ध्यभावः । एन्यां साधुः एत्यः 'तत्र साधौ' ।७।१।१५। इति यः । भवत्या इदं—भावत्कम् 'भवतोरिकणीयसौ' ।६।३।३०। इतीकण् 'ऋवर्णोवर्ण०' ।७।२।४। इतीकण इकारलोपः । दरदोऽपत्यं स्त्री अण् तस्य 'द्रेरञणो०' ।६।१।१२३। इति अणो लुप् तस्यां साधुः ये ऽनेन पुंवद्भावे अणन्त एव दारदशब्दः समायाति तस्यान्त्यस्याकारस्य लोपे दारद्य इति । अत्र पुंवद्भावस्याणलुपो निवृत्तिः फलम् । गार्ग्यायण्याः कुत्सितमपत्यं=गार्गः 'वृद्ध० ।६।१।८७। इति णे पुंवद्भावे गार्ग्यशब्दस्यान्तलो यलोपे च-गार्ग इति । हस्तिनीमिच्छति-हस्तिनीयति 'अमाव्ययात्०' ।३।४।२३। इति क्यन् । हस्तिन्यः इति-अयं प्रथमाबहुवचनस्य रूपम् । जातिग्रहणं स्वाङ्गात्०' ।३।२।५६। इति जातिलक्षणप्रतिषेधनिवृत्त्यर्थम्, सति तस्मिन् चकारोऽन्य-स्त्रीसंग्रहार्थः जातिः परतः स्त्री, अन्या च परतः स्त्री पुंवद्भवतीत्यर्थः अकृते हि चकारे जातेरेव पुंवद्भावः स्यात्, अत्र तद्धितयस्वर इति विषयसप्तम्याश्रयणम् न तु 'सप्तम्याः पूर्वस्य' ।७।४।१०५। इति परत्वार्थिका सप्तमी तेन पट्व्या भावः पाटवम्, अत्र प्रत्ययोत्पत्तेः पूर्वमेव पुंवद्भावे लघ्वादित्वात् 'य्वृवर्णाल्लघ्वादेः' ।७।१।६६। इत्यण् भवति परसप्तम्याश्रयणे तु संयोगे परे पूर्वस्य गुरुत्वान्न पट्वीशब्दो लघ्वादिरिति ततोऽण् न स्यात् । किन्तु गुणाङ्गप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन 'पतिराजान्तगुणाङ्ग०' ।६।१।६०। इति ट्यण् स्यात् । एवं पूर्वमुक्ते दारद्य इत्यत्र पुंवद्भावस्याणलुपो निवृत्तिः फलमित्युक्तम् किन्तु तत्र निवृत्तिः पूर्वमप्रवृत्तिरेव जातस्य निवृत्त्ययोगात्, इदमपि विषय-सप्तम्याश्रयणस्य फलम् ॥५१॥

एयेऽग्नायी ।३।२।५२।

एयप्रत्यये ऽग्नाय्येव परतः स्त्री पुम्वत् स्यात् । आग्नेयः । पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम् । श्यैनेयः ॥५२॥

अग्नेः स्त्रीत्यर्थे धवयोगे 'धवयोगे 'पूतक्रतु-वृषाकप्यग्नि०' ।२।४।६०। इति ङीः अन्तस्यैः आयादेशे च अग्नायीति । अग्नाय्या अपत्यम् 'कल्यग्नेरेयण्' ।६।१।१७। इत्येयण् । पुंवद्भावः आदिवृद्धिश्च । पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम् तेन श्येन्या अपत्यं श्येनेयः इत्यत्र पूर्वेणा–पि न भवति । अत्र 'द्विस्वरादनद्याः' ।६।१।७१। त्येयण् । ननु एये एवाग्नायीशब्दस्य पुंवत्त्वं नान्यत्रेति विपरीतनियमः कथं न भवतीति चेत्सत्यम् यदि विपरीतनियमोऽभिप्रेतः स्यात्तर्हि एयभिन्ने निषेधस्य फलितया निषेधप्रकरणे एव 'अग्नायी अनेये' इति क्रियताम् 'आग्नेय' इति निपात्यतां वा तच्च निपातनं नियमार्थं भविष्यति एये एवाग्नायीशब्दस्य पुंवत्त्वं नान्यत्रेति तदुभयमकृत्वा 'एयेऽग्नायी' इति करणेन एये एवाग्नायीशब्दस्य पुंवत्त्वं नान्यत्रेति तदुभयमकृत्वा विपरीतनियमः न भवति तेन–अग्नायै हितमित्यर्थे ईये 'जातिश्च०' ।३।२।५१। इति पुंवद्भावे अग्नीय इति रूपं भवति विपरीतनियमे तु अग्नीयीय इति स्यात् ॥५२॥

नाप्प्रियादौ ।३।२।५३।

अप्-प्रत्ययान्ते स्त्र्येकार्थ्ये उत्तरपदे प्रियादौ च परतः स्त्री पुम्वन्न स्यात् । कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । कल्याणीप्रियः । अप्प्रियादाविति किम् । कल्याणपञ्चमीकः पक्षः ॥५३॥

कल्याणी पञ्चमी आसां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । अत्र यैव पञ्चमी तज्जातीयाया एव रात्रेरन्यपदार्थत्वात्प्राधान्यमिति 'पूरणीभ्यस्तत्प्राधान्येऽप् ।७।३।१३०। इत्यप् 'अवर्णवर्णस्य' ।७।४।६८। इतीकार–लुक् । स्त्रीत्वादाप् । 'परतः स्त्री०' ।३।२।४९। इति प्राप्तस्य पुंवद्भावस्यानेन निषेधः । कल्याणी प्रियाऽस्य स कल्याणीप्रियः । कल्याणी पञ्चमी (रात्रिः) अस्मिन् कल्याणपञ्चमीकः पक्षः इति-अत्र पूरण्याः प्राधान्याभावादप्प्रत्ययो न भवति 'ऋन्नित्यदितः ।७।३।१७१। इति कच् ॥५३॥

तद्धिताककोपान्त्यपूरण्याख्याः ।३।२।५४।

तद्धितस्याकप्रत्ययस्य च कउपान्त्योयासां ताः पूरणप्रत्ययान्ताः संज्ञाश्च परतः स्त्री पुम्वन्न स्युः । मद्रिकाभार्यः । कारिका भार्य । पञ्चमीभार्यः । दत्ताभार्यः । तद्धिताकेति किम् ? पाकभार्यः

तद्धितेत्यादि–तद्धितश्चाकश्च तद्धिता-ऽकौ, तयोः कः तद्धिताककः, स उपान्त्यो येषां स्त्रीरूपाणां शब्दानां ते-तद्धिताक कोपान्त्या श्च पूरण्यश्चआख्याश्च तद्धिताककोपान्त्यपूरण्याख्या इति । यद्यपीह सामानाधिकरण्याभावेन पुंवद्भावस्य प्राप्त्यभावात् 'तद्धिताककोपान्त्या–पूरण्याख्या' इति सूत्रस्वरूपं स्यात् तथापि किं सूत्रपाठ एव ह्रस्वपाठः लेखकप्रमादकृतो वेति, चिन्त्यम् । मद्रिकाभार्य इति, 'वृजिमद्राद् देशात् कः' ।६।३।३८। इति शेषेऽर्थे कः, सा भार्या यस्य स' परतः स्त्री०' ।३।२।४९। इति प्राप्तं पुंवत्त्वमनेन निषिध्यते । मद्रशब्दः देशवाचकः । कारिकाभार्य इति-करोतीति-कारिका कर्तरि अकः स्त्रीत्वादाप्, इत्त्वे च कारिकेति । सा भार्या यस्येति विग्रहः । पञ्चमीभार्य इति-पञ्चानां पूरणी-पञ्चमी, सा भार्या यस्य, पञ्चन्-शब्दात् 'नो मट्' ।७।१।१५६। इति मट् टित्वान्ङीः-पञ्चमी । दत्ता-भार्य इति-ददातीति दत्ता कर्तरि क्तः अथवा दीयते स्मेति दत्ता । कस्याश्चित्संज्ञेयम् । यद्यप्ययं स्त्रीविशेषरुढः इति स्वत एव स्त्रीलिङ्गः न तु विशेष्यवशात्तथापि दानक्रियानिमित्तो दत्तशब्दः न स्त्रीलिङ्गोऽपि तु विशेष्यवशादेवेति तस्य परतः स्त्रीत्वमक्षतमिति 'परतः स्त्री०' ।३।२।४९। इति पुंवत्त्वं प्राप्तमनेन निषिध्यते । पाकभार्य इति–तद्धिताकेति विशेषणाभावेऽन्यविधकोपान्त्यस्यापि पुंवद्भावस्य प्रतिषेधः स्यादित्ययं न सिध्येत । पाकशब्दः प्रथमवयोवाची, अजादिगणपाठादप् ।।५४।।

तद्धितः स्वरवृद्धिहेतुररक्तविकारे ।३।२।५५।

रक्तविकाराभ्याम-न्यार्थः स्वरवृद्धिहेतुर्यस्तद्धितस्तदन्तः परतः स्त्रीपुम्वन्न स्यात् । माथुरीभार्यः । स्वरेति किम् ? वैयाकरण-

भार्यः । वृद्धिहेतुरिति किम् ? अर्द्धप्रस्थभार्यः । अरक्तविकार- किम् । काषायबृहतिकः । लौहेषः ॥५५॥

स्वरवृद्धिहेतुरिति-'वृद्धिरारैदौत्' ।३।३।१। इति सूत्रेणाऽऽरैदौतां वृद्धिसंज्ञा विधीयते, ते च प्रायः स्वरस्थाने भवन्ति व्यञ्जनस्थानाया वृद्धेरभावात् अनादेशरूपा अप्येते। तेषां व्यावृत्त्यर्थं स्वरग्रहणम्। तद्धित इति- प्रत्ययग्रहणे तदन्तस्य ग्रहणाद् शब्दइति विशेष्यस्याध्याहार्येण 'विशेषण- मन्तः' ।७।४।११३। इति परिभाषाबलाद्वाऽऽह तदन्तः परतः स्त्रीलिङ्ग इति॥ मथुरायां भवा स्त्री माथुरी सा भार्या यस्य स माथुरी-भार्य इति। वैयाकरणभार्य इति-व्याकरणं वेत्त्यधीते वा स्त्री सा वैयाकरणी 'तद्वे- त्त्यधीते' ।६।२।११६। इत्यण् अत्रादिस्वरवृद्धि बाधित्वा 'य्वः पदान्तात्०' ।७।४।५। इत्यैत्। यद्यप्यैद् वृद्धिः किन्तु न तु सा स्वरस्थाना। अर्द्धप्रस्थ- भार्य इति—अर्धप्रस्थे भवा भवार्थेण् अर्धप्रस्था भार्या यस्येतिविग्रहः 'अर्धात्परिमाणस्यानतो वा त्वादेः ।७।४।२०। इत्यनेनार्धात्परस्य परिमा- णार्थस्य प्रस्थशब्दस्य स्वरेष्वादेरतो वृद्धेर्वर्जनात्, आदेश्च विकल्पेन विधा- नाद-भावपक्षेऽस्य रूपस्य सत्वात् अत्र प्रकृतसूत्राप्रवृत्तेर्न पुंवद्भावनिषेधः। कषायेन रक्ता 'रागाट्टो रक्ते' ।६।२।१। इत्यणि वृद्धौ ङ्यां न काषायी, सा बृहतिकाऽस्य स काषायबृहतिकः। लोहस्य विकारः लौही, अत्र'विकारे' ।६।२।३०। इत्यण्, ईषा—हलयुगयोर्मध्यस्थितो दण्डः, लौही ईषा यस्य स लौहेषः ॥५५॥

स्वाङ्गान्ङीर्जातिश्चामानिनि ।३।२।५६।

स्वाङ्गाद्योङीस्तदन्तोजातिवाची च परतः पुम्वन्न स्यात् नतु मानिनि। दीर्घकेशीभार्यः। कठीभार्यः। शूद्राभार्यः। स्वाङ्गा- दिति किम् ? पटुभार्यः। अमानिनीति किम्? दीर्घकेशमानिनी। ॥५६॥

स्वाङ्गाद्यो ङीरिति—'असह-नञ्-विद्यमान०' ।२।४।३८।इति सूत्रेण विहित इत्यर्थः तत्र न स्वमङ्गं स्वाङ्गमपितु-अविकारोऽद्रवमित्यादिना परिभाषित-

मेत्र गृह्यते। दीर्घकेशीभार्यइति–दीर्घाः केशाःयस्याः सा दीर्घकेशी सा भार्या यस्येति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः। कठीभार्य इति–कठेन प्रोक्तं वेत्यधीते या सा कठी, अत्र प्रोक्तार्थप्रत्ययस्य 'कठादिभ्यो वेदे लुप्' ।६।३।१८३। इति लुप्, अध्ययनार्थप्रत्ययस्य च 'प्रोक्तात्' ।६।२।१२६। इति लुप् 'गोत्रं च चरणैः सह' इत्युक्ते र्जातित्वमिति 'जातेरयान्त०' ।२।४।५४। इति ङीः, सा भार्या यस्य सः। 'शूद्राभार्य—इति शूद्रशब्दस्य सकृदाख्यातनिर्गाह्यत्वे सत्यसर्वलिङ्गत्वरूपं जातित्वं बोध्यम्। पट्भार्य इति-पट्वी भार्या यस्य सः, दीर्घकेशमानिनीति-स्वभिन्नां कांचिद्दीर्घकेशां मन्यत इति 'क्यङ्मानिपित्तद्धिते' ।३।२।५०। इति सूत्रेण पुंवद्भावः। नन्वत्र न मानिन्शब्द उत्तरपदमपि तु मानिनीशब्द इति 'अमानिनि' इत्युक्ते नात्र पुंवद्भावो युक्तः प्रकृतनिषेधप्रवृत्तेरव्याहतत्वादिति चेत् ? न नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति न्यायाद् लिङ्गबोधक–प्रत्ययविशिष्टस्यापि मानिन्शब्दस्य मानिन्ग्रहणेन ग्रहणम्। न च कर्मोपपदादेव मन्धातोर्णिन्प्रत्ययो भवतीति-समुदायस्यैव स्त्री –प्रत्ययप्रकृतित्वाद् दीर्घकेशमानिन्शब्दादेव स्त्रीबोधकप्रत्ययः नतु मानिन्शब्दादिति वाच्यम् यतो यो विहितस्तद्विशिष्टस्यैव तेन ग्रहणमित्येतादृशनियमानङ्गीकारात्। अस्तु वा समुदायादेव ङीः, तथा सति मानिन्शब्दमात्रस्योत्तरपदत्वमव्याहतमेव, समासात्पूर्वं स्त्रीप्रत्ययोत्पत्त्यभावात्। ननु ङीजात्योः सहैव निषेधेन सहान्वयात् सहोक्तिसत्वेन सूत्रे समासः कस्मात् न कृतः इति चेत्सत्यम्-'असमासनिर्देशः सुखेनार्थबोधार्थः, स्वाङ्गङीजात्यमानिनीति कृते नार्थः सुखेन बोद्धुं शक्य इति व्यस्त एव निर्देशः कृत इति ॥५६॥

पुम्वत्कर्म्मधारये ।३।२।५७

परतः स्त्री अनूङ् कर्म्मधारये सति स्त्र्येकार्थ्ये उत्तरपदे परे पुम्वत् स्यात्। कल्याणप्रिया। मद्रकभार्या। माथुरवृन्दारिका। चन्द्रमुखवृन्दारिका। अनूङित्येव ? ब्रह्मबन्धूवृन्दारिका ॥५७॥

ननु 'परतः स्त्री०' ।२।२।४६।इति सूत्रेणैव कर्मधारयेऽपि पुंवद्भावः सिद्धः

एवेति व्यर्थमिदं पुंवद्भावविधानमिति चेत्सत्यम् 'नाप्प्रियादौ' ।३।२।५३। इत्यादिसूत्रैः कृतस्य पुंवद्भावनिषेधस्य निवृत्त्यर्थम् एतेन सूत्रेण पुनः पुंवद्भावविधानमिति । कल्याणी चासौ प्रिया च कल्याणप्रिया । अत्र 'नाप्प्रियादौ' ।३।२।५३। इति निषेधस्य निवृत्तिः । मद्रिका चासौ भार्या च मद्रकभार्या । अत्र 'तद्धिताककोपान्त्य०' ।३।२।५४। इति निषेधस्य निवृत्तिः मथुरायां भवा स्त्री माथुरी चासौ वृन्दारिका च माथुरवृन्दारिका। अत्र 'तद्धितः स्वरवृद्धि०' ।३।२।५५। इति निषेधस्य निवृत्तिः । चन्द्र इव मुखं यस्याः सा चन्द्रमुखी 'असहनञ०' ।२।४।३८। इति ङीः, चन्द्रमुखी चासौ वृन्दारिका च चन्द्रमुखवृन्दारिका ।अत्र स्वाङ्गान्ङीर्जातिश्चामानिनि' ।३।२।५६। इति निषेधस्य निवृत्तिः ।।५७।।

रिति ।३।२।५८।

परतः स्त्री अनूङ् रिति प्रत्यये पुम्वत्स्यात् । पटुजातीया । कठदेशीया ।।५८।।

पट्वी प्रकारो यस्याः सा पटुजातीया । 'प्रकारे जातीयर्' ।७।२।७५। इति सूत्रेण जातीयर्, अनेन पुंवद्भावः । ईषदसमाप्ता कठी कठ-देशीया 'अतमबादेरीषदसमाप्ते०' ।७।३।११। इति सूत्रेण देशीयर्, अनेन पुंवद्भावः ।।५८।।

त्वते गुणः।३।२।५९।

परतः स्त्र्यनूङ् गुणवचनस्त्वतयोः प्रत्यययोः पुम्वत्स्यात् । पटुत्वम् । पटुता । गुणइति किम् । कठीत्वम् ।।५९।।

त्वते० । गुणपदं गुणवाचकपरं, तच्च गुणिनि वर्तमानमिह ग्राह्यम् साक्षाद्गुणवाचकस्य स्त्रीत्वाभावात् 'गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति' इति स्मरणात् । तथा च गुणवचनशब्देन गुणवाचकत्वेन पूर्वं दृष्टः सम्प्रति गुणोपसर्जनद्रव्यवाचीह गृह्यते । अत्र एव तस्य परतः स्त्रीत्वमप्यु-

-पपद्यते, तदाह-परतः स्त्र्यनूङिति। पट्व्या भावः पटुत्वम्। पटुता। कठीत्वमिति—कठीशब्दस्य यद्यपि जातिपरत्वेन 'स्वाङ्गान्ङीजातिश्चामानिनि' ।३।२।५६। इत्यनेनैव पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्तः तथापि परत्वादस्य सर्वप्रतिषेधापवादत्वाशयेन प्रत्युदाहरणं बोध्यम्। एवं गुणः इति ग्रहणाभावे संज्ञाक्रियाशब्दानामपि पुंवद्भावः स्यात् ॥५९॥

च्वौ क्वचित् ।३।२।६०।

परतः स्त्र्यनूङ् च्वौ क्वचित् पुम्वत्स्यात्। महद्भूता कन्या। क्वचिदिति किम्। गोमतीभूता ॥६०॥

अमहती महती भूता-महद्भूता कन्या। अगोमती गोमती भूता—गोमतीभूता। क्वचिद्ग्रहणात्-क्वचिन्नित्यं, क्वचिन्न, क्वचिद्विकल्पेन पुंवद्भावो भवति ॥६०॥

सर्वादयोऽस्यादौ ।३।२।६१।

सर्वादिःपरतः स्त्री पुम्वत्स्यात् नतु स्यादौ। सर्वस्त्रियः। भवत्पुत्रः। अस्यादाविति किम्। सर्वस्यै ॥६१॥

लक्ष्यानुरोधात् 'स्त्र्येकार्थे' इतीह न सम्बध्यते। सर्वासां स्त्रियः—सर्वस्त्रियः। बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्, तेन भूतपूर्वसर्वादेरपि भवति-दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्। अत्र दक्षिणा चोत्तरा च पूर्वा चेति द्वन्द्वः 'न सर्वादिः' ।१।४।१२। इति सूत्रेण सर्वादित्वं निषिध्यते। परत्वात् प्रतिषेधविषयेऽप्ययं प्रवर्तते—सर्वा प्रियाऽस्यसः—सर्वप्रियः। अयं भावः—सर्वाद्यतिरिक्ते कल्याणीप्रिय इत्यादौ 'नाप्प्रियादौ' ।३।२।५३। इत्यादयः प्रतिषेधाः सावकाशाः, प्रकृतसूत्रं च सर्वस्त्रिय इत्यादौ, सर्वा प्रिया यस्य स सर्वप्रिय इत्यादौ चोभयोः प्राप्तिरिति 'स्पर्धे' ।७।४।११९। इति परिभाषाबलात् परत्वात्तत्रायं प्रवर्तते। किञ्च—'अनन्तरस्यैव विधिर्निषेधो वा' इति न्यायादनन्तरस्य 'परतः स्त्री०' ।३।२।४९। इत्यादिशास्त्रस्यैव स प्रतिषेधो

न तु व्यवहितस्यास्य सूत्रस्येत्येतद्विषये तत्प्रतिषेधाप्राप्तिरेवेत्यपि विज्ञयम ॥६१॥

मृगक्षीरादिषु वा ।३।२।६२।

एषु समासेषु परतः स्त्री उत्तरपदे पुम्वद्वा स्यात् । मृगक्षीरम् । मृगीक्षीरम् । काकशावः । काकीशावः ॥६२॥

मृग्याः क्षीरम्–मृगक्षीरम्, मृगीक्षीरम् । काक्याः शावः काकशावः, काकी-शावः ॥६२॥

ऋदुदित्तरतमरूपकल्पब्रुवचेलड्गोत्रमतहते वा ह्रस्वश्च ।३।२।६३।

ऋदुदित्परतः स्त्री तरादिषु प्रत्ययेषु ब्रुवादौ च स्त्र्येकार्थे उत्तर-पदे ह्रस्वान्तः पुम्वच्च वा स्यात् । पचन्तितरा । पचत्तरा । पच-न्तीतरा । श्रेयसितरा । श्रेयस्तरा । श्रेयसीतरा । पचन्तितमा । पचत्तमा । पचन्तीतमा । श्रेयसितमा । श्रेयस्तमा, श्रेयसीतमा, पचन्तिरूपा । पचद्रूपा । पचन्तीरूपा । विदुषिरूपा । विद्वद्रूपा । विदुषीरूपा । पचन्तिकल्पा । पचत्कल्पा । पचन्तीकल्पा । विदुषिकल्पा । विद्वत्कल्पा । विदुषीकल्पा । श्रेयसिकल्पा । श्रेयस्कल्पा । श्रेयसीकल्पा । पचन्तिब्रुवा । पचद्ब्रुवा । पचन्ती-ब्रुवा । श्रेयसिब्रुवा । श्रेयोब्रुवा । श्रेयसीब्रुवा । पचन्तिचेली पचच्चेली । पचन्तीचेली । श्रेयसिचेली । श्रेयश्चेली । श्रेय-सीचेली । पचन्तिगोत्रा । पचद्गोत्रा । पचन्तीगोत्रा । श्रेय-सिगोत्रा । श्रेयोगोत्रा । श्रेयसीगोत्रा । पचन्तिमता । पचन्मता ।

पचन्तीमता । श्रेयसिमता । श्रेयोमता । श्रेयसी-मता । पचन्ति-हता । पचद्धता । पचन्तीहता । श्रेयसिहता । श्रेयोहता । श्रेयसीहता ॥६३॥

पचन्तितरेति–इयमनयोरतिशयेन पचन्तीति विग्रहः। पचन्तिरूपेत्यादि–प्रशस्ता पचन्तीति 'त्यादेश्च प्रशस्ते रूपप्' ।७।३।१५। इति रूपप्। ईषदसमाप्ता पचन्तीति 'अतमबादेरीषदसमाप्ते०' ।७।३।१५। इति कल्पप्। पचन्तिब्रुवेत्यादि-ब्रवीतीत्यर्थेऽचि प्रकृतसूत्रे निपातनात् गुणाभावे उवादेशः स्त्रियामाप् पचन्ती चासौ ब्रुवा च। पचन्ती चासौ चेली च। चेलडिति टिद्वचनं ङ्यर्थम् गवोपपदात् त्रायतेः 'आतोडोऽह्वा-वामः' ।५।१।७६। इति डे गोत्रशब्दो व्युत्पाद्यते, परमसौ निन्दायामेव प्रयुज्यते। पचन्ती चासौ गोत्रा च, पचन्ती चासौ मता च, पचन्ती चासौ हता च। ब्रुवादयः कुत्सनवचनाः तेन 'निन्द्यं कुत्सनैरपापाद्यैः' ।३।१।१००। इति समासः। इदमनयोरतिशयेन प्रशस्येति श्रेयसी, सैवेति स्वार्थेवाऽत्र तरः क्वचित्स्वार्थे' ।७।३।७। इत्यनुशासनात् ॥६३॥

ङ्यः ।३।२।६४।

ङ्यन्तायाः परतः स्त्रियास्तरादिषु प्रत्ययेषु ब्रुवादिषु चोत्तरपदेषु एकार्थे ह्रस्वः स्यात्। गौरितरा। गौरितमा। नर्त्तकि-रूपा। कुमारिकल्पा। ब्राह्मणिब्रुवा। गार्गिचेली। ब्राह्मणि-गोत्रा। गार्गिमता। गौरिहता ॥६४॥

'चानुकृष्टं नानुवर्तते' इति न्यायात् पूर्वसूत्रे चानुकृष्टं पुंवदिति नानुवर्तते गौरितरेति-इयमनयोरतिशयेन गौरी—गौरवर्णा। इयमासामति-शयेन गौरी-गौरवर्णा गौरितमा। प्रशस्ता नर्तकी- नर्तकीरूपा। ईषदसमाप्ता कुमारी कुमारीकल्पा। गार्गी चासौ मता-गार्गीमता। ननु प्रकृतसूत्र-विषये पिदादिनिमित्तः पुंवद्भावः

कर्मधारयनिमित्तश्च प्राप्नोति स कथं न क्रियते इति चेत् सत्यम् परत्वात् यथाप्राप्तं पुंवद्भावमयं बाधते। अयमाशयः—दर्शनीयतरेत्याबन्तेषु, विद्वद्वृन्दारिकेत्यादिषु च पुंवद्भावः सावकाशः। नर्तकिरूपेत्यादौ कोपान्त्यत्वनिमित्तकपुंवद्भावप्रतिषेधात्प्रकृत—सूत्रं सावकाशम्, गौरितरेत्यादिषु तूभयप्राप्तिः तत्र 'स्पर्धे' ।७।४।२१६। इति परिभाषया परत्वादयमेव विधिरिति। 'नवैकस्वराण्यम्' ।३।२।६६। इत्युत्तरत्र वचनादनेकस्वरस्यैवायं विधिः ॥६४॥

भोगवद्गौरिमतोर्नाम्नि ।३।२।६५।

अनयोर्ङ्यन्तयोः संज्ञायां तरादिषु प्रत्ययेषु ब्रुवादौ चोत्तरपदे एकार्थे ह्रस्वः स्यात्। भोगवतितरा। गौरिमतितमा। भोगवतिरूपा। गौरिमतिकल्पा। भोगवतिब्रुवा। गौरिमतिचेली। भोगवतिगोत्रा। गौरिमतिमता। भोगवतिहता। नाम्नीति किम्? भोगवतितरा। भोगवत्तरा। भोगवतीतरा ॥६५॥

नाम्नीति भोगवद्गौरिमतोरेव विशेषणं न तु तत्सहित वृत्तेः तेन सह सूत्रस्थपदस्यास्य सम्बन्धासम्भवात्। भोगाः सर्पफणाः सर्पकञ्चुका वा सन्त्यस्याम्-सा भोगवती। यद्यपि 'अन०'।३।२।७८।इति दीर्घे-भोगावतीति भवति, प्रकृतसूत्रे ह्रस्वनिर्देशादेव भोगवतीति ह्रस्वमध्यः पाठः। गौरशब्दात् गौरादित्वान्ङीः ततो मतौ स्त्रियां गौरिमतीति। नदीविशेषनाम्नी एते। न च नदीविशेषे कुतः फणानां सत्ता, ते हि सर्पाणामेव शरीरे स्युरिति वाच्यम् सर्पद्वारा नद्या अपि तद्वत्त्वे बाधकाभावात्। भोगवतितरा, भोगवत्तरा, भोगवतीतरेति—अत्र भोगवच्छब्दो न नामापि तु भोगाः सुखादयः सन्त्यस्या इति विग्रहवशाद्विशेषणभूतः परतः स्त्रीलिङ्गः पूर्वत्र तु नित्यस्त्री-लिङ्गो नदीविशेषस्य नामत्वात् ॥६५॥

नवैकस्वराणाम् ।३।२।६६।

एकस्वरस्य ङ्यन्तस्य तरादौ प्रत्यये ब्रुवादौ चोत्तरपदे स्त्र्येकार्थे वा ह्रस्वः स्यात् । स्त्रितरा । स्त्रीतरा । ज्ञितरा । ज्ञीतरा । ज्ञितमा । ज्ञीतमा । ज्ञिब्रुवा । ज्ञीब्रुवा, एकस्वराणामिति किम् ? कुटीतरा ॥६६॥

बहुवचनात् परतः स्त्रीति निवृत्तम्, सामान्येन ङ्यन्तस्यैकस्वरस्यानेन विधीयते । स्त्रितरेति-स्त्यायतोऽस्यां शुक्रशोणिते इत्यर्थे स्त्यायतेरौणादिकेन प्रत्ययेन 'स्त्र-शब्दो निष्पद्यते, ततो ङ्यां स्त्रीति । ततः तरप्रत्ययः । ज्ञितरेत्यादि-जानातीति ज्ञः तस्य भार्या इत्यर्थे धवयोगे ङीः ततः तरबादिः । कुटीतरेति-परतः स्त्रीत्वा भावात् 'ङ्यः' ।३।२।६४। इत्यपि नित्यं ह्रस्वो न भवति ॥६६॥

ऊङः ।३।२।६७।

ऊङन्तस्य तरादौ चोत्तरपदे स्त्र्येकार्थ्ये वा ह्रस्वः स्यात् । ब्रह्मबन्धुतरा । ब्रह्मबन्धूतरा । कद्रुब्रुवा । कद्रूब्रुवा ॥६७॥

ब्रह्मबन्धुतरेति-ब्रह्मा बन्धुरस्येति व्युत्पत्त्या ब्रह्मबन्धुशब्दो विप्राचाररहिते निन्द्यकर्मकारिणि जात्या विप्रे प्रयुज्यते ततः स्त्रियाम् 'उतोऽप्राणिन०' ।२।४।६३। इत्यूङ्, अतिशयेन ब्रह्मबन्धूः ब्रह्मबन्धुतरा । अत्र विकल्पेनानेन ह्रस्वो भवति । कद्रुब्रुवेति—कद्रूशब्दः नागमातृवाची, निन्द्यसमासोऽयम् ॥६७॥

महतां करघासविशिष्टे डाः ।३।२।६८।

करादावुत्तरपदे महतो डा वा स्यात् । महाकरः । महत्करः । महाघासः । महद्घासः । महाविशिष्टः । महद्विशिष्टः ॥६८॥

वैयधिकरण्ये अयं विकल्प, सामानाधिकरण्ये तु परत्वाद् 'जातीयैकार्थेऽच्वेः' ।३।२।७०। इति सूत्रेण नित्य एव विधिः । महाकर इति—करो

हस्तः, राजग्राह्यं द्रव्यं वा महतः करः इति विग्रहः। कर एव कार इति स्वार्थिकेऽणि कारशब्दस्यापि 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति न्यायेन ग्रहणम् भवति तेन महाकार, महत्कार इत्यपि। घासो बालतृणम्, महाघास इति-महतः घास इति विग्रहः। विशिष्टः पार्थक्येन गणनार्हः महतां मध्ये विशिष्ट इत्यर्थे महाविशिष्ट इति ॥६८॥

स्त्रियाम् ।३।२।६९।

स्त्रीवृत्तेर्महतः करादावुत्तरपदे नित्यं डाः स्यात्। महाकरः। महाघासः। महाविशिष्टः ॥६९॥

महत्या करः—महाकरः एवं महाघासः, महाविशिष्टः। 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति न्यायात् पूर्वेणैव सिद्धे नित्यार्थमिदम् सूत्रम् ॥६९॥

जातीयैकार्थेऽच्वेः ।३।२।७०।

महतोऽच्व्यन्तस्य जातीयरि ऐकार्थ्ये चोत्तरपदे डाः स्यात्। महाजातीयः। महावीरः। जातीयैकार्थ्ये इति किम्? महत्तरः। अच्वेरिति किम्? महद्भूता कन्या ॥७०॥

महान् प्रकारोऽस्य स महाजातीयः। महान् चासौ वीरश्च महावीरः। अमहती महती सम्पन्ना महद्भूता कन्या। 'च्वौ क्वचित्' ।३।२।६०। इति सूत्रेण पुंवद्भावः ॥७०॥

न पुम्वन्निषेधे ।३।२।७१।

महतः पुम्वन्निषेधविषये उत्तरपदे डा न स्यात्। महतीप्रियः ॥७१॥

'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति न्यायात् पूर्वसूत्रेण महती-शब्दस्यापि डादेशो भवति तत्रानेन संकोचः क्रियते। महतीप्रियः इति-महती प्रियाऽस्येति बहुव्रीहिसमासे 'परतः स्त्री पुंवत्०' ।३।२।४८। इति सूत्रेण प्राप्तस्य पुंवद्भावस्य 'नाप्प्रियादौ' ।३।२।५३। इत्यनेन निषेधः ॥७१॥

इच्यस्वरे दीर्घआच्च ।३।२।७२।

इजन्तेऽस्वरादावुत्तरपदे पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् आच्च स्यात्। मुष्टी-मुष्टी। मुष्टामुष्टी। अस्वरइति किम्। अस्यसि ॥७२॥

इच्प्रत्ययः 'इज् युद्धे' ।७।३।१७४। इति सूत्रेण विधीयते। दीर्घत्वमाच्चेति-तथा च दीर्घाऽऽ-कारयोः पाक्षिकत्वं लभ्यते, सह विधाने एकस्य विधानं व्यर्थमेव स्याद्। मुष्टिभि-श्च मुष्टिभिश्च मिथः प्रहृत्य कृतं युद्धं मुष्टीमुष्टि, मुष्टामुष्टि। दीर्घत्वाऽऽ-त्वयोरकारान्ता-दन्यत्र विशेषः। अयं भावः-यद्यप्य-कारान्तस्य दीर्घे आकारान्तादेशे वा विशेषो नास्ति तथाप्यन्यस्व-रान्तेषु विशेषस्य सत्त्वात्त-द्विधानमप्यावश्यकमिति। असिना आसीना मिथः प्रहृत्य प्रवृत्तं युद्धम् अस्यसि। दीर्घः 'स्वरस्य ह्रस्वदीर्घप्लुता' इति न्यायात् स्वरान्तानामेव भवति। दीर्घसाहचर्यादात्वमपि स्वरान्तानामेव भवति तेनेह न भवति-दोष्णोर्दोष्णोर्गृहीत्वा व्यासक्तमिति दोर्दोषि ॥७२॥

हविष्यष्टनः कपाले ।३।२।७३।

हविष्यर्थे कपाले उत्तरपदेऽष्टनोदीर्घः स्यात्। अष्टाकपालं हविः। हविषीति किम्? अष्टकपालम्। कपालइति किम्? अष्टपात्रं हविः ॥७३॥

देवोद्देश्यत्वेन त्यज्य-मानं द्रव्यं हविः। 'अष्टनः' इति स्वार्थबहुत्वसंख्या-धायित्वा—भावान्न बहुवचनम्, स्वरूपभङ्ग-भयेन चात्र 'अनोऽस्य'

।२।१।१०८। इत्यकारलोपो न कृतः। अत्र दीर्घत्वयो रूपे विशेषाभावा-त्प्रथमोपस्थितदीर्घमात्रविधानेन रूपसिद्धिसम्भावनाया-मात्त्वं नानुवर्तित-मित्याह—दीर्घः स्यादिति। अष्टसु कपालेषु संस्कृतम् अष्टाकपालं हविः। 'संख्या समाहारे च द्विगुश्चा-नाम्न्ययम्' ।३।२।६६। इति द्विगुसमासे 'संस्कृते भक्ष्ये' ।६।२।१४०। इयणि 'द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्विः' ।६।१।२४। इति लुपि 'अष्टन् कपाल' इति स्थिते नलोपे सत्यनेनान्त्यस्य दीर्घः। यदि च नलोपस्य दीर्घरूपे परविधावसत्त्वान्नकारस्यैवान्त्यत्व-मिति कथं दीर्घ इत्याशङ्क्यते, तदा 'अन्त्यबाधेऽन्त्यसदेशस्य (उपान्त्यस्य)' इति न्यायादुपान्त्यस्याकारस्य दीर्घे नलोपे च रुपसिद्धिर्ज्ञेया। अष्टानां समाहारः—अष्टकपालम्। पात्रादित्वात् स्त्रीत्वाभावः। अष्टसु पात्रेषु संस्कृतं हविः अष्टपालम्, पूर्ववत्समासप्रत्ययादिः ॥७३॥

गवि युक्ते ।३।२।७४।

युक्तेर्थे गव्युत्तरपदेऽष्टनोदीर्घः स्यात्। अष्टागवं शकटम्। युक्त इति किम्। अष्टगुश्चैत्रः ॥७४॥

अष्टागवं शकटमिति—अष्टौ गावो युक्ता अस्मिन्निति त्रिपदे बहुव्रीहौ कृते उत्तरपदे परे द्वयोर्द्विगुः 'गोस्तत्पुरुषात्' ।७।३।१०५ इत्यट्समासान्तः, तत्र दीर्घत्वेन युक्तार्थसंप्रत्ययाद् गतार्थत्वाद् युक्तशब्दस्य निवृत्तिः तथा च युक्तशब्दं विनाऽपि तदर्थप्रतीतिः प्रयोगस्वाभाव्यात् अथवा अष्टौ गावः समाहृताः अष्टानां गवां समाहारः इति वा समाहारेऽर्थे द्विगुः, तत्र साह-चर्यादुपचारादष्टगवेन युक्तं शकटमप्यष्टागवमुच्यते यत्र दीर्घस्तत्रैवो-पचारः स दीर्घस्तस्योपचारस्य द्योतकः। अष्टगुश्चैत्र इति—अष्टौ गावो यस्येत्यर्थे बहुव्रीहिः 'गोश्चान्ते०' ।२।४।९६। इति सूत्रेण ह्रस्वः। अत्र चैत्रपदसानिध्यात् स्वस्वामिभावसम्बन्धः प्रतीयते न तु युक्तार्थप्रतिपत्ति-रित्यत्र दीर्घो न भवति। यद्यपि अष्टौ तुरगा यस्मिन् सोऽष्टतुरगो रथ इत्यादौ रथपद-सान्निध्यात् युक्तार्थप्रतिपत्तिरस्ति तथापि तत्र गव्युत्तर-पदाभावान्न भवति प्रसिद्धपदसान्निध्यादपि शक्तिग्रहो भवति—यदाह—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृत्तेर्वदन्ति, सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

अस्यार्थस्तु–व्याकरणम्=शब्दव्युत्पादकशास्त्रम् । उपमानं–सादृश्यज्ञानात्मकप्रमाणम्, कोशः अभिधानचिन्तामण्यादिः, आप्तवाक्यं प्रयोगहेतुभूतयथार्थज्ञानवत्पुरुषोच्चरितवाक्यम् । यथा–'कोकिलः पिकपदवाच्यः' इत्याप्तवाक्येन 'पिक' पदस्यार्थमाजानानस्य बालस्य 'पिक' पदस्य कोकिलात्मकेऽर्थे शक्तिग्रहो भवति । व्यवहारः–'घटमानये' त्यादिशब्दप्रयोगात्मकस्तेनापि गोपदार्थमजानानस्य बालस्य शक्तिग्रहो भवति । यथा प्रयोजकवृद्धेन उपदेष्टृवृद्धेन गुर्वादिना 'घटमानय' इति प्रयोज्यवृद्धाय इत्युक्तम्, तद्वाक्यं श्रुत्वा समीपस्थः घटादिपदानां घटाद्यर्थेऽगृहीतशक्तिको बालः प्रयोजकवृद्धोच्चरितवाक्यं श्रुत्वा प्रयोज्यवृद्धस्य गमनं घटानयनं च दृष्ट्वा घटानयनक्रिया 'घटमानय' इतिपदज्ञानजन्यशाब्दबोधजन्येत्यनुमिनोमि । वाक्यस्य शेषः-प्रकृतवाक्यातिरिक्ते वाक्ये प्रकृतवाक्यार्थबोधोपयोगी पदकदम्बोऽर्थवादाद्यात्मकः, विवृत्तिः-विवरणम्–पर्यायादिकम्, सिद्धपदस्य सान्निध्यम्–प्रसिद्धपदस्यसन्निधिः एतान्यष्टौ शक्तिज्ञानस्य प्रयोजकानि भवन्तीति वृद्धाः मन्यन्ते ॥७४॥

नाम्नि ।३।२।७५।

अष्टन उत्तरपदे संज्ञायां दीर्घः स्यात् । अष्टापदः कैलाशः । नाम्नीति किम् । अष्टदंष्ट्रः ॥७५॥

अष्टौ पदानि स्थानानि यत्र सोऽष्टापदः कैलासः । कैलासपर्वतस्य संज्ञा । अष्टौ दंष्ट्रा यस्य सोऽष्टदंष्ट्रः ॥७५॥

कोटरमिश्रकसिध्रकपुरगसारिकस्य वणे ।३।२।७६।

एषां कृतणत्वे वने उत्तरपदे संज्ञायां दीर्घः स्यात् । कोटरावणम् । मिश्रकावणम् । सिध्रकावणम् । पुरगावणम् । सारिकावणम् ॥७६॥

'वणे' इति पदं कृतणत्ववनशब्दस्यानुकरणम् । कोटरावनमित्यादि-नामत्वादिह वाक्यं न भवति, प्रक्रियानिर्वाहाय-'कोटर-आम्-वन-सि' इत्यलौकिकं वाक्यमवधारणीयम् । षष्ठीसमासः 'पूर्वपदस्थान्नाम्न्यगः' ।२।३।६४। इत्यनेन णत्वम् । एवं मिश्रकावणादीनामपि सिद्धिर्ज्ञेया । एते सर्वे नरकविशेषाणां वाचका इति प्राञ्चः । 'पूर्वपदस्थान्नाम्न्यगः' ।२।३।६४। इत्यनेन णत्वे सिद्धे कृतणत्वस्य वनशब्दस्य निर्देशो नियमार्थः, तेन 'पूर्वपदस्थान्नाम्न्यगः' ।३।२।७६। इति सूत्रेण वनशब्दस्य णत्वमाकारसंनियोग एव भवति । तस्मात्-कुबेरवनम् इत्यादौ संज्ञायामपि णत्वं न भवति ॥७६॥

अञ्जनादीनां गिरौ ।३।२।७७।

एषां गिरावुत्तरपदे नाम्नि दीर्घः स्यात् । अञ्जनागिरिः । कुक्कुटागिरिः ॥७७॥

अञ्जनो वृक्षविशेषः, तेषां (प्रभवः) गिरिः अञ्जनागिरिः, जन्यजनकभावसम्बन्धे षष्ठी । तदन्तेन गिरिशब्दस्य समासः । कुक्कुटः पक्षिविशेषः तेषां (प्रभवः) गिरिः कुक्कुटागिरिः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । एवमाकृतयोऽन्येऽपि गणे बोध्या इति ज्ञापनार्थमित्यर्थः ॥७७॥

अनजिरादिबहुस्वरशरादीनां मतौ ।३।२।७८।

अजिरादिवर्जबहुस्वराणां शरादीनां च मतौ प्रत्यये नाम्नि दीर्घः स्यात् । उदुम्बरावती । शरावती । वंशावती । अनजिरादीति किम् । अजिरवती । हिरण्यवती ॥७८॥

अनजिरादिशब्दो बहुस्वरमात्रस्य विशेषणं संभवात्, न शरादीनामसंभवात्-तदाह-अजिरादिवर्जबहुस्वराणाम् । उदुम्बरा वृक्षविशेषा ते सन्त्यस्यां सा उदुम्बरावती 'तदत्रास्ति' ।६।२।७। इति चतुरर्थ्यान्तर्गतार्थे 'नद्यां मतुः' ।६।२।७२। इति मतुः 'नाम्नि' ।२।१।९५। इति मस्य वः, स्त्रियां ङीः । शरा-

स्तृणजातयः ये सन्त्यस्यां सा शरावती । वंशाः वेणवः ते सन्त्यस्यां सा वंशावती । एतानि नदीविशेषनामानि । शरादिराकृतिगणः । अजिरमङ्गणं तदस्त्यस्यामिति विग्रहः । हिरण्यवतीति-एते नदीविशेषस्य नाम्नी । अजिरादिराकृतिगणः । आकृत्यैव गण्यन्ते परिचीयन्ते इत्याकृतिगणा अजिरादय इति भावः ।।७८।।

ऋषौ विश्वस्य मित्रे ।३।२।७६।

ऋषावर्थे मित्रे उत्तरपदे विश्वस्य नाम्नि दीर्घः स्यात् । विश्वामित्रः ।।७६।।

नाम्नीत्यनुवर्तनात् विश्वं मित्रमस्य विश्वमित्रो मुनिः इत्यत्र दीर्घो न भवति । अयं भावः-यद्यपि मुनेरहिंसायां प्रवृत्तस्य निर्वैरित्वाज्जगदेव तस्य मित्रमिति सर्वोऽपि मुनिर्विश्वमित्रः तथापि नाम्नीत्यनुवर्तनादत्र न भवति ।।७६।।

नरे ।३।२।८०।

नरे उत्तरपदे नाम्नि विश्वस्य दीर्घः स्यात् । विश्वानरः कश्चित् ।।८०।।

योगविभागाद् ऋषाविति न सम्बध्यते । विश्वे नरा अस्य-विश्वानरो नाम कश्चित् । विश्वशब्दोऽत्र सर्वपर्यायः ।।८०।।

वसुराटोः ।३।२।८१।

अनयोरुत्तरपदयोर्विश्वस्य दीर्घः स्यात् । विश्वासुः, विश्वाराट् ।।८१।।

पूर्वसूत्रेण सहैकयोगाकरणाद् नाम्नीति निवृत्तम् । विश्वं वसु अस्य-विश्वावसुः । विश्वशब्दः इह सर्वविधार्थः, सर्वप्रकारं वस्वस्येत्यर्थः । गावो भूमिहिरण्यमिति वसुनस्त्रयः प्रकाराः तत्र गोपदं सर्वविधपशुपरम्, हिरण्यपदं सर्वविधाकुप्यधनपरम्, भूमिपदं च भूमि-तत्संभवसर्वविधान्नादिपरम्, तथा च यस्यैतत्त्रितयान्तर्गतं सर्वं प्रकारं वसु भवेत् स एव विश्वावसुःन तु सकलजगद्धनस्वामी, तादृशस्य कस्यचनाभावात् । विश्वस्मिन् राजते सर्वत्र दीप्यते स विश्वाराट्। 'यजसृज०' ।२।१।८१।इति षत्वम्,षस्य डः । राडिति विकृतनिर्देशादिह न भवति-विश्वराजौ, विश्वराजः ।।८१।।

वलच्यपित्रादेः ।३।२।८२।

वलच्प्रत्यये पित्रादिवर्जानां दीर्घः स्यात् । आसुतीवलः । अपित्रादेरिति किम् । पितृवलः । मातृवलः ।।८२।।

आसुतिः सुरा साऽस्यास्तीति आसुतीवलः । कृष्यादित्वात् 'कृष्यादिभ्यो वलच्' । इति वलच् । नन्वत्र 'वलचि' इति कथं 'वले' इति कथनेनापीष्टसिद्धिर्भविष्यतीति चेत्सत्यम्-वलजित्यत्र चकारः प्रत्ययत्वज्ञापनाय, तेन कायबलमित्यादौ वलशब्दे परे दीर्घो न भवति । न च 'वले' इत्युपादानेऽपि 'प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्' इति न्यायात्प्रत्ययस्यैव ग्रहणं भविष्यतीति चकारः पुनर्व्यर्थं इति वाच्यम् यत्र प्रत्ययाप्रत्यययोरुभयोः सामान्येन ग्रहणंप्राप्तं तत्रैन्न्यायप्रवृत्तिरिह तु'उत्तरपदे'इत्यनुवृत्तमित्युत्तरपद भूतम् एवं वलशब्दे परे इत्यर्थो गम्येत,इति यत्रोत्तरपदभूतो वलशब्दस्तत्रैव दीर्घःस्यात् 'आसुतीबल' इत्यादौ तु न स्यात् । नन्वत्र केचित् 'कायबलम्' इत्यादौ बलशब्दः न तु वलशब्दः इति भवदुक्ताऽऽपत्तिरसङ्गतेति 'वलेऽपित्रादेः' इति सूत्रेणाऽपि नापत्तिरिति चेदत्र केचिद् यद्यपि वलधातोरचि वलत इति वलः' इति साधयितुं शक्यते संभवति च तस्य क्लीबताऽपि तथापि तादृशप्रयोगस्याप्रसिद्धत्वेन न कायबलमित्यादौ संभव इति स्पष्टार्थमेव चकारोपादानमित्याहुः । वस्तुतस्तु अच्प्रत्ययान्तो वलशब्दः स्वयमाचार्येण धातुपारायणे साधित इति तदप्रसिद्धिरिति कथनं नोचित-

मिति चकारोपादानमावश्यकम् । किञ्च बवयोरैक्यमिति वलशब्दोऽपि वलशब्दो भवतीति ध्येयम् ॥८२॥

चितेः कपि ।३।२।८३।

चितेः कपि दीर्घः स्यात् । एकचितीकः ॥८३॥

चितिशब्दोऽनेकार्थः चिनोतेः क्तिप्रत्यये साधुः, समूहे च वर्तते, इष्टकादिसमूहविषये च निरुढ-लक्षणया वर्तते । एका चितिरस्मिन् एकचितीकः । इति विग्रहवाक्ये चितिशब्दस्तत्तत्समूहविशेषवाचक एव विज्ञायते 'शेषाद्वा' ।७।३।१२५। इति सूत्रेण कप् ॥८३॥

स्वामिचिह्नस्याऽविष्टाऽष्टपञ्चभिन्नछिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य कर्णे ।३।२।८४।

स्वामी चिह्न्यते येन तद्वाचिनोविष्टादिवर्जस्य कर्णे उत्तरपदे दीर्घः स्यात् । दात्राकर्णः पशुः । स्वामिचिह्नस्येति किम् ? लम्बकर्णः । विष्टादिवर्जनं किम् ? विष्टकर्णः । अष्टकर्णः ॥८४॥

स्वामी चिह्न्यते परिचीयते येन चिह्नं लक्षणम् स्वामिनश्चिह्नमिति षष्ठी तत्पुरुषः तथा च स्वामिपरिचायकस्य पूर्वपदस्येति फलति । दात्रमिव दात्रम्, दात्रं चिह्नं कर्णे यस्य स दात्रमिव वा कर्णौ यस्य स दात्राकर्णः पशुः । दात्रं लौहादिनिर्मित्तं काष्ठादिद्विधाकरणसाधनम् तन्न पश्वादीनां कर्णे स्वामिविशेषपरिचायकत्वेन तिष्ठत्यपि तु तदाकारेण रोमदाहादिचिह्नमेव तथा च न तद्दात्रमपि तु तदाकारकत्वात् तत्सदृशम् । लक्षणया तेन शब्देन व्यवहारः । दात्रमिव कर्णौ यस्येति विग्रहान्तरसम्भावनाप्रदर्शनमात्रम् न तु स्वामिचिह्नत्वसाधकम् न हि प्राकृतिकेन दात्राद्याकारेण चिह्नेन स्वामिविशेषः प्रतीयते कृते तु संकेत कश्चिदित्थंभूतः पशुः स्वामिविशेषसम्बन्धितया परिचीयते, अपि तु न तत्साधारण्येन चिह्नतया व्य-

वहतुं शक्यते। लम्बकर्ण इति—लम्बौ कर्णौ यस्येति विग्रहः, कर्णानां लम्बत्वं स्वामिनः परिचायकं नास्ति किन्तु चिह्नरूपमेव । तथा चात्र केवलस्य चिह्न-वाचिनः कर्णशब्दे उत्तरपदे दीर्घो न भवति, किन्तु स्वामिचिह्नवाचिनः । यदि केवलं स्वामिशब्दोपादानं स्यात्तर्हि वाहनस्य कर्णः वाहनकर्ण इत्यत्र कर्णनिरूपितं स्वामित्वं वाहनेऽस्ति इत्यतिव्याप्तिः स्यात् । विष्टादिवर्जस्येति—'विष्टादिपर्युदासो व्यर्थः स्याच्च । 'विष्लृ की-व्याप्तौ' विष्टं व्याप्तं (चिह्नं) कर्णे यस्य स विष्टकर्णः । अशौटि व्याप्तौ अष्टं व्याप्तं(चिह्नं)कर्णे यस्य स-अष्टकर्णः । विष्टशब्दो व्याप्त्यर्थकाद्विषेः, अष्टशब्दोऽपि व्याप्त्यर्थकादश्नोतेः क्ते सिद्धः । पञ्चशब्दसाहचर्याद् संख्यावाचकस्याऽप्यष्टशब्दस्य ग्रहणं तत्पक्षे अष्टौ (चिह्नानि) कर्णे यस्येत्यादिविग्रहः । एवं पञ्च(चिह्नानि) कर्णे यस्य स पञ्चकर्णः,भिदेश्छिदेश्च क्ते भिन्न-छिन्न-शब्दौ, तावपि स्वामिविशेषपरिचायकचिह्नवाचिनौ, स्वामिविशेषपरिज्ञानाय भेद-छेदौ विशेषरीत्या क्रियेते, भिन्नं (चिह्नं) कर्णे यस्येति, भिन्नौ छिन्नौ वा कर्णौ यस्येति वा विग्रहे भिन्नकर्णः, छिन्नकर्णः । छिद्रं कर्णे यस्य स छिद्रकर्णः । स्रुव :(स्रुवाकारं चिह्नं) कर्णे यस्य स स्रुवकर्णः । स्वस्तिकः—मङ्गलसूचकचिह्नविशेषः, स कर्णे यस्य स स्वस्तिककर्णः ॥८४॥

गतिकारकस्य नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनौक्वौ ।३।२।८५।

गतिकारकयोर्नह्यादौ क्विबन्ते उत्तरपदे दीर्घः स्यात् । उपानत् । नीवृत् । प्रावृट् । श्वावित् । नीरुक् । ऋतीषट् । जलासट् परीतत् ।॥८५॥

उपनह्यति पादम् उपानत् । उपनह्यतीति कर्तरि विग्रहः नहेर्दिवादित्वात् । उपनह्यते परिधीयते पादयोः बध्यते वा इति कर्मणि विग्रहः, उभयथापि वाच्यस्य पादत्राणस्य प्रतीतिः । 'नहाहोर्धतौ' ।२।१।८५। इति सूत्रेण हकारस्य धकारः । नियतं वर्तन्तेऽस्यां नीवृत् देशः इत्यर्थः । प्रवर्षन्त्यस्यां मेघाः प्रावृट्। यः श्वानं विध्यतीति—श्वावित् पशुविशेषः'शुनः।३।२।९३।इति दीर्घः,

नितरां रोचते-नीरुक्, ऋतिं पीडां सहते-ऋतीषट् । 'भीरुष्ठानादयः' ।२।३।३३। इति षत्वम् । जलं सहते-जलासट् । परितनोतीति-परीतत् । 'गमां क्वौ' ।४।२।५८। इति सूत्रेण नलोपः, 'ह्रस्वस्य तः पित्कृति' ।४।४।११३। इति सूत्रेण तोऽन्तः । श्वाविद्तीषज्जलासडित कारकस्योदाहरणानि इतरे गतेः । इह क्विग्रहणादन्यत्र धातुग्रहणे तदादिविधिर्लभ्यते, तेन 'अयस्कृतम्, अयस्कृत इत्यादौ सकारः सिध्यति अन्यथा अयस्कृदित्यत्रैव स्यात् । अयं भावः-'अतः कृकमि०' ।२।३५। सूत्रे कृधातुर्निदिष्टः, तस्य स्वरूपमात्रस्य ग्रहणे 'अयस्कृद्' इत्यत्रैव स्यात् न तु अयस्कृतम्, अयस्कारः' इत्यादौ क्ताऽण्प्रत्ययान्ते करोतौ । प्रकृतज्ञापने तदादिविधिलाभे तु करोत्यादौ शब्दे परे सूत्रस्य प्रवृत्त्या 'अयस्कृतम्' इत्यादावपि सत्वम् भवति ॥८५॥

घञ्युपसर्गस्य बहुलम् ।३।२।८६।

घञन्ते उत्तरपदे उपसर्गस्य बहुलं दीर्घः स्यात् । नीक्लेदः । नीवारः । बाहुलकात् क्वचिदवा । प्रतीवेशः । प्रतिवेशः । क्वचिन्न, विषादः । निषादः ॥८६॥

निक्लेदनं नीक्लेदः निपूर्वात्क्लिद्यतेर्घञ् । नियतैर्व्रियते-नीवारः । निपूर्वाद्वृणोतेः 'नेर्वृः' ।५।३।७४। इति घञ् । प्रतिवेशनं, प्रतिविशन्त्यस्मिन् वेति प्रतीवेशः, प्रतिवेशः । गृहसमीपस्थगृहान्तरं प्रतीवेश-प्रतिवेशशब्दाभ्यामाख्यायते । विषदनं विषीदति मनोऽस्मिन् वा विषादः । विपूर्वकात्सीदतेर्भावेऽधिकरणे वार्थे घञ् । निषीदति मनः पापं वा यस्मिन् निषादः । अधिकरणे घञ् । पूर्वविग्रहेण निषादनामा स्वरः परेण च म्लेच्छजातिविशेष उच्यते ॥८६॥

नामिनः काशे ।३।२।८७।

नाम्यन्तस्योपसर्गस्याजन्ते काशे उत्तरपदे दीर्घः स्यात् । नीकाशः ।

वीकाशः । नामिनइति किम् ? प्रकाशः ॥८७॥

नाम्यन्तस्योपसर्गस्येति- 'अनवर्णा नामी ।१।१।६। इति सूत्रेण अवर्णवर्जा-नामौदन्तानां स्वराणां नामिसंज्ञा विहिता तथाप्यत्र 'ए ऐ ओ औ' वर्णानां स्वत एव दीर्घत्वेन दीर्घविधानानर्थक्यात् लृ कारान्तामेवेहोद्देश्यत्वं, तत्रापि ऋकारान्त-लृकारान्तयोरुपसर्गस्याश्रुतत्वात् परिशेषादिकाराकार-योरेव ग्रहणम् । इकारोकारान्तस्योपसर्गस्येति पर्यवस्यति । निकाशते निकाश्यते इति वा नीकाशः । विकाश्यत इति वीकाशः । बहुलाधिकारात् विकाश इत्यपि । प्रकाशत इति प्रकाशः । 'काशे' इति सामान्य-निर्देशेऽपि घञन्ते पूर्वसूत्रेण विधानात् अजन्ते एवायं विधिरित्याह-अजन्त इति-'अच्' ।५।१।५४। इति सूत्रेणाच् ॥८७॥

दस्ति ।३।२।८८।

दो यस्तादिरादेशस्तस्मिन्परे नाम्यन्तस्योपसर्गस्य दीर्घः स्यात् । वीत्तम् । दइति किम् । वितीर्णम् । तीति किम् । सुदत्तम् यीतम् ।

निदीयते स्म, विदीयते स्म–नित्तम्, वित्तम् । नि-विपूर्वाद् दासंज्ञकात् क्तः' 'अवौ दाधौ दा' ।३।३।५। इति सूत्रेण दासंज्ञा । 'स्वराद्उपसर्गाद्दस्ति कित्यधः' ।४।४।९। इति 'दा' इत्यस्य 'त्त' इत्यादेशः । सुदीयते स्मेत्यर्थे क्ते 'निविस्वन्वात्, ।४।४।८। इत्यनेन विकल्पाद् 'दत्' ।४।४।१०। इति सूत्रेण ददादेशः ॥८८॥

अपील्वादेर्वहे ।३।२।८९।

पील्वादिवर्जस्य नाम्यन्तस्य वहे उत्तरपदे दीर्घः स्यात् । ऋषी-वहम् । मुनीवहम् । अपील्वादेरिति किम् । पीलुवहम् । दारु-वहम् ॥८९॥

ऋषीणां वहम् ऋषीवहम् । ऋषीणां धारकमित्यर्थः । मुनीनां वहम् मुनी-

वहम् । पीलुर्वृक्षविशेषः तस्य वहं-पीलुवहं नाम वनम् । दारूणां वहम्-दारुवहम् ॥७६॥

शुनः ।३।२।६०।

अस्योत्तरपदे दीर्घः स्यात् । श्वादन्तः । श्वावराहम् ॥९०॥

शुनो दन्तः श्वादन्तः, श्वा च वराहश्च । बहुलाधिकारात् क्वचिद्विकल्पः-शुनः पुच्छम् श्वापुच्छम् श्वपुच्छम् । क्वचिन्न-शुनो मुखमिव मुखं यस्यस-श्वमुखः ॥६०॥

एकादश-षोडश-षोडन्षोढा-षड्ढा ।३।२।६१।

एकादयोदशादिषु कृतदीर्घत्वादयोनिपात्यन्ते । एकादश । षोडश । षट्दन्ता अस्य षोडन् । षोढा, षड्ढा ॥६१॥

एकेनाधिका एकाधिका दश । एकं च दश च वा–एकादश । अत्र पूर्वपदस्य दीर्घत्वं निपात्यते । पूर्वस्मिन् विग्रहेऽत्र तत्पुरुषसमासः, मयूरव्यंसकादि-त्वाच्छा–कपार्थिवादिवदुत्तरपदलोपश्च । परस्मिन् विग्रहे 'चार्थेद्वन्द्वः०' ।३।१।११७। इति सूत्रेण द्वन्द्वसमासः । षडधिका दश, षट् च दश च वा षोडश । अत्र षषोऽन्तस्योत्त्वं दशशब्ददकारस्य डत्वं च निपात्यते । षड् दन्ता अस्य–षोडन् । अत्र दन्तशब्दस्य 'वयसि दन्तस्य दतृः' ।७।३।१५१। इति दत्रादेशे कृते दस्य डत्वं षषोऽन्तस्योत्वं च निपात्यते । 'ऋदुदितः' ।१।४।७०। इत्यनेन नोन्तः 'पदस्य' ।२।१।८९। इत्यन्त्यतकारस्य लुक् । षड्भिः प्रकारैः-षोढा-षड्ढा,अत्र धाप्रत्यये षषोऽन्तस्य वोत्वं धकारस्य तु-नित्यं ढत्वम् । अत्र षोढा विभजतीत्यत्र तृतीयान्तेन विग्रहस्योपयोगा तृ-तीयान्तेन विग्रहः कृतः । अन्यत्र 'द्रव्यमेकं षोढा कुरु' इत्यादौ यथासंभवं द्वितीयाद्यन्तेनापि विग्रहः क्रियते । 'अत्र 'संख्याया धा' ।७।२।१०४। इति सूत्रेण धाप्रत्ययः । 'प्रकारे धा' ।७।२।१०२। इत्यस्य प्रकरणे पठितत्वादत्र सम्भवत्स्याद्यन्ताद्विग्रहः क्रियते ॥६१॥

द्विव्यष्टानां द्वात्रयोऽष्टाः प्राक्शतादनशीतिबहुव्रीहौ ।३।२।८२।

एषां यथासंख्यमेते प्राक्शतात् संख्यायामुत्तरपदे स्युर्नत्वशीतौ बहुव्रीहिविषये च। द्वादश। त्रयोविंशतिः। अष्टात्रिंशत्। प्राक्शतादिति किम् ? द्विशतम्। त्रिशतम्। अष्टसहस्रम्। अनशीतिबहुव्रीहाविति किम् ? द्व्यशीतिः। द्वित्राः ॥८२॥

न त्वशीतौ बहुव्रीहिविषये चेति–अशीतिविषयं बहुव्रीहिविषयं चोत्तरपदं वर्जयित्वेत्यर्थः। द्वाभ्यामधिका दश, द्वौ च दश चेति वा द्वादशः। त्रिधिका त्रिश्च विंशतिश्चेति वा त्रयोविंशतिः, अष्टाधिका त्रिंशत् अष्टात्रिंशत्। अष्ट च त्रिंशच्च–अष्टात्रिंशत्। 'ननु चार्थे द्वन्द्वः०' ।३।१।११७इतिसूत्रेण एकविंशतिरित्यादौ संख्याद्वन्द्वे समाहारेऽवयवानामनुद्भूतत्वात्पार्थक्येनप्रतीयमानत्वाद्भवत्वेकवचनं किन्तु संख्याद्वन्द्वे इतरेतरयोगेऽवयवानामनुद्भूतत्वात्पार्थक्येन प्रतीयमानत्वादनेकत्वाच्च द्विवचनादिनैव भवितव्य-मिति कथमेकवचनमिति चेत्सत्यम्–यथा 'विंशतिघटाः' इत्यत्र विंशतिशब्दः संख्येयान् विंशतित्वसंख्यासहितान् घटानाचष्टे, तत्र घटानां बहुत्वेऽपि न तत्संख्यामपि तु विंशति स्वसंख्यागतमेकत्वमनुसरति, तत एकवचनान्तो भवति तथा 'एकविंशतिर्घटाः' इत्यत्रैक-विंशतिशब्दः संख्येयान् एकविंशतित्वसंख्यासहितान् घटानाचष्टे तत्र घटाना बहुत्वेऽपि न तत्संख्यामनुसरति किन्तु एकत्वविंशतित्वयोर्यः समुदायः एकविंशतित्वसंख्यात्मकः तद्गतमेकत्वमनुसृत्यैव संख्येयानाचष्टे इतीतरेतरयोगेऽप्येकवचनान्तो भवति। एवं 'आशताद् द्वन्द्वे०' इति लक्षणात् समाहारेऽपि स्त्रीलिङ्गो भवति। संख्याद्वन्द्वादन्यत्र संख्येयद्वन्द्वे तु संख्येयद्वन्द्वत्वात् संख्याद्वन्द्वादुच्यमानमेकत्वं न भवति, किन्तु संख्येयार्थकस्यैकशब्दस्य विंशतिशब्दस्य च प्रत्येकमेकत्वमिति मिलित्वा द्वयोर्द्वित्वं बहूनां बहुत्वमिति द्विवचनबहुवचनान्तता भवति। यथा–एको देवदत्ताय दीयतां विंशतिश्चैत्रायेति–एकविंशती आभ्यां देहि। एवं षष्टिर्देवदत्ताय दीयतां सप्ततिर्मैत्राय दीयताम्, अशीतिर्यज्ञदत्ताय दीयतामिति–षष्टिसप्तत्यशीतीरेभ्यो देहि। द्व्यधिकं शतम्। द्वौ च शतं च द्विशतम्। त्र्यधिकं

शतए त्रयश्च शतं च त्रिशतम् । द्वाभ्यामधिका अशीतिः द्वौ च अशीतिश्च द्व्यशीतिः । द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः ॥९२॥

चत्वारिंशदादौ वा ।३।१।९३।

द्वित्र्यष्टानां प्राक्शताच्चत्वारिंशदादावुत्तरपदे यथासंख्यं द्वात्रयोऽष्टा वा स्युः, अनशीतिबहुव्रीहौ । द्वाचत्वारिंशत् । द्विचत्वारिंशत् । त्रयश्चत्वारिंशत् । त्रिचत्वारिंशत् । अष्टाचत्वारिंशत् । अष्टचत्वारिंशत् ॥९३॥

पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पार्थमिदम् । द्वाभ्यामधिका. द्वौ च चत्वारिंशच्चेति वा द्वाचत्वारिंशत्, द्विचत्वारिंशत् । एवं त्रिभिरधिका, त्रयश्च चत्वारिंशच्चेति अष्टाभिरधिका, अष्ट च चत्वारिंशच्चेति–त्रयश्चत्वारिंशदित्यादि ॥९३॥

हृदयस्य हृल्लासलेखाण्ये ।३।२।९४।

अस्य लासलेखयोरुत्तरपदयोरणि ये च प्रत्यये हृत् स्यात् । हृल्लासः । हृल्लेखः । हार्दम् । हृद्यः ॥९४॥

हृदयस्य लासः हृल्लासः, लसनं विलसनं लासः भावे घञ् हर्षातिरेकः, हृदयं लिखतीति हृल्लेखः, हृदये कमपि भावमाविष्करोतीति । भावः 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। इत्यण् । अण्सन्निधानाल्लेखशब्दोऽप्यणन्तो गृह्यते तेन घञन्ते न भवति हृदयस्य लेखः हृल्लेखः । न च लासशब्दस्य सान्निध्यात् लेखशब्दस्य घञन्तस्य ग्रहणं कुतो नेति वाच्यं पूर्वात् परबलीयस्त्वमिति परस्याणः सान्निध्यात् लेखशब्दस्याण एव ग्रहणमुचितमिति भावः । हृदयस्येदं–हार्दम् 'तस्येदम्' ।६।३।१४२। इत्यण् । हृदयस्य प्रियः हृद्यः, हृदयस्य बन्धनो मन्त्रः हृद्यः वशीकरणमन्त्रः । अत्र प्रियार्थे बन्धनार्थे च 'हृद्यपद्य०' ।७।१।११। इति यप्रत्ययो निपात्यते । 'अण्' इत्येव सिद्धे लेखग्रहणम् 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' इति

न्यायात्किञ्चित् ज्ञापयति 'संज्ञोत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययमात्रस्य ग्रहणं न तदन्तस्य इति, ज्ञापयति तेनालाण्ग्रहणे लेखग्रहणं न स्यादिति तस्येह सूत्रे ग्रहणं सार्थकम् फलं चान्येषामणन्तानां ग्रहणं न भवतीति। 'खित्यनव्यया०' ।३।२।११। इत्यादौ त्वसंभवात्तदन्तग्रहणम्। हृदयशब्द-समानार्थेन हृच्छब्देनैव सिद्धे हृदादेशविधानं लासादिषु हृदयशब्दप्रयोग-निवृत्त्यर्थम् ॥६४॥

पदः पादस्याज्यातिगोपहते ।३।२।६५।

पादस्याज्यादावुत्तरपदे पदः स्यात्। पदाजिः। पदातिः। पदगः। पदोपहतः ॥६५॥

पादाभ्यामजति अतति चेति 'पादाच्चात्यजिभ्याम्' ।६।२०। इति औणादिके इणि पदाजिः पदातिः, अजिरतिश्च गमनार्थौ धातू। अत एव ...त् 'अघञ्०' ।४।४।३। इति सूत्रेण अजेर्वीः आदेशो न भवति। अयं भावः-कानिचित्कार्याणि आचार्याः स्पष्टं कानिचिच्च स्वाचारेण शिक्षयन्ति तथा चाचार्येण आजिशब्दव्यव-हारादत्र तदभावोऽनुमीयत इति। पादाभ्यां गच्छति-पदगः 'नाम्नो गमः खड्डौ०' ।५।१।१३१। इति डप्रत्ययः, पादाभ्यामुपहतः–पदोपहतः 'कारकं कृता' ।३।१।६८। इति समासः। पादशब्दोऽत्र शरीरावयवविशेषपरो न तु श्लोकादिचतुर्थांशपरः यद्यपि शरीरावयवविशेषे पदशब्दोऽप्यस्ति तथापि आज्यादिषु पादशब्दप्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् ॥६५॥

हिमहतिकाषिये पद् ।३।२।६६।

हिमादावुत्तरपदे ये च प्रत्यये पादस्य पद् स्यात्। पद्धिमम्। पद्धतिः। पत्काषी। पद्याः शर्कराः ॥६६॥

'पादयोर्हिमम्—पद्धिमम्, पादाभ्यां हतिराघातः पद्धतिः, पादौ कषतीत्येवं-शीलः, पादाभ्यां साधु कषतीति, पुनः पुनः पादौ कषतीति वा-पत्काषी।

'अजातेः शीले' ।५।१।१५४। इति 'साधौ' ।५।१।१५५। इति 'व्रताभीक्ष्ण्ये' ।५।१।१५७। इति वा णिन्। पादौ विध्यन्ति पद्याः–शर्कराः, मार्गकङ्कणानि अत्र 'विध्यत्यनन्येन' ।७।१।८। इत्यनेन यः स्त्रीत्वादाप् ॥९६॥

ऋचः शशसि ।३।२।९७।

ऋचां पादस्य शादौ शस्प्रत्यये पद् स्यात् । पच्छो गायत्रीं शंसति, ऋचइति किम् ? पादशः श्लोकं वक्ति । द्विःशपाठात् स्यादिशसि न स्यात् ? ऋचः पादान् पश्य ॥९७॥

अर्थवान् नियताक्षरपादो वेदभागः ऋक् । पादं पादं गायत्र्याः शंसति— पच्छो गायत्रीं शंसति 'संख्यैकार्थाद्०' ।७।२।१५१। इति शस्, पूर्वसूत्र-गृहीत-पादशब्दाभिन्नस्य पादशब्दस्य ग्रहणार्थमेव पृथक्सूत्रमारब्धम । वाक्यगम्यस्य गायत्र्याः पादसंबन्धस्य वृत्तौ निवृत्तत्वात् स्वाभाविकं शंसनक्रियापेक्षं कर्मत्वं भवति। अयं भावः–वाक्ये गायत्र्याः पादेन सह सम्बन्धो गम्यते स च वृत्तौ सत्यां वृत्तावन्तर्भूतः पादस्य पृथगनुपस्थितेः अन्वयितावच्छेदकरूपं हि पृथगुपस्थितिमत्वम्, तच्च निवृत्तमिति सम्बन्धार्थो निवृत्तः, सम्प्रति च शंसतीति क्रियायाः किमपि कर्मापेक्ष्यते, तच्चोपस्थितत्वाद् गायत्र्येव तस्या एवावयवरूपेण शंसनादिति तस्यामेव कर्मत्वं प्रयुज्यत इति शेषत्वाभावान्न तस्याः षष्ठ्यन्तत्वम् । पादशः श्लोकं वक्तीति-पादं पादं श्लोकस्य व्याचष्ट इत्यर्थः । शसो द्विशकार-पाठाद् विभक्तिशसि द्वितीयाबहुवचने न भवति-ऋचः पादान् पश्य द्विशकारपाठेन हि विद्यमानशकारवत्त्वं प्रतीयते, शसः शकारश्चन विद्य-मानोऽपितु अप्रयोगितयेत्संज्ञक इति नात्र पदादेशः । पदादेशे तु 'पद' इति रूपं स्यान्न तु पादानिति ॥९७॥

शब्दनिष्कघोषमिश्रे वा ।३।२।९८।

शब्दादावुत्तरपदे पादस्य पद् वा स्यात् । पच्छब्दः । पादशब्दः ।

पन्निष्कः । पादनिष्कः । पद्घोषः पादघोषः। । पन्मिश्रः । पादमिश्रः । ॥६८॥

पादयोः शब्दः—पच्छब्दः, पादशब्दः, पादयोः सञ्चलनपतनादिकृतः शब्दः इत्यर्थः । पादयोर्निष्कः—पन्निष्क इत्यादि—निष्कशब्दार्थोऽत्र भूषणविशेषः निष्कशब्दस्य बहवोऽर्थाः—दीनारम्, मानविशेषः भूषणविशेषश्च । स च यद्यपि वक्षो-भूषणे प्रयुक्तः तथापीह पन्निष्क इत्यादि प्रयोगश्रवणात्पाद-भूषणेऽपि प्रयुज्यते इति प्रतीयते, पादयोर्घोष-पद्घोष इत्यादि। शब्दःस्पष्टं परिचीयमानः घोषश्चास्पष्टः इति शब्द-घोषयोर्भेदः । पादाभ्यां मिश्रः-पन्मिश्र इत्यादि । मिश्र-शब्दः संयुक्तार्थः, पादाभ्यां संयुक्त इत्यर्थः, सहार्थे तृतीया, यदि च मिश्रशब्दस्य मिश्रीकृतार्थपरत्वमाश्रीयते तदा करणे तृतीया ॥६८॥

नस् नासिकायास्तः-क्षुद्रे ।३।२।९९।

नासिकायास्तस्प्रत्यये क्षुद्रे चोत्तरपदे नस् स्यात् । नस्तः । नः-क्षुद्र ॥९९॥

नासिकायाः नासिकायां वा नस्तः, आद्यादीनामाकृतिगणत्वात् 'आद्या-दिभ्यः' ।७।२।८४। इति सूत्रेण सार्वविभक्तिकस्तसुः । तत्र नासिकाया इति पञ्चम्यन्तत्वम्, नासिकायामिति सप्तम्यन्तम् । नासिकायां नासिकाया वा क्षुद्रः—न क्षुद्रः । अत्र यदा सप्तम्यन्तेन विग्रहस्तदा नासिकाविषयक्षुद्रत्व-विशिष्टः, पञ्चम्यन्तेन विग्रहे च नासिकाहेतुकक्षुद्रत्वविशिष्ट इत्यर्थः ॥९९॥

येऽवर्णे ।३।२।१००।

नासिकाया ये प्रत्यये वर्णादन्यनार्थे नस् स्यात् । नस्यम् । यइति

किम् ? नासिक्यंपुरम् । अवर्णइति किम् ? नासिक्यो वर्णः । ॥१००॥

नासिकायै हितं तत्र भवं वा नस्यम् 'प्राण्यङ्गरथ०' ।७।१।३७। इति यः, भवार्थे च 'दिगादि०' ।६।३।१२४। इनि यः । नासिकाया अदूरभवं-नासिक्यं पुरम् । 'सुपन्थ्यादेर्ञ्यः' ।६।२।८४। इति ञ्यः । 'निरनुबन्ध-ग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इति न्यायादत्र भवति । नासिकायां भवः, नासिकामभिहत्य वायुनाभिव्यञ्जितो वर्णः—नासिक्यो वर्णः । अत्रापि भवार्थे देहांशत्वाद्यः ॥१००॥

शिरसः शीर्षन् ।३।२।१०१।

शिरसो ये प्रत्यये शीर्षन् स्यात् । शीर्षण्यः स्वरः । शीर्षण्यं तैलम्। यइत्येव ? शिरस्तः । शिरस्यति ॥१०१॥

शिरसि भवःशीर्षण्यःस्वरः,शिरसे हितं-शीर्षण्यं तैलम् देहांशत्वाद्,यः शीर्षन्नादेशे सति, नोऽपदस्य तद्धिते'।७।४।६१।इत्यन्त्यस्वरादिलुकि प्राप्ते'अनोऽट्ये ये' ।७।४।५१। इति निषेधः । शिरस्तः इति-पञ्चम्यन्तात् 'अहीयरुहोऽपादाने' ।७।२।८८। इति तस् । 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इति न्यायात् शिर इच्छति-शिरस्यति,अत्रापि न भवति । अत्र शिरस इत्यस्यादेशेन सम्बन्धः न तु प्रत्ययेन, तेन हास्तिशीर्षिरित्यादौ समाससंबन्धिन्यपि तद्धिते 'शीर्षः स्वरे'० ।३।२।१०३। इति शीर्षादेशो भवति ॥१०१॥

केशे वा ।३।२।१०२।

शिरसः केशविषये ये प्रत्यये शीर्षन् वा स्यात् । शीर्षण्याः, शिरस्याः केशाः ॥१०२॥

शिरसि भवाः, शीर्षण्याः केशाः देहांशत्वाद्यः ॥१०२॥

शीर्षः स्वरे तद्धिते ।३।२।१०३।

शिरसः स्वरादौ तद्धिते शिर्षः स्यात् । हास्तिशीर्षिः। शीर्षिकः । ॥१०३॥

हस्तिनः शिर इव शिरो यस्य स हस्तिशिराः तस्यापत्यं—हास्तिशीर्षिः 'बाह्वादिभ्यो गोत्रे' ।६।१।३२। इतीञ् । 'अवर्णेवर्णस्य' ।७।४।६८। इत्यकारस्य लोपः । शिरसा तरति-शीर्षिकः । 'नौ-द्विस्वरादिकः' ।६।४।१०। इति इकः । शीर्ष शब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति शीर्षच्छेयं परिच्छिद्येति, अनेनैव च सिद्धे उक्तविषये शिरसः प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् । शीर्षच्छेदमर्हतीति 'शीर्षच्छेदाद् यो वा' ।६।४।१८४। इति यः तादृशं जनं परिच्छिद्य-निश्चित्येति क्वाचित्कः प्रयोगः ॥१०३॥

उदकस्योदः पेषंधिवासवाहने ।३।२।१०४।

उदकस्य पेषमावावुत्तरपदे उदः स्यात् । उदपेषं पिनष्टि । उदधिर्घटः । उदवासः । उदवाहनः ॥१०४॥

उदकेन पिनष्टि-उदपेषं-पिनष्टि 'स्वस्मेहनार्थात् पुष-पिषः' ।५।४।६५। इति णम्, उदकेन पिनष्टीत्यर्थः । उदकं धीयतेऽस्मिन्निति उदधिर्घटः, वसनं वासः, भावे घञ् । उदकस्य वासः-उदवासः। उदकं वाहनमस्य-उदवाहनः । अनामार्थं वचनम्, नाम्नि 'नाम्न्युत्तरपदस्य च' ।३।२।१०७। इत्युत्तरसूत्रेणैव सिद्धम् ॥१०४॥

वैकव्यञ्जने पूर्ये ।३।२।१०५।

उदकस्यासंयुक्तव्यञ्जनादौ पूर्यमाणार्थे उत्तरपदे उदो वा स्यात् । उदकुम्भः । उदककुम्भः । व्यञ्जनइति किम् ? उदकामत्रम् । एकेति किम् ? उदकस्थालम् । पूर्यइति किम् ? उदकदेशः ॥१०५॥

उदकुम्भ इति-उदकस्य कुम्भ इति सम्बन्धषष्ठ्या, उदकेन पूरणीयः कुम्भ इति पूरणार्थं वृत्तावन्तर्भाव्य करणतृतीयान्तेन वा समासः । अमत्रं पात्रम् विशालपात्रं स्थालशब्देनोच्यते । स्थालशब्दः स्त्रीलिङ्गः नपुंसकलिङ्गश्च स्थाली, स्थालम् । लोके अन्नपात्रे नपुंसकं प्रयुज्यते, पाकपात्रे च स्त्रीलिङ्गम् तथोदकपात्रेऽपि क्वचिन्नपुंसकत्वं प्रयुज्यत इत्य-स्मात्प्रयोगादवगम्यते । उदकदेश इति-उदकबहुलो देशः इत्यर्थः नात्र देशशब्दः पूरयितव्यवाचीत्यत्र न भवत्यु-दादेशः ॥१०५॥

मन्थौदनसक्तु-बिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहे वा ।३।२।१०६।

एषूत्तरपदेषु उदकस्योदो वा स्यात् । उदमन्थः । उदकमन्थः । उदौदनः । उदकौदनः । उदसक्तुः । उदकसक्तुः । उदबिन्दुः उदकबिन्दुः । उदवज्रः । उदकवज्रः । उदभारः । उदकभारः । उदहारः । उदकहारः । उदवीवधः । उदकवीवधः । उदगाहः । उदकगाहः ॥१०६॥

उदमन्थ इति-द्रवद्रव्यसंस्कृताः सक्तवो मन्थ इत्युच्यते । उदकेन मन्थ इति तृतीयासमासः यद्वा उदकेन मथ्यते इति कर्मणि घञि 'कारकं कृता' ।३।१।६८। इति समासः । उदौदन इति-उदकेनोपसिक्त ओदनः इति विग्रहः, उपसेक-क्रियायाश्च वृत्तावन्तर्भावात् तद्द्वारा उदकेन सहौदनस्य सामर्थ्यम् । मयूरव्यंसकादेराकृतिगणत्वात् समासः । उदसक्तुरिति-उदकेनोपसिक्तः सक्तुरिति विग्रहे उपसेकक्रियाद्वारोदकेन सह सामर्थ्यम् । उदबिन्दुरिति-षष्ठीसमासः । उदवज्रः इति-उदकस्य वज्रः इति विग्रहः । उदकसंभूतो मण्यादिजातीयः पदार्थः, वज्रत्वेन प्रसिद्धो वा मेघसम्भूतोऽशनिः । उदकस्य भारः-उदभारः । उदकं हरति स उदहारः 'कर्मणोऽण्' ।५।३।१४। इत्यण् । विवध्यते-वीवधः 'न जनवधः' ।४।३।५४। इति घञि वृद्धेरभावः । घञि उपसर्ग-दीर्घत्वे वीवधः । वीवधशब्दः पथिभारे वर्तते । उदकाहरणार्थः पथिभार इति तदर्थः । गाहो गाहनम्-उदकस्य गाहः-

उदकगाहः । पूर्वसूत्रं पूर्यं उत्तरपदे प्रवर्तते, मन्थादीनां च पूरयितव्यवाचित्वाभावः स्पष्ट एवेति पूर्वसूत्रेण न प्राप्तिरिति तदर्थमयं सूत्रारम्भकृतो यत्नः कृतः ॥१०६॥

नाम्न्युत्तरपदस्य च ।३।२।१०७।

उदकस्य पूर्वपदस्योत्तरपदस्य च संज्ञायामुदः स्यात् । उदमेघः । उदवाहः । उदपानम् । उदधिः । लवणोदः । कालोदः ॥१०७॥

उदकपूर्णो मेघः उदमेघः । तत्सादृश्यात् तादृशस्य कस्यचन पुरुषस्य संज्ञेयम् । उदकं वहतीत्युदवाहः, 'कर्मणोऽ ण्' ।५।३।१४। इत्यण् । अयमपि पुरुषविशेषस्य संज्ञा । पीयतेऽस्मिन्निति पानं जलपानस्थानम्-उदकस्य पानं उदपानम् कूपादिसमीपे पश्वादिजलपानार्थं स्थलविशेषो निर्मीयते तदेव उदपानं-निपानं वो-च्यते । उदकं धीयतेऽस्मिन्निति उदधिः समुद्रनामसु प्रसिद्धोऽयं शब्दः, लवणं क्षारमुदकं यस्य स लवणोदः, कालं कृष्णवर्णमुदकं यस्य स कालोदः । एवं-नामानौ समुद्रौ ॥१०७॥

ते लुग्वा ।३।२।१०८।

संज्ञाविषये पूर्वोत्तरपदे लुग्वा स्यात् । देवदत्तः । देवः । दत्तः ॥१०८॥

शब्दसाम्येऽपि प्रकरणादेरर्थविशेषनिर्णयः । अयं भावः—उत्तरपदस्य लोपे 'देवः' इत्युच्यमानोऽयं त्रिदशवाचकः अथवा देवदत्तवाचक इति सन्देहे

प्रकरणादेरर्थ-विशेषनिर्णयो भवति ।

संयोगो विप्रयोगश्च, साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं, शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥१॥

सामर्थ्यमौचिती देशः, कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति-हेतवः ॥२॥ इति प्रकरणादेरर्थविशेष-निर्णायकत्वम् ॥१०८॥

द्वयन्तरनवर्णोपसर्गादप ईप् ।३।२।१०९।

द्वयन्तर्भ्यामवर्णान्तवर्जोपसर्गेभ्यश्च परस्यापउत्तरपदस्य ईप् स्यात् । द्वीपम् । अन्तरीपम् । नीपम् । समीपम् । उपसर्गादिति किम् ? स्वापः । अनवर्णेति किम् ? प्रापम् । परापम् ॥१०९॥

द्विधा गता आपोऽस्मिन्निति तत् द्वीपम् । यस्य भूभागस्य द्वयोः पार्श्वयोः समुद्रादिसम्बन्धिन्यः आपः सन्ति स 'द्वीपम्' इति कथ्यते, नामत्वेन नित्य-समासत्वादस्वपदविग्रहः, यद्यपि (द्वि अप्) इति स्वपदे विग्रहवाक्ये प्रयुक्ते एव तथापि पदान्तरस्यापि मध्ये प्रवेशादस्वपदविग्रहत्वं व्यव-ह्रियते । अन्तर्गता आपो यस्मिन् तद् अन्तरीपम्, निवृत्ता आपो यस्मिन् तत् नीपम्, संगता आपो यस्मिन् तत् समीपम् । सर्वत्र 'ऋक्पूःपथ्यपोत्' ।७।३।७६। इत्यत्समासान्तः ।.शोभना आपः–स्वापः, 'धातोः पूजार्थस्वति०' ।३।१।१। इति सूत्रेण पूजार्थकस्य स्वतेर्नोपसर्गत्वम्, पूजार्थकत्वात् 'पूजास्वतेः०' ।७।३।७२। इति न समासान्तः । प्रगता आपो यस्मिंस्तत् प्रापम्, परागता आपो यस्मिंस्तत्–परापम् ॥१०९॥

अनोर्देशे उप् ।३।२।११०।

अनोः परस्यापोदेशेऽर्थे उप् स्यात् । अनूपोदेशः । देशइति किम् । अन्वीपं वनम् ॥११०॥

अनुगता आपो यस्मिन्–अनूपो देशः । यत्र देशे सर्वत्रापः सुलभाः स देशः, तत्र वा देशे जलपूर्णदेश एवाधिकः शुष्कं स्थलमल्पं स देशः इत्यर्थः । अनुगता आपो यस्मिन् तत् अन्वीपं वनम् ॥११०॥

खित्यनव्ययाऽरुषो मोऽन्तो ह्रस्वश्च ।३।२।१११।

स्वरान्तस्यानव्ययस्यारुषश्च खित्प्रत्ययान्ते उत्तरपदे मोऽन्तो यथासम्भवं ह्रस्वादेशश्च स्यात् । ज्ञंमन्यः । कालिमन्या । अरुन्तुदः । खितीति किम् ? ज्ञमानी । अनव्ययस्येति किम् ? दोषामन्यमहः ॥१११॥

स्वरान्तस्येति–अरुः–शब्दस्य पृथक्कथनबलात् स्वरान्तस्येति लाभः जानातीतिज्ञः 'नाम्युपान्त्य०' ।५।१।५४। इति कः, आलोपः । ज्ञमात्मानं मन्यते–ज्ञंमन्यः 'कर्तुः खश्' ।५।१।११७। इति खश्, दिवादित्वात् श्यः ह्रस्वस्य स्वत एव विद्यमानत्वान्न ह्रस्वः । कालीमात्मानं मन्यते कालिमन्या, अरुर्मर्मस्थानं तुदतीति 'बहुविध्वरुस्तिलात् तुदः' ।५।१।१२४। इति खश्, तुदादित्वात् शः, अनेन मोऽन्ते सति 'संयोगस्यादौ स्कोर्लुक्' ।२।१।८८। इति सूत्रेण सलोपः । ज्ञं परं मन्यत इति 'मन्याणिन्' ।५।१।११६। इति णिन् । दोषा आत्मानं मन्यत इति दोषामन्यमहः ॥१११॥

सत्यागदास्तोः कारे ।३।२।११२।

एभ्यः कारे उत्तरपदे मोऽन्तः स्यात् । सत्यङ्कारः । अगदङ्कारः । अस्तुङ्कारः ॥११२॥

'सत्य–अगद–अस्तु' शब्दानां समाहारः, सौत्रत्वात्पुंस्त्वम् । एभ्य इति पूर्वसूत्रे षष्ठ्यन्ततया व्याख्यानम् अत्र तु पञ्चम्यन्ततया व्याख्यानं वैचित्र्यार्थम् । सत्यं करोति इति 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। इत्यण् । कृद्योगे कर्मणि षष्ठी, तदन्तस्य कारेति कृदन्तेन सह 'गतिकारक०' इति न्यायाद्विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समासः । अगदं नीरोगं करोतीति–अगदंकारो वैद्यः । अस्तु करोतीति–अस्तुंकारः स्वीकार इत्यर्थः । अस्त्विति 'विभक्तिथमन्त०' ।१।१।३३। इति विभक्त्यन्ताभानामव्ययसंज्ञाविधानात्स्यादिविभक्त्यन्ताभमव्ययमभ्युपगमे वर्तते ॥११२॥

लोकम्पृणमध्यन्दिनाऽनभ्यासमित्यम् ।३।२।११३।

एते कृतपूर्वपदमोऽन्ता निपात्यन्ते । लोकम्पृणः । मध्यन्दिनम् । अनभ्यासमित्यः ॥११३॥

लोकम्पृण इति-लोकस्य पृणतीति 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। इत्यणोऽभावोऽपि निपातनाद् 'मूलविभुजादयः' ।५।१।१४४। इति पाठकल्पनाद्वा । अथवा लोकस्य पृणः इति विग्रहे-'नाम्युपान्त्य०' ।५।१।५४। इति कः । निपातनादेव समासः मान्तत्वं च पूर्वपदस्य । मध्यं दिनस्य-मध्यं च तत् दिनं चेति-मध्यं-दिनम् । अश्नोतेर्घञि अभ्याश इति रूपम्, न अभ्याशः अनभ्याशः दूरमित्यर्थः इत्यं गन्तव्यमित्यर्थः,अनभ्याशं दूरमित्यंगन्तव्यंयस्य सोऽनभ्याश-मित्यः,दूरतःपरिहर्तव्य इत्यर्थः।अत्रानभ्याशमिति क्रियाविशेषणत्वेन द्वितीयैकवचनान्तं क्लीबम् अन्यथा थमैकवचनान्तस्य घञन्तत्वेन पुंस्त्वं स्यात् 'अनभ्याशेनेत्यः अनभ्याशमित्यः इति वा हेतुतृतीया । दूरेण प्राप्यो न त्वन्तिकेनेत्यर्थः ॥११३॥

भ्राष्ट्राग्नेरिन्धे ।३।२।११४।

आभ्यामिन्धे उत्तरपदे मोऽन्तः स्यात् । भ्राष्ट्रमिन्धः । अग्निमिन्धः ॥११४॥

भ्राष्ट्रमिन्धे दीपयतीति 'कर्मणोऽण्' ।५।१।७२। इत्यण् । अग्निमिन्धे-इति अग्निमिन्धः ॥११४॥

अगिलाद्गिलगिलगिलयोः ।३।२।११५।

गिलान्तवर्जात् पूर्वपदात्परे गिले गिलगिले चोत्तरपदे मोऽन्तः स्यात् । तिमिङ्गिलः । तिमिङ्गिलगिलः । अगिलादिति किम् । तिमिङ्गिलगिलः ॥११५॥

तिमिं गिलतीति-तिमिङ्गिलः। तिमिशब्दो मत्स्यपर्यायः,तं गिलतीति मूलविभूजादि-पाठकल्पनात्कः 'नाम्युपान्त्य०' ।५।१।५४। इति कस्तु 'कर्मणो-

ऽण्' ।५।१।७२।इत्यनेन बाध्यते बाहुलकाद्वा तद्बाधाभावः कल्पनीयः । गिलं गिलतीति गिलगिलः तिमीनां गिलगिलः। गिलगिलशब्दे गिलशब्दो नोत्तर-पदमिति गिलगिलोपादानम् । गिलशब्दस्य स्वरान्तस्य पर्युदासेन स्वरा-न्ताद्विधिस्तेन व्यञ्जनान्तान्न भवति-घृरं गिलतीति-घृगिलः । न च मागमे सति मकारस्य लोपेन रूपसिद्धिस्तु भविष्यतीति वाच्यं 'रात्सः' ।२।१।९०। इति नियमात् । अगिलादिति किमिति-तिमिंगिलं गिलतीति-तिमिंगिल-गिलः। अगिलादिति वचनेन गिलान्तात् मान्तनिषेधः, गिलगिल इत्यत्र केवलात् च गिलशब्दात् व्यपदेशिवद्भावेन मान्तनिषेधः। न चात्र तु गिल-गिलेति निर्देशादेव मोऽन्तो न संभवतीति अगिलादित्यस्य गिलस्यापि निषेधार्थत्वपर्यवसानं न युक्तमिति वाच्यं साक्षाद्वचनेन प्रयोगसाधुत्वे सिद्धे निर्देशसामर्थ्यकल्पनस्यानौचित्यात्, यत्र हि नास्ति किमपि स्पष्टं गमकं तत्रैव निर्देशसामर्थ्याद्याश्रयणस्य दर्शनात् ॥११५॥

भद्रोष्णात्करणे ।३।२।११६।

आभ्यां परः करणे उत्तरपदे मोऽन्तः स्यात् । भद्रंकरणम् । उष्णंकरणम् ।.११६॥

भद्रस्य करणम्,उष्णस्य करणम्--'कृति' ।३।१।७७। इति समासः। अत्र पञ्च-मीनिर्देशेन कस्य मागमोद्देश्यत्वमिति यद्यपि स्पष्टं न ज्ञायते तथापि 'करणे' इति सप्तम्यन्तपदोपादानात्'सप्तम्याः पूर्वस्य'।७।४।१०५।इति परि-भाषाबलादुत्तरपदात्पूर्वस्य भद्रशब्दस्योष्णपदस्य च तदुद्देश्यत्वं बोध्यम् । एवं पूर्वसूत्रेऽपि विज्ञेयम् तत्रापि पञ्चमीनिर्देशस्य सत्त्वात्, 'सत्यागदा-स्तोः कारे' ।३।२।११२। 'भ्राष्टाग्नेरिन्धे' ।३।२।११४। इत्यादौ च षष्ठ्यन्त-त्वेन व्याख्यानसंभवेऽपि पञ्चम्यन्ततया व्याख्यानं तत्राप्येषा रीतिर्ज्ञेया । ॥११६॥

न वाखित्कृदन्ते रात्रेः ।३।१।११७।

खिद्वर्जे कृदन्ते उत्तरपदे परे रात्रेर्मोऽन्तो वा स्यात् । रात्रिञ्चरः।

रात्रिचरः । खिद्वर्जनमिति किम् ? रात्रिमन्यमहः । कृदन्तइति किम् ? रात्रिसुखम् । अन्तग्रहणं किम् ? रात्रयिता ॥११७॥

रात्रौ चरतीति 'चरेष्टः' ।५।१।१३८। इति टोऽनेन मागमः । रात्रिमात्मानं मन्यते इति-रात्रिमन्यमहः 'खित्यनव्य०'।३।२।१११।इति नित्यमेवरात्रेः सुखम्रात्रिसुखम्। सुखशब्दोऽत्राव्युत्पन्नः। रात्रिरिवाचरति क्विप्,लुक्,तृच्-रात्रयिता। इदमेवान्तग्रहण ज्ञापकम्-'इहोत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययस्यैवग्रहणं न तदन्तस्येति, तेन 'कालात्तनतरतम०'।३।२।२४।इत्यादौ प्रत्ययमात्रस्यैव ग्रहणं सिद्धम्, 'न नाम्येकस्वरात्०' ।३।२।९। इत्यादौ त्वसंभवात्तदन्तग्रहणम् । केचित् 'तीर्थंकर, तीर्थंकर इत्यत्रापि विकल्पमिच्छन्ति, तदर्थं प्रकृतसूत्रस्य द्विधा विभागः कार्यः 'नवाऽखित्कृदन्ते' इत्येको योगः, 'रात्रेः' इति च परः । तथा च पूर्वयोगेन सामान्यत एव खिद्भिन्ने कृदन्ते मागमविधानेन तीर्थंकरादावपि प्रवृत्तिः 'रात्रेः' इत्यनेन च विशिष्य रात्रिशब्दस्यैव मान्तागमविधानम् । न चैवं कुम्भकार इत्यादावपि मागमः स्यान्निवारकाभावादिति वाच्यं योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वात् अन्यथा रात्रिञ्चर इत्यादावपि पूर्वयोगेनैव सिद्धेरुत्तरयोगस्य वैयर्थ्यापातात् । उत्तरयोगारम्भसामर्थ्यादेव पूर्वयोगस्य क्वाचित्कत्वज्ञापनाद् वा, किञ्च परमतसंग्रहोपायत्वेनास्य योगविभागस्य स्वीकारान्नैतदाश्रयणे-न दोषापादनमुचितमिति ॥११७॥

धेनोर्भव्यायाम् ।३।२।११८।

धेनोर्भव्यायामुत्तरपदे मोऽन्तोवा स्यात् । धेनुम्भव्या । धेनुभव्या ॥११८॥

धेनुश्चासौ भव्या च धेनुंभव्या धेनुभव्या । नव-प्रसूतिका गौर्धेनुः,भव्याशब्दः 'भव्यगेय-जन्य०' ।५।१।७। इति सूत्रेण निपातितः । धेनु-शब्देन मयूरव्यंसकादित्वात्समासे विशेषणस्य भव्याशब्दस्य परप्रयोगः, विशेषणसमासे तु भव्याशब्दस्यैव पूर्वप्रयोगः स्यात् ॥११८॥

अषष्ठीतृतीयादन्याद्दोर्थे ।३।२।११९।

अषष्ठ्यन्तादतृतीयान्ताच्चान्यादर्थे उत्तरपदे द् अन्तो वा स्यात् । अन्यदर्थः । अन्यार्थः । षष्ठ्यादिवर्जनं किम् ? अन्यस्यान्येन वाऽर्थोऽन्यार्थः ॥११९॥

'अषष्ठीतृतीयात्' इति 'अन्यात्' इत्यस्य विशेषणम्, विशेषणेन च तदन्तविधिरिति अषष्ठ्यन्तादतृतीयान्ताच्चेत्यर्थलाभः।संज्ञोत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययमात्रस्यैव ग्रहणं न तदन्तस्येतिनिषेधस्तु 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' इति न्यायप्राप्तस्यैव तदन्तग्रहणस्य साजात्यात् न तु विशेषणत्व-प्रयुक्ततदन्तग्रहणस्येति विज्ञेयम्।दोऽन्तो वा स्यादिति-अर्थादन्यशब्दस्यैवान्तः सप्तमीश्रुत्या 'सप्तम्याः पूर्वस्य'।७।४।१०५। इति परिभाषाबलात् । अन्यश्चासौ अर्थश्च, अन्योऽर्थो यस्येत्यादिविग्रहे अन्यदर्थः,अन्यार्थ इति ॥११९॥

आशीराशास्थितास्थोत्सुकोतिरागे ।३।२।१२०।

एषूत्तरपदे अषष्ठीतृतीयादन्याद् अन्तः स्यात् । अन्यदाशीः । अन्यदाशा । अन्यदास्थितः । अन्यदास्था । अन्यदुत्सुकः । अन्यदूतिः । अन्यद्रागः । अषष्ठीतृतीयादित्येव ? अन्यस्य अन्येन वा आशीः अन्याशीः ॥१२०॥

पृथग्योगाद् वेति निवृत्तम्। अन्या आशीःअन्यदाशीः।अन्या आशा अन्यदाशा । अन्यमास्थितः अन्यदास्थितः,अन्या आस्था अन्यदास्था। अन्यस्मिन् उत्सुकः-अन्यदुत्सुकः, अन्या ऊतिः-अन्यदूतिः, अन्यत्र रागः अन्यद्रागः ॥१२०॥

ईयकारके ।३।२।१२१।

अन्यादीये प्रत्यये कारके चोत्तरपदे दोऽन्तः स्यात् । अन्यदीयः । अन्यत्कारकः ॥१२१॥

पृथग्योगादषष्ठीतृतीयादिति निवृतम् । अन्यस्यायमन्यदीयः । 'गहादिभ्यः' ।१।३।६३। इत्यत्रगहादेराकृतिगणत्वादीयः । अन्यस्यान्येन वा कारकः अन्यत्कारकः अन्यः कारक इति वा अन्यत्कारकः । अन्यस्य कारक इत्यर्थे 'कृति' ।३।१।७७। इति समासः। अन्येन कारकः इत्यर्थे 'कारकं कृता' ।३।१।६८। इति समासः । अन्यः कारकः इत्यर्थे विशेषणसमासः ॥१२१॥

सर्वादिविष्वग्देवाड्डद्रिः क्वचञ्चौ ।३।२।१२२।

सर्वादेर्विष्वग्देवाभ्यां च परतःक्विबन्ते अञ्चावुत्तरपदे डद्रिरन्तः स्यात् । सर्वद्रीचः । द्व्यद्र्यङ् । कद्र्यङ् । विष्वद्र्यङ् । देवद्र्यङ् । क्वीति किम् । विष्वगञ्चनम् ॥१२२॥

सर्वमञ्चति तस्य 'सर्वद्रि+अञ्च्+अस् इति, स्थितौ न-लोपे 'अच्च् प्राग्दीर्घश्च' ।२।१।१०४। इति चादेशो दीर्घश्च । द्वौ अञ्चतीति द्व्यद्र्यङ्, किमञ्चतीतिकद्र्यङ्। विष्वगित्यव्ययं विश्वगञ्चतीति विष्वद्र्यङ्। देवानञ्चतीति देवद्र्यङ् ॥१२२॥

सहसमः सध्रिसमि ।३।२।१२३।

अनयोः स्थाने क्विबन्ते अञ्चावुत्तरपदे यथासंख्यं सध्रिसमी स्याताम् । सध्र्यङ् । सम्यङ् । क्वयञ्चावित्येव ? सहाञ्चनम् ॥१२३॥

सहाञ्चतीति–सध्र्यङ्, समञ्चतीति सम्यङ् । सहाञ्चनमिति–क्विबन्ताञ्चिचुत्तरपदत्वाभावादत्र न भवति ॥१२३॥

तिरसस्तिर्यति ।३।२।१२४।

अकारादौ क्विबन्तेऽञ्चावुत्तरपदे तिरसस्तिरिः स्यात् । तिर्यङ् । अतीति किम् ? तिरश्चः ॥१२४॥

तिरोऽञ्चति-तिर्यङ् । तिरश्च इति—'अच्च् प्रा दीर्घश्च' ।२।१।१०४। इति 'अच्' इत्यस्य स्थाने चादेशादकाराद्रित्वाभावः । दीर्घस्तु स्वराभावान्न भवति । ।१३४॥

नञत् ।३।१।१२५।

उत्तरपदे परे नञ् अः स्यात् । अचौरः पन्थाः । उत्तरपद इत्येव ? न भुङ्क्ते ॥१२५॥

न विद्यते चौरो यत्र स अचौरः पन्थाः । न भुङ्क्ते इति—नाम नाम्नेत्युक्ते-स्त्याद्यन्तेन सह समासा-भावान्नास्तीह भुङ्क्ते' इत्यस्योत्तरपदत्वमिति न भवत्यकारः ॥१२५॥

त्यादौ क्षेपे ।३।२।१२६।

त्याद्यन्ते पदे परे निन्दायां गम्यमानायां नञ् अः स्यात् । अपचसि त्वं जाल्म । क्षेपइति किम् ? न पचति चैत्रः ॥१२६॥

क्वचिदनुत्तरपदेऽपि नञोऽकारादेशस्येष्टत्वेन तदनुशासनार्थं सूत्रमिदम् । अपचसि त्वंजाल्मइति—कुत्सितं पचसीत्यर्थः, समासाभावेऽपि प्रयोगस्वाभाव्यादस्याकारस्य क्रियातः पूर्वमेव प्रयोगः । अत एव त्यादिपरत्वं सिध्यति 'अ-मा-नो-नाः प्रतिषेधे, इत्यकारेण प्रतिषेधार्थीयेनैव सिद्धौ क्षेपे नञः श्रवणनिवारणार्थम्, अनुत्तरपदेऽपि क्वचिन्नञः स्थानेऽकारस्य प्रयोगार्थं च वचनम् ॥१२६॥

नगोऽप्राणिनि वा ।३।२।१२७।

अप्राणिन्यर्थे नगो वा निपात्यते । नगः, अगः, गिरिः । अप्राणि-नीति किम् ? अगोऽयं शीतेन ।।१२७।।

न गच्छतीति—नगः गिरिः, अगः-गिरिः । नञ् पूर्वाद् गमेः 'नाम्नो गमः०' ।५।१।१३१। इति डः । अन्त्यस्वरादिलोपे ङस्युक्त-समासे सति 'नञत्' ।३।२।१२५। इति नित्यमादेशे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।।१२७।।

नखादयः ।३।२।१२८।

एते अकृताकाराद्यादेशा निपात्यन्ते । नखः । नासत्यः ।।१२८।।

खन्यते इति खं छिद्रम्, तदस्य नास्ति स नखः, बहुव्रीहिसमासे 'नञत्' ।३।२।१२५। इति प्राप्तोऽकारादेशो निपातनान्निवर्त्तते इति तत्सिद्धिः । सत्सु साधुः सत्यः, न सत्यः असत्यः । न असत्यो विद्यते यत्र स नासत्यः । नासत्यशब्दस्यैव गणे पाठात् असत्य इत्य-त्राकारादेशो भवत्येव । बहु-वचनमाकृतिगणार्थम् ।।१२८।।

अन् स्वरे ।३।२।१२९।

स्वरादावुत्तरपदे नञोऽन् स्यात् । अनन्तो जिनः ।।१२९।।

न विद्यतेऽन्तोऽस्येति—अनन्तो जिनः । ननु नञः स्थानेऽनादेशे सति 'नाम्नो नोऽनह्नः' ।२।१।९१। इति नलोपः नकारस्य ह्रस्वात्परत्वेन स्वरे परे तस्य 'ह्रस्वान्ङणनो द्वे' ।१।३।२७। इति द्वित्वं च प्राप्नोति तत्कथं न भवतीति चेत्सत्यम् अन् इति स्वरूपनिर्देशात् नलोपो द्वित्वं च न भवति । अयं भावः—नलोपे सति अकारस्यैव शिष्टत्वे तद्विधानवैयर्थ्यात्, सर्वत्र स्वरादावुत्तरपद एवानादेश—विधानेन द्वित्वस्य नित्यप्राप्ततया द्विनकार-निर्देशस्यैव प्रक्रियालाघवार्थं विधेयत्वं स्यादित्येकनकारान्तादेशस्वरूप-निर्देशसामर्थ्यादिह नकारस्य लोपो द्वित्वं च न भवतीति ।।१२९।।

कोः कत्तत्पुरुषे ।३।२।१३०।

स्वरादावुत्तरपदे कोस्तत्पुरुषे कद् स्यात् । कदश्वः । तत्पुरुष इति किम् ? कूष्ट्रो देशः स्वरइत्येव ? कुब्राह्मणः ॥१३०॥

कुशब्दोऽव्ययमिह गृह्यते तस्यैव प्रतिपदोक्तत्वेन 'गति-क्वन्यस्तत्पुरुषः' ।३।१।४२। इति समासविधानात् तथा च पृथ्वीवाचककुशब्दस्य नायमादेशः । एवं च कुं पृथ्वीमतीतः क्वतीत इत्यादौ तत्पुरुषे कदादेशो न भवति तत्र हि द्वितीयान्तत्वस्य सामान्यरूपेण लक्षणरूपत्वेन वा तत्समासस्य लाक्षणिकत्वात् । कुत्सितः अश्वः कदश्वः, कुत्सिता उष्ट्रा अस्मिन्-कूष्ट्रो देशः । कुत्सितो ब्राह्मणः-कुब्राह्मणः ॥१३०॥

रथवदे ।३।२।१३१।

रथे वदे चोत्तरपदे कोः कद् स्यात् । कद्रथः । कद्वदः ॥१३१॥

कुत्सितो रथः कद्रथः, कुत्सितो रथोऽस्य कद्रथः । वदनं-वदः, पुंसि नाम्नि घः । कुत्सितो वदः—कद्वदः, कुत्सितो वदोऽस्य कद्वदः ॥१३१॥

तृणे जातौ ।३।२।१३२।

जातावर्थे तृणे उत्तरपदे कोः कद् स्यात् । कत्तृणा रोहिषाख्या तृणजातिः ॥१३२॥

कुत्सितं तृणमस्याः—कत्तृणा रोहिषाख्या तृणजातिः । जातौ रूढत्वेनावयवार्थप्रतीत्यभावेऽपि पूर्वोक्तपदावगतयेविग्रहवाक्यं प्रदर्शितम् ॥१३२॥

कत्त्रिः ।३।२।१३३।

कोः किमो वा त्रावुत्तरपदे कद् स्यात् । कत्त्रयः ॥१३३॥

कुत्सितास्त्रयः, के वा त्रयः, कत्त्रयः, कुत्सितास्त्रय एषां के वा त्रयः एषां कत्त्रयः ॥१३३॥

काऽक्षपथोः ।३।२।१३४।

अनयोरुत्तरपदयोः कोः का स्यात् । काक्षः । कापथम् ॥१३४॥

अयं भावः—उत्तरपदत्वदशायामुभयोर्विशेषस्य कस्यचिदनुपलभ्यमानत्वेन कस्य ग्रहणं कस्य नेति विनिगमकस्यानुपलब्धे अक्षशब्दस्याकारान्तस्य कृतसमासान्तस्य च ग्रहणम् । कुत्सितोऽक्षः—काक्षः—पाशकादि । इन्द्रिये त्वक्षशब्दस्य क्लीबत्वं स्यात्—कुत्सितमक्षमिन्द्रियं काक्षम् । कुत्सितोऽक्षः-धूः-स्थितश्चक्राकर्षकः काष्ठविशेषो यस्य सः—काक्षो रथः, कुत्सितमक्षि अक्षं वाऽस्य काक्षः 'सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे' ।७।३।१२६। इति टः समासान्तः 'अवर्णेवर्णस्य' ।७।४।६८। इतीवर्णस्य लोपेऽक्षशब्दो निष्पद्यते तस्मिन्परे कोः कादेशः । कुत्सितः पन्थाः-कापथम् । अस्य तत्पुरुषसमासत्वेनोत्तरपदलिङ्ग-त्वस्यौचित्येऽपि लिङ्गानुशासने 'पथः संख्याऽव्ययोत्तर०' इति पाठात् कापथमिति क्लीबत्वमुक्तम् । अनीषदर्थार्थं वचनम् ईषदर्थे तु "अल्पे' ।३।२।१३६। इत्येव सिद्धम् ॥१३५॥

पुरुषे वा ।३।२।१३५।

पुरुषे उत्तरपदे कोः का वा स्यात् । कापुरुषः । कुपुरुषः ॥१३५।

कुत्सितः पुरुषः—कापुरुषः, कुपुरुषः, कुत्सितः पुरुषः, अस्मिन्-कापुरुषो ग्रामः, कुपुरुषो ग्रामः । अनीषदर्थे विकल्पोऽयम्, ईषदर्थे तु परत्वादुत्तरेण नित्यमेव । अनीषदर्थे पुरुषे परेऽस्य चारितार्थ्यम्, ईषदर्थे पुरुषशब्दादन्यत्र परस्य चारितार्थ्यमितीषदर्थे पुरुषशब्दे पर उभयोः प्राप्तौ सत्यां स्पर्द्धे जाते 'स्पर्धे' ।७।४।११९। इति परिभाषासूत्रबलात्परस्यैव प्रवृत्तिरिति भावः ॥१३५॥

अल्पे ।३।२।१३६।

ईषदर्थस्य कोरुत्तरपदे का स्यात् । कामधुरम् । काच्छम् ।।१३६।।

अल्पशब्दस्य न शब्दस्वरूपपरत्वमपि त्वर्थपरत्वं व्याख्यानात् । यद्यपि 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' इति न्यायेन शब्दस्य स्वरूपमेव ग्राह्यं तथापि न्यायानामस्थिरत्वेन अल्पशब्दस्येहार्थपरत्वम् । मधु-माधुर्यमस्यास्तीति मधुरम्,ईषन्मधुरं कामधुरम्, स्वरादावपि परत्वादीषदर्थे कादेश एव भवति—ईषदच्छम् स्वच्छं—काच्छमिति ।।१३६।।

काकवौ वोष्णे ।३।२।१३७।

उष्णे उत्तरपदे कोः काकवौ वा स्याताम् । कोष्णम् । कवोष्णम् । पक्षे यथाप्राप्तमिति । तत्पुरुषे, कदुष्णम् । बहुव्रीहौ, कूष्णो देशः ।।१३७।।

ईषत्कुत्सितं वोष्णं कोष्णं कवोष्णम्, ईषत्कुत्सितं वोष्णमत्र कोष्णः, कवोष्णः । बहुव्रीहौ तु कदादेशो न भवति कूष्णो देशः ।।१३७।।

कृत्ये ऽवश्यमोलुक् ।३।२।१३८।

कृत्यान्ते उत्तरपदे-ऽवश्यमोलुक् स्यात् । अवश्यकार्यम् । कृत्य इति किम् ? अवश्यं लावकः ।।१३८।।

'ते कृत्याः' ।५।४।४७। इति सूत्रेण घ्यणादयः कृत्संज्ञकत्वेनोक्ताः । कर्तुं योग्यं कार्यम् 'ऋवर्ण-व्यञ्जनाद् घ्यण्' ।५।१।१७। इति घ्यण् । अवश्यं कार्यम्-अवश्यकार्यम्-मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । लुनातीति लावकः कर्तरि 'णकतृचौ' ।५।१।४८। इति णकः ।।१३८।।

समस्ततहिते वा ।३।२।१३९।

ततेहिते चोत्तरपदे समो लुग् वा स्यात् । सततम् । सन्ततम् । सहित-म् । संहितम् ॥१३९॥

तनोतेः क्ते ततमिति-सम्यक् ततं-सततम्। अत्र समो मस्य लोपपक्षे सन्ततम्। दधातेः क्ते हितमिति-सम्यक् हितमिति विग्रहे समासेऽनेन मलोपः।१३९।

तुमश्च मनः-कामे ।३।२।१४०।

तुम्समोर्मनसि कामे चोत्तरपदे लुक् स्यात् । भोक्तुमनाः । गन्तु-कामः । समनाः । सकामः ॥१४०॥

भोक्तुं मनोऽस्य-भोक्तुमनाः, गन्तुं कामोऽस्य गन्तुकामः, सम्यक् मनोऽस्य समनाः, सम्यक् कामोऽस्य सकामः । सहशब्देनापि सिद्धौ मकारसहितस्य समः श्रुतिर्मा भूदित्येतदर्थं वचनम् ॥१४०॥

मांसस्यानड्घञि पचि नवा ।३।२।१४१।

अनड्-घञन्ते पचावुत्तरपदे मांसस्य लुग्वा स्यात् । मांस्पचनम् । मांसपचनम् । मांस्पाकः । मांसपाकः ॥१४१॥

पचेर्भावेऽनट् मांसस्य पचनम्,मांस्पचनम्मांसपचनम्। अनेनाकारलुक् तस्य बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वात्,सकारस्य रुत्वं संयोगान्तलोपश्चनभवतः'स्वरस्य परे प्राग्विधौ' ।७।४।११०। इति स्थानिवत्त्वेन तु न निर्वाहः'न सन्धि०' ।७।४।-।१११। इति परिभाषयाऽसद्विधौ तन्निषेधात् । पचेर्भावे घञ् मांसस्य पाकः -मांस्पाकः, मांसपाकः ॥१४१॥

दिक्शब्दात्तीरस्य तारः ।३।२।१४२।

अस्मात्परस्य तीरस्योत्तरपदस्य तारो वा स्यात् । दक्षिणतारम् । दक्षिणतीरम् ॥१४२॥

दिशि दृष्टः शब्दः दिक्शब्दः, दिग्वाचकत्वेन प्रसिद्धः इति भावः। अत्र व्याख्यानाद् दिग्विशेषवाचका एव पूर्वादयः शब्दा दिक्शब्दत्वेन गृह्यन्ते, दिक्सामान्यवाचकाः 'दिक्, आशा, ककुप् इत्यादयः शब्दाः ऐन्द्रादयश्च शब्दा न गृह्यन्ते 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' इति न्यायात्। दक्षिणस्या-दिशः दक्षिणस्य वा देशस्य तीरं-दक्षिणतारम्, दक्षिणतीरम्। 'सर्वादयोऽस्यादौ' ।३।२।६१। इति पुंवद्भावः। 'दिशः' इत्येतावपि सिद्धे शब्दग्रहणात् तस्य शब्दस्य दिशि दृष्टत्वमेवावश्यकं न तु संप्रति दिगर्थवृत्तित्वमपि, तथा च दिग्वाचकस्य शब्दस्य संप्रति देशवाचकत्वेऽपि दिक्शब्दत्वेन ग्रहणं भवति ॥१४२॥

सहस्य सोऽन्यार्थे ।३।२।१४३।

उत्तरपदे परे बहुव्रीहौ सहस्य सो वा स्यात्। सपुत्रः। सहपुत्रः। अन्यार्थं किम्? सहजः ॥१४३॥

सह पुत्रेण-सपुत्र आगतः, सहपुत्र आगतः 'सहार्थे' ।२।२।४५। इति तुल्ययोगेऽर्थे गम्यमाने तृतीया 'सहस्तेन' ।३।१।२४। इति सूत्रेण बहुव्रीहिसमासः। सहजातः-सहजः 'क्वचित्' ।५।१।१७१। इति डः ॥१४३॥

नाम्नि ।३।२।१४४।

उत्तरपदे परे बहुव्रीहौ सहस्य सः संज्ञायां स्यात्। साश्वत्थं वनम्। अन्यार्थइत्येव? सहदेवः कुरुः ॥१४४॥

सहाश्वत्थेन वर्तते-साश्वत्थम्-एवं नाम वनम्। सह दीव्यतीति-सहदेवः कुरुः। दीव्यतेरच् ॥१४४॥

अदृश्याधिके ।३।२।१४५।

अदृश्यं परोक्षम्,अधिकमधिरूढं तदर्थयोरुत्तरपदयोर्बहुव्रीहौ सहस्य सः स्यात् । साग्निः कपोतः । सद्रोणा खारी ॥१४५॥

दृशधातुश्चाक्षुषज्ञानार्थः । द्रष्टुमयोग्यम् - अदृश्यम्-चाक्षुषज्ञानाविषयमित्यर्थात्परोक्षत्वं पर्यव-स्यति,अक्ष्णःपरमक्षिविषयातीतं वस्तु परोक्षमिति कथ्यते तथा चात्रा क्षि ादमिन्द्रियसामान्यपरमिति इन्द्रियविषयातीति एव वस्तुनिपरोक्षत्वव्यवहारःइति शब्दादिविषयेषु श्रोत्रादीन्द्रियग्राह्येषु न परोक्षत्वम्। एवंचेन्द्रियाविषयेऽनुमानादिविगम्ये उत्तरपदार्थे सतीति पर्यवसितोऽर्थः अग्निना सह वर्तते इति साग्निः कपोतः, अत्र कपोतेऽग्निरदृश्य एव प्रतीयमानत्वात्, तथा चोत्तरपदभूतस्याग्नेरदृश्यत्वेन तद्वाचित्वमुत्तरपदस्यास्तीति भावः । द्रोणेन चतुराढकपरिच्छिन्नपरिमाणेन सहिता सद्रोणा खारी । द्रोणेनाधिका खारीत्यर्थः अत्र खार्या द्रोणेन सह विद्यमानत्वं न प्रतीयते अन्यार्थ एव प्रकृतसूत्रस्यापि प्रवृत्तिरित्यदृश्यार्थपरेऽधिकार्थपरे चोत्तरपदे 'सहस्य सोऽन्यार्थे ।३।२।१४३। इत्यनेनैव सिद्धे वचनम् मित्यार्थं ॥१४५॥

अकालेऽव्ययीभावे ।३।२।१४६।

अकालवाचिन्युत्तरपदे सहस्याव्ययीभावे सः स्यात् । सब्रह्म साधूनाम् । अकालइति किम् ? सहपूर्वाह्णं शेते । अव्ययीभावइति किम् ? सहयुध्वा ॥१४६॥

ब्रह्मणः सम्पत्-सब्रह्म साधूनाम् । सम्पत्त्यर्थे द्योत्ये सहेत्यव्ययेन सह ब्रह्म+टा' इत्यस्य 'विभक्ति-समीप०' ।३।१।३६। इत्यव्ययीभावः, अनेन सहस्य सादेशः, ब्रह्मपदेन निरवच्छिन्नं चैतन्यमुच्यते, साधवः समधिगयतत्त्वसाक्षात्कारा ब्रह्म सम्पद्यन्त इति तेषां ब्रह्मणः सम्पत्तिः प्रसिध्यति । सहपूर्वाह्णंशेते-सकलं पूर्वाह्णमभिव्याप्य शेते इत्यर्थः,अत्र पूर्वाह्ण+टा-सहेत्यस्य साकल्येऽव्ययीभावसमासेऽनेन सहस्य सादेशो न भवति अत्रापि साकल्य एवाव्ययीभावः अभिव्याप्तिस्तु द्वितीयार्थः । सहयुध्वेति-सह युद्धवानित्यर्थे क्वनिप् कृत्युक्तसमासः ॥१४६॥

ग्रन्थाऽन्ते ।३।२।१४७।

एतद्वाच्युत्तरपदे सहस्याव्ययीभावे सः स्यात् । सकलं ज्योतिष-मधीते ॥१४७।

ग्रन्थशब्दश्चेहग्रथ्यमानशास्त्रादिपरो न तु पुस्तकपरःग्रन्थस्यान्तो ग्रन्थार्थः। कलामन्तं कृत्वा—सकलं ज्योतिषमधीते कलामन्तं कृत्वेति-लौकिकं वाक्यम् अलौकिकं (शास्त्रीयं) तु कलया सहेति 'सह-कला-टा' इति अनेन सहस्य सः । 'गोश्चान्ते०' ।२।४।९६। इति ह्रस्वः । कलाशब्दः कालविशेषवाची किन्तु प्रकृते तत्कालसहचारिणि तत्कालवर्तिनि ग्रन्थे लक्षणया प्रयुज्यते । अधीयमानग्रन्थम् अध्ययनकालान्तिमकलावर्तिग्रन्थेन सहितमधीते इत्यर्थ-स्य विवक्षणात् 'विभक्तिसमी-०' ।३।१।३९। इत्यन्तार्थेऽव्ययीभावः । केचित्तु ज्योतिः-शास्त्रस्य कालप्रतिपादकत्वस्य प्रसिद्धत्वात् कलादिशब्दाः कलादिप्रतिपादकग्रन्थपराः आदिशब्दाद् मुहूर्तादयो ग्राह्याः । तथा चकला-दिप्रतिपादकग्रन्थमवधिं कृत्वाऽधीते इति विवक्षितोऽर्थ इत्याहुः तन्न तथा सति उत्तरपदस्य ग्रन्थान्तप्रतिपादकत्वं न स्यादिति (तद्) ग्रन्थान्तवाचि-न्युत्तरपदे इति वृत्तिग्रन्थो विरुध्येत । ननु कलादिशब्दानां ग्रन्थान्तवाचि-त्वेन कालवाचित्वाभावात् 'अकाले' इति निषेधाप्रसक्त्या पूर्वसूत्रेणैव सहस्य सादेशः सिद्ध एवेति व्यर्थमिदं सूत्रमिति चेत्सत्यं कालार्थोऽयमार-म्भः । अयमाशयः—'अकालेऽव्ययीभावे' ।३।२।१४६। इत्यत्राकाले इत्यस्य कालनिरूपितवाचकताव्यावर्तककालत्वव्याप्यानुपूर्वीभिन्नानुपूर्वीमत्युत्तरपद इत्यर्थः, एवं चात्र कलादिशब्दानां ग्रन्थान्तपरत्वेऽपि तदानुपूर्व्या (तद्घटि-तवर्णसन्निवेशक्रमस्य) कालनिरूपितवाचकताव्यावर्तककालत्वव्याप्यानु-पूर्वीमत्त्वमेव तादृशानुपूर्व्या एव कालवाचित्वस्यान्यत्र दृष्टत्वात् इति पूर्वसूत्रेण सादेशाप्राप्तौ सादेशार्थं प्रकृत-सूत्रविधानम् ॥१४७॥

नाशिष्यगोवत्सहले ।३।२।१४८।

गवादिवर्जे उत्तरपदे आशिषि गम्यायां सहस्य सो न स्यात् । स्वस्ति गुरवे सहशिष्याय । आशिषीति किम् ? सपुत्रः । गवा-

दिग्वर्जनं किम् ? स्वस्ति तुभ्यं सगवे । सहगवे । सवत्साय । सहलाय । सहहलाय ॥१४८॥

शिष्येण सहिताय गुरवे स्वस्तीति विवक्षिते शिष्य-टा—सहेत्यस्य समासः, 'सहस्य सोऽन्यार्थे' ।३।२।१४३। इति सादेशे प्राप्तेऽनेन निषेधः । स्वस्ति॰ शब्दयोगे गहशिष्यशब्दाच्चतुर्थी । सपुत्र इति-पुत्रेण सह सपुत्र अत्राशीर्नं-गम्यते । 'सहस्य सोऽन्यार्थे' ।३।२।१४३। इति सादेशः, ननु सपुत्र इत्यादौ 'आशिषि' इति कथनाभावेऽपि 'सहस्य सोऽन्यार्थे' ।३।२।१४३। सादेशः, ननु सपुत्र इत्यादौ 'आशिषि' इति कथनाभावेपि 'सहस्य सो॰ ।३।१।१४३ इति सूत्रैणैव स्यादितिसूत्रारम्भसामर्थ्यादेव सादेशो भविष्यतीति चेत्सत्यं'सगवे सहगवे सवत्साय सहवत्साय' इत्यादिप्रयोगेषु तत्सार्थक्यस्य जागरूकत्वात् ॥१४८॥

समानस्य धर्मादिषु ।३।२।१४९।

धर्मादावुत्तरपदे समानस्य सः स्यात् । सधर्मा । सनामा ॥१४९॥

समानो धर्मोऽस्य–सधर्मा 'द्विपदाद् धर्मादन्' ।७।३।१४१। इत्यन् । समानं नामास्य सनामा । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥१४९॥

सब्रह्मचारी ।३।२।१५०।

अयं निपात्यते ॥१५०॥

ब्रह्म आगमः, इति तदध्ययनार्थं व्रतमपि लक्षणया ब्रह्मैव तच्चरतीति विग्रहे 'व्रता॰ ।५।१।१५५।इति णिनि ब्रह्मचारीति। समानो ब्रह्मचारीतिविग्रहे विशेषणसमासेऽनेन समानस्य सादेशमात्र निपात्यते ब्रह्मचरिशब्दस्यान्यथैव सिद्धेः । सादेशमात्रस्य विधेयत्वे धर्मादिष्वेव ब्रह्मचारिशब्दे पठिते ऽपि प्रकृतप्रयोगसिद्धिरिति निपातनवैयर्थ्यमि-त्यरुचेर्विग्रहान्तरं प्रदर्श्यते। समाने ब्रह्मण्यागमे गुरुकुले वा व्रतं चरतीति विग्रहे निपातनात् व्रतशब्दस्य लोपः समानपूर्वे ब्रह्मण्युपपदे व्रते कर्मणि चरेर्णिन्नपि निपातनलभ्य एव ।

समाने आगमे व्रतं चरतीत्यत्र समानत्वं तदध्येयग्रन्थतुल्याध्येय-त्वेन, एवं समाने गुरुकुले व्रतं चरतीत्यत्र समानत्वं तद्गुरुकुलतुल्यगुरुकुलत्वेन।

तत्र यद्यपि ब्रह्मचारीत्यस्यैव निपात्यमित्यायाति, तथाप्यवयवद्वारा अत्र साधुत्वमुक्त्वा पुनः तस्य धर्मादिषु पाठकल्पनेत्यादिगौरवात् समुदायस्यैव निपातनमुचितमिति तथैव कृतम् ॥१५०॥

दृग्दृशवृक्षे ।३।२।१५१।

एषूत्तरपदेषु समानस्य सः स्यात् । सदृक् । सदृशः । सदृक्षः ॥१५१॥

समान इव दृश्यते–सदृक्, सदृशः, सदृक्षः–'त्यदाद्यन्यसमानादुपमानाद्०' ।५।१।८५२। इति क्विप्टक्सकः टक्–सक्सहचरितक्विबन्तस्यैव दृशो ग्रहणादिह न भवति–समानादृक् समानदृक् । अत्रेदं विचार्यते–समान इव दृश्यते इति व्याप्ये (कर्मणि) प्रत्ययविधानात् कर्मणि विग्रहः, ये च व्याप्ये प्रत्ययं न विदधति ते 'तमिवेमं पश्यन्ति जनाः, इत्यर्थे स इवायं पश्यति ज्ञानविषयो भवतीति कर्मकर्तरि प्रत्ययमाहुः । स्वमते च सूत्र एव व्याप्ये कथनात् झटित्येवार्थसंगतिरिति न क्लिष्टकल्पनाऽऽवश्यकता । 'समान इव दृश्यते' इति कथनं च 'त्यदाद्यन्य०' ।५।१।१५१। इति सूत्रस्योपमानपदस्य सर्वत्रान्वयस्यौचित्यमनुरुध्य अन्यथा समानशब्दस्याप्युपमानवाचित्वेन पुनरुपमानवाचिन इवशब्दस्य प्रयोगोऽ–नावश्यक एव, सदृशशब्दस्य समानत्वेन दृष्टिविषयतैवार्थः न तु समानत्वेनैव दृष्टिविषय इति । तथा च साम्यस्यापि तत्राभावो भासेत समान इव दृश्यते न तु वस्तुतः समान इति प्रतिपत्तेः, तथा च समानो दृश्यते इत्येव प्रयोगार्थः । समाना दृक् सदृक् इत्यत्र–इन्द्रियाणां कर्तृत्वविवक्षायां पश्यतीति कर्तरि क्विपि दृक् । करणत्वविवक्षायां पश्यत्यनयेति दृक् अत्र 'क्रुत्संपदादिभ्यः क्विप्' ।५।३।११४। इति करणे क्विप्, 'पुंवत् कर्मधारये' ।३।२।५०। इति पुंवद्भावः ॥१५१॥

अन्यत्यदादेराः ।३।२।१५२।

अन्यस्य त्यदादेश्च दृगादावुत्तरपदे आः स्यात् । अन्यादृक् । अन्यादृशः । अन्यादृक्षः । त्यादृक् । त्यादृशः । त्यादृक्षः । अस्मादृक् । अस्मादृशः । अस्मादृक्षः ॥१५२॥

अन्य इव दृश्यते अन्यादृगित्यादिः । स्य इव दृश्यते त्यादृक्षःत्यादि । आवामिव वयमिव वा दृश्यते इति 'त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्' ।२।१।१२। इति मादेशाभावात् अस्मादृगित्यादि ॥५२॥

इदङ्किमीत्की ।३।२।१५३।

दृगादावुत्तरपदे इदङ्किमौ यथासङ्ख्यमीत्कीरूपौ स्याताम् । ईदृक् । ईदृशः । ईदृक्षः । कीदृक् । कीदृशः । कीदृक्षः ॥१५३॥

स्थान्यादेशयोः सामानाधिकरण्येन निर्देशः सर्वादेशार्थः । तथा सति ईदादेशः सम्पूर्णस्येदमः स्थाने भवति, अन्यथा तस्यैकवर्णरूपत्वेन षष्ठीनिर्देशेऽन्त्यस्यैव विधिः स्यात्, 'की' आदेशास्तूभयत्र सर्वादेश एवानेकवर्णत्वात् । अयमिव दृश्यत इति–ईदृगित्यादि । क इव दृश्यते कीदृगित्यादि ॥५३॥

अनञः क्त्वोयप् ।३।२।१५४।

नञोऽन्यस्मादव्ययात्पूर्वपदात्परं यदुत्तरपदं तदवयवस्य क्त्वोयप् स्यात् । प्रकृत्य । अनञ इति किम् ? अकृत्वा, परमकृत्वा । उत्तरपदस्येत्येव ? अलंकृत्वा ॥१५४॥

'न नाम्येकस्वरात्०' ।३।२।८। इत्यतः 'उत्तरपदे' इत्यधिकृतं, तत्सामर्थ्यात् पूर्वपदस्येति लभ्यते । क्त्व इति षष्ठीनिर्देशात् क्त्वाप्रत्ययान्तस्योत्तरपदस्येति लभ्यते तत्सामर्थ्यात् 'अनञ' इत्यस्य पञ्चम्यन्तत्वात् उत्तरपदसामर्थ्यलब्धस्य पूर्वपदस्यापि पञ्चम्यन्तत्वमेव समानाधिकरण्यानुरोधात् क्त्वेति प्रत्ययः, तद्ग्रहणे तदन्तस्य ग्रहणं भवतीति पर्युदासेन नञ्भिन्नाद्

नञ्पदशात् (अव्ययात्) पूर्वपदात्परस्य क्तान्तस्योत्तरपदस्य यप् भवति स च 'निर्दिश्यमानस्यैवादेशा भवन्ती' इति न्यायान्निर्दिश्यमानस्य क्त्वा-प्रत्ययस्य यबादेशः । प्रकृत्येति-कृत्वेति क्त्वान्तम्, तस्य प्रशब्देन गति-समासः, प्रशब्दश्चाव्ययं पूर्वपदम् तस्मात्पर क्त्वान्तमुत्तरपदं तदवयवस्य क्त्वो यबादेशः ह्रस्वस्य तः पित्कृति' ।४।४।११३। इति तागमः । न कृत्वा अकृत्वा परमकृत्वेति-परमं च तत् कृत्वेति विग्रहः । 'सन्महत्' ।३।१।१०७। इति समासः । अनञः इति पर्युदासान्नञ् सदृशमव्ययं गृह्यते इति इह पर-माद-नव्ययात् न भवति । अलं कृत्वेति-'निषेधेऽलं-खल्वोः क्त्वा' ।५।४।४४। इति क्त्वा अत्र क्वाविधायक-सूत्रेऽलंखल्वोः सप्तम्योक्तत्वेन ङस्युक्तत्वा-भावान्न ङस्युक्त-समास इति । अलंकृत्वाशब्दयोः पूर्वोत्तरपदत्वाभावः न हि पूर्वमवस्थितं पदं पूर्वपद-मुत्तरमवस्थितं पद-मुत्तरपदमिति पूर्वोत्तरपदयोः यौगिकी शक्तिः व्याकरणे समुपयुज्यते ऽपि तु पूर्वपद-शब्दः समासप्रथमा-वयवे रूढः उत्तरपदशब्दश्च समास-चरमावयवे रूढ इति प्रकृते समासा-भावादुत्तरपदत्वाभावाद्यबादेशो न भवति ।।५४।।

पृषोदरादयः ।३।२।१५५।

एते साधवः स्युः । पृषोदरः, बलाहकः ।।१५५।।

आदिशब्दोऽत्र प्रकारवाची न तु व्यवस्थावाची । प्रकारवाचित्वे गणे पठिते-भ्योऽन्येऽप्येवंविधाः शिष्टप्रयुक्ताः शब्दा पृषोदरादित्वेन ग्रहीतुं शक्याः । व्यवस्थावाचित्वे तु पृषोदरशब्दस्याद्यवयवत्वेन निर्दिश्य पठितसमुदायान्त-र्गतस्यैव पृषोदरादित्वेन ग्रहणं स्यात् । पृषदिवोदरमस्य पृषदुदरेऽस्येति वा पृषोदरः अत्रो-भयत्र विग्रहे पृषत्' शब्दो विन्दुवाची अनेन तकारलोपः । पृषत उदरं पृषोदरमिति षष्ठीसमासे पृषच्छब्दो मृगविशेषवाची ।बहुवच-नमाकृतिगणार्थम् ।।५५।।

वावाप्योस्तनिक्रीधाग्नहोर्वपी ।३।२।१५६।

अवस्योपसर्गस्यतनिक्रियोरपेश्च धाग्नहोर्यथासङ्ख्यं वपी वा स्याताम् । वतंसः । अवतंसः । वक्रयः । अवक्रयः । पिहितम् । अपिहितम् । पिनद्धम् । अपिनद्धम् ।।१५६।।

व्याख्यानात् अत्राप्योः-तनिक्री-भ्याम् धाग्नहिभ्यां च क्रमेण सम्बन्धः। वपीत्यादेशयोश्च यथासंख्यं सम्बन्धः । पृषोदरादिप्रपञ्च एषः तेन शिष्ट-प्रयोगोऽ-नुसरणीयस्तेन वगाहादयोपि साधुत्वेन विज्ञेयाः । पृषोदरादि-सूत्रविषय एवार्थोऽ नेन विस्तरेण प्रतिपादितः अर्थादिदं सूत्रं नापूर्व-विधायक-मपि तु तत्पूरकमेवेति भावः। वतंस, अवतंस इति-अवपूर्वकात् तनोतेः सन्नौणादिकः, अवस्य पाक्षिको वकारादेशः । वक्रय अवक्रय इति-अवपूर्वकात् क्रीणातेर्भावे अचि क्रय इति । अवेत्युपसर्गस्य वा वकारादेशः । पिहितम् अपिहितमिति-अपिपूर्वकात् दधातेः धातोर्हि इत्यादेशः । विकल्पे-नापिशब्दस्य'पि' इत्यादेशः । पिनद्धम्, अपिनद्धमिति-अपिपूर्वकस्य नह्यतेः क्ते प्रत्यये, पाक्षिकेऽ-पिशब्दस्य 'पि' इत्यादेशे च रूपद्वयम् ॥५६॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

दीक्षा को रोकना और मोह का नाटक

भुशासन का आज्ञारंगी श्री संघ तो अच्छी तरह समझ सकता है कि-दीक्षा को रोकने की भावना, भयंकर मोह का नाटक ही है। दीक्षित बनने वाले की उम्र का निर्णय तो अनन्त-ज्ञानीयों ने किया ही है । 'आठ वर्ष की उम्र हुई कि तुरन्त ही वह दीक्षा के लिये उम्र से योग्य बन जाता है।' यानी इसके सामने विरोध करने वाले, प्रभुशासन का ही विरोध करने वाले है । अठारह वर्ष से नीचे की उम्र वाले को दीक्षा के लिये अयोग्य कहना इसके जैसा घोर पाप कौन-सा है ? जिस उम्र को अनन्तज्ञानियों ने योग्य बताई उस उम्र को अयोग्य कहना, इसके जैसी कुटिल मनोवृत्ती दूसरी कौन सी है ? जो उम्र गुणों के आरोपण के लिये अतिशय योग्य है, उस उम्र को दीक्षा जैसी गुणमय वस्तु के लिये अयोग्य कहना, यह बुद्धि का सर्वथा दिवाला फूंकने जैसी बात है।

दुनिया की कलाओं के लिये भी दुनिया ने बाल्यकाल ही पसन्द किया है, संगीत भी सामान्यतया बाल्यकाल मे सिखाया जाता है, सिनेमा नाटक के एक्टर बनने की ट्रेनिंग भी बाल्यकाल से लेते है, नृत्यकला आदि और दूसरी भी पेट भरने की विद्या के लिये भी बाल्यकाल योग्य माना जाता है, तो फिर इस आत्मा की मुक्ति कराने वाली दीक्षा बाल्यकाल में होवे, उसके सामने विरोध करना यह भयंकर पाप और ऐसे प्रस्ताव रखने वाले पापी के रूप में पहचाने जाय इसमें आश्चर्य क्या है ? भयंकर पाप कर्म आचरने को तैयार हुए पापआत्माओं की बुद्धि ही भ्रष्ट हो गई है और इसी कारण उनको यह भान नहीं है कि धर्म के साम्राज्य में, धर्म में दखल करने वाले कायदे नहीं ही होते है।

सोचो कि बहुत जोरों की बाढ आ रही है वहां बचने के लिये स्टीमर में बैठने के लिये माता-पिता को पूछकर आने का और दूसरों के समक्ष जाहिर करने का कायदा बना सकते हैं ? पोलिस को सरकार ने यद्यपि मर्यादित सत्ता दी है, फिर भी उसके स्वयं पर आवे तब सरकार ने उसको कितनी छूट दे रखी है ? यदि छूट न हो तो मरने जावे कौन ? प्रायः कोई नहीं। विश्वासपात्र और जबाबदार मुनिम यद्यपि शेठ को पूछे बिना व्यापार का कार्य नहीं करता, परन्तु शेठ ने एक माल लेने भेजा, मुनीम बाजार में गया और उस माल से दूसरे माल के सौदे में लाभ ज्यादा दिखता है और मौका ऐसा है कि उस भाव से उसी समय माल मिले वैसा है, तब मुनिम शेठ को पूछने जाय तो उसको शेठ बेवकूफ ही कहे न ?

प०पू० कलिकाल–कल्पतरु आचार्य
देव श्री विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज